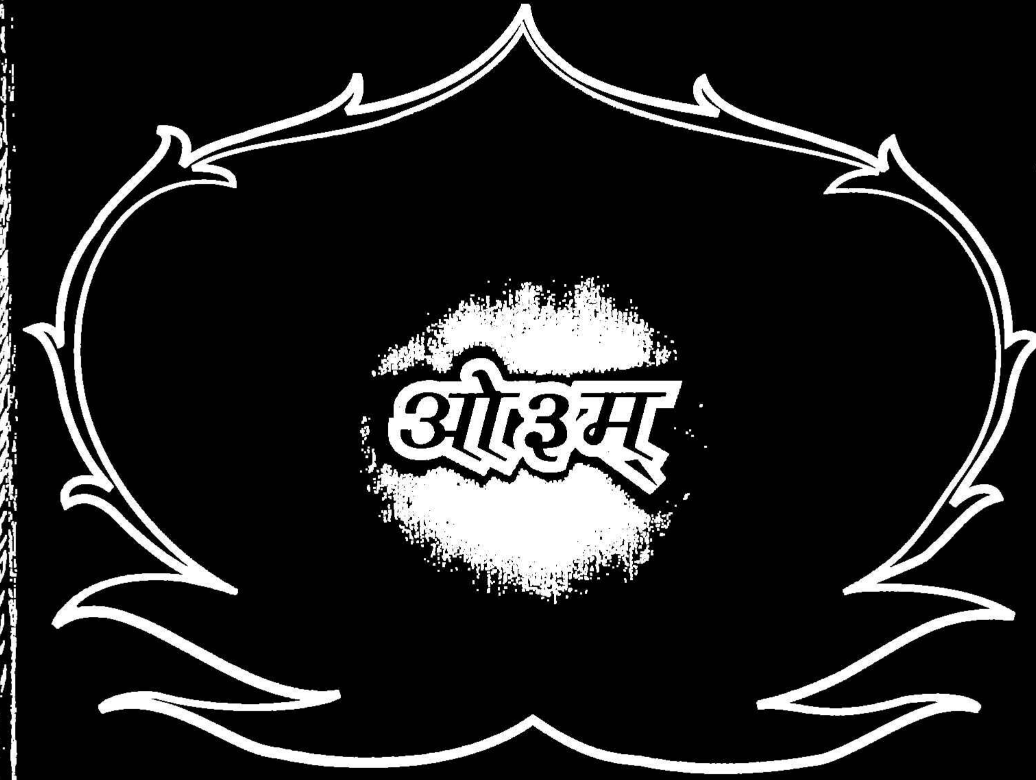
अथर्ववेद-भाष्यम्

(आध्यात्मिक व्याख्या)

काण्ड ९-१०



प्रो० विश्वनाथ विद्यालंकार

–: ओ३म् :–

अथर्ववेद-भाष्यम्

[काण्ड ९-१०]

लेखक–
प्रो॰ विश्वनाथ विद्यालंकार

प्रकाशक–
चौधरी प्रतापसिंह
प्रधान– रा॰ ब॰ चौ॰ नारायणसिंह प्रतापसिंह
धर्मार्थ ट्रस्ट ५७ एल, माडल टाउन
करनाल (हरियाणा)

ट्रस्ट के उद्देश्य–

प्राचीन वैदिक साहित्य का अन्वेषण, उसकी रक्षा तथा
प्रचार एवं भारतीय संस्कृति, भारतीय शिक्षा,
भारतीय विज्ञान और चिकित्सा
द्वारा जनता की सेवा।

पुस्तकप्राप्तिस्थान–
* रामलाल कपूर ट्रस्ट
ग्राम रेवली, पो० शाहपुरतुर्क
जि० सोनीपत– १३१००१
(हरियाणा)
दूरभाष– (०१३०) २४८२८५७, ३०९०२७६
* रामलाल कपूर एण्ड संस
पेपर मर्चेन्टस्, २५९६,
नई सड़क, दिल्ली

प्रथम संस्करण– १०००
सं० २०४३
सन् १९८६

मूल्य– १००.००

मुद्रक–
शान्तिस्वरूप कुमार कपूर
रामलाल कपूर ट्रस्ट प्रेस
बहालगढ़ (सोनीपत)

प्रकाशकीय वक्तव्य[1]

श्री पं० विश्वनाथ जी गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के प्रतिष्ठित स्नातक हैं। आप वर्षों तक गुरुकुल में वेद-विषय पढ़ाते रहे हैं। इस कारण आप आर्यजगत् में 'वेदोपाध्याय" के उप नाम से प्रसिद्ध हैं। आपका वेद का स्वाध्याय तथा चिन्तन जहां गम्भीर है, वहां आप वेदोद्धारक ऋषि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित वेदार्थ प्रक्रिया के अनुगामी हैं।

आर्यसमाज के अनेक विद्वानों की प्रेरणा पर मैंने आपको अथर्ववेद पर भाष्य लिखने की प्रार्थना की। मेरी प्रार्थना को स्वीकार करके आपने अथर्ववेद के २०वें काण्ड पर पहले अध्यात्मपरक व्याख्या लिख करके दी। उसे "रा० ब० चौ० नारायणसिंह प्रतापसिंह धर्मार्थ ट्रस्ट, करनाल" (हरयाणा) ने 'आर्यसमाज शताब्दी समारोह' (सन् १९७५) के अवसर पर प्रकाशित किया था। उसके पश्चात् काण्ड १८-१९ का भाष्य सन् १९७७ में, काण्ड १४-१५-१६-१७ का भाष्य सन् १९८१ में तथा 'दयानन्द-निर्वाण-शताब्दी' (अजमेर) के अवसर पर अथर्ववेद ११-१२-१३ वें काण्डों का भाष्य प्रकाशित किया था।

नवीन ग्रन्थ – वेदों की याज्ञिक प्रक्रिया में अग्निचयन भाग का विशिष्ट स्थान है। इसमें विविध आकार की बनाई गई इष्टकाओं (ईंटों) से वेदि बनाई जाती है। इसकी प्रक्रिया भी बहुत जटिल है। शतपथ ब्राह्मण के काण्ड ६-१० तक अग्निचयन का वर्णन है। इस प्रकरण में अनेक विचारणीय विषय हैं जिन पर अनेक प्रकार की शङ्काएं की जाती हैं। श्री माननीय पण्डित जी ने मेरे निवेदन पर शतपथ ब्राह्मण के इस प्रकरण पर चिरकाल

---

१. श्री माननीय चौधरी प्रतापसिंह जी द्वारा लिखित यह वक्तव्य गत वर्ष प्रकाशित **'शतपथ ब्राह्मणस्य अग्निचयन-समीक्षा'**—ग्रन्थ के लिये लिखा गया था। अथर्ववेदभाष्य काण्ड ९-१० की प्रेस कापी मुद्रण के लिये मेरे पास गतवर्ष मई में पहुंच गई थी। इसके मुद्रण के लिये कागज आदि की व्यवस्था के लिये श्री माननीय चौधरी जी से पत्र व्यवहार करता रहा, परन्तु उनके अस्वस्थ होने के कारण मुझे उनका कोई उत्तर नहीं मिला। **अचानक २६-२७ जुलाई की मध्य रात्रि में उनका स्वर्ग-वास हो गया।** अथर्ववेद-भाष्य के ९-१० काण्ड की छपाई की व्यवस्था उन के ही ट्रस्ट की ओर से मैंने यथा-कथंचित् की है। युधिष्ठिर मीमांसक

अध्ययन और चिन्तन करने के पश्चात् 'शतपथ ब्राह्मणस्थ अग्निचयन-समीक्षा' नामक ग्रन्थ लिखा है। निश्चय ही इस ग्रन्थ से यज्ञ-सम्बन्धो अनेक रहस्यों का उद्घाटन होगा।

इस समय माननीय पण्डित जी की आयु लगभग ६५ वर्ष की है, **स्वास्थ्य भी ठीक नहीं रहता है**। फिर भी आप वेद के स्वाध्याय, चिन्तन और लेखन कार्य में निरन्तर लगे रहते हैं। 'रा० ब० चौ० नारायणसिंह प्रतापसिंह धर्मार्थ न्यास को इस बात का गौरव है कि वह श्री पूज्य पण्डित जी के इस नवीन ग्रन्थ को छापकर विद्वानों के सम्मुख उपस्थित कर रहा है।

रा० ब० चौ० नारायणसिंह प्रतापसिंह धर्मार्थ ट्रस्ट मूकभाव से वैदिक विद्वानों तथा अनेक ग्रन्थों के प्रकाशन में यथाशक्ति पत्रपुष्प के रूप में सहायता करता रहा है। ट्रस्ट की ओर से कई ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें निम्न लिखित प्रमुख हैं—

१. **ऋग्वेदभाष्य** -महर्षि दयानन्द सरस्वती कृत संस्कृत-हिन्दी सहित। सम्पादक-युधिष्ठिर मीमांसक। भाग १, २, ३, छप चुके हैं।

२. **उणादि-कोष**—महर्षि दयानन्द सरस्वती कृत व्याख्या सहित। सम्पादक—युधिष्ठिर मीमांसक।

३. **यजुर्वेद का स्वाध्याय और पशुयज्ञ-समीक्षा**—श्री पं० विश्वनाथ जी विद्यालङ्कार कृत।

४-७ **अथर्ववेद-भाष्य**—(११-२०) श्री पं० विश्वनाथ जी विद्यालङ्कार कृत अध्यात्म भाष्य। काण्ड ११ से २० तक चार भागों में छप चुका है।

अब यह आठवां ग्रन्थ "शतपथ ब्राह्मणस्थ अग्निचयन-समीक्षा" वेदभक्त स्वाध्याय प्रेमी आर्यजनों के हाथों में समर्पित किया रहा है।

अथर्ववेद के उत्तरार्ध का भाष्य पूरा हो गया है अब ९-१० काण्डों का भाष्य छपने के लिये प्रेस में दिया जा रहा है।

इन ग्रन्थों के प्रकाशन में वैदिक ग्रन्थों एवं ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों के शुद्ध सुन्दर विविध टिप्पणियों से युक्त संस्करणों के प्रकाशक 'रामलाल कपूर ट्रस्ट' बहालगढ़ (सोनीपत-हरयाणा) का विशेष सहयोग रहा है। इस

के लिए हम ट्रस्ट के सदस्यों और इसके कार्यकर्त्ता विद्वानों के कृतज्ञ हैं। इस कार्य में आचार्य युधिष्ठिर मीमांसक जी ने विशेष सहयोग दिया है, तदर्थ उनका आभार प्रकट करता हूं।

चैत्र शु० १, सं० २०४२
२२ मार्च १९८५

प्रकाशक—
श्री प्रतापसिंह चौधरी
प्रधान—रा० ब० चौ० नारायणसिंह, प्रतापसिंह
धर्मार्थ ट्रस्ट, (करनाल-हरयाणा)

ग्रन्थकर्त्ता का संक्षिप्त परिचय

तथा

अन्य कृतियां

अथर्ववेद के व्याख्याकार प्रोफेसर विश्वनाथ जी गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरद्वार के सुप्रसिद्ध स्नातक हैं। आप विश्वविद्यालय की "विद्यालंकार" उपाधि तथा "विद्यामार्तण्ड" की मानोपाधि से सुभूषित हैं। सन् १९१४ के दीक्षान्त समारोह में प्रथम विभाग में आप सर्वप्रथम रहे। वैदिक साहित्य संस्कृत साहित्य, दर्शन शास्त्र और रसायन शास्त्र (कैमिस्ट्री) तथा सर्वयोग में प्रथम रहने के कारण आप को ४ सुवर्ण पदक और १ रजत पदक प्राप्त हुए। आप सन् १९१४ में गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में प्रोफेसर पद पर नियुक्त किये गये। गुरुकुल कांगड़ी महाविद्यालय में समय-समय पर आप रसायन, दर्शन शास्त्र तथा वेद विषय पढ़ाते रहे और सन् १९४२ में वहां से सेवामुक्त हुए।

प्रकाशित अथर्ववेद काण्ड १८-१९-२० के भाष्य के आधार पर "श्री गङ्गाप्रसाद उपाध्याय पुरस्कार समिति" इलाहाबाद ने ६ फरवरी १९७६ के निश्चयानुसार, ग्रन्थकार को १२०० रु० के "गङ्गाप्रसाद उपाध्याय पुरस्कार" द्वारा सम्मानित किया। तथा "यजुर्वेद स्वाध्याय तथा पशुयज्ञ समीक्षा" तथा "अथर्ववेद भाष्यम्" काण्ड १४-१५-१६-१७ पर 'उत्तर प्रदेश संस्कृत एकादमी' लखनऊ ने एक-एक हजार रु० के पुरस्कार द्वारा सम्मा-

नित किया। गतवर्ष अथर्ववेद भाष्य काण्ड ११-१३ पर उत्तर प्रदेश संस्कृत एकादमी' लखनऊ ने आप को दो सहस्र रुपयों का पुरस्कार प्रदान किया।

ग्रन्थकार की अन्य कृतियां—

१. सामवेद का आध्यात्मिक भाष्य। २. सन्ध्या रहस्य।
३. वैदिक पशुयज्ञ मीमांसा। ४. वैदिक जीवन[1]।
५. वैदिक गृहस्थाश्रम[2]। ६. बाल सत्यार्थ-प्रकाश।
७. बाल ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका। ८. अथर्ववेद-परिचय।
९. अथर्ववेद-भाष्य काण्ड १४ से २० तक। १०. यजुर्वेद स्वाध्याय तथा पशुयज्ञ समीक्षा। ये सब ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। परन्तु इनमें से कतिपय ग्रन्थ पुनमुर्द्रण के अभाव के कारण अप्राप्य हैं।

—प्रकाशक

---

१. यह ग्रन्थ ६० वर्ष पश्चात् गत वर्ष पुनः प्रकाशित हुआ है। यु० मी०

२. यह ग्रन्थ भी अनेक वर्षों के पश्चात् पुनः छप रहा है। जुलाई १९८६ तक छप जायेगा। यु० मी०

भूमिका काण्ड ९-१०

(१) काण्ड ९ और १० में दस-दस सूक्त हैं। प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ में "विषय प्रवेश" नाम से २० सूक्तों के विषयों की संक्षिप्त सूचियां दे दी हैं, जिन से सूक्त के विषय का परिचय प्राप्त हो जाता है।

(२) काण्ड ९ के सूक्तों के विषयों का संक्षिप्त परिचय। यथा—

(सूक्त १) में मधुकशा का वर्णन। (सूक्त २) में "काम" द्वारा काम्य परमेश्वर का वर्णन। (सूक्त ३) में आदर्श-शाला के निर्माण तथा दान का वर्णन। (सूक्त ४) में "ऋषभः" पद द्वारा परमेश्वर और वृषभ का वर्णन। (सूक्त ५) में "अजः" पद द्वारा मुमुक्ष आत्मा का, पुनर्भू स्त्री के पुनर्विवाह का, तथा विशिष्ट नामों द्वारा ऋतुओं का वर्णन। (सूक्त ६) के ६ पर्यायों में अतिथि यज्ञ का विस्तृत विवर्णन, तथा अग्निष्टोम, अतिरात्र, सत्त्रसद्य, तथा द्वादशाह के स्वरूपों पर प्रकाश। (सूक्त ७) में विश्व अर्थात् ब्रह्माण्ड की गोरूपता का वर्णन। (सूक्त ८) में शिरोरोगों, अङ्गों के टूटने, अङ्ग-ज्वर, विसल्पक, यक्ष्मा आदि नानाविध रोगों का वर्णन। (सूक्त ९) में "अस्य वामीय" नामक रहस्यात्मक सूक्त विषयों का वर्णन। इसी प्रकार (सूक्त १०) भी रहस्यात्मक है।

(३) काण्ड १० के सूक्तों के विषयों का संक्षिप्त परिचय। यथा—

(सूक्त १) में कृत्याओं अर्थात् हिंस्र प्रयोगों, विस्फोटकों, विषकन्या तथा विविध शस्त्रास्त्रों का वर्णन। (सूक्त २ में) मनुष्य के भिन्न-भिन्न अङ्गों, उस की प्रिय-अप्रिय स्थितियों, रक्त, मृत्यु आदि, मूर्धा और हृदय अथर्वा, ब्रह्मपुरी, अष्टचक्रा नवद्वारा अयोध्या पुरी, हिरण्यय कोश आदि का वर्णन है। (सूक्त ३) में वरुण-मणि के वचन और तद् द्वारा अनिष्ट निवारण आदि का वर्णन है। (सूक्त ४) में सर्प विषनाश, नाना प्रकार के सर्पों आदि का वर्णन है। (सूक्त ५) में इन्द्र द्वारा सम्राट् और उस की प्रजाओं, त्रैहायन अनृत भाषण के परित्याग का व्रत, रिप्र और दुष्वप्न्यमल का परित्याग, विष्णु क्रमों, सपत्नों पर विजय, सप्त ऋषियों, ब्रह्म और ब्राह्मणों की ओर अभ्यावर्तन आदि का वर्णन हुआ है। (सूक्त ६) में खदिरमणि, अतिथि-मणि, बृहस्पति का खदिरमणि को बान्धना, धाता का मणि को बान्धना

आदि का वर्णन हुआ है। (सूक्त ७) में स्कम्भ के अङ्गों का, स्कम्भ-पर-
मेश्वर के स्वरूप का, ३३ देवताओं, प्रथमज ऋषियों तथा उन द्वारा आवि-
र्भूत वेदों का परमेष्ठी, प्रज पति तथा स्कम्भ के स्वरूप के संवेदन का, अङ्ग
पुराण शब्दों द्वारा प्रकृति का, ज्येष्ठ ब्रह्म के विराट-स्वरूप का, तथा महद्
यज्ञ आदि नाना विध विषयों का वर्णन हुआ है। (सूक्त ८) में तिस्रः प्रजा,
६ यज्ञों, तिर्यग् बिलचमस, हरेर्हंसस्य, दो अरणियों, अविर्देवता, सूत्रस्य
सूत्रम्, पुण्डरीक नवद्वार आदि का वर्णन हुआ है। (सूक्त ९) में शतौदना
द्वारा सैकड़ों प्रकार के अन्नों की प्रदात्री पारमेश्वरी माता, स्वर्ग, त्रिदिवं
दिवः, शमितारः पक्तारः, गौ के नाना अङ्गों, गौ द्वारा प्राप्य मधु, दो
पुरोडाशों, तथा ब्राह्मभोज का वर्णन हुआ है। (सूक्त १०) में "वशा" का
वर्णन। वशा का अभिप्राय है "जगत् को वश में रखने वाली पारमेश्वरी
माता"। वशा के दोग्धारः और गोप्तारः सैकड़ों हैं; वशा समुद्र में अधि-
ष्ठित हुई है; वशा ऋचाओं और साम को धारण करती हुई समुद्र में
नाची है; वशा से चित्त की उत्पत्ति; वशा के स्तनों से रश्मियां पैदा हुईं;
वशा अमृत है, मृत्यु है; वशा वरुण की जिह्वा है; वशा की उपासना, वशा
में ऋत, ब्रह्म, तप अर्पित हैं; वशा सर्वरूप है;—इत्यादि विविध विषय।

(४) २ चित्र दिये हैं। एक है द्युलोक के तारा मण्डलों का, जिस के
आधार पर अथर्व० ९।२।२२ के भृङ्गा, जत्वः, कुरुरवः, तथा वधावृक्ष-
सर्प्यः के स्वरूप प्रदर्शित किये हैं। "वृक्षसर्प्यः" को पूर्वा फल्गुनी तथा उत्तरा
फल्गुनी नामक दो वृक्षाकृतियों के तारामण्डल रूप में दर्शाया है।

शेष एक चित्र है हृदय का, जिस द्वारा "समुद्रो यस्य नाड्यः पुरुषेऽधि
समाहिता." (अथर्व० १०।७।१५), तथा "यस्य चतस्रः प्रदिशो नाड्यस्तिष्ठ-
न्ति प्रथमाः" (अथर्व० १०।७।१६) में कथित मुख्य चार नाड़ियां प्रदर्शित
की गई हैं। दोनों चित्र यथास्थान चिपका दिये हैं।

विश्वनाथ
६१ कांवली रोड
देहरादून (उत्तर प्रदेश)
जुलाई ५, १९८५

विषय-सूची

प्रत्येक सूक्त की व्याख्या के प्रारम्भ में प्रत्येक सूक्त सम्बन्धी विषयों की संक्षिप्त भूमिकाएं "विषय-प्रवेश" नाम से देदी हैं, ताकि सूक्त के विषयों के समझने में आसानी हो सके।

अथर्ववेद-भाष्यम्

(काण्ड ९-१०)

❀ ओ३म् ❀

अथर्ववेद-भाष्यम्

काण्ड ९, सूक्त १

विषय-प्रवेश

(१) मन्त्र १-२४; देवता मधुकशा। मधुकशा के तीन अर्थ — (१) मधुर चाबुक रूप पारमेश्वरी माता। (२) मेघोदकस्थ विद्युत्। (३) मधुर वाक् वेदवाणी। इन तीनों अर्थों की व्याख्या मन्त्र १ के आरम्भ में की गई है।

(२) सूक्त में प्राधान्येन "मधुकशा" द्वारा पारमेश्वरी माता का वर्णन हुआ है। मन्त्र १-७; तथा २०-२४ में क्रम से पारमेश्वरी माता का तथा प्रजापतिरूप में भी उसी का वर्णन हुआ है। इस प्रकार उपक्रम तथा उपसंहार में पारमेश्वरी माता का वर्णन होने से सूक्त का अभिप्राय पारमेश्वरी माता परक ही है।

(३) मन्त्र ८ और ९ में मेघीय विद्युत् का; मन्त्र १० में विद्युत् और प्रजापति [पारमेश्वरी माता] का मिश्रित वर्णन हुआ है। तद्विदे = वर्षा की विद्या जानने वाले के लिये, उस को काम्यादि वस्तुओं की मानो वर्षा करा देते हैं (९)।

(४) मन्त्र ११-१३ ये ब्रह्मचर्य के प्रसङ्ग में वेदवाणी का वर्णन प्रतीत होता है।

(५) मन्त्र १४-१९ में "मधुकशा" के मधुपद की व्याख्या में मधु [शहद] का वर्णन करते हुए "वर्चस्" की प्राप्ति की प्रार्थना हुई है।

(६) मन्त्र २० में वर्षा के अधिष्ठाता रूप में प्रजापति का वर्णन हुआ है।

(७) मन्त्र २१ में प्रजापति को पृथिवी आदि का उपजीव्य अर्थात् आश्रय कहा है।

(८) मन्त्र २२-२३ में ७ मधुओं का वर्णन राष्ट्रिय दृष्टि से हुआ है।

(९) मन्त्र १४ में मेघगर्जन द्वारा प्रजापति की अभिव्यक्ति दर्शा कर "प्राचीनोपवीतः" द्वारा शुभकर्मों में यज्ञोपवीत धारण करने का वर्णन हुआ है।

—:०:—

सूक्त १ (मधुकशा)

१-२४ अथर्वा। मधुदेवत्यम्; आश्विनम्, त्रैष्टुभम्; २ त्रिष्टुब्गर्भा पंक्तिः; ३ परानुष्टुप्; ६ अतिशक्वरीगर्भा महाबृहती; ७ अतिजागतगर्भा महाबृहती; ८ बृहतीगर्भा संस्तारपंक्तिः; ९ पराबृहती प्रस्तारपंक्तिः; १० परोष्णिक् पंक्तिः; ११-१३,१५,१६, १८,१९ अनुष्टुप्; १४ पुरोष्णिक्; १७ उपरिष्टाद् विराड् बृहती; २० भुरिग् विष्टारपंक्तिः, २१ एकावसाना द्विपदार्च्यनुष्टुप्; २२ त्रिपदा ब्राह्मी पुरोष्णिक्; २३ द्विपदा आर्ची पंक्तिः; २५ त्र्यवसाना षट्पदाष्टिः।

वैतानसूत्र (१६।१२) में सूक्त १ को मधुसूक्त कहा है। सूक्त १ में "मधुकशा" का भी वर्णन है। "मधुकशा" के निम्नलिखित अर्थ हैं, (१) मधुर (मीठी)+कशा (चाबुक), यथा "**अश्वाजनीं कशेत्याहुः। कशा प्रकाशयति भयमश्वाय**" (निरु० ९।२। खं० १९, पद १५)। (२) मधु (उदक),+कशा (चाबुक)=मेघीय विद्युत्। मधु उदकनाम (निघं० १।१२)। (३) मधु (मीठी)+कशा वाक्=मधुमयी वेदवाणी। कशा वाङ्नाम (निघं० १।११)।

मन्त्रों में मुख्यरूप में "मधुकशा" द्वारा "पारमेश्वरी माता" का वर्णन हुआ है। इसकी कशा अर्थात् चाबुक है "कर्मफलव्यवस्था"। यह व्यवस्था मीठी है, मधु है, तत्काल कठोर दण्डप्रदा नहीं, अपितु इस व्यवस्था में संस्काररूप में दण्ड का संचय होता रहता है, और परिपक्व हो कर उग्रावस्था में अभिव्यक्त होता है।

पारमेश्वरी माता नानाविध भोग्य पदार्थों के प्रदान द्वारा जीवनों को मधुर बनाए रखती है। जैसे कि मानुषी माता बच्चे का लालन करती हुई

मधुरूप होती है, और ताड़ना करती हुई चाबुक रूप होती है, अर्थात् मीठी चाबुक रूप। क्योंकि वह हृदय से प्रेम वाली होती हुई ही ताड़ना करती है। मन्त्रों में विद्युत् तथा वेदवाणी का वर्णन भी लक्षित होता है। व्याख्या में इन अर्थों की भी यथोचित योजना मुख्यार्थ में की गई है।

दि॒वस्पृ॑थि॒व्या अ॒न्तरि॑क्षात् समु॒द्राद॒ग्नेर्वाता॑न्मधुक॒शा हि ज॒ज्ञे।
तां चा॑यि॒त्वाऽमृ॒तं वसा॑नां हृ॒द्भिः प्र॒जाः प्रति॑ नन्दन्ति॒ सर्वाः॑ ॥१॥

(दिवः पृथिव्याः) द्युलोक से, पृथिवी से, (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष से, (समुद्रात्) समुद्र से, (अग्नेः) अग्नि से, (वातात्) वायु से (हि) वस्तुतः (मधुकशा) मीठी-चाबुक रूपी पारमेश्वरी माता (जज्ञे) प्रादुर्भूत होती है। (अमृतम् वसानाम्) अमृतत्व की ओढ़नी ओढ़े हुई, या अमृत जीवात्मा में बसी हुई (ताम्) उस का (चायित्वा) दर्शन कर के (सर्वाः प्रजाः) सभी प्रजाएं (हृद्भिः) हृदयों द्वारा (प्रतिनन्दन्ति) प्रसन्न होती हैं।

[हृद्भिः=अथवा "हृद्भिः चायित्वा"=हृदयों द्वारा दर्शन करके, प्रत्यक्ष कर के। द्युलोक आदि पारमेश्वरी माता से पैदा हुए हैं। इन कार्यों द्वारा कर्त्ता का परिज्ञान होता है, परन्तु उस का दर्शन तो हृदयरूपी आंखों द्वारा ही होता है। चायित्वा=चायृ पूजा निशामनयोः। निशामनम्=seeing sight beholding (आप्टे)]

म॒हत् पयो॑ वि॒श्वरू॑पमस्याः समु॒द्रस्य॑ त्वो॒त रेत॑ आहुः।
यत॒ ऐति॑ मधुक॒शा ररा॑णा॒ तत् प्रा॒णस्तद॒मृत॒ं नि विष्ट॑म् ॥२॥

(अस्याः) इस पारमेश्वरी माता मधुकशा का (पयः) दूध है (महत्) विश्वरूपम्) रूपवान् महाविश्व। (उत) तथा हे पारमेश्वरी माता! (त्वा) तुझे (समुद्रस्य) समुद्र का (रेतः) वीर्य (आहुः) कहते हैं (यतः) जिस समुद्र से कि (रराणा) आनन्द रस देती हुई (मधुकशा) मीठी चाबुक पारमेश्वरी माता (ऐति) आती है, प्रकट होती है। (तत्) वह समुद्र (प्राणः) प्राणरूप है, (तत्) उस समुद्र में (अमृतम्) अमृत ब्रह्म (निविष्टम्) स्थित है।

[महाब्रह्माण्ड को पयः कहा है। पयः के कारण मधुकशा माता प्रतीत होती है, वह है पारमेश्वरी माता। सब प्राणी महाब्रह्माण्डरूपी पयः का

सेवन कर रहे हैं। समुद्र द्वारा अध्यात्म समुद्र का वर्णन हुआ है। प्राकृतिक समुद्र का वर्णन मन्त्र १ में हुआ है। यजुर्वेद २७।९३ में "हृदय-समुद्र" द्वारा हृदय को समुद्र कहा है। यथा "**एता अर्षन्ति हृदयात्समुद्रात्**", अर्थात् ये वेदवाणियां हृदय-समुद्र से लहरों के समान उठ रही हैं। इसी प्रकार अथर्व० १०।२।११ में "**सिन्धुसृत्याय**" द्वारा हृदय को सिन्धु कहा है जिस में कि रक्त रूपी "आपः" का निवास है। पारमेश्वरी माता को हृदय-समुद्र का रेतस् अर्थात् वीर्य कहा है। पुत्र पैदा होता है पिता के रेतस् से। रेतस् ही पुत्ररूप[1] हो जाता है। इसी प्रकार पारमेश्वरी माता हृदय-समुद्र का रेतस् रूप है, हृदय-समुद्र से पैदा होती है, प्रकट होती है, इसी हृदय-समुद्र से वह आती है (ऐति), और आ कर उपासक को आनन्द रस प्रदान करती है (रराणा=रा (दाने)+कानच्)। हृदय रक्त-का-समुद्र है, अतः जीवन में प्राणरूप है, इसी में अमृत ब्रह्म स्थित हैं (अथर्व० १०।२।३०-३३)]।

पश्यन्त्यस्याश्चरितं पृथिव्यां पृथङ् नरो बहुधा मीमांसमानाः ।
अग्नेर्वातान्मधुकशा हि जज्ञे मरुतामुग्रा नप्तिः ॥३॥

(बहुधा मीमांसमानाः) बहुत प्रकार से मनन करते हुए (नरः) मनुष्य, (पृथक्) पृथक्-पृथक् प्रकार से (पृथिव्याम्) पृथिवी में (अस्याः) इस पारमेश्वरी माता के (चरितम्) गतिविधियों को (पश्यन्ति) देखते हैं। (मधुकशा) पारमेश्वरी माता (हि) निश्चय से (अग्नेः, वातात्) अग्नि से और वायु से (जज्ञे) प्रादुर्भूत होती है। यह (मरुताम् उग्रा नप्तिः) मरुतों की उग्रा नप्ति पौत्री या दौहित्री के सदृश है। नप्तिः=नप्त्री।

[पृथिव्याम् के सम्बन्ध से पार्थिव अग्नि तथा पृथिवी के वायु मण्डल का वर्णन हुआ है। "मरुताम्" द्वारा मानसून वायु अभिप्रेत है। यथा "अथर्व० ४।२७।४,५" में मरुतः का अर्थ है मानसून वायु। इस वायु का पुत्र है मेघ, और मेघ की पुत्री है उग्रा-विद्युत। पारमेश्वरी माता विद्युत् के सदृश प्रकाशमयी है, तथा कर्मव्यवस्था में उग्रा है]

१. आत्मा वै पुत्र नामासि। त्वं जीव शरदः शतम्॥

मातादित्यानां दुहिता वसूनां प्राणः प्रजानाममृतस्य नाभिः ।
हिरण्यवर्णा मधुकशा घृताची महान् भर्गश्चरति मर्त्येषु ॥४॥

(आदित्यानाम् माता) आदित्य ब्रह्मचारियों के लिये मातृरूपा, (वसूनाम्) वसु ब्रह्मचारियों के लिये (दुहिता) दुहितारूपा, (प्रजानाम् प्राणः) प्रजाओं के लिये प्राणरूपा, (अमृतस्य) अमृत हुए जीवात्मा के लिये (नाभिः) नाभि सदृश पोषिका, हिरण्यवर्णा) हितकर तथा रमणीय रूप वाली या हिरण्य सदृश चमकीली, (घृताची) दीप्ति से अञ्चिता, (मधुकशा) मीठी-चाबुक रूपी पारमेश्वरी माता (मर्त्येषु) मनुष्यों में (महान् भर्गः) महा-भर्ग रूप हुई (चरति) विचरती है।

आदित्य ब्रह्मचारी तो ब्रह्मचर्य विषयक कामनाओं को पूर्ण कर चुके हैं, अतः उन के लिये पारमेश्वरी माता मातृवत् केवल स्नेहकारिणी होती है। वसु ब्रह्मचारियों की ब्रह्मचर्य विषयक कामनाओं की पूर्ति के लिये वह "दुहिता" रूपा है। **दुहिता="दोग्धि कार्याणि प्रपूरयतीति दुहिता"** (उणा० २।९७, म० दयानन्द)। जैसे दुहिता स्नेहवश माता-पिता की कामनाओं को, सेवा द्वारा, पूरित करती है, वैसे पारमेश्वरी माता वसुओं की कामनाओं को पूरित करती है। वह मुक्त हुए जीवात्मा की पोषिका है, जैसे नाभिनाल द्वारा माता गर्भस्थ शिशु का पोषण करती है। घृताची=घृ दीप्तौ+अच्। भर्गः—पापों का भर्जन करने वाली। यथा **"भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्"** (यजु० ३।३५; २२।९; ३०।२)। आदित्यानाम् माता=आदित्यानामर्थे माता, इत्यादि]

मधोः कशामजनयन्त देवास्तस्या गर्भो अभवद् विश्वरूपः ।
तं जातं तरुणं पिपर्त्ति माता स जातो विश्वा भुवना वि चष्टे ॥५॥

(मधोः कशाम्) मीठी-चाबुकरूपी पारमेश्वरी माता को (देवाः) देवकोटि के अभ्यासी (अजनयन्त) प्रकट करते हैं। (विश्वरूपः) विश्व को रूप देने वाला सूर्य (तस्याः गर्भः) उस पारमेश्वरी माता के गर्भ में (अभवत्) होता है। (तरुणम्) तरुणरूप में (जातम्, तम्) पैदा हुए उस सूर्य को (माता) पारमेश्वरी-माता (पिपर्त्ति) पालित करती है। (सः) वह सूर्य (जातः) पैदा होकर (विश्वा भुवना) सब भुवनों को (विचष्टे) देखता है।

[मघोः कशाम् = मधुकशाम्, विकल्पे षष्ठी "**शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः**" (योग १।६)

कस्तं प्र वे॑द॒ क उ॒ तं चि॑केत॒ यो अ॑स्या हृ॒दः क॒लशः॑ सोम॒धानो॒ अक्षि॑तः। ब्र॒ह्मा सु॒मे॒धाः सो अ॑स्मिन् मदेत ॥६॥

(कः) कौन (तम् प्रवेद) उसे ठीक तरह से जानता है, (कः उ) और कौन (तम् चिकेत) उसे विवेक पूर्वक जानता है (यः) जो कि (अस्याः) इस पारमेश्वरी माता का (हृदः कलशः) हृदयरूपी कलश है, जिसमें कि (सोमधानः) सोम निहित है, (अक्षितः) और जो कि क्षीण नहीं होता। (सुमेधाः) उत्तम-मेधा वाला (ब्रह्मा) चारों वेदों का ज्ञाता (अस्मिन्) इस हृदय-कलश में (मदेत) मोद पाता है।

[पारमेश्वरी माता का निवास स्थान है, मानुष-हृदय। यह हृदय कलश है। इस कलश में सोम अर्थात् वीर्य निहित हैं। हृदयस्थ-रक्त सोम की निधि रूप है,जबकि यह सोम क्षीण न किया जाता हो। जैसे दूध विलोड़ने पर उस में लीन मक्खन प्रकट होता है, वैसे कामवासना द्वारा रक्त से वीर्य (सोम) प्रकट होता है। कामवासना द्वारा न क्षीण किया गया सोम रक्त में निधि रूप में रहता हैं। "सुमेधाः चतुर्वेदवेत्ता" इस हृदय कलशस्थ सोम में मोद को प्राप्त करता है, और सोम को कामवासना द्वारा क्षीण नहीं होने देता। चारों वेदों का विद्वान् यदि आचार हीन है तो वह सुमेधाः नहीं, अपितु दुर्मेधाः है। दुर्मेधाः हृदयकलस्थ सोम में मोद प्राप्ति नहीं कर पाता, क्योंकि वह विचारों और आचार में पवित्र नहीं होता। "आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः"। वैदिक विद्वान् अर्थात् ब्रह्मा होते हुए भी आचर हीन से होने वह अपवित्र है।]

स तौ प्र वे॑द॒ स उ॒ तौ चि॑केत॒ याव॑स्याः स्तनौ॑ स॒हस्र॑धारा॒वक्षि॑तौ। ऊर्जं॑ दुहाते॒ अन॑पस्फुरन्तौ ॥७॥

(सः) वह सुमेधाः ब्रह्मा (तौ) इन दो को (प्रवेद) ठीक तरह से जानता हैं, (स उ) वह ही (तौ) उन दो को (चिकेत) विवेकपूर्वक जानता है (यौ अस्याः स्तनौ) जो दो स्तन इस पारमेश्वरी माता के हैं, जो कि (सहस्रधारौ) हजारों का धारण-पोषण करते, (अक्षितौ) और क्षीण नहीं होते, और जो (अनपस्फुरन्तौ) विना रुकावट (उर्जम्) बलकारी तथा प्राणप्रद अन्नरूपी दुग्ध (दुहाते) प्रदान करते हैं।

[स्तनौ = ये दो स्तन हैं संसाररूपी तथा मोक्षरूपी दो स्तन। संसाररूपी स्तन तो भोगियों के भोगरूप हैं, जिन में कि संसारी मस्त रहते हैं, और मोक्षरूपी स्तन मुक्तात्माओं को आनन्दरसरूपी दुग्ध पिलाते हैं। कहा है "**भोगापवर्गार्थम्, दृश्यम्**" (योग २।१८)। भोग है सांसारिक भोगियों के लिये, और अपवर्ग हैं मुक्तात्माओं के लिये। ऊर्जम् = ऊर्ज बलप्राणनयोः (चुरादिः), ऊर्क् अन्ननाम (निघं० २।७)। भोग और अपवर्ग विश्वरूप है, और यह पारमेश्वरी माता का पयः है, दुग्ध है (मन्त्र २)]

हि॒ङ्क॒रि॒क्र॒ती बृ॑ह॒ती व॑यो॒धा उ॒च्चैर्घो॑षा॒ऽभ्येति॒ या व्र॒तम्। त्रीन् घ॒र्मान॒भि वा॑वशा॒ना मिमा॑ति मा॒युं पय॑ते॒ पयो॑भिः ॥८॥

(हिङ्करिक्रती) बार-बार गति करती हुई, (बृहती) बड़ी शक्तिरूपा, (वयोधाः) अन्न का पोषण करने वाली, (उच्चैर्घोषा) ऊंची आवाज वाली (या) जो विद्युत्, (व्रतम्) निज कर्म को (अभ्येति) प्राप्त करती है, वह (त्रीन्) तीन (घर्मान्) दीप्तियों को (वावशाना) कान्तियुक्त करती हुई, (मायुम्) शब्द का (मिमाति) निर्माण करती है, और (पयोभिः) जलों के साथ (पयते) गति करती है।

[हिम् = हि "हि गतौ वृद्धौ च, स्वादिः] + क्विप्, द्वितीयैकवचन। करिक्रती = विद्युत् मेघ में बार-बार चमकती हुई बार-बार गति करती है। वयोधाः = वर्षा द्वारा अन्न का पोषण करती है "वयः अन्ननाम" (निघं० २।७)। व्रतम् कर्मनाम (निघं० २।१), वर्षा करना विद्युत् का कर्म है। घर्मान् = पार्थिव-अग्नि, सूर्य, और द्युलोक की दीप्तियां,—ये तीन दीप्तियां विद्युत् के ही रूप हैं। पयोभिः = मेघीय जलों के साथ-साथ गति करती है, विद्युत्। पयते = पय गतौ (भ्वादिः)। जिधर-जिधर वायु द्वारा प्रेरित हुए मेघ जाते हैं, मेघारूढ विद्युत् भी उधर-उधर ही गति करती है।

यामापी॑नामुप॒ सीद॒न्त्यापः॑ शाक्व॒रा वृ॑ष॒भा ये स्व॒राजः॑। ते व॑र्षन्ति॒ ते व॑र्षयन्ति त॒द्विदे॒ काम॒मूर्ज॒मापः॑ ॥९॥

(याम् आपीनाम्) जिस प्रवृद्ध हुई विद्युत् के (उप) समीप (आपः) जलमय मेघ (सीदन्ति) स्थित रहते हैं, (ये) जो जलमय मेघ (शाक्वराः) शक्तिशाली, (वृषभाः) वर्षा करने वाले, तथा (स्वराजः) स्वकीय विद्युत् द्वारा दीप्त होते हैं, चमकते हैं, (ते) वे मेघ (वर्षन्ति) वर्षा करते हैं, और

(ते) वे (आपः) जलमय मेघ (तद्विदे[1]) मेघविद्या जानने वाले के लिये (कामम्) यथेष्ट (ऊर्जम्) अन्न (वर्षयन्ति) बरसाते हैं।

[आपीनाम् = आ + ओप्यायी वृद्धौ (भ्वादिः) + क्तः "प्यायः पी" (अष्टा० ६।१।१६) द्वारा "पी" आदेश। कामम् = वर्षयन्ति क्रिया का विशेषण। ऊर्जम् = ऊर्क् अन्ननाम (निघं० २।७)]

स्तनयित्नुस्ते वाक् प्रजापते वृषा शुष्मं क्षिपसि भूम्यामधि।
अग्नेर्वातान्मधुकशा हि जज्ञे मरुतामुग्रा नप्तिः ॥१०॥

(प्रजापते) हे प्रजाओं के पति परमेश्वर! (स्तनयित्नुः) मेघगर्जन (ते) तेरी (वाक्) वाणी है, (वृषा) वर्षा करने वाला तू (भूम्याम् अधि) भूमि पर (शुष्मम्) बलशाली जल (क्षिपति, फैंकता है। (अग्नेः वातात्) अग्नि से और वायु से (हि) वस्तुतः (मधुकशा) मीठी-चाबुक (जज्ञे) प्रादुर्भूत होती है, जोकि (मरुताम्) मानसून वायु की (उग्रा नप्तिः) उग्रा नाती है।

[प्रजापति द्वारा परमेश्वर का वर्णन हुआ है, जिसे कि पूर्व के मन्त्रों में परमेश्वरी माता कहा है। इसे दर्शाने के लिये मन्त्र के उत्तरार्थ में मधुकशा का वर्णन हुआ है। उत्तरार्ध के लिये देखो मन्त्र (३)। मन्त्र ८, ९, १० में मधुकशा द्वारा विद्युत् का वर्णन मुख्यरूप में हुआ है। परन्तु इसी मन्त्र में प्रजापति के भी वर्णन द्वारा प्रजापति तथा विद्युत् का पारस्परिक सम्बन्ध भी द्योतित किया है। शुष्मम् बलनाम (निघं० २।९), अर्थात् प्रजापति ही मेघ और विद्युत द्वारा वर्षा कराता है]

यथा सोमः प्रातःसवने अश्विनोर्भवति प्रियः।
एवा मे अश्विना वर्च आत्मनि ध्रियताम् ॥११॥

(प्रातःसवने) प्रातःसवन में (यथा) जैसे (सोमः) सोम (अश्विनोः) दो अश्वियों को (प्रियः भवति) प्रिय होता है, (एवा) इसी प्रकार (अश्विना) हे दो अश्वियो! (मे आत्मनि) मेरी आत्मा में (वर्चः) वर्चस् (ध्रियताम्) स्थापित हो।

१. मेघ यदि स्वयं नहीं बरसते, तो मेघविद्या जानने वाला मेघों को कृत्रिम विधि से बरसा लेता है। वह कृत्रिम विधि है" कारीरी यज्ञ। यथा "**वर्षाकामः कारीर्या यजेत्**"।

यथा सोमो द्वितीये सवन इन्द्राग्न्योर्भवति प्रियः।
एवा म इन्द्राग्नी वर्च आत्मनि ध्रियताम् ॥१२॥

(द्वितीये सवने) द्वितीय सवन में (यथा) जैसे (सोमः) सोम (इन्द्राग्न्योः) इन्द्र और अग्नि को (प्रियः भवति) प्रिय होता है (एवा) इसी प्रकार (इन्द्राग्नी) हे इन्द्र-और-अग्नि! (मे आत्मनि) मेरी आत्मा में (वर्चः) वर्चस् (ध्रियताम्) स्थापित हो।

यथा सोमस्तृतीये सवन ऋभूणां भवति प्रियः।
एवा म ऋभवो वर्च आत्मनि ध्रियताम् ॥१३॥

(तृतीये सवने) तृतीय सवन में (यथा) जैसे (सोमः) सोम (ऋभूणाम्) ऋभुओं को (प्रियः भवति) प्रिय होता है, (एवा) इसी प्रकार (ऋभवः) हे ऋभुओ! (मे आत्मनि) मेरी आत्मा में (वर्चः) वर्चस् (ध्रियताम्) स्थापित हो।

[मन्त्र ११, १२, १३ का विनियोग वेदारम्भ संस्कार के सम्बन्ध में हुआ है (कौशिक सूत्र १३९।१५)। तीनों मन्त्रों में "सोम" का वर्णन हुआ है। ब्रह्मचारी तीन प्रकार के होते हैं वसु, रुद्र, आदित्य। २४ वर्षों की आयु के होते हैं, वसु[1] ४४ वर्षों की आयु के होते हैं रुद्र[1] और ४८ वर्षों की आयु के होते हैं आदित्य[1]। तीनों को सोम कहा है, जब तक वसु, रुद्र, और आदित्य ब्रह्मचर्याश्रम में रह कर आचार्यों द्वारा शिक्षा प्राप्त करते हैं तब तक इन्हें "सौम्य प्रकृति" हो कर शिक्षा प्राप्त करनी चाहिये, इसी लिये इन्हें "सोम" कहा है। तथा देखो (११।५ सूक्त)।

"सोम" का अर्थ ब्रह्मचारी होता है। यथा "**बृहस्पतिः प्रायच्छद्वास एतत् सोमाय राज्ञे परिधातवा उ**" (अथर्व० २।१३।२), अर्थात् बृहस्पति-आचार्य ने यह वस्त्र दिया है सोमराजा के पहिनने के लिये। तथा "**यस्य**

१. सत्यार्थप्रकाश तृतीय समुल्लास में, छान्दोग्योपनिषद् (३।१६) के प्रमाण के आधार पर, त्रिष्टुप् छन्द के अनुसार रुद्र ब्रह्मचारी को ४४ वर्षों का कहा है। त्रिष्टुप् छन्द के अक्षर ४४ होते हैं।

ते वासः प्रथमवास्यं हरामः" (अथर्व० २।१३।५) में सोम के "प्रथमवास्य वासः" का वर्णन है। "प्रथमवास्य" का अभिप्राय है ब्रह्मचर्याश्रम में प्रविष्ट होने के काल का वस्त्र। व्याख्याकारों ने इन तीन मन्त्रों में "सोम-ओषधि" का वर्णन माना है, जो कि अयुक्त है।

उपर्युक्त तीन मन्त्रों में "सवने" शब्द पठित है। याज्ञिक विधि से "सवन" का अर्थ किया जाता है "सोम-ओषधि को पीस कर उस से सोम-रस निकालने का काल। यथा "**सूयते अभिषूयते सोमः अत्रेति सवनःकालः**" (सायण, अथर्व० ७।८१।२)। छान्दोग्य उपनिषद् ३।१६ में "**चतुर्विंशति वर्षाणि तत् प्रातसवनम्**"; **चतुश्चत्वारिँ शद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिनँसवनम्** "**अष्टाचत्वारिँशद्वर्षाणि तत् तृतीयसवनम्**",—द्वारा तीन प्रकार के ब्रह्मचारियों के त्रिविध ब्रह्मचर्यकालों को तीन सवन[1] कहा है। अतः व्याख्येय (मन्त्र ११-१३) ब्रह्मचर्य विषयक ही प्रतीत होते हैं। ब्रह्मचर्य काल में वेदाध्ययन किया जाता है। इस प्रकार "मधुकशा" का तीसरा अर्थ "मधुमयी वेदवाणी" भी सार्थक हो जाता है।

तीन मन्त्रों में "अश्विनोर्भवति प्रियः"; इन्द्राग्न्योर्भवति प्रियः"; तथा "ऋभूणां भवति प्रियः"—ऐसा उपक्रम कर के, उपसंहार में "एवा मे वर्च आत्मनि ध्रियताम्" द्वारा "इसी प्रकार मेरी आत्मा में वर्चस् स्थापित हो,"—वर्चस् की प्राप्ति का वर्णन हुआ है। उपक्रम में सोम की प्रियता का तथा उपसंहार में वर्चस् का वर्णन परस्पर समन्वित प्रतीत नहीं होता। इस लिये उदाहरण के रूप में निम्न प्रकार अर्थ होना चाहिये। यथा "जैसे सोम अश्वियों को प्रिय होता है और इसलिये सोम में वर्चस् स्थापित होता है, इसी प्रकार मैं भी अश्वियों को प्रिय होऊं ताकि मेरी आत्मा में भी वर्चस् स्थापित हो"।

अश्विनोः, अश्विना,—अश्विनौ सम्बन्धी सूक्तों के अध्येताओं और

---

१. पुरुषो वाव यज्ञः तस्य यानि चतुर्विँशति वर्षाणि तत् प्रातःसवनं, चतुर्विँ-शत्यक्षरा गायत्री, गायत्रं प्रातःसवनम्, तदस्य वसवोऽन्वायत्ताः।

अथ यानि चतुश्चत्वारिँशद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिनँसवनं, चतुश्चत्वारिँ-शदक्षरा त्रिष्टुप्, त्रैष्टुभं माध्यन्दिनँसवनं तदस्य, रुद्रा अन्वायत्ताः।

अथ यान्यष्टाचत्वारिँशद्वर्षाणि तत् तृतीयं सवनमष्टाचत्वारिँशदक्षरा जगती जागतं तृतीयसवनम्, तदस्यादित्या अन्वायत्ताः।

तद्वेत्ताओं को, जोकि इन सूक्तों के मर्मज्ञ हैं, उन्हें मन्त्र में "अश्विनौ" कहा प्रतीत होता है। जैसे कि यजुर्वेद की कठ शाखा और चरक शाखा के अध्येताओं और तद्वेत्ताओं को "कठाः" तथा "चरकाः" कहा जाता है।

इसी प्रकार सब वेदों के अध्येताओं को "सर्ववेद" कहते हैं। वर्तमान में भी,—जिन्हें कि वेद कण्ठस्थ हैं "वेदमूर्तयः" कहा जाता है। वेदमूर्ति का अभिप्रायः वेद ही है। इस प्रकार के अश्विनों के शिष्य, इन अश्वियों के प्रिय बन जाते हैं। गुरु और शिष्य में यथोचित शिष्टाचार के रहते परस्पर प्रेमभाव का हो जाना स्वाभाविक ही है। गुरु द्वारा अश्विनौ सूक्तों के अध्ययन तथा तत्प्रतिपादित कर्त्तव्यों के पालन द्वारा "अश्विनौ" सम्बन्धी वर्चस् शिष्यों की आत्माओं में स्थापित हो जाता है। समीपस्थ गुरुकुलों में गृहस्थी भी समय समय पर जाकर जब तत्सम्बन्धी सदुपदेशों के लिये प्रार्थनाएं करते हैं तब उन की आत्माओं में तत्सम्बन्धी वर्चस् की स्थापना सम्भव ही है।

इसी प्रकार इन्द्र सम्बन्धी सूक्तों के वेत्ताओं को "इन्द्र", अग्नि सम्बन्धी सूक्तों के वेत्ताओं को "अग्नि", तथा ऋतु सम्बन्धी सूक्तों के वेत्ताओं को "ऋभवः" कहा जा सकता है। ऋभवः के सम्बन्ध में सायणाचार्य कहते हैं कि "**ऋभवो देवा ऋतेन सत्येन अवितथेन आत्मीयेन शिल्पकर्मणा चमसम् सोमभक्षणपात्रं एकम् ऐरयन्त प्रेरयन्त**", तथा "**ते च मनुष्या एव सन्तो रथनिर्माणादिशिल्पकरणेन देवांस्तोषयित्वा तत्प्रसादेन देवत्वं प्राप्ताः**" (अथर्व० ६।४८।३)। इस कथनानुसार जैसे "ऋभु" मनुष्य हैं, वैसे "अश्वि-नौ" तथा "इन्द्राग्नी" को भी मनुष्य माना जा सकता है जो कि सोम (सौम्य स्वभाव वाले) नामक ब्रह्मचारियों के यथाक्रम आचार्य हैं। जैसे "ऋभवः" आचार्य, शिल्प विद्या में निपुण होकर, आदित्य ब्रह्मचारियों को शिल्प की शिक्षा देते हैं, वैसे रुद्र ब्रह्मचारियों को आचार्य वेदानुसार, इन्द्र (विद्युत्) और अग्नि सम्बन्धी व्यवहारिक तथा ज्ञानात्मक शिक्षा देते हैं,—ऐसा अभिप्राय इन मन्त्रों का प्रतीत होता है। ऐसी शिल्पसम्बन्धी शिक्षा पाकर स्नातक, स्वतन्त्र धन्धे कर, निज आजीविका के लिये स्वावलम्बी हो सकते हैं।

मधुं जनिषीय मधुं वंसिषीय।
पयंस्वानग्न आगमं तं मा सं सृंज वर्चसा ॥१४॥

(मधु जनिषीय) मधु को मैं [अपने जीवन में] पैदा करूं, (मधु

वंसिषीय) मधु की मैं याचना करूं। (अग्ने) हे अग्नि विद्या के जानने वाले (मन्त्र १२) या ज्ञानाग्नि सम्पन्न आचार्य ! (पयस्वान्) दूध लेकर (आगमम्) मैं आया हूं, (तम् मा) उस मुझ को, (वर्चसा) माधुर्यरूपी वर्चस् के साथ (संसृज) संसर्ग कर।

[व्यक्ति निज जीवन में स्वयं भी मधुर होने का यत्न करे, और आचार्य से भी याचना करे कि वह इस सम्बन्ध में उसे मार्ग प्रदर्शन करे। जब आचार्य के पास जाये तो उसे दुग्ध भेंट करे। वंसिषीय = वनु याचने (तनादिः)। सूक्त में "मधुकशा" के मधु का वर्णन है, मधुकशा के माधुर्य के ज्ञापनार्थ "मधु" का वर्णन हुआ है। कशा (चाबुक, तथा वेदवाणी) परिणाम में मधुरूपा ही होती है]

सं माऽग्ने वर्चसा सृज सं प्रजया समायुषा ।
विद्युर्मे अस्य देवा इन्द्रो विद्यात् सह ऋषिभिः ॥१५॥

(अग्ने) हे अग्नि! [मन्त्र १४] (मा) मेरा (वर्चसा) वर्चस् के साथ (संसृज) संसर्ग कर, (सं प्रजया) प्रजा के साथ संसर्ग कर, (सम् आयुषा) और आयु के साथ संसर्ग कर! (देवाः) विद्वान् लोग, तथा (ऋषिभिः सह इन्द्रः[1]) ऋषियों के साथ इन्द्र (मे अस्य) इस मुझ की (विद्युः) प्रार्थना को जानें।

यथा मधु मधुकृतः सं भरन्ति मधावधि ।
एवा मे अश्विना वर्च आत्मनि ध्रियताम् ॥१६॥

(यथा) जैसे (मधुकृतः) मधु एकत्रित करने वाले मधुकर अर्थात् भौंरे (मधु) मधु को (मधौ अधि) मधु में या मधुछत्ते में (सं भरन्ति) भरते रहते हैं, इकठ्ठा करते रहते हैं, (एवा) इसी प्रकार (अश्विना) हे अश्वियों! (मे आत्मनि) मेरी आत्मा में (वर्चः) वर्चस् (ध्रियताम्) स्थापित हो। [अश्विना = आश्विनौ (मन्त्र ११)]

यथा मक्षा इदं मधु न्यञ्जन्ति मधावधि ।
एवा मे अश्विना वर्चस्तेजो बलमोजश्च ध्रियताम् ॥१७॥

---

१. इन्द्रः = सम्राट्। ऋषिभिः = ऋषिकोटि के मन्त्रियों सहित।

(यथा) जैसे (मक्षाः) मधुमक्खियां (इदम् मधु) इस मधु को (मधौ अधि) मधु में या मधुछत्ते में (न्यञ्जन्ति) नितरां लेपती रहती हैं, (एवा) इसी प्रकार (अश्विना) हे अश्वियों ! (मे) मुझ में (वर्चः, तेजः, बलम् ओजः च) वर्चस्, तेजस, बल और ओजस् (ध्रियताम्) स्थापित हो।

[वर्चस् = आत्मिक तेजस्; तेजस् = शारीरिक तेजस्, बलम् = शारीरिक बल, ओजस् = पराक्रम शक्ति। न्यञ्जन्ति = नि+अञ्जन् (म्रक्षणे)]

यद् गिरिषु पर्वतेषु गोष्वश्वेषु यन्मधु ।
सुरायां सिच्यमानायां यत् तत्र मधु तन्मयि ॥१८॥

(यत्) जो (गिरिषु) पर्वतों में, (पर्वतेषु) मेघों में, और (यत्) जो (गोषु, अश्वेषु) गौओं में और अश्वों में (मधु) मधु है। (सिच्यमानायाम् सुरायाम्) सींचे जाने वाले उदक में तथा (तत्र) उस खेत में [जिसमें कि जल सींचा जाता है] (यत्) जो (मधु) मधु है, (तत् मयि) उस प्रकार मधु, अर्थात् माधुर्य (मयि) मुझ में हो।

[पर्वतों में मधु है स्वच्छ तथा शीतल वायु। मेघों में मधु है स्वच्छ मधुर जल। गौओं में मधु है मधुर दूध। अश्वों में मधु है मधुर चाल। सींचे जाने वाले उदक में है अन्नोत्पादन की शक्ति। खेत में मधु है नानाविध उत्पन्न अन्न। इन नाना प्रकार के मधुओं के सदृश याचक अपने लिये मधु की याचना करता है। पर्वतेषु = पर्वतः मेघनाम (निघं० १।१०)। सुरा उदकनाम (निघं० १।१२)]

अश्विना सारघेण मा मधुनाऽङ्क्तं शुभस्पती ।
यथा वर्चस्वतीं वाचमावदानि जनाँ अनु ॥१९॥

(शुभस्पती) शुभकर्मों के स्वामी (अश्विना) हे अश्वियों ! (सारघेण) मधुमक्षिका के (मधुना) मधु द्वारा (मा) मुझे (आङ्क्तम्) लीप दो, या कान्तियुक्त कर दो, (यथा) ताकि (जनान् अनु) प्रजाजनों को लक्ष्य करके (वर्चस्वतीम् वाचम्) वर्चस् वाली वाणी (आवदानि) सर्वत्र मैं बोला करूं।

स्तनयित्नुस्ते वाक् प्रजापते वृषा शुष्मं क्षिपसि भूम्यां दिवि ।
तां पशव उप जीवन्ति सर्वे तेनो सेषमूर्जं पिपर्त्ति ॥२०॥

(प्रजापते) हे प्रजाओं के रक्षक या स्वामिन् परमेश्वर! (स्तनयित्नुः) मेघगर्जना (ते) तेरी (वाक्[1]) वाणी है, (वृषः) वर्षा करने वाला तू (शुष्मम्) बलप्रद उदक को (भूम्याम्) भूमि में (दिवि)[2] तथा द्युलोक में (क्षिपसि) फेंकता है। (ताम्) उस उदक वाली भूमि के (उप) आश्रय (सर्वे पशवः) सब पशु (जीवन्ति) जीवित हैं, (तेन उ) उस उदक द्वारा (सेषम्) अन्न सहित (उर्जम्) वल या प्राण (पिपर्ति) पालित होता है। [ऊर्ज बलप्राणनयोः (चुरादिः) रषम्, अन्ननाम (निघं० २.७)।

पृथिवी दण्डो३ऽन्तरिक्षं गर्भो द्यौः कशा विद्युत् प्रकशो हिरण्ययो बिन्दुः ॥२१॥

(पृथिवी, दण्डः) पृथिवी और [कर्मानुसार] दण्ड व्यवस्था (अन्तरिक्षम्, गर्भः) अन्तरिक्ष और गर्भीभूत मेघ; (द्यौः, कशा) द्युलोक और उसका शासन में रहना; (विद्युत्, प्रकशः) मेघीय विद्युत् और बेगवान् विद्युद्-वज्र; (हिरण्ययः, बिन्दुः) सुवर्णमय और बिन्दुवत् वर्तमान सूर्य [हे प्रजापति! तेरे आश्रय में जीवित से हो रहे हैं, सजीववत् वर्त रहे हैं, मन्त्र २०]।

[अभिप्राय यह है कि ब्रह्माण्ड और ब्रह्माण्ड के अङ्ग प्रत्यङ्गों में आत्मरूप से व्याप्त हो कर इन्हें प्रजापति सजीव सा कर रहा है। कशा = कश गतिशासनयोः इत्यन्ये (अदादिः)। प्रकाशः = प्रकर्षेण शासन रूपः, विद्युत् प्रपातरूपवज्रः, वः। विन्दुः = विन्दुवत् गोलाकार, तथा द्युलोक की व्याप्ति की दृष्टि से बिन्दुवत् अल्पकाय सूर्य। तभी सूर्य को नक्षत्र भी कहा है, (ऋग्वेद मण्डल १०)]

१. तू ही मेघ में शक्ति प्रदान कर उसमें गर्जना प्रकट करता है, अतः मानो गर्जना तेरी ही वाणी रूप है।

२. वैदिक सिद्धान्तानुसार लोकलोकान्तरों में भी प्राणी सृष्टि (यजु० ३१।१६) है। तथा महर्षि दयानन्द के अनुसार "जिस जाति की जैसी सृष्टि इस देश [पृथिवी] में है, वैसी ही जाति **की** सृष्टि अन्य लोकों में भी है। जिस जिस शरीर के प्रदेश में **नेत्रादि** अंग हैं उसी उसी प्रदेश में लोकान्तर में भी उसी जाती के अवयव भी वैसे ही होते हैं" (सत्यार्थप्रकाश), अष्टम समुल्लास इनके जीवन के लिये भी उदक चाहिये। इस लिये मन्त्र में "दिवि" द्वारा वर्षा को सूचित किया है।

यो वै कशायाः सप्त मधूनि वेद मधुमान् भवति।
ब्राह्मणश्च राजा च धेनुश्चानड्वांश्च व्रीहिश्च यवश्च मधु सप्तमम् ॥

(यः) जो (वै) निश्चय से (कशायाः) प्रजापति की चाबुक के (सप्त मधूनि) सात मधुओं को (वेद) जानता है (मधुमान् भवति) वह मधुओं का स्वामी होता है। (ब्राह्मणः च राजा च) ब्राह्मण और राजा, (धेनुः अनड्वान् च) दूध देने वाली गौ और बैल, (व्रीहिः च यवः च) व्रीहि और यव, (मधु सप्तमाम्) तथा सातवां मधु। मन्त्र में सप्तम "मधु" उपलक्षक है आहार योग्य पदार्थों का, जिन्हें कि "आहार्यम् कहा है (२३)।

[मन्त्र में तीन-जोड़ों में ६ मधुओं का वर्णन कर सातवें को "मधु" कहा है। सातवां मधु है शहद तथा खाण्ड-शक्कर आदि जोकि स्वभावतः मधुर हैं। और आहार्य हैं (मन्त्र २३) तीन जोड़ों के ६ मधु परिणामतः मधु है स्वभावतः नहीं। मन्त्र में "यः" द्वारा राष्ट्र के किसी मुख्याधिकारी का वर्णन हुआ है, सम्भवतः यह सम्राट् है जिसे कि "इन्द्र" कहा जाता है। इसके अधीन जो प्रादेशिक या माण्डलिक राजा होता है उसे "वरुण" कहा जाता है। यथा —

इन्द्रश्च सम्राट् वरुणश्च राजा (यजु० ८।३७)।

प्रत्येक माण्डलिक राज्य में ७ मधु चाहिये। (१) ब्राह्मण अर्थात् विद्वान्, निःस्पृह, तथा परोपकारी प्रधान मन्त्री। (२) राजा, जो कि सद्गुणों द्वारा प्रजाओं में दीप्यमान हो [राजृ दीप्तौ] (३) दूध देने वाली गौएं। (४) कृषि तथा भार वाहक अनड्वान्। (५) व्रीहि [धान]। (६) यव [जौ]। (७) मधु शहद आदि। इन सात पदार्थों के आधार पर राष्ट्र की सत्ता होती है। इसलिये ये सात राष्ट्र के लिये मधु कहे हैं। ये सात "कशा" के सात मधु हैं। "कशा" का अर्थ है "चाबुक"[1] जो कि दण्डरूप

१. मनुस्मृति में दण्ड की चाबुकता का वर्णन इस प्रकार हुआ है। यथा **"यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति पापहा। प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत् साधु पश्यति"** मनु०॥ अर्थात् "जहां कृष्ण वर्ण रक्तनेत्र भयंकर पुरुष के समान पापों का नाश करने हारा दण्ड विचरता है वहां प्रजा मोह को प्राप्त न होके आनन्दित होती है। परन्तु जो दण्ड का चलाने वाला पक्षपात रहित विद्वान् हो तो" (सत्यार्थप्रकाश, षष्ठ समुल्लास)।

(प्रजापते) हे प्रजाओं के रक्षक या स्वामिन् परमेश्वर ! (स्तनयित्नुः) मेघगर्जना (ते) तेरी (वाक्[1]) वाणी है, (वृषः) वर्षा करने वाला तू (शुष्मम्) बलप्रद उदक को (भूम्याम्) भूमि में (दिवि)[2] तथा द्युलोक में (क्षिपसि) फेंकता है। (ताम्) उस उदक वाली भूमि के (उप) आश्रय (सर्वे पशवः) सब पशु (जीवन्ति) जीवित हैं, (तेन उ) उस उदक द्वारा (सेषम्) अन्न सहित (उर्जम्) बल या प्राण (पिपर्ति) पालित होता है। [ऊर्ज बलप्राणनयोः (चुरादिः) रषम्, अन्ननाम (निघं० २.७)।

पृथिवी दण्डो३न्तरिक्षं गर्भो द्यौः कशा विद्युत् प्रकशो हिरण्ययों बिन्दुः ॥२१॥

(पृथिवी, दण्डः) पृथिवी और [कर्मानुसार] दण्ड व्यवस्था (अन्तरिक्षम्, गर्भः) अन्तरिक्ष और गर्भीभूत मेघ; (द्यौः, कशा) द्युलोक और उसका शासन में रहना; (विद्युत्, प्रकशः) मेघीय विद्युत् और बेगवान् विद्युद् -वज्र; (हिरण्ययः, बिन्दुः) सुवर्णमय और बिन्दुवत् वर्तमान सूर्य [हे प्रजापति ! तेरे आश्रय में जीवित से हो रहे हैं, सजीववत् वर्त रहे हैं, मन्त्र २०]।

[अभिप्राय यह है कि ब्रह्माण्ड और ब्रह्माण्ड के अङ्ग प्रत्यङ्गों में आत्मरूप से व्याप्त हो कर इन्हें प्रजापति सजीव सा कर रहा है। कशा=कश गतिशासनयोः इत्यन्ये (अदादिः)। प्रकाशः=प्रकर्षेण शासन रूपः, विद्युत् प्रपातरूपवज्रः, वः। विन्दुः=विन्दुवत् गोलाकार, तथा द्युलोक की व्याप्ति की दृष्टि से बिन्दुवत् अल्पकाय सूर्य। तभी सूर्य को नक्षत्र भी कहा है, (ऋग्वेद मण्डल १०)]

---

१. तू ही मेघ में शक्ति प्रदान कर उसमें गर्जना प्रकट करता हैं, अतः मानो गर्जना तेरी ही वाणी रूप है।

२. वैदिक सिद्धान्तानुसार लोकलोकान्तरों में भी प्राणी सृष्टि (यजु० ३१।१६) है। तथा महर्षि दयानन्द के अनुसार "जिस जाति की जैसी सृष्टि इस देश [पृथिवी] में है, वैसी ही जाति की सृष्टि अन्य लोकों में भी है। जिस जिस शरीर के प्रदेश में नेत्रादि अंग हैं उसी उसी प्रदेश में लोकान्तर में भी उसी जाती के अवयव भी वैसे ही होते हैं" (सत्यार्थप्रकाश), अष्टम समुल्लास इनके जीवन के लिये भी उदक चाहिये। इस लिये मन्त्र में "दिवि" द्वारा वर्षा को सूचित किया है।

यो वै कशायाः सप्त मधूनि वेद मधुमान् भवति।
ब्राह्मणश्च राजा च धेनुश्चानड्वांश्च व्रीहिश्च यवश्च मधु सप्तमम् ॥

(यः) जो (वै) निश्चय से (कशायाः) प्रजापति की चाबुक के (सप्त मधूनि) सात मधुओं को (वेद) जानता है (मधुमान् भवति) वह मधुओं का स्वामी होता है। (ब्राह्मणः च राजा च) ब्राह्मण और राजा, (धेनुः अनड्वान् च) दूध देने वाली गौ और बैल, (व्रीहिः च यवः च) व्रीहि और यव, (मधु सप्तमाम्) तथा सातवां मधु। मन्त्र में सप्तम "मधु" उपलक्षक है आहार योग्य पदार्थों का, जिन्हें कि "आहार्यम् कहा है (२३)।

[मन्त्र में तीन-जोड़ों में ६ मधुओं का वर्णन कर सातवें को "मधु" कहा है। सातवां मधु है शहद तथा खाण्ड-शक्कर आदि जोकि स्वभावतः मधुर हैं। और आहार्य हैं (मन्त्र २३) तीन जोड़ों के ६ मधु परिणामतः मधु है स्वभावतः नहीं। मन्त्र में "यः" द्वारा राष्ट्र के किसी मुख्याधिकारी का वर्णन हुआ है, सम्भवतः यह सम्राट् है जिसे कि "इन्द्र" कहा जाता है। इसके अधीन जो प्रादेशिक या माण्डलिक राजा होता है उसे "वरुण" कहा जाता है। यथा —

इन्द्रश्च सम्राट् वरुणश्च राजा (यजु० ८।३७)।

प्रत्येक माण्डलिक राज्य में ७ मधु चाहिये। (१) ब्राह्मण अर्थात् विद्वान्, निःस्पृह, तथा परोपकारी प्रधान मन्त्री। (२) राजा, जो कि सद्गुणों द्वारा प्रजाओं में दीप्यमान हो [राजृ दीप्तौ] (३) दूध देने वाली गौएं। (४) कृषि तथा भार वाहक अनड्वान्। (५) व्रीहि [धान]। (६) यव [जौ]। (७) मधु शहद आदि। इन सात पदार्थों के आधार पर राष्ट्र की सत्ता होती है। इसलिये ये सात राष्ट्र के लिये मधु कहे हैं। ये सात "कशा" के सात मधु हैं। "कशा" का अर्थ है "चाबुक"[1] जो कि दण्डरूप

---

१. मनुस्मृति में दण्ड की चाबुकता का वर्णन इस प्रकार हुआ है। यथा **"यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति पापहा। प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत् साधु पश्यति"** मनु०॥ अर्थात् "जहां कृष्ण वर्ण रक्तनेत्र भयंकर पुरुष के समान पापों का नाश करने हारा दण्ड विचरता है वहां प्रजा मोह को प्राप्त न होके आनन्दित होती है। परन्तु जो दण्ड का चलाने वाला पक्षपात रहित विद्वान् हो तो" (सत्यार्थप्रकाश, षष्ठ समुल्लास)।

होने से राष्ट्र की व्यवस्था को बनाए रखती है। परन्तु इस कशा का प्रयोग "मधु" रूप होना चाहिये, स्नेह और प्रेमभरा होना चाहिये। इस सूक्त का देवता है "मधुकशा। इसी का वर्णन, राष्ट्र दृष्टि से, "कशा" और मधु" शब्दों द्वारा मन्त्र में हुआ है]

मधुमान् भवति मधुमदस्याहार्यं भवति ।
मधुमतो लोकान् जयति य एवं वेद ॥२३॥

(यः) जो [मुख्याधिकारी] (एवम् वेद) इस प्रकार [राष्ट्रशासन के तत्त्वों को] (वेद) जानता है वह (मधुमान् भवति) इन मधुओं का स्वामी हो जाता है। (अस्य) इसके [राष्ट्र का] (आहार्यम्] खान-पान (मधुमत् भवति) मधुवाला हो जाता है। वह मुख्याधिकारी (मधुमतः लोकान्) इन मधुओं से सम्पन्न हुए माण्डलिक राष्ट्रों पर (जयति) विजय पा लेता है।

[मन्त्र में इन्द्र सम्राट्], और वरुण [माण्डिलिक राजाओं] के साम्राज्य और माण्डलिक राष्ट्रों का वर्णन हुआ है]

यद् वीध्रे स्तनयति प्रजापतिरेव तत् प्रजाभ्यः प्रादुर्भवति ।
तस्मात् प्राचीनोपवीतस्तिष्ठे प्रजापतेऽनु मा बुध्यस्वेति ।
अन्वेनं प्रजा अनु प्रजापतिर्बुध्यते य एवं वेद ॥२४॥

(वीध्रे) अन्तरिक्ष में (यद्) जोकि (स्तनयति) मेघ गर्जता है (तत्) वह (प्रजापतिः एव) प्रजापति ही (प्रजाभ्यः) प्रजाओं के लिये (प्रादुर्भवति) प्रादुर्भूत अर्थात् प्रकट होता है। (तस्मात्) इसलिये [उस समय] (प्राचीनोपवीतः) यज्ञोपवीत को दाहिने कन्धे पर रखकर बाईं भुजा के नीचे लटका कर (तिष्ठे) मैं स्थित होता है और प्रार्थना करता हूं कि (प्रजापते) हे प्रजापति (मा) मेरा (अनुबुध्यस्व इति) अनुचिन्तन कर, मेरा ख्याल कर। (यः एवं वेद) जो इस विधि को जानता है (प्रजाः) प्रजाएं (एनम्) इसका (अनु) अनुचिन्तन करती हैं, इसका ख्याल करती हैं, (प्रजापतिः) प्रजापति भी (अनुबुध्यते) इस का अनुचिन्तन करता है, ख्याल करता हैं।

[वीध्रे=अन्तरिक्षे; वि+इन्धी दीप्तौ; अन्तरिक्ष जिस में कि मेघीय विद्युत् विशेषरूप में चमकती है। मन्त्र २ में भी कहा है कि "स्तनयित्नुस्ते

वाक् प्रजापते"। यही भावना मन्त्र २४ में प्रकट की गई है। यदि परमेश्वर की सत्ता मेघ में न हो तो न तो मेघ की ही सत्ता होगी, और न उसके गर्जन की ही। प्रत्येक प्राकृतिक घटना में प्रजापति की सता अनुस्यूत जाननी चाहिये,—यह सत्य सिद्धान्त मन्त्र द्वारा प्रकट किया है।" प्रत्येक शुभकर्म में व्यक्ति को प्राचीनोपवीति होना चाहिये, इस विधि को भी मन्त्र में सूचित किया है। "नमो हरिकेशायोपवीतिने" (यजु० १६।१७) में भी "उपवीतिने" द्वारा यज्ञोपवीत का वर्णन हुआ है। "हरिकेशाय" का अर्थ है "मनोहारी केशों वाले के लिये" नमः हो। सूक्त की समाप्ति में भी प्रजापति द्वारा परमेश्वर का वर्णन हुआ है। अतः सूक्त में "मधुकशा" द्वारा परमेश्वर का ही वर्णन समझना चाहिये, विद्युत् का और वेदवाणी का वर्णन गौणरूप में]।

—:०:—

सूक्त २

विषय-प्रवेश

१. मन्त्र १-२५; देवता "काम"। काम है कमनीय[1] परमेश्वर इसी का वर्णन मुख्यरूप से मन्त्रों में हुआ है। कविता की दृष्टि से काम द्वारा परमेश्वरीय कामना का या स्वीय प्रबल कामना का भी वर्णन मन्त्रों में समझा जा सकता हैं।

२. काम द्वारा सपत्नों के निराकरण का वर्णन हुआ है। ये सपत्न न राष्ट्रिय है, न पर राष्ट्रिय, अपितु ये अध्यात्मरूप हैं, काम, क्रोध, लोभ आदि (मन्त्र २,३,५)।

३. मन्त्र ५ में वेदवाणी द्वारा सपत्नों के निराकरण का, तथा मन्त्र १६ में सपत्नों के प्रहारों से बचने के लिये ब्रह्म को कवच कहा है। इस प्रकार मन्त्रवर्णित सपत्न अध्यात्म ही प्रतीत होते हैं।

४. मन्त्र ४,६,१० में सपत्नों का निवास स्थान तमोगुण कहा है, और इस निवास स्थान के दहन करने का कथन हुआ है।

५. मन्त्र १७,१८ में देवासुरसंग्राम का वर्णन हुआ है।

६. ६, ८ में अग्निहोत्र द्वारा, तथा मन्त्र १५ में उदित होते हुए आदित्य द्वारा सपत्नों के निराकरण का वर्णन हुआ है। ये सपत्न रोग कीटाणु हैं।

७. मन्त्र १४ में राष्ट्रद्रोही सेनापति के दृष्टान्त द्वारा, अध्यात्म सपत्नों को धकेलने का वर्णन हुआ है।

८. मन्त्र २२ का अभिप्राय अस्पष्ट है,परन्तु ज्योतिष की दृष्टि से मन्त्र की सम्भाव्य व्याख्या की गई है।

९. मन्त्र २५ में पारमेश्वरीकामना का और मानुषी सात्विक या आध्यात्मिक कामना का मिश्रित वर्णन हुआ है।

---

१. **सर्वान् समश्नुते कामान्** (मनु० ५।५)=**सर्वान् काम्यान् समश्नुते।**

१०. मन्त्रों में "विश्वहा" के दो अर्थ प्रतीत होते हैं, (१) सर्वदा, (२) विश्व (सपत्न) हन्ता, अर्थात् विश्व+अहः और विश्व+हन्।

११. मन्त्र २३, २४ में परमेश्वर की व्यापकता का निर्देश हुआ है।

—:०:—

(मन्त्र १-२५), अथर्वा। कामः। त्रिष्टुप्; ५ अति जगती; ७, १४ १५, १७,१८, २१, २२ जगती; ८ द्विपदा आर्षी पंक्तिः; ११, २०, २३ भुरिक् १२ अनुष्टुप्; १३ द्विपदार्ची अनुष्टुप्; १६ चतुष्पदा; शक्करी गर्भा परा जगती।

स॒प॒त्न॒हन॑मृष॒भं घृ॒तेन॒ कामं॑ शिक्षामि ह॒विषाज्ये॑न।
नी॒चैः स॒पत्ना॒न् मम॑ पादय॒ त्वम॒भिष्टु॑तो मह॒ता वी॒र्ये॑ण ॥१॥

(सपत्नहनम्) सपत्नों का हनन करने वाले, (ऋषभम्) श्रेष्ठ (कामम्) काम[1] के प्रति (घृतेन) घृत की आहुति पूर्वक, (शिक्षामि) मैं अपने आप को समर्पित करता है। हे काम[1]! (हविषा, आज्येन) हवि द्वारा और आज्य द्वारा (अभिष्टुतः त्वम्) स्तुत हुआ तू (महता वीर्येण) निज महा सामर्थ्य द्वारा (मम) मेरे (सपत्नान्) सपत्नों को (नीचैः पादय) मेरे नीचे कर दे, मेरे अधीन करदे।

[सपत्न=जिनका पति समान हो, एक हो, ऐसे शत्रु; जैसे कि सपत्नी में एक पति की नाना पतियों की भावना है। दैव और आसुर विचारों का एक ही पति होता है—मन। इस लिये प्रार्थी के सपत्न हैं मानसिक-शत्रु। मन्त्र १७-१८ में देवों और असुरों का वर्णन हुआ है। अतः प्रसिद्ध देवासुर संग्राम सम्बन्धी असुरों का वर्णन, सपत्न शब्द द्वारा, मन्त्र में हुआ है। शिक्षामि=दान करता है (शिक्षति दान कर्मा, निघं० ३।१०)। अतः दान करता हूं=समर्पित करता है। यह समर्पण यज्ञ में हविः तथा घृताहुति पूर्वक हुआ है। हविषा-और-आज्येन द्वारा परमेश्वर की स्तुति हुई है, और उससे प्रार्थना की गई है। "कामम्" पद द्वारा जगदुत्पत्ति में कामना वाले परमेश्वर का, (सोऽकामयत, उपनिषद्), तथा कहीं-कहीं मन्त्रों से प्रार्थी की मनोऽभिलाषा या संकल्प शक्ति का भी वर्णन हुआ है]

---

१. कमनीय, काम्य परमेश्वर।

यन्मे मनसो न प्रियं न चक्षुषो यन्मे बभस्ति नाभिनन्दति ।
तद् दुष्वप्न्यं प्रति मुञ्चामि सपत्ने कामं स्तुत्वोदहं भिदेयम् ॥२॥

(यत्) जो (नमे मनसः) न मेरे मन को, (न चक्षुषः) न चक्षु को (प्रियम्) प्रिय है, (तत्) जो (मे) मेरी (बभस्ति) भर्त्सना करता है, (न अभिनन्दति) और मुझे आनन्दित नहीं करता, (तत्) उस दुष्वप्न्यम्) स्वाप्निक-बुरे-विचार को (सपत्ने) सपत्न पक्ष में (प्रति मुञ्चामि) मैं डालता हूं, (कामम् स्तुत्वा) कमनीय परमेश्वर का (स्तुत्वा) स्तवन करके (उद्) उत्कृष्ट होकर, (भिदेयम्) उसे मैं छिन्न-भिन्न कर दूं ।

[बभस्ति=भस भर्त्सन दीप्त्योः (जुहोत्यादिः) । दुष्वप्न्यम् (देखो अथर्व० काण्ड १६) । अर्थात् ऐसे दुःस्वप्न जो कि मेरे चित्त को नहीं भाते और देखने में जो अग्नि तथा भय पैदा करते हैं, उन्हें मैं अपना सपत्न जान कर त्याग देता हूं, और परमेश्वर की स्तुति द्वारा उन्हें छिन्न-भिन्न करता है]

दुष्वप्न्यं काम दुरितं च कामाप्रजस्तामस्वगतामवर्तिम् ।
उग्र ईशानः प्रति मुञ्च तस्मिन् यो अस्मभ्यमंहूरणा चिकित्सात् ॥३॥

(काम) हे कमनीय परमेश्वर ! (दुष्वप्न्यम्) बुरे स्वाप्निक दृश्यों या विचारों को, (काम) तथा हे कमनीय परमेश्वर ! (दुरितं च) और उनके दुष्परिणामों को, (अप्रजस्ताम्) सन्तान के अभाव को, (अस्वगताम्) धन प्राप्ति के अभाव को, (अवर्तिम्) आजीविका के अभाव को (उग्रः ईशानः) तू उग्र शासक (तस्मिन् प्रतिमुञ्च) उस में स्थापित कर (यः) जो कि (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (अंहूरणा=अंहूरणानि) पापकृत्यों को (चिकित्सात्) अपने मन में निवासित करता है ।

[चिकित्सात्=कित निवासे+सन् (इच्छायाम्)]

नुदस्व काम प्रणुदस्व कामावर्तिं यन्तु मम ये सपत्नाः ।
तेषां नुत्तानामधमा तमांस्यग्ने वास्तूनि निर्दह त्वम् ॥४॥

(काम) हे कमनीय परमेश्वर ! (नुदस्व) धकेल, (काम) हे कमनीय परमेश्वर ! (प्रणुदस्व) परे धकेल, (ये) जो (मम) सपत्नाः मेरे सपत्न

हैं, वे (अवर्तिम्) अजीविका को (यन्तु) प्राप्त हों । (तेषाम् नुत्तानाम्) धकेले गए उन के (वास्तूनि) बसने के स्थानों को (अग्ने) अग्निरूप हुआ हे परमेश्वर ! (त्वम्) तू (निर्दह) निरवशेष रूप से दग्ध कर दे, जो बसने के स्थान कि (अधमा तमांसि) नीच कोटि के तमोगुण हैं ।

[अवर्तिम्=बुरे विचार और बुरे स्वप्न हैं, सपत्न । इनकी आजीविका का स्रोत है तमोगुण । यह ही इनका निवास स्थान है । इन निवास स्थानों को भस्मीभूत कर देने की प्रार्थना की गई हैं]।

सा ते काम दुहिता धेनुरुच्यते यामाहुर्वाचं कवयो विराजम् ।
तया सपत्नान् परि वृङ्ग्धि ये मम पर्येनान् प्राणः पशवो जीवनं वृणक्तु ॥५॥

(काम) हे कमनीय परमेश्वर ! (ते) तेरी (दुहिता) बेटी या तेरी कामना को दोहन करने वाली, पूरा करने वाली (धेनुः) दुधार गौ (उच्यते) कही जाती है, (याम्) जिसे कि (कवयः) मेधावी जन (विरजम्, वाचम् आहुः) ज्ञान के प्रकाश के प्रकाशित वाणी कहते हैं । (तया) उस वाणी द्वारा (सपत्नान्) सपत्नों को (परिवृङ्ग्धि) हटा दे (ये मम) जो मेरे हैं, (एनाम्) इन सपत्नों को (प्राणः) मेरा प्राण, (पशवः) मेरी इन्द्रियां, (जीवनम्) मेरा जीवन (परिवृणक्तु) सर्वथा त्याग दे ।

[वाचम्=वेदवाणी परमेश्वर की मानो बेटी है, उस से उत्पन्न हुई है । वह दुधारू गौ है जोकि ज्ञान और सत्कर्म रूपी दुग्ध प्रदान करती है । वेद-वाणी के अनुसार जीवनचर्या करने से सपत्न हट जाते हैं, और इन के हटाने में परमेश्वर सहयोग प्रदान करता है । पशवः=इन्द्रियां । यथा "**इन्द्रियाणि हयानाहुः**" (कठ १।३।४) इन्द्रियों को हय अर्थात् अश्व कहते हैं । ये इन्द्रियां जब तक सपत्नों की साथिन बनी रहती हैं तब तक ये पशुरूप ही हैं] ।

कामस्येन्द्रस्य वरुणस्य राज्ञो विष्णोर्बलेन सवितुः सवेन ।
अग्नेर्होत्रेण प्र णुदे सपत्नांछम्बीव नावमुदकेषु धीरः ॥६॥

(इन्द्रस्य) परमैश्वर्यवान्, (वरुणस्य) पापनिवारक, (राज्ञः) जगत् के राजा, (विष्णोः) सर्वव्यापक (कामस्य) कमनीय परमेश्वर की (बलेन) प्रबल शक्ति द्वारा; (सवितुः) तथा प्रेरक कमनीय परमेश्वर की (सवेन)

प्रेरणा द्वारा; और (अग्नेः होत्रेण) दैनिक अग्निर्होत्र द्वारा (सपत्नान्) सपत्नों को (प्रणुदे) मैं परे धकेलता हूं, (इव) जैसे कि (धीरः) धैर्यवाला (शम्बी) नाविक (उदकेषु) नदी तथा समुद्र आदि के जलों में (नावम्) नौका को आगे-आगे धकेलता है।

[अग्नेहोत्रेण=देखो मन्त्र १ में "घृतेन, हविषा, आज्येन" जोकि यज्ञ के उपलक्षक हैं। मन्त्र में सपत्नों को धकेलने के तीन उपाय दर्शाए हैं, (१) परमेश्वर की प्रबल शक्ति, (२) परमेश्वरीय प्रेरणा, (३) तथा अग्नि-होत्र आदि शुभकर्म]।

अध्यक्षो वाजी मम काम उग्रः कृणोतु मह्यमसपत्नमेव ।
विश्वे देवा मम नाथं भवन्तु सर्वे देवाः हवमा यन्तु म इमम् ॥७॥

(वाजी) बलवान् (उग्रः) और उग्र (कामः) कमनीय परमेश्वर (मम अध्यक्षः) मेरा अध्यक्ष है, वह (मह्यम्) मेरे लिये मेरे जीवन को (असपत्नम्, एवं) सर्वथा सपत्नों से रहित (कृणोतु) करे। (विश्वे देवाः) सब दिव्य गुण (मम) मेरे (नाथम् भवन्तु) स्वामी हो जांय, (सर्वे देवाः) सब दिव्यगुण (मे) मेरे (इमम्, हवम्) इस आह्वान पर (आयन्तु) मेरी सहायता के लिये (आयन्तु) आ जांय।

[वाजी=वाजः बल नाम (निघं० २।९)। अतः वाजी=बलवान्। उग्रः (देखो मन्त्र ३)। जैसे सेनाध्यक्ष प्रजा और राष्ट्र को सपत्नों से रहित करता है, वैसे मेरे जीवन का अध्यक्ष कमनीय परमेश्वर काम क्रोध आदि सपत्नों से मुझे रहित करे। जब-जब मेरे जीवन में देवासुर संग्राम छिड़ जाय तब-तब देव मेरे स्वामी होकर मेरी रक्षा करें जैसे कि राजा राष्ट्र का स्वामी होकर राष्ट्र की रक्षा करता है, और इस संग्राम में मेरे आह्वान पर सब देव, दिव्य विचार उपस्थित हो जांय]।

इदमाज्यं घृतवज्जुषाणाः कामज्येष्ठा इह मादयध्वम् ।
कृण्वन्तो मह्यमसपत्नमेव ॥८॥

जैसे (घृतवत्) घृतवाली भोज्य वस्तु का (जुषाणाः) सेवन करते हुए मनुष्य, निर्बलता आदि सपत्नों से अपने को रहित कर हर्षित होते हैं, वैसे कमनीय परमेश्वर जिन में ज्येष्ठ शक्ति रूप हे ऐसे है देवो! (इदम्

आज्यम्) इस यज्ञीय-आज्य को (जुषाणाः) सेवन करते हुए तुम, (मह्यम्) मेरे लिये, [वायु आदि को] (असपत्नम् एव कृण्वन्तः) रोगरूपी सपत्नों से सर्वथा रहित करते हुए, (इह) इस जीवन में, (मादयध्वम्) मुझे हर्षित करो, प्रसन्न करो।

[देवाः=ऋत्विक् देव, तथा यज्ञ करने वाले पितृदेव, मातृदेव आचार्य देव। जुषाणाः=जुषी प्रीतिसेवनयोः (तुदादिः)]।

इन्द्राग्नी काम सरथं हि भूत्वा नीचः सपत्नान् मम पादयाथः ।
तेषां पन्नानामधमा तमांस्यग्ने वास्तून्यनु निर्दह त्वम् ॥९॥

(इन्द्राग्नी) हे इन्द्र-और अग्नि! (सरथम् हि भूत्वा) एक-रथ में स्थित हो कर तुम दोनों (मम) मेरे (सपत्नान्) सपत्नों को (नीचैः पादयाथः) मेरे नीचे कर देते हो, मेरे अधीन कर देते हो, अथवा नीचे धकेल देते हो। (तेषां पन्नानाम्) धकेले गए उन के (वास्तूनि) बसने के स्थानों को (काम अग्ने) हे अग्निरूप कमनीय परमेश्वर! तू (निर्दह) निरवशेष-रूप से दग्ध कर दे, जो बसने के स्थान कि (अधमा=अधमानि तमांसि) नीच कोटि के तमोगुण हैं। (देखो मन्त्र ४)।

[इन्द्राग्नी=इन्द्र है प्रबुद्ध जीवात्मा, और अग्नि है प्रबुद्ध ज्ञानाग्नि। यथा "**ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन**" (गीता)। सरथम्=एकरथ है शरीर यथा "**शरीरं रथमेव तु**" (कठ १।३।३)। जब जीवात्मा और ज्ञानाग्नि शरीर में युगपत् प्रबुद्ध हो जाते हैं तब काम, क्रोध आदि सपत्न वशीभूत हो जाते हैं, परन्तु दग्ध बीज नहीं होते। इन्हें निरवशेष रूप से दहन करने वाला केवल परमेश्वर रूप अग्नि ही है। यथा **रसोऽप्यत्र परं दृष्ट्वा निवर्तते**" (गीता ३।१९)। रसः=संस्कार, बीज]।

जहि त्वं काम मम ये सपत्ना अन्धा तमांस्यव पादयैनान् ।
निरिन्द्रिया अरसाः सन्तु सर्वे मा ते जीविषुः कतमच्चनाहः ॥१०॥

(काम) हे कमनीय परमेश्वर! (त्वम्, जहि) तू मार डाल (ये मम सपत्नाः) जो कि मेरे सपत्न हैं, (एनान्) इन सपत्नों को (अन्धा=अन्धानि तमांसि) अन्धा कर देने वाले तमोगुणों में (अव पारय) नीचे गिरा दे। (सर्वे) वे सब सपत्न (निरिन्द्रियाः) हमारी इन्द्रियों का आश्रय न पाएं,

प्रेरणा द्वारा; और (अग्नेः होत्रेण) दैनिक अग्निहोत्र द्वारा (सपत्नान्) सपत्नों को (प्रणुदे) मैं परे धकेलता हूं, (इव) जैसे कि (धीरः) धैर्यवाला (शम्बी) नाविक (उदकेषु) नदी तथा समुद्र आदि के जलों में (नावम्) नौका को आगे-आगे धकेलता है ।

[अग्नेहोत्रेण=देखो मन्त्र १ में "घृतेन, हविषा, आज्येन" जोकि यज्ञ के उपलक्षक हैं । मन्त्र में सपत्नों को धकेलने के तीन उपाय दर्शाए हैं, (१) परमेश्वर की प्रबल शक्ति, (२) परमेश्वरीय प्रेरणा, (३) तथा अग्निहोत्र आदि शुभकर्म] ।

अध्यक्षो वाजी मम काम उग्रः कृणोतु मह्यमसपत्नमेव ।
विश्वे देवा मम नाथं भवन्तु सर्वे देवाः हवमा यन्तु म इमम् ॥७॥

(वाजी) बलवान् (उग्रः) और उग्र (कामः) कमनीय परमेश्वर (मम अध्यक्षः) मेरा अध्यक्ष है, वह (महचम्) मेरे लिये मेरे जीवन को (असपत्नम्, एवं) सर्वथा सपत्नों से रहित (कृणोतु) करे। (विश्वे देवाः) सब दिव्य गुण (मम) मेरे (नाथम् भवन्तु) स्वामी हो जांय, (सर्वे देवाः) सब दिव्यगुण (मे) मेरे (इमम्, हवम्) इस आह्वान पर (आयन्तु) मेरी सहायता के लिये (आयन्तु) आ जांय ।

[वाजी=वाजः बल नाम (निघं० २।६) । अतः वाजी=बलवान् । उग्रः (देखो मन्त्र ३) । जैसे सेनाध्यक्ष प्रजा और राष्ट्र को सपत्नों से रहित करता है, वैसे मेरे जीवन का अध्यक्ष कमनीय परमेश्वर काम क्रोध आदि सपत्नों से मुझे रहित करे । जब-जब मेरे जीवन में देवासुर संग्राम छिड़ जाय तब-तब देव मेरे स्वामी होकर मेरी रक्षा करें जैसे कि राजा राष्ट्र का स्वामी होकर राष्ट्र की रक्षा करता है, और इस संग्राम में मेरे आह्वान पर सब देव, दिव्य विचार उपस्थित हो जांय] ।

इदमाज्यं घृतवज्जुषाणाः कामज्येष्ठा इह मादयध्वम् ।
कृण्वन्तो मह्यमसपत्नमेव ॥८॥

जैसे (घृतवत्) घृतवाली भोज्य वस्तु का (जुषाणाः) सेवन करते हुए मनुष्य, निर्बलता आदि सपत्नों से अपने को रहित कर हर्षित होते हैं, वैसे कमनीय परमेश्वर जिन में ज्येष्ठ शक्ति रूप हे ऐसे है देवो ! (इदम्

आज्यम्) इस यज्ञीय-आज्य को (जुषाणाः) सेवन करते हुए तुम, (महचम्) मेरे लिये, [वायु आदि को] (असपत्नम् एव कृण्वन्तः) रोगरूपी सपत्नों से सर्वथा रहित करते हुए, (इह) इस जीवन में, (मादयध्वम्) मुझे हर्षित करो, प्रसन्न करो ।

[देवाः=ऋत्विक् देव, तथा यज्ञ करने वाले पितृदेव, मातृदेव आचार्य देव । जुषाणाः=जुषी प्रीतिसेवनयोः (तुदादिः)] ।

इन्द्राग्नी काम सरथं हि भूत्वा नीचः सपत्नान् मम पादयाथः ।
तेषां पन्नानामधमा तमांस्यग्ने वास्तून्यनु निर्दह त्वम् ॥९॥

(इन्द्राग्नी) हे इन्द्र-और अग्नि ! (सरथम् हि भूत्वा) एक-रथ में स्थित हो कर तुम दोनों (मम) मेरे (सपत्नान्) सपत्नों को (नीचैः पादयाथः) मेरे नीचे कर देते हो, मेरे अधीन कर देते हो, अथवा नीचे धकेल देते हो । (तेषां पन्नानाम्) धकेले गए उन के (वास्तूनि) बसने के स्थानों को (काम अग्ने) हे अग्निरूप कमनीय परमेश्वर ! तू (निर्दह) निरवशेषरूप से दग्ध कर दे, जो बसने के स्थान कि (अधमा=अधमानि तमांसि) नीच कोटि के तमोगुण हैं । (देखो मन्त्र ४) ।

[इन्द्राग्नी=इन्द्र है प्रबुद्ध जीवात्मा, और अग्नि है प्रबुद्ध ज्ञानाग्नि । यथा "**ज्ञानाग्निः सर्वकर्मणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन**" (गीता) । सरथम्=एकरथ है शरीर यथा "**शरीरं रथमेव तु**" (कठ १।३।३) । जब जीवात्मा और ज्ञानाग्नि शरीर में युगपत् प्रबुद्ध हो जाते हैं तब काम, क्रोध आदि सपत्न वशीभूत हो जाते हैं, परन्तु दग्ध बीज नहीं होते । इन्हें निरवशेष रूप से दहन करने वाला केवल परमेश्वर रूप अग्नि ही है । यथा **रसोऽप्यत्र परं दृष्ट्वा निवर्तते**" (गीता ३।१९) । रसः=संस्कार, बीज] ।

जहि त्वं काम मम ये सपत्ना अन्धा तमांस्यव पादयैनान् ।
निरिन्द्रिया अरसाः सन्तु सर्वे मा ते जीविषुः कतमच्चनाहः ॥१०॥

(काम) हे कमनीय परमेश्वर ! (त्वम्, जहि) तू मार डाल (ये मम सपत्नाः) जो कि मेरे सपत्न हैं, (एनान्) इन सपत्नों को (अन्धा=अन्धानि तमांसि) अन्धा कर देने वाले तमोगुणों में (अव पारय) नीचे गिरा दे । (सर्वे) वे सब सपत्न (निरिन्द्रियाः) हमारी इन्द्रियों का आश्रय न पाएं,

(असरा: सन्तु) इस प्रकार वे रस रहित हो जांय, (ते) वे (कतमत् चन अह:) एक दिन भी (मा जीविसु:) न जीते रहें।

[अन्धा तमांसि = तमोगुण जीवन, व्यक्ति को अन्धा कर देता है। वह विवेक रहित हुआ सत्पथ को देख नहीं सकता। अरसाः = विषय भोग जन्य संस्कार सपत्नों के रस रूप हैं, (मन्त्र ९ की व्याख्या) जिन द्वारा सींची जा कर भोगवासनाएं प्ररोहित होती रहती हैं। इसी रस का विनाश गीता में कहा है (मन्त्र ६)]।

अर्वधीत् कामो मम ये सपत्ना उरुं लोकमकरुन्मह्यमेधतुम्।
मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रो मह्यं षडुर्वीर्घृतमा वहन्तु ॥११॥

(मम ये सपत्नाः) मेरे जो सपत्न हैं उन्हें (कामः अवधीत्) कमनीय परमेश्वर ने मार दिया है, (मह्यम्, एधतुम्) और मेरे लिये बढ़ने के लिये (उरुम् लोकम्) महान् आलोक को (अकरम्) दिव्य शक्तियों ने कर दिया है। (महचम्) मेरे पति (चतस्रः प्रदिशः) चारों विस्तृत दिशाएं, अर्थात् चारों दिशाओं के निवासी (नमन्ताम्) नत हों या हो गए हैं, (महचम्) मेरे लिये (षट् उर्वीः) ६ विस्तृत दिशाएं अर्थात् तन्निवासी (घृतम्) घृत आदि पदार्थ (आवहन्तु) फैलाएं।

[षट् उर्वीः चार विस्तृत दिशाएं पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण ध्रुवा दिक्, तथा ऊर्ध्वादिक्।, लोकम्, प्रदिशः = अथवा इन का अभिप्राय यह है कि काम, क्रोध आदि अध्यात्म-सपत्नों के विनाश से प्रकट हुई अध्यात्म शक्ति की विभूतिरूप में, व्यक्ति का संचरण लोकलोकान्तरों तथा दिग्-दिगन्तरों में सम्भव हो जाने से, मानो सब दिशाएं उस के प्रतिनत हो गई हैं, बाधा नहीं पैदा करती, और व्यक्ति सर्वत्र जा कर घृत आदि पदार्थों का सेवन कर सकता है। जैसे कि "**पृथिव्या अहमुदन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद्दिवमारुहम्**" (यजु० १७।६७) की व्याख्या में महर्षि दयानन्द लिखते हैं कि "जब मनुष्य अपने आत्मा के साथ परमात्मा के योग को प्राप्त होता है तब अणिमादि सिद्धि उत्पन्न होती है, उसके पीछे कहीं से न रुकने वाली गति से अभीष्ट स्थानों में जा सकता"। घृतम् = घी योगाभ्यास में सहायक होता, भोज्यपदार्थों को स्वादु करता, सात्विक, तथा पुष्टि करता है। इस लिये भोज्यरूप में इसका वर्णन होता है। अधिक गुणकारी होने से यज्ञों में भी इस का अधिक प्रयोग होता है]।

नेऽधराञ्चः प्र प्लवन्तां छिन्ना नौरिव बन्धनात्।
न सायक प्रणुत्तानां पुनरस्ति निवर्तनम् ॥१२॥

(ते) वे सपत्न (अधराञ्चः) नीचे की ओर (प्रप्लवन्ताम्) वह जांय, (इव) जैसे कि (बन्धनात्) बन्धन से (छिन्ना) टूटी (नौः) नौका नदी के प्रवाह में नीचे की ओर (सायक प्रणुत्तानाम्) वाण द्वारा धकेले हुओं का (पुनः) फिर (निवर्तनम्) लौट आना (न अस्ति) नहीं होता।

[अधराञ्चः = नदी का प्रवाह नीचे की ओर होता है। अधराञ्चः = अधर (नीचे) + अञ्चु (गतौ)। अथवा अधराञ्चः = अधरतमस् वाले, तमोगुण सपत्न (मन्त्र ६)। सायक प्रणुत्तानाम् = अध्यात्म प्रकरण में सायक का अभिप्राय है, आत्मरूपी शर, वाण आत्मशक्ति। यथा "**प्रणवो धनुः शरोह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते**" में आत्मा को शर अर्थात् वाण कहा है। आत्मशक्ति से धकेले गए काम, क्रोध आदि सपत्न पुनः आक्रमण नहीं कर पाते]

अग्निर्यव इन्द्रो यवः सोमो यवः।
यवयावानो देवा यावयन्त्वेनम् ॥१३॥

(अग्निः) ज्ञानाग्नि (यवः) पृथक् करने वाला है, (इन्द्रः) जीवात्मा (यवः) पृथक् करने वाला है, (सोमः) वीर्य (यवः) पृथक् करने वाला है। (यवयावानः) इन यवों द्वारा पृथक् करने वाले (देवाः) देव (एनम्) इस अध्यात्म सपत्न को (यावयन्तु) पृथक् कर दें।

[अग्निः, इन्द्रः (देखो मन्त्र ६)। सोमः = सोमन् (उणा० १।१४०) वीर्य = (semen)। ये तीनों यव हैं, सपत्नों का, व्यक्ति के साथ, अमिश्रण करने वाले हैं, व्यक्ति से अध्यात्म-सपत्नों को अलग करने वाले हैं (यव = यु मिश्रणामिश्रणयोः अदादि)। देवाः = मातृदेव, पितृदेव, आचार्य देव, अतिथि देव,। ये देव, अग्नि आदि यवों द्वारा, अध्यात्म सपत्नों को पृथक् करें ऐसी प्रार्थना मन्त्र में हुई है। अथवा अग्निः = आग; इन्द्र = सूर्य या विद्युत्; सोम = चन्द्रमाः—ये तीनों यव हैं, पृथक् करने वाले हैं, अन्धकार रूपी सपत्न के। व्यक्ति के जीवन में काम, क्रोध आदि को अन्धकार रूप कह कर उन्हें दूर करने की प्रार्थना की गई है]

असर्ववीरश्चरतु प्रणुत्तो द्वेष्यो मित्राणां परिवर्ग्यः स्वानाम् ।
उत पृथिव्यामव स्यन्ति विद्युत उग्रो वो देवः प्रमृणत् सपत्नान् ॥१४॥

जैसे (असर्ववीरः) सब वीरों से रहित हुआ, (मित्राणाम्) मित्रों में (द्वेष्यः) प्रेमरहित हुआ, द्वेष के योग्य हुआ, (स्वानाम्) सम्बन्धियों द्वारा (परिवर्ग्यः) पूर्णतया परित्यक्त हुआ (प्रणुत्तः) देश से धकेला गया, निःसारित हुआ शत्रु-राजा (चरतु) इधर-उधर चलता रहे, भटकता रहे। [हे प्रजाजनों !] (उत) तथा जैसे (विद्युतः) विद्युतें (अवस्यन्ति) राष्ट्रिय सपत्नों का अवसान कर देती हैं, वैसे (उग्रः देवः) उग्र, कमनीय परमेश्वर देव (वः) तुम्हारे (सपत्नान्) अध्यात्म सपत्नों को (प्रमृणत्) मार डाले।

[वीर=वीर योद्धा सैनिक; । परिवर्ग्यः=परि+वृजी वर्जने (अदादिः), परिवर्जनीयः। विद्युतः बहुवचन में, अतः सम्भवतः वैद्युतायुध। राष्ट्रिय-सपत्न के दृष्टान्त द्वारा अध्यात्म सपत्नों का वर्णन हुआ है, उग्रः (देखो मन्त्र ३)]

च्युता चेयं बृहत्यच्युता च विद्युत् बिभर्ति स्तनयित्नूंश्च सर्वान् ।
उद्यन्नादित्यो द्रविणेन तेजसा नीचैः सपत्नान् नुदतां मे सहस्वान् १५

(च्युता) स्व स्थान से च्युत होने वाली (इयं बृहती) यह बड़ी पृथिवी (च) और (अच्युता च) न च्युत होने वाली (विद्युत्) विद्युत्—इन दो में से प्रत्येक [जैसे] (सर्वान् स्तनयित्नूम् च) सब गर्जने वाले मेघों का (बिभर्ति) धारण-पोषण करती है [वैसे] (सहस्वान्) सहनशील कमनीय परमेश्वर (सर्वान् बिभर्ति) सब का भरण-पोषण करता है। [तथा जैसे] (उद्यन् आदित्यः) उदित होता हुआ आदित्य (द्रविणेन तेजसा) निज बल और तेज द्वारा या तेजरूपी बल द्वारा (मे सपत्नान्) मेरे रोगजनक कीटाणुओं को धकेलता है, वैसे (सहस्वान्) पराभव करने वाला कमनीय परमेश्वर मेरे अध्यात्म सपत्नों को (नीचैः नुदताम्) नीचे धकेल दे, पटक दे।

[पृथिवी च्युता है, निज स्थान से च्युत होती रहती है, सूर्य के चारों ओर परिभ्रमण द्वारा पूर्व स्थान को छोड़ कर अगले-अगले स्थानों की ओर बढ़ती रहती है, पूर्व राशि को छोड़ अगलो-अगली राशि की ओर बढ़ती रहती है। है विद्युत अच्युता। यह पृथिवी के वायुमण्डल में रहती है।

पृथिवी का वायुमण्डल पृथिवी के स्थान बदलने के साथ-साथ अपना स्थान बदलता है, स्वतन्त्ररूप में नहीं। अतः वायुमण्डल में रहने वाली विद्युत् भी स्वतन्त्रतया स्थान नहीं बदलती। इसलिये इसे अच्युता कहा है।

ये दोनों पृथिवी और विद्युत्, मेघों का भरण-पोषण करती हैं। पृथिवी के परिभ्रमण से ऋतुएं बनती, और इसके परिभ्रमण से ही वर्षा ऋतु आती, और मेघों का भरण-पोषण होता है। वायुमण्डल में स्थित कणों पर जब विद्युत् का आवेश होता है, तब पृथिवी से उठे वाष्प के कण, विद्युदाविष्ट पार्थिक कणों पर जमा हो जाते हैं, और मेघ का रूप धारण करते हैं। इस प्रकार विद्युत् भी मेघों का भरण-पोषण करती है। मन्त्र में "च" समुच्चयार्थक है।

उद्यन् आदित्यः,—यथा "**उद्यन्वादित्यः क्रिमीन् हन्तु निम्लोचन् हन्तु रश्मिभिः**" (अथर्व० २।३२।१)। आदित्य की प्रातःकाल की लालरश्मियां, तथा सांयकाल की लालरश्मियां रोग कीटाणुओं का विशेषतया विनाश करती हैं। उदय होता हुआ तथा अस्त होता हुआ सूर्य लालरश्मियों वाला होता है इस सम्बन्ध में कवि की उक्ति है। यथा"**उदेति सविता ताम्रः ताम्र एवास्तमेति च**"। ताम्रः=ताम्बा, जो कि लाल होता है। सहस्वान्=सहः सहन, तथा पराभव, करने वाला]

यत् ते काम शर्म त्रिवरूथमुद्भु ब्रह्म वर्म विततमनतिव्याध्यं कृतम् ।
तेन सपत्नान् परि वृङ्ग्धि ये मम पर्येनान् प्राणः पशवो जीवनं वृणक्तु

(काम) हे कमनीय परमेश्वर ! (यत् ते) जो तेरा (शर्म) सुखदायक (त्रिवरूथम्) त्रिविध दुःख निवारक, (विततम्) विस्तृत (ब्रह्म) वेद (उद्भु) उद्भूत हुआ है, प्रकट हुआ है, जोकि मेरे लिये (वर्म) सपत्न-निवारक कवचरूप है, और जिसे तूने (अनतिव्याध्यम्, कृतम्) अनश्वर किया है, (तेन) उस वेद द्वारा (सपत्नाम्) सपत्नों को (परिवृङ्ग्धि) पूर्णतया वर्जित कर दे, (ये मम) जो कि मेरे हैं। (एनान्) इन्हें (प्राणः) मेरा प्राण, (पशवः) मेरी इन्द्रियां (जीवनम्) मेरा जीवन (परि वृणक्तु) पूर्णतया त्यक्त कर दे।

[शर्म सुखनाम निघं० ३।६)। विततम्=जोकि सृष्टि के काल में विस्तृत रहता है, और आपः के स्वरूप में सदा विस्तृत रहता है। व्याध्यम्=

वींधने योग्य, विनाश योग्य । अनति व्याध्यम् = unpierceable । प्राणः, पशवः जीवनम् (देखो मन्त्र ५) । त्रिवरूथम् = अथवा तीन आवरणों वाली । गद्य, पद्य, और गतिरूपी तीन आवरणों द्वारा वैदिक ज्ञान आवृत है]

येन देवा असुरान् प्राणुदन्त येनेन्द्रो दस्यूनधमं तमो निनाय ।
तेन त्वं काम मम ये सपत्नास्तानस्माल्लोकात् प्रणुदस्व दूरम् ॥१७॥

(येन) जिस वेद द्वारा (देवाः) दिव्य लोगों ने (असुरान्) आसुर विचारों को (प्राणुदन्त) धकेला, (येन) जिस वेद द्वारा (इन्द्रः) प्रबुद्ध जीवात्मा ने (दस्यून्) उपक्षयकारी भावों को (अधमम्, तमः) अधमकोटि के तमोगुण में (निनाय) प्राप्त कर दिया, (तेन) उस वेद द्वारा (काम) हे कमनीय परमेश्वर ! (त्वम्) तू (मम ये सपत्नाः) मेरे जो सपत्न हैं, (तान्) उन्हें (अस्मात् लोकात्) इस पृथिवी लोक से (दूरम्) दूर (प्रणुदस्व) धकेल दे ।

[असुरान् = असु हैं "प्राण" + राः (वाले), प्राणपोषण तत्पर, जिन्हें कि अध्यात्म तत्त्वों की परवाह नहीं । दस्यून् = दसु उपक्षये (दिवादिः) । दस्युभाव तमोगुण में पनपते हैं]।

यथा देवा असुरान् प्राणुदन्त यथेन्द्रो दस्यूनधमं तमो बबाधे ।
तथा त्वं काम मम ये सपत्नास्तानस्माल्लोकात् प्रणुदस्व दूरम् ॥१८॥

(यथा) जिस प्रकार (देवाः) देवों ने (असुरान्) आसुर विचारों को (प्राणुदन्त) धकेला, (यथा) जिस प्रकार (इन्द्रः) प्रबुद्ध जीवात्मा ने (दस्यून्) दस्युओं को (अधमम् तमः) अधमकोटि के तमोगुण में प्राप्त कर उन्हें (बबाधे) विलोडा, (तथा) उसी प्रकार (त्वम्) तू (काम) हे कमनीय परमेश्वर ! (मम ये सपत्नाः) मेरे जो सपत्न हैं, (तान्) उन्हें (अस्मात् लोकात्) इस पृथिवी लोक से (दूरम्) दूर (प्रणुदस्व) धकेल दे ।

[यथा = स्वाध्याय, मनन, निदिध्यासन, सत्संग, ब्रह्मचर्य आदि द्वारा देवों ने असुरों को धकेला । बबाधे = बाधृ विलोडने]

वींधने योग
पशवः जीव
वाली । गह
आवृत है]

येनं देवा
तेन त्वं

(येन)
विचारों क
जीवात्मा
के तमोगुण
हे कमनीय
(तान्) उ
दस्व) धवे

[असु
कि अध्या
दस्युभाव

यथा देव
तथा त्वं

(यथ
(प्राणुदन्
(दस्यून्)
उन्हें (ब
नीय पर
उन्हें (अ
धकेल दे

[यथ
देवों ने अ

कामो जज्ञे प्रथमो नैनं देवा आपुः पितरो न मर्त्याः ।
ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत् कृणोमि।१९।

(कामः) कमनीय परमेश्वर (प्रथमः) सर्वप्रथम (जज्ञे) प्रकट हुआ, (एनम्) इसे (न देवाः आयुः) न देवों ने प्राप्त किया, (न पितरः, मर्त्याः) न पितरों ने और मर्त्यों ने। (ततः) इस लिये या उनसे (त्वम्) तू (विश्वहा) सदा से (ज्यायान् असि) ज्येष्ठ है और (महान्) महान् है। (काम) हे कमनीय परमेश्वर ! (तस्मै ते) उस तेरे प्रति (नमः इत्) नमस्कार ही (कृणोमि) मैं करता हूं।

[विश्वहा=अथवा सब "सपत्नों का हनन करने वाला"। नमः इत्= अभिप्राय यह है कि हे काम ! तू इतना महान् है कि तेरे प्रति जो भी भेंट लाऊं वह अति तुच्छ ही होगी, इस लिये नमः द्वारा मैं तेरे प्रति निज नम्रता ही भेंट करता हूं]

यावती द्यावापृथिवी वरिम्णा यावदापः सिष्यदुर्यावदग्निः ।
ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत् कृणोमि २०

(वरिम्णा) विस्तार से (यावती द्यावापृथिवी) जितनी द्यौः—पृथिवी हैं, (यावत्) जितनी दूर तक (आपः सिष्यदुः) जल प्रस्रवित हो रहे हैं, (यावत्) जितनी दूर तक (अग्निः) अग्नि व्याप्त हो रही है, (ततः) उस सब से (त्वम् असि ज्यायान् विश्वहा) तू सदा ज्येष्ठ है, बड़ा है, (महान्) और महान् है। (काम) हे कमनीय परमेश्वर ! (तस्मै ते) उस तेरे प्रति (नमः इत्) नमस्कार ही (कृणोमि) मैं करता हूं।

[द्यावापृथिवी, आप. और अग्नि के सम्मिलित विस्तार से भी तेरा विस्तार अधिक है। "आपः," पृथिवी में नदियों, समुद्रों, कूपों, झरनों, बर्फ आदि के रूप में, अन्तरिक्ष में वाष्प तथा मेघ के रूप में, तथा "दिवि", द्यौः में भी वर्षा के रूप में व्याप्त हैं (मन्त्र ९।१।२०), अग्नि भी सर्वत्र ब्रह्माण्ड में व्याप्त है]

यावतीर्दिशः प्रदिशो विषूचीर्यावतीराशा अभिचक्षणा दिवः ।
ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत् कृणोमि २१

(यावतीः) जितनी बड़ी (दिशाः) दिशाएं और (प्रदिशः) अवान्तर दिशाएं हैं, (यावतीः) जितनी बड़ी (आशा) सर्वत्र व्याप्त सुसम्बन्धी दिशाएं हैं, जोकि मानो (दिवः) द्युलोक का (अभिचक्षणाः) निरीक्षण कर रही हैं, (ततः) उन सब से (त्वम् असि ज्यायान् विश्वहा) तू सदा बड़ा है, (महान्) और महान् है, (तस्मै ते) उस तेरे प्रति (काम) हे कमनीय परमेश्वर! (नमः इत्) नमस्कार ही (कृणोमि) मैं करता हूं।

यावतीभृङ्गा जत्वः[कुरूरवो यावतीर्वघा वृक्षसर्प्योऽ बभूवुः ।
ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत् कृणोमि २२

(यावतीः) संख्या में जितनी (भृङ्गाः) भृङ्गें अर्थात् भौंरे हैं, भ्रमर हैं, (जत्वः) जितने चमगीदड़ हैं, (कुरूरवः) जितने शब्द करने वाले पक्षी हैं, (यावतीः) संख्या में जितनी (वृक्षसर्प्यः) वृक्ष में सर्पण करने वाली (वघाः) वघाएं हैं, (ततः) उन सब से (त्वम् असि ज्यायान् विश्वहा) संख्या में तू सदा बड़ा है, (महान्) महिमा में महान् है, (तस्मै ते) उस तेरे प्रति (काम) हे कमनीय परमेश्वर! (नमः इत्) नमस्कार ही (कृणोमि) मैं करता हूं।

[मन्त्र में "भृङ्गा": आदि का अभिप्राय अस्पष्ट है। "वघाः" के सम्बन्ध में "वघापते" (अथर्व० ६।५०।३) की व्याख्या में सायणाचार्य के अनुसार "अवघ्नन्ति, अवबाधन्त इति वघाः पतङ्गादयः" अर्थात् पतङ्गे आदि हैं। कुरूरव,=पक्षी हैं। "कुर्वन्ति रुम् (शब्दम्) इति," जोकि शब्द

१. सायाणाचार्य ने "वघाः" की निष्पत्ति "अव+हन्" से की है। "अव" के अकार का लोप, और हन्+ड=ह=घ, अतः "व+घ"=वघाः। धातु पाठ में "वघि" धातु है, जिसका अर्थ है गत्याक्षेप, अर्थात् निन्दित गति, स्वल्प गति, स्वल्प गति को "वृक्षसर्प्यः" में सर्पण द्वारा निर्दिष्ट किया है।

सम्भवतः "वघाः" पद "मघाः नक्षत्र" का विकृत रूप हो। और मन्त्र में "भृङ्गाः" आदि के सदृश "मघाः नक्षत्र" भी स्वतन्त्र रूप में अभिप्रेत हो, और "वृक्षसर्प्यः" भी एक स्वतन्त्र पद हो। "मघाः" के स्थान में पाठ "अघाः" भी मिलता है (ऋ० १०।८५।१३)। "वृक्षसर्प्यः" द्वारा वृक्षाकृतिक "फल्गुनी" नक्षत्र के द्वारा अभिप्रेत हैं। अतः भृङ्गाः, जत्व,:, कुरूरवः, वघाः, वृक्षसर्प्यः सभी स्वतन्त्र तारामण्डल हैं।

करते हैं, अर्थात् पक्षी। कुरूरवः=कुरुः[1]+उः[2]+रवः(रु शब्दे अदादिः)+क्विप्+प्रथमा बहुवचन।

प्रतीत होता है कि "भृङ्गाः" आदि द्युलोक के तारामण्डल हैं, प्राणी नहीं। भृंग=A large black bee (आप्टे)। भृङ्गाः को बड़ी काली Bee अर्थात् मक्खी या मक्षिका कहा है। तारामण्डल में एक "मक्षिकाः तारामण्डल भी है, जिसे कि "musca" कहते हैं। (Popular Hindu Astronomy), कालिनाथ मुकुरजी। तथा "musca" The fly, originally musca australis, the southern fly (Beyond the solar system, ग्रन्थकार "Willy ley",(पृष्ठ ६८) माक्षिका-मण्डल में कई तारा हैं, इन नाना तारों के कारण भृङ्गाः में बहुवचन हुआ है।

जत्वः—यह है चमगीदड़। यह उड़ता है, इस लिये यह पक्षी है।

इस का मुख गीदड़ सदृश होता है, इस लिये इसे गीदड़ अर्थात् fox भी कहा जा सकता है। the "little fox" एक तारा मण्डल भी है। नाना तारा इस में हैं,इसलिये "जत्वः" में बहुवचन है। fox=गीदड़। कुरूरवः=पक्षी। तारामण्डलों में पक्षी कई हैं। यथा "गरुड़मण्डल (Aquilla) कपोत (columba); हंस (cygnur) मयूरमण्डल; (pavo); इत्यादि।

वृक्षसर्प्यः[3] वघाः—वृक्ष से अभिप्राय "फल्गुनि" नक्षत्र का प्रतीत होता है। "पूर्वा-फल्गुनी नक्षत्र" और "उत्तराफल्गुनी नक्षत्र" को द्युलोक के

१. **कुप्रोरुच्च** (उणा० १।२४)।

२. "उ" अनर्थक है। यथा "**पदपूरणास्ते मिताक्षरेषु, अनर्थकाः, "कम्, ईम्, इत्, उ"** निरुक्त १।३।१०)। मघाः=मा+ घ (हन्) अघा ‖ प्र+घ (हन्); देखो अथर्ववेद भाष्य (१४।१।१३)।

३. संलग्न चित्र में "वृक्षसर्प्यः" के वृक्षों और उनमें सर्पण करने वाले ताराओं को दर्शाया है। डिगरी १०, ११, १२ के मध्य में नीचे की ओर दो अल्पकाय वृक्ष दर्शाए हैं, जिन्हें कि पूर्वाफल्गुनी तथा उत्तराफल्गुनी कहते हैं। इन दो वृक्षों को अथर्ववेद में "फल्गुन्यौ" कहा है (१६।७।३)। इन दो वृक्षों की शाखाएं चमक रही हैं। यह चमक नाना ताराओं के कारण है जिन्हें कि मन्त्र २२ में "वृक्षसर्प्यः" कहा है, अर्थात् वृक्षों में सर्पण करने वाले ताराः। इन दो वृक्षों में दो स्थूल तारा हैं, जोकि योगतारा अर्थात् मुख्यतारा हैं। ज्योतिषी इन्हीं दो ताराओं को पूर्वाफल्गुनी

चित्रों में वृक्षरूप में दर्शाया जाता है। इस नक्षत्र के घटक-तारा नाना होते हैं। इन्हें सम्भवतः "वघाः" कहा हो। "वघाः" तारे इस वृक्ष में सर्पण करते हैं, इसलिये "वघा" को 'वृक्षसर्प्यः" कहा गया हो वृक्षसर्प्यः स्त्रीलिङ्ग बहुवचनान्त है, जोकि तारासमूहरूप है। सायणाचार्य भी "वघाः" को "पतङ्गाः" कहते हैं। "तारा" परिणाम में अत्यल्पकाय दीखते हैं, अतः ये "पतङ्गों" के सदृश हैं। मन्त्र का अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि "भृङ्गाः" आदि में संख्या में जितने तारा हैं, संख्या की दृष्टि से कमनीय-परमेश्वर गुण-कर्मों में उनसे भी ज्यायान् है।

मन्त्र का अभिप्राय जो निर्दिष्ट किया है, उस से मन्त्र का महत्त्व प्रतीत होता है। "भृङ्गाः" आदि को प्राणी मानने पर मन्त्र का कोई महत्त्व नहीं रहता। "वृक्षसर्प्यः" में स्त्रीलिङ्ग और बहुवचन "वघा-ताराः" की दृष्टि से है।

ज्यायान् निमिषतोऽसि तिष्ठतो ज्यायान्त्समुद्रादसि काम मन्यो ।
ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत् कृणोमि २३

(मन्यो काम) हे मन्युरूप कमनीय परमेश्वर ! (निमिषतः) निमेषोन्मेष करने वाले प्राणियों से (तिष्ठतः) और स्थावरों से (ज्यायान् असि) तू वड़ा है, (समुद्रात् ज्यायान् असि) समुद्र से तू बड़ा है। (ततः) उन सब से (ज्यायान् विश्वहा असि) तू सदा बड़ा है, (महान्) तू सर्वतो महान् है, (तस्मै ते) उस तेरे प्रति (काम) हे कमनीय परमेश्वर। (नमः इत्) नमस्कार ही (कृणोमि) मैं करता है।

तथा उत्तरा-फल्गुनी कहते हैं। परन्तु मन्त्र २२ में "वघः" तथा "वृक्षसर्प्यः" में बहुवचन द्वारा ताराओं का बहुत्व दर्शाया है। फल्गुन्यौ का अर्थ है "फलरूपी गुणों से समन्वित दो वृक्ष"।

जत्वः—चमगीदड़ ! गीदड़ को संस्कृत में शृगाल कहते हैं। संलग्न चित्र में डिगरी २१ के अधोभाग में "शृगाल मण्डल" दर्शाया है, जिस का कुछ भाग छायापथ अर्थात् आकाश गङ्गा में प्रविष्ट हुआ है।

कुरूरवः अर्थात् पक्षियों के चित्र अन्य नाना चित्रों में दर्शाए जाते हैं। संलग्न चित्र में ऊपर की १६, २० डिगरियों के अधोभाग में "गरुड़मण्डल है, जोकि छाया पथ के "या"—अक्षर के समीपस्थ है।

अधोलिखित २२, २३ डिगरियों के उपरिभाग में "सारसमण्डल" दर्शाया है। तथा ऊपर की डिगरी २० के अधोभाग में "वकमण्डल" भी दर्शाया है। सारस = crane; वक=बगुला।

न वै वातश्चन काममाप्नोति नाग्निः सूर्यो नोत चन्द्रमाः ।
ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत् कृणोमि २४

(वै) निश्चय है कि (वातः चन) वायु भी (कामम्) कमनीय परमेश्वर [की व्याप्ति] को (न आप्नोति) नहीं प्राप्त होती, (न अग्निः, सूर्यः) न अग्नि और सूर्य, (उत न चन्द्रमाः) और न चन्द्रमा। (ततः) उन सब से (त्वम् असि ज्यायान् विश्वहा) तू सदा बड़ा है, (महान्) और महिमा में महान् है। (तस्मै ते) उस तेरे लिये (काम) हे कमनीय परमेश्वर ! (नमः इत्) नमस्कार ही (कृणोमि) मैं करता हूं।

[विश्वहा=अथवा सब सपत्नों का हनन करने वाला (मन्त्र १६-२४)]

यास्ते शिवास्तन्वः काम भद्रा याभिः सत्यं भवति यद् वृणीषे ।
ताभिष्ट्वमस्माँ अभिसंविशस्वान्यत्र पापीरप वेशया धियः ॥२५॥

(काम) हे कमनीय परमेश्वर ! (याः) जो (ते) तेरे (शिवाः) कल्याणकारी (भद्राः) और सुखदायी (तन्वः) स्वरूप हैं, (याभिः) जिन द्वारा (सत्यम्, भवति) वह सत्य हो जाता है (यद्) जिसे कि (वृणोषे) तू चाहता है, (ताभिः) उन तनुओं अर्थात् स्वरूपों के साथ (त्वम्) तू (अस्मान्) हममें (अभि सं विशस्व) प्रवेश कर, [और जो हमारी] (पापीः धियः) पापमयी बुद्धियां हैं उन्हें (अप) हम से पृथक् करके, (अन्यत्र) हेय पक्ष में (आवेशय) उन्हें प्रविष्ट कर।

[प्रार्थी चाहते हैं कि परमेश्वर के वे स्वरूप उनमें प्रविष्ट हो जांय, अर्थात् उन स्वरूपों समेत परमेश्वर उनके हृदयों में प्रविष्ट हो जाय, जिन से कि वह जो इच्छा करता है वह सत्यसिद्ध हो जाती है। प्रार्थी साथ ही यह भी प्रार्थना करते हैं कि जो पापमयी बुद्धियां हैं, वे उन से पृथक् हो जांय, और उन्हें वे हेयपक्ष की जान कर उनके परिहाण में वे सदा तत्पर रहें।

मन्त्र में "सत्कामना" का भी संबोधन प्रतीत होता है, जिस द्वारा कि प्रार्थी की अभीष्ट वस्तु सिद्ध हो जाती है जिसको कि वह चाहता है। इसे प्राकाम्य सिद्धि कहते हैं। प्राकाम्य का अर्थ है "इच्छानभिघात", अर्थात् इच्छा की पूर्त्ति हो जाना (योग ३।४५), व्यासभाष्य]

काण्ड ६ । सूक्त २ । सम्पूर्ण

—:०:—

सूक्त ३

विषय-प्रवेश

१. आदर्श शाला का निर्माण (१-६)।
२. शाला के ५ कमरे (७), तथा ११ कमरे (२१)।
३. शाला का दान (६,१०,१६)।
४. सन्तानों का शालासम्बन्धी उत्तराधिकार (११)।
५. भोजन के समय बलिवैश्वदेव यज्ञ (१२,१३)।
६. शाला में गार्हपत्याग्नि (१४, २१)।
७. शाला का परिमाण और शेवधियां (१५)।
८. पद्वती शाला (२७)। तथा "चतुःस्रक्ति परिचक्राम्" शालाम् (मन्त्र १६ की टिप्पणी)।
९. रात्री काल में शाला के द्वार को बन्द करना (१८)।
१०. विद्युत् तथा अग्नि द्वारा शाला की रक्षा, तथा प्रसूति ग्रह (१६-२०)
११. यक्ष्म रोग चिकिसा, जल तथा अमृत अग्नि द्वारा (२३)।
१२. शाला को स्थानान्तरित कर सकना (१४)।
१३. शाला प्रवेश संस्कार (२५-३१)।

—:०:—

१-३१ भृग्वङ्गिराः। शाला। अनुष्टुप्; ६ पथ्या पंक्तिः; ७ परोष्णिक् १५ त्र्यवसाना पञ्चपदातिशक्वरी, १७ प्रस्तारपंक्तिः; २१ आस्तार-पंक्तिः; २५, ३१ त्रिपदा प्राजापत्या बृहती; २६ साम्नी त्रिष्टुप्; २७-३० प्रतिष्ठानाम गायत्री; २५-३२ एकावसाना त्रिपदा।

उपमितां प्रतिमितामथो परिमितामुत।
शालाया विश्ववाराया नद्धानि वि चृतामसि ॥१॥

(उपमिताम्) उपमारूप, (अथ उ प्रतिमिताम्) और प्रतिमारूप, (उत परिमिताम्) तथा सब ओर से मापी गई, [शाला को] (विचृतामसि) हम विशेषतया ग्रथित करते हैं। (विश्ववारायाः) सब ओर द्वारों वाली या सब ओर से आवृत हुई (शालायाः) शाला के (नद्धानि) बन्धनों को (विचृतामसि) विशेषतया हम ग्रथित करते हैं।

[उपमिताम्=शाला के निर्माण में उपमारूप, आदर्शरूप। प्रतिमिताम्=जिसमें आमने-सामने के द्वार तथा खिड़कियां परस्पर में प्रतिरूप हैं, प्रतिच्छाया रूप (Image) हैं, परस्पर सदृश हैं। विश्ववारायाः; = वारः=A door gate(आप्टे), तथा "that which covers" (आप्टे) वि चृतामसि=चृती हिंसाग्रन्थयोः (तुदादिः)। यहां ग्रन्थन अर्थ प्रतीत होता है। शाला को स्थानान्तरित करना है (२४), इसलिये इसके बन्धनों को अधिक ग्रथित करने का विधान हुआ है]

यत् ते नद्धं विश्ववारे पाशो ग्रन्थिश्च यः कृतः।
बृहस्पतिरिवाहं बलं वाचा विस्रंसयामि तत् ॥२॥

(विश्ववारे) हे सब ओर द्वारों वाली या सब ओर से आवृत हुई शाला! (ते) तेरा (यत् नद्धम्) जो बन्धन है, (च) और (यः) जो (पाशः ग्रन्थिः कृतः) पाश और गांठ की गई है (तत्) उसे (वाचा) निज कथन या आज्ञा द्वारा, (अहम् विस्रंसयामि) ढीलेपन से या गिरने से विगत मैं करता हूं, उसे सुदृढ़ करता हूं, (इव) जैसे कि (बृहस्पतिः) निज सौर मण्डल में बड़ा सूर्य, (बलम्) बलशाली मेघ को, [अन्तरिक्ष में सुदृढ़ करता है। [पाशः=रस्सी]

आ ययाम सं बबर्ह ग्रन्थींश्चकार ते दृढान्।
परूंषि विद्वांछस्तेवेन्द्रेण वि चृतामसि ॥३॥

(आ ययाम) जिसने फैलाया है, (सं बबर्ह) आच्छादित किया है, और (ते) तेरी (ग्रन्थीन् दृढान् चकार) गांठों को दृढ़ किया है, उन्हें (इन्द्रेण) शाला स्वामी [को आज्ञा] द्वारा (वि चृतामसि) हम विशेष ग्रथित करते हैं, (इव) जैसे कि (विद्वान् शस्ता) शस्त्र क्रिया अर्थात् शल्य क्रिया को जानने वाला वैद्य (परूंषि) शरीर के अंगों को काटता और जोड़ देता है। [सं बबर्ह=बर्ह परिभाषण हिंसाच्छादनेषु (भ्वादिः)]

वंशानां ते नहनानां प्राणाहस्य तृणस्य च ।
पक्षाणां विश्ववारे ते नद्धानि वि चृतामसि ॥४॥

(विश्ववारे) हे सब ओर द्वारों वाली या सब ओर से आवृत हुई शाला ! (ते) तेरे (वंशानाम्) बांसों के, (नहनानाम्) बन्धनों के, (प्राणाहस्य) प्राणाह के, (च तृणस्य) और फूस के, (पक्षाणाम्) और पक्ष के कमरों के (नद्धानि) बन्धनों को (वि चृतामसि) हम विशेषरूप में ग्रथित करते हैं।

[नहन, प्राणाह = शाला को दृढ़ बांधने के उपकरण विशेष हैं। दोनों पदों में "नह" धातु हैं जिसका अर्थ है "बान्धना"] पक्षाणाम् (देखो मन्त्र २१)]

संदंशानां पलदानां परिष्वञ्जल्यस्य च ।
इदं मानस्य पत्न्या नद्धानि वि चृतामसि ॥५॥

(इदम्) अब (मानस्य पत्न्याः) मान को रक्षा करने वाली शाला सम्बन्धी (संदंशानाम्) सन्दंशों के, (पलदानाम्) पलदों के, (च) और (परिश्वञ्जल्यस्य) सब ओर बन्धे या लगाए [चित्रों] के (नद्धानि) बन्धनों को (विचृतामसि) विशेषतया हम ग्रथित करते हैं।

[मानस्य पत्न्याः = अपनी शाला का होना "मान" का चिह्न है। किराये की शाला में निवास "मान" का चिह्न नहीं। पत्न्याः = पत्नी का अर्थ मन्त्र में विवाहित पत्नी नहीं, अपितु इसका अर्थ है "रक्षा करने वाली अतः वैदिक पद यौगिक हैं। "पत्नी" पद "पा रक्षणे" का रूप है। अथवा "पत्नी की तरह रक्षा करने वाली"। उपमावाचक पद लुप्त है। संदंशानाम् = सण्डाशियां या clamps। पलदानाम् = पल, घटिका, मूहूर्त आदि प्रदर्शक यन्त्र। clamps (पाहू, कोनिया)।

यानि तेऽन्तः शिक्यान्याबेधू रण्याय कम् ।
प्र ते तानि चृतामसि शिवा मानस्य पत्नि न उद्धिता तन्वे भव ॥६॥

(रण्याय) रमणीयता के लिये (ते अन्तः) तेरे अन्दर (यानि शिक्यानि) जो छिक्के (आवेधुः) उन्होंने बान्धे हैं, (तानि) उन (ते) तेरे छिक्कों को (प्र चृतामसि) हम सुदृढ़ ग्रथित करते हैं, (मानस्य पत्नि) हे मान की रक्षा करने वाली शाला ! (उद्धिता त्वम्) ऊंची निर्मित हुई तू (नः तन्वे) हमारे शरीरों के लिये (शिवा भव) कल्याणकारिणी हो।

हविर्धानमग्निशालं पत्नीनां सदनं सदः ।
सदो देवानामसि देवि शाले ॥७॥

(हविर्धानम्) अन्न का स्टोर, (अग्निशालम्) रसोई, (पत्नीनाम्, सदनम्) पत्नियों का निवास स्थान, (सदः) बैठक, (देवानाम् सदः) अतिथि आदि देवों का कमरा (असि) तू है (देवि शाले) हे दिव्य शाला।

[पत्नीनाम् = इस पद द्वारा संयुक्त पारिवारिक जीवन को सूचित किया है, जिसमें कि भाइयों, चचा, ताया आदि की पत्नियां एकट्ठी रहती हैं]।

अक्षुमोपशं विततं सहस्राक्षं विषूवति ।
अवनद्धमभिहितं ब्रह्मणा वि चृतामसि ॥८॥

(विषूवति) विविध प्राणियों को पैदा करने वाली हे शाला ! (सहस्राक्षम्) हजारों झरोखों वाला (विततम्) विस्तृत (अक्षुम्) जाल (ओपशम्) तेरा शिरोभूषण रूप है जोकि (ब्रह्मणा) ब्राह्मण-पुरोहित द्वारा (अवनद्धम्) [द्वार के सिर पर] बान्धा गया है, (अभिहितम्) और जो वेद में कथित हुआ है, उसे (वि चृतामसि) हम विशेषतया ग्रथित करते हैं।

[विषूवति = वि + षूङ्[1] (प्रसवे) + वति, सम्बोधने] ओपशम् (देखो १४।१।८; ६।१३८।१,२)]

यस्त्वा शाले प्रतिगृह्णाति येन चासि मिता त्वम् ।
उभौ मानस्य पत्नि तौ जीवतां जरदष्टी ॥९॥

(शाले) हे शाला ! (यः त्वा प्रति गृह्णाति) जो तेरा ग्रहण करता है, (च) और (येन त्वम् मिता असि) जिस द्वारा तू निर्मित हुई है, (मानस्य पत्नि) हे मान की रक्षा करने वाली ! (उभौ तौ) वे दोनों (जीवताम्) जीवित रहें, (जरदष्टी) और जरावस्था को प्राप्त हों।

---

१. तथा षूङ् प्राणिगर्भविमोचने (अदादिः)।

अमुत्रैनमा दृढा नद्धा परिष्कृता ।
यस्यास्ते विचृतामस्यङ्गमङ्गं परुष्परुः ॥१०॥

हे शाला ! (यस्याः) जिस तेरे (अङ्गम् अङ्गम्) प्रत्येक अङ्ग को, (परुष्परुः) और प्रत्येक जोड़ को (वि चृतामसि) विशेषतया हम दृढ़ ग्रथित करते हैं, ताकि (एनम्) इस ग्रहण करने वाले को तू (दृढा नद्धा) दृढ़-बद्ध हुई, (परिष्कृता) सजी-सजाई, (अमुत्र) उस दूसरे स्थान में (आगच्छात्) पहुंच सके ।

[मन्त्र के वर्णन द्वारा तो यह प्रतीत होता है कि परिग्रह करने वाले को शाला, दृढ़-बद्ध हुई तथा सजी-सजाई भेंट की जा रही है, न कि तोड़-फोड़ करके, और उसके अङ्गों और जोड़ों को अलग-अलग करके । वह अमुत्र अर्थात् दूसरे स्थान में बिना तोड़े कैसे जायगी, इसके लिये देखो मन्त्र १७, २४)]

यस्त्वा शाले निमिमाय संजभार वनस्पतीन् ।
प्रजायै चक्रे त्वां शाले परमेष्ठी प्रजापतिः ॥११॥

(शाले) हे शाला ! (यः त्वा निमिमाय) जिस ने तेरा निर्माण किया है, (वनस्पतीन्) और जो वन्य काष्ठों को (सं जभार) लाया है, [मानो कि उन द्वारा] (शाले) हे शाला ! (परमेष्ठी) परम स्थान में स्थित (प्रजापतिः) प्रजारक्षक परमेश्वर ने (त्वाम्) तुझ को (प्रजायै) प्रजा=सन्तानों के लिये (चक्रे) निर्मित किया है ।

[सं जभार=सं जहार "हृग्रहोर्भश्छन्दसि" । परमेष्ठी=परमस्थान अर्थात् हृदय में स्थित । प्रजायै त्वा चक्रे=इस द्वारा सम्पत्ति पर सन्तानों का उत्तराधिकार भी सूचित होता है] ।

नमस्तस्मै नमो दात्रे शालापतये च कृण्मः ।
नमोऽग्नये प्रचरते पुरुषाय च ते नमः ॥१२॥

(तस्मै) उसके लिये (नमः) अन्न प्रदान करते हैं, (च) और (दात्रे) देने वाले (शालापतये) शाला के स्वामी के लिये (नमः कृण्मः) हम अन्न प्रदान करते हैं । (अग्नये) गृह्य अग्नि के लिये (नमः) अन्न प्रदान करते हैं (ते) हे शाला ! तेरे (प्रचरते) तथा प्रत्येक चलते-फिरते (पुरुषाय) पुरुष के लिये (नमः) अन्न प्रदान करते हैं ।

[तस्मै=जिस को शाला समर्पित करनी है । अग्नये=भोजन काल में पाकाग्नि के लिये बलिवैश्वदेव यज्ञ के निमित्त अन्नाहुतियां । प्रचरते=शाला निवासी प्रत्येक चलते-फिरते (भृत्य आदि) पुरुष के लिये भी अन्न प्रदान हो ! भोजन के काल में अन्न प्रदान का वर्णन हुआ है]

गोभ्यो अश्वेभ्यो नमो यच्छालायां विजायते ।
विजावति प्रजावति वि ते पाशांश्चृतामसि ॥१३॥

(गोभ्यः) गौओं के लिये, (अश्वेभ्य) अश्वों के लिये (नमः) अन्न प्रदान हम करते हैं, (यत्) जोकि (शालायाम्) शाला में (विजायते) जन्म लेता है, उसे भी अन्न प्रदान करते हैं । (विजावति) हे विविध जीवजन्तुओं वाली ! (प्रजावति) हे प्रकृष्ट-सन्तानों वाली शाला ! (ते पाशान्) तेरे फन्दों, रस्सियों को (वि चृतामसि) हम दृढ़ ग्रथित करते हैं ।

अग्निमन्तश्छादयसि पुरुषान् पशुभिः सह ।
विजावति प्रजावति वि ते पाशांश्चृतामसि ॥१४॥

हे शाला ! तू (अग्निम्) अग्नि को, (पशुभिः सह) और पशुओं के साथ (पुरुषान्) पुरुषों को (अन्तः) अपने अन्दर (छादयसि) आच्छादित करती है । (विजावति) हे विविध जीव-जन्तुओं वाली ! (प्रजावति) हे प्रकृष्ट-सन्तानों वाली शाला ! (ते पाशान्) तेरे फन्दों, रस्सियों को (विचृतामसि) हम दृढ़ ग्रथित करते हैं ।

[अग्निम्=गार्हपत्याग्नि ! रसोई की अग्नि के लिये देखो (मन्त्र ७)]

अन्तरा द्यां च पृथिवीं च यद् व्यचस्तेन शालां प्रति गृह्णामि त इमाम् ।
यदन्तरिक्षं रजसो विमानं तत् कृण्वेऽहमुदरं शेवधिभ्यः ।
तेन शालां प्रति गृह्णामि तस्मै ॥१५॥

(द्याम् च पृथिवी च) द्युलोक और पृथिवी के (अन्तरा) अन्तराल में (यद् व्यचः) जो विस्तार है (तेन) उस विस्तार से [युक्त] (ते) तेरी (इमाम् शालाम्) इस शाला का (प्रति गृह्णामि) में ग्रहण करता हूं । (यद्) जो (अन्तरिक्षम्) शाला के मध्य में अन्तरिक्ष अवकाश है, जोकि (रजसः) मनोरञ्जक वस्तुजात का (विमानम्) निर्माण करता है (तत्)

उसे (ग्रहम्) मैं ग्रहीता (शेवधिभ्यः) नानाविध खजानों अर्थात् निधियों के लिये (उदरम्) उदररूप (कृण्वे) करता हूं। (तेन) इस लिये (तस्मै) उस उदरीकरण के निमित्त (शालाम् प्रति गृह्णामि) मैं शाला को स्वीकार करता हूं।

[मन्त्र में शाला की ऊंचाई तथा लम्बाई-चौड़ाई का वर्णन, रूपकालंकार तथा कवियों द्वारा स्वीकृत अतिशयोक्ति के अनुसार हुआ है। शाला के छत्र को द्यौः, और आधार भूमि को पृथिवी, तथा बीच के खाली भाग को अन्तरिक्ष कहा है।

तथा शाला के अन्तरिक्ष को "रजसः विमानम्" कह कर विविध प्रकार की मनोरञ्जक वस्तुजात का निर्माता कहा है। क्योंकि इस अन्तरिक्ष में ही विचर कर गृहस्थी नाना प्रकार के गृहोपयोगी वस्तुओं का निर्माण करते हैं।

इस अन्तरिक्ष को "उदरं शेवधिभ्यः" कहा है। "शेवधि" का अर्थ होता है खजाना, जिसमें कि सुखदायी वस्तुएं सम्भाल कर रखी जाती हैं। चांदी-सुवर्ण के आभूषणों की निधि, अन्न की निधि, गौ, अश्व रूप निधियां आदि सब शेवधियां हैं। इन्हें सुरक्षित रूप में शाला के उदर में रखने का विधान हुआ है। जैसे माता के उदर में अनुत्पन्न शिशु सुरक्षित रहता है, वैसे ही गृह की निधियां भी शाला के उदर में रखी गयी सुरक्षित रहती हैं। ग्रहीता इन निधियों की सुरक्षा के लिये शाला को स्वीकृत करता है। रजसः=रञ्जक अर्थात् मनोरञ्जक पदार्थसमूह। उदरम्=**अन्तरिक्ष-मुलोदरम्** (अथर्व० १०।७।३२)। शेवधिभ्यः=शेवम् सुखनाम (निघं० ३।६) धिः (निधिः)]।

ऊर्जस्वती पयस्वती पृथिव्यां निमिता मिता।
विश्वान्नं बिभ्रती शाले मा हिंसीः प्रतिगृह्णतः ॥१६॥

(ऊर्जस्वती) बल और प्राण देने वाले अन्नों वाली, (पयस्वती) दूध वाली [तथा जल वाली], (मिता) और मापी गई शाला, (पृथिव्याम्) पृथिवी में (निमिता) निर्मित हुई है। (विश्वान्नम्) सब प्रकार के अन्नों को (बिभ्रती) धारण करती हुई (शाले) हे शाला! (प्रतिगृह्णतः) ग्रहण करने वाले की (मा हिंसीः) तू हिंसा न कर।

[ऊर्जस्=ऊर्ज बलप्राणनयोः (चुरादि); ऊर्क् अन्ननाम (निघं० २।७)। मा हिंसीः=गृहरूपी आश्रय के विना असुरक्षित को, आश्रय देकर, उसे हिंसित होने से बचा]

तृणैरावृता पलदान् वसाना रात्रीव शाला जगतो निवेशनी।
मिता पृथिव्यां तिष्ठसि हस्तिनीव पद्वती ॥१७॥

(तृणैः) फूस द्वारा (आवृता) [छत्त पर] ढकी हुई, (पलदान् वसाना) पलदों की ओढ़नी ओढ़े हुई (शाला) शाला, (रात्रीव) रात्री के सदृश, (जगतः) जङ्गम प्राणिसमूह को (निवेशनी) आश्रय देती है। हे शाला! (मिता) निर्मित हुई तू (पृथिव्याम्) पृथिवी में (तिष्ठसि) स्थित हुई है, (पद्वती) पैरों वाली (हस्तिनी) हथिनी (इव) के सदृश।

[शाला को पैरों वाली हथिनी से उपमित किया है। इस द्वारा सम्भवतः यह सूचित किया है कि शाला के भी पैर हैं। ये पैर सम्भवतः चक्र हैं, पहिये हैं, जिन पर शाला खड़ी की गई है, ताकि जहां चाहें शाला को चला-कर ले जाया जा सके (२४)। अन्यथा "हस्तिनीव" इतना कहना ही पर्याप्त था। "पद्वति"[1] द्वारा हथिनी, तथा शाला की, गति को सूचित किया है। पलदान्=मन्त्र ५ में "पलदानाम्" को बान्धने का वर्णन हुआ है (नद्धानि); और मन्त्र १७ में "पलदान्" का वर्णन आच्छादनार्थ है (वसाना), अतः इन दो स्थानों में "पलद" शब्द भिन्नार्थक है। वसाना=अथवा पलदों का वस्त्र पहिने हुई]

इटस्य ते वि चृताम्यपिनद्धमपोर्णुवन्।
वरुणेन समुब्जितां मित्रः प्रातर्व्युब्जतु ॥१८॥

हे शाला! (इटस्य) आने-जाने के (ते) तेरे [मार्ग] को (अपिनद्धम्) जोकि [रात्रीकाल में] बन्धा हुआ अर्थात् बन्द था, उसे (अपोर्णुवन्)

१. इस द्वारा संम्भवतः यह भी सूचित किया है कि शाला चार खम्भों पर खड़ी करनी चाहिये जैसे कि हथिनी चार टांगों पर खड़ी होती है। तथा गति के लिये शाला के खम्भों के नीचे पैर भी होने चाहियें। इस शाला के निर्माण में ईंट का प्रयोग नहीं हुआ।

आच्छादन से रहित करता हुआ मैं [गृहपति], (विचृतामि] पुनः ग्रथित कर देता है, (वरुणेन) आवरण करने वाले अन्धकार द्वारा (समुब्जिताम्) ढकी हुई शाला को (मित्रः) सूर्य (प्रातः व्युब्जतु) प्रातःकाल खोल दे।

[इटस्य इट गतौ (भ्वादिः)। अपोर्णुवन्=अप+ऊर्णुञ् आच्छादने, आच्छादन से रहित करता हुआ, खोलता हुआ। वरुणेन=वृञ् आवरणे (चुरादिः)। मन्त्र में रात्री काल में आने-जाने के मार्ग को बन्द करने, और प्रातःकाल उसे खोल देने का कथन हुआ है। कौशिक सूत्र ६६।२४ में द्वार को बन्द करने के लिये मन्त्र विनियुक्त हुआ है]

ब्रह्मणा शाला निर्मिता कविभिर्निर्मिता मिताम्।
इन्द्राग्नी रक्षतां शालाममृतौ सोम्यं सदः ॥१९॥

(ब्रह्मणा) ब्राह्मण पुरोहित द्वारा (निमिताम्) रखी गई आधार शिला वाली, (कविभिः) मेधावी शिल्पियों द्वारा (निमिताम् मिताम्) मापी गई, तथा निर्मित हुई (शालाम्) शाला को, (अमृतौ) मरने से बचाने वाले (इन्द्राग्नी) इन्द्र-और-अग्नि (रक्षताम्) सुरक्षित करें, तथा (सोम्यम्,) सदः, रक्षताम्) सोम[1] ओषधि प्रधान ओषधि[2] गृह की रक्षा करें।[3]

[कविभिः; कविः मेधाविनाम (निघं० ३।१५)। इन्द्राग्नी=यज्ञीय-अग्नि, तथा विद्युत्। "वायुर्वेन्द्रो वा ऽन्तरिक्षस्थानः" (निरु० ७।२।५) में इन्द्र को अन्तरिक्षस्थानी कहा है। अतः इन्द्र=विद्युत्]

कुलाये ऽधि कुलायं कोशः कोशः समुब्जितः।
तत्र मर्तो वि जायते यस्माद् विश्वं प्रजायते ॥२०॥

(कुलायेऽधि) जैसे घोंसले पर (कुलायाम्) घोंसला, वैसे (कोशे) कोश पर (कोशः) कोश (समुब्जितः) रखा गया है। (तत्र) उस बीच के कोश में (मर्तः) मरणधर्मा मनुष्य (वि जायताम्) विशेषतया जन्म ग्रहण करे,

---

१. "सोमो वीरुधामधिपतिः" (अथर्व० ४।२४।७)।

२. ओषधिगृह=जहां ओषधियों का संग्रह किया जाय।

३. पैप्पलाद शाखा में प्रथम पाद में "चतुः स्रक्तिं परिचक्राम' पाठ है अर्थात् "चार कोनों वाली तथा सब ओर चक्रों वाली शाला" (देखो मन्त्र १७)। चार खम्भों पर खड़ी होने के कारण शाला चतुः स्रक्ति है।

(यस्मात्) जिस जन्म ग्रहण किये मनुष्य से (विश्वम्) मानो एक नया संसार (प्रजायते) सन्तानुसन्तान रूप में अर्थात् वंश परम्परारूप में पैदा होता है।

[कमरे के मध्य में निर्मित कमरे को कोश कहा है। कोश अर्थात् खजाने की सुरक्षा में लिये कमरे से कमरा चाहिये। इस प्रकार कमरे के भीतर का कमरा सम्भवतः मानुष प्रसूति के लिये प्रसूतिगृह हो। मन्त्र २६ के अनुसार इस प्रसूतिगृह में गार्हपत्य-अग्नि तथा विद्युत् होनी चाहिये, और ओषधि-गृह भी]

या द्विपक्षा चतुष्पक्षा षट्पक्षा या निमीयते।
अष्टापक्षां दशपक्षां शालां मानस्य पत्नीमग्निर्गर्भ इवा शये ॥२१॥

(या) जो शाला (द्विपक्षा) दो पक्षों वाली, (चतुष्पक्षा) चार पक्षों वाली, (या) जो (षट्पक्ष) छः पक्षों वाली (निमीयते) निर्मित की जाती है, तथा (अष्टापक्षाम्) आठ पक्षों वाली (दशपक्षाम्) दश पक्षों वाली, (मानस्य पत्नीम्) मान की रक्षा करने वाली (शालाम्) शाला में, (अग्निः) गार्हपत्य-यज्ञियाग्नि (आशये) सोती है, (इव) जैसे कि (गर्भः) गर्भस्थशिशु माता के गर्भ में सोता है।

आ शये=आ शेते, "लोपस्त आत्मनेपदेषु" (अष्टा० ७।१।४७) द्वारा "त्" का लोप। पक्ष का अर्थ है "मध्यस्थ मुख्य कमरे के पार्श्वों में निर्मित कमरे। मन्त्रोक्त शाला ११ कमरों वाली है, एक मध्यस्थ कमरा तथा १० पक्षस्थ कमरे। अग्निः (देखो मन्त्र १६)। आ शये=शालास्थ अग्नि सदा उद्बुद्धावस्था में नहीं होती, अपितु प्रसुप्तावस्था में सदा बनी रहती हैं, आवश्यकानुसार इसे उद्बुद्ध कर लिया जाता है। यहां प्रश्न हो सकता है कि इतनी बड़ी शाला को तोड़े विना यह "अमुत्र" (१४) तथा "पत्रकामं भरामसि' (२४) के अनुसार स्थानान्तरित कैसे किया जा सकता है? इसका उत्तर यह है कि शाला "पद्वती" है। पहियों वाली है। जैसे पहियों वाली रेलगाड़ी एक स्थान से दूसरे स्थान में जाती है वैसे पहियों वाली शाला भी जा सकती है। पैप्पलाद शाखा में मन्त्र १६ के स्थान में पाठ है "चतुः स्रक्ति परिचक्राम शालाम्", अर्थात् चतुष्कोण तथा चारों कोनों में चक्रों अर्थात् पहियों वाली शाला को [इन्द्राग्नी सुरक्षित करें]। इसलिये शाला में लगे पहिये काल्पनिक नहीं, अपितु पैप्पलाद शाखा द्वारा पहिये वास्तविक प्रतीत

होते हैं। एक ही मन्त्र में "परिचक्राम" और "इन्द्राग्नी" के वर्णन से सम्भवतः पैप्पलाद शाखा में यह भी अभिप्रेत है कि इन्द्र (विद्युत्) और अग्नि, निज शक्ति द्वारा, परिचक्रा-शाला के संचालनपूर्वक शाला की रक्षा करें]

प्रतीचीं त्वा प्रतीचीनः शाले प्रैम्यहिंसतीम् ।
अग्निर्ह्य१ न्तरापश्चर्तस्य प्रथमा द्वाः ॥२२॥

इमा आपः प्रभराम्ययक्ष्मा यक्ष्मनाशनीः ।
गृहानुप प्र सीदाम्यमृतेन सहाग्निना ॥२३॥

(अहिंसतीम्) हिंसा न करने वाली [अर्थात् रक्षा करने वाली], (प्रतीचीम्) मेरी ओर मुखवाली (शाले) हे शाला ! (त्वा प्रतीचीनः) तेरी ओर मुखवाला (प्रैमि) मैं जाता हूं। (अग्निः आपः च) अग्नि और जल (ऋतस्य) यज्ञ के (प्रथमा=प्रथमौ) दो मुख्य (द्वाः) द्वार है, साधन हैं [उन्हें] (अन्तः) तेरे भीतर (प्रभरामि) मैं लाता हूं। (इमाः आपः) ये जल (अयक्ष्माः) यक्ष्मरोग रहित हैं, (यक्ष्मनाशनीः) और यक्ष्म-रोग का नाश करते हैं। तथा (अमृतेन) अमृत (अग्निना सह) अग्नि के साथ (गृहान्) घरों में (उप सीदामि) उपस्थित होता हूं, तथा (प्रसीदामि) प्रसन्न होता हूं।

[अग्नि और जल गृहस्थ-यज्ञ के दो मुख्य साधन हैं। जल ऐसे स्थान से लाने चाहियें जहां यक्ष्म रोग न हो। जल चिकित्सा यक्ष्म रोग का नाश करती है। घरों में अग्निहोत्र आदि करते रहना चाहिये। यज्ञाग्नि अमृतव का अर्थात् शीघ्र न मरने का साधन है। इस से घर में प्रसन्नता बढ़ती है। घर से बाहिर जब जाय तो घर की ओर पीठ करता हुआ न जाय।

मा नः पाशं प्रति मुचो गुरुर्भारो लघुर्भव ।
वधूमिव[1] त्वा शाले यत्रकामं भरामसि ॥२४॥

(नः) हमारे (पाशम्) पाशों को (मा प्रति मुचः) ढीला न कर, (गुरुः

१. वधू की उपमा यह दर्शाने के लिये दी है कि जैसे वधू पद्वती है, और पैरों से चलती है, इसी प्रकार शाला भी पद्वती है, और पैरों=चक्रों=पहियों द्वारा चलती है।

भारः) भारी भार (लघुः भव) हल्का हो जाय। (शाले) हे शाला ! (वधूम् इव) वधू के सदृश (यत्र कामम्) जहां हमारी इच्छा हो वहां (त्वा) तुझे (भरामसि) हम ले जांय।

[प्रतिमुचः; प्रतिमुच्=to free, liberate, release, यथा—अमुं-तुरङ्गं प्रतिमोक्तुमर्हसि (आप्टे)। लघुर्भव=चूंकि शाला पद्वती है, इस में चक्र अर्थात् पहिये लगे हुए हैं, इसलिये स्थानान्तरित करने में यह भारी प्रतीत नहीं होती अपितु लघु प्रतीत होती है (मन्त्र[1] १७; पद्वती)। नः पाशम्=हमने जो पाश तुझ पर बान्धे हैं उन्हें तू ढीला न कर, जब कि तुझे स्थानान्तरित किया जाय।

प्राच्या दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा
देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः ॥२५॥

(प्राच्याः दिशः) पूर्व दिशा से, (शालायाः महिम्ने) शाला के महत्त्व या महिमा के लिये (नमः) हम अन्नाहुतियां देते हैं, (स्वाह्येभ्यः) अर्थात् स्वाहा योग्य (देवेभ्यः) देवों के प्रति, (स्वाहा) स्वाहा पद के उच्चारण पूर्वक, अन्नाहुतियां देते हैं।

[शाला ग्रहण करने वाला जब शाला में प्रवेश करता है तब, शाला प्रवेश संस्कार के अनुसार, यज्ञ करता है, और ग्रहीता के सम्बन्धी[1] अग्नि में अन्नाहुतियां देते हैं। "नम अन्ननाम (निघं० २।७)]"

दक्षिणाया दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा
देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः ॥२६॥

दक्षिण दिशा से, शाला के महत्त्व[2] या महिमा के लिये हम अन्नाहुतियां देते हैं, अर्थात् स्वाहा[3] योग्य देवों के प्रति, स्वाहा पद के उच्चारणपूर्वक अन्नाहुतियां देते है।

प्रतीच्या दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा
देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः ॥२७॥

१. "भरामसि" (२४) द्वारा सूचित।
२. शाला के परिमाण की दृष्टि से।
३. शाला प्रवेश संस्कार में जिस-जिस दिशा के जो-जो देव हैं उनके प्रति।

पश्चिम दिशा से, शाला के महत्त्व या महिमा[1] के लिये हम अन्नाहुतियां देते हैं,अर्थात् स्वाहायोग्य देवों के प्रति, स्वाहा पद के उच्चारणपूर्वक अन्नाहुतियां देते हैं ।

उदीच्या दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा
देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः ॥२८॥

उत्तर दिशा से, शाला के महत्त्व या महिमा के लिये हम अन्नाहुतियां देते हैं, अर्थात् स्वाहायोग्य देवों के प्रति, स्वाहा पद के उच्चारणपूर्वक अन्नाहुतियां देते हैं ।

ध्रुवाया दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा
देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः ॥२९॥

ध्रवा दिशा से, शाला के महत्त्व या महिमा के लिये हम अन्नाहुतियां देते हैं, अर्थात् स्वाहायोग्य देवों के प्रति, स्वाहा पद के उच्चारणपूर्वक अन्नाहुतियां देते हैं ।

ऊर्ध्वाया दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा
देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः ॥३०॥

ऊर्ध्वा दिशा से [छत पर जाकर], शाला के महत्त्व या महिमा के लिये हम अन्नाहुतियां देते हैं, अर्थात् स्वाहायोग्य देवों के प्रति, स्वाहा पद उच्चारण पूर्वक अन्नाहुतियां देते हैं ।

दिशोदिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा
देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः ॥३१॥

दिशा-दिशा से, शाला के महत्त्व या महिमा के लिये हम अन्नाहुतियां देते हैं, अर्थात् स्वाहायोग्य देवों के प्रति, स्वाहापद के उच्चारणपूर्वक अन्नाहुतियां देते है ।

काण्ड ६ । सूक्त ३ । सम्पूर्ण

—:o:—

१. शाला परिमाण की दृष्टि से अल्पकाया हो या महाकाया परन्तु उपयोग की दृष्टि से उसकी महिमा ।

सूक्त ४

विषय प्रवेश

१. समग्र सूक्त में २४ मन्त्र हैं, और देवता है ऋषभ । महर्षि दयानन्द की दृष्टि में ऋषभ के दो अर्थ हैं । (१) श्रेष्ठ, (२) बलीवर्द, दोनों इस सूक्त में अभिप्रेत प्रतीत होते हैं ।

२. ऋषभ शब्द समस्तपद के अन्तावयवरूप में ही श्रेष्ठार्थक है, यह वैदिकमन्त्रों में आवश्यक नहीं —जैसे कि "पुरुषर्षभ" में ऋषभपद श्रेष्ठार्थक है, जोकि पुरुषर्षभ के अन्त में प्रयुक्त हुआ है ।

३. ऋषभ शब्द स्वतन्त्ररूप में भी वेद में श्रेष्ठार्थक प्रयुक्त हुआ है। यथा '**यासामृषभो दूरतो वाजिनीवान्त्सद्य सर्वान् लोकान् पर्येति रक्षन्**" (अथर्व० ४।३८।५) में सूर्य को ऋषभ कहा है। वाजिनीवान् का अर्थ है "उषावाला" । इस मन्त्र में ऋषभ का अर्थ श्रेष्ठ ही संगत प्रतीत होता है, और यह किसी समस्तपद का अन्तावयव नहीं । इसी प्रकार "**हिरण्यशृङ्ग ऋषभः शातवारो अयं मणिः** (अथर्व० १९।३६।५) में शतवार-ओषध की मणि को ऋषभ कहा है। इस मन्त्र में भी ऋषभ शब्द असमस्तरूप में प्रयुक्त हुआ है ।

४. अतः सूक्त ४ में प्रयुक्त ऋषभ शब्द को दो अर्थों में प्रयुक्त किया गया है, (१) श्रेष्ठ परमेश्वर, और (२) बलीवर्द अर्थात् बैल । इन्हीं दो अर्थों की दृष्टि से सूक्त की व्याख्या हुई है । सूक्त ४ में प्रायः दोनों अर्थों का मिश्रित वर्णन हुआ है, किसी मन्त्र में एक अर्थ श्रेष्ठ परमेश्वर मुख्य है और बलीवर्द गौण,और किसी में बलीवर्द अर्थ मुख्य है और श्रेष्ठ परमेश्वर गौण । १ से १० और १७-२४ मन्त्रों में श्रेष्ठ परमेश्वर अर्थ मुख्य है, और ११ से १६ में बलीवर्द अर्थ मुख्य है। ११ से १६ मन्त्रों में बलीवर्द के शरीरावयवों और प्रत्येक अवयव के देवताओं का परस्पर सम्बन्ध दर्शाया है जोकि बुद्धिगम्य नहीं, इस सम्बन्ध में विशेष अनुसन्धान अपेक्षित[1] है ।

१. सम्भवतः अवयवों की प्रातिस्विक शक्तियों या गुणकर्मों के प्रदर्शक दैवत-नाम हों । इस के लिये शारीरिक-विज्ञान तथा देवों के गुणकर्मों के ज्ञान की आवश्यकता है ।

५. याज्ञिक पद्धति के अनुसार बलीवर्द की हत्या करके उसके अवयवों की आहुतियां, अवयवसम्बद्ध देवताओं के नाम दी जाती हैं। परन्तु २४ मन्त्रों में से किसी भी मन्त्र में इस हत्या का वर्णन नहीं, और मन्त्रों में जहां जहां "आजुहोति" (९,१८), तथा "जुहोमि" (१०) पद पठित हैं, वहां उनके अभिप्रायों को स्पष्ट कर दिया है।

६. मन्त्रों में मुख्य भावना है "ऋषभ का ब्राह्मण के प्रति दान"। दान का अभिप्राय व्याख्या में देखिये।

—:o:—

मन्त्र १-२४। ऋषि, ब्रह्मा। देवता ऋषभः। त्रिष्टुप्; ८ भुरिक्; ९, १०, २४ **जगती;** ११-१७, १९, २०, २३ **अनुष्टुप्;** १८ उपरिष्टाद्-**बृहती;** २१ **आस्तारपंक्तिः।**

साहस्रस्त्वेष ऋषभः पयस्वान् विश्वा रूपाणि वक्षणासु बिभ्रत्।
भद्रं दात्रे यजमानाय शिक्षन् बार्हस्पत्य उस्रियस्तन्तुमातान् ॥१॥

(साहस्रः) हजारों शक्तियों वाला, या हजारों नक्षत्र-तारागणों का स्वामी, (त्वेषः) देदीप्यमान, (ऋषभः) सर्वश्रेष्ठ, (पयस्वान्) दुग्धादि पदार्थों या जलों का स्वामी, (वक्षणासु) नदियों में (विश्वारूपाणि) विविध रूपों और आकृतियों वाले प्राणियों का (बिभ्रत्) धारण-पोषण करने वाला तू है। (दात्रे यजमानाय) दानशील-यज्ञकर्त्ता के लिये (भद्रम्) कल्याण-और-सुख (शिक्षन्) देते हुए,—(बार्हस्पत्यः) बृहत्सूर्य के अधिष्ठाता, (उस्रियः) किरणों वाले सूर्य के स्वामी, तू ने (तन्तुम्) संसार-तन्तु को (आततान) फैलाया है।

[मन्त्र में परमेश्वर का वर्णन है। वक्षणासुः "वक्षणाः नदी नाम", (निघं० १।१३)। शिक्षन्; "शिक्षतिः दानकर्मा," (निघं० ३।२०)। बार्हस्पत्य=सौरमण्डल के बड़े-बड़े ग्रहों का पति है सूर्य, और उसका अधिष्ठाता है परमेश्वर। उस्रियः="उस्राः रश्मिनाम" (निघं० १।५); उस्रियः—रश्मियों वाला सूर्य अर्थ सूर्य+अच् (**अर्श आद्यच्**, अष्टा० ५।२। ११७), ऐसे सूर्य का स्वामी। ऋषभः=श्रेष्ठपर्यायः बलीवर्दो वा (उणा० ३।१२३, महर्षि दयानन्द)।

बलीवर्द (बैल) के पक्ष में;—साहस्रः=वंश परम्परा द्वारा हजारों गौओं, बैलों का दाता। पयस्वान्=गौ प्रदान द्वारा दुग्धदाता। वक्षणाः=आन्तें या उदरावयव। उस्राः=गावः (निघं० २।११)। तन्तुम्=गो वंशविस्तार]

अपां यो अग्रे प्रतिमा बभूव प्रभूः सर्वस्मै पृथिवीव देवी।
पिता वत्सानां पतिरघ्न्यानां साहस्रे पोषे अपि नः कृणोतु ॥२॥

(यः) जो परमेश्वर (अग्रे) सृष्टि के सर्जन काल में (अपाम्) अप्-तत्त्व का (प्रतिमा) निर्माता (बभूव) हुआ, जो (देवी पृथिवी इव) दिव्य गुणों वाली पृथिवी के सदृश (सर्वस्मै) सब के लिये (प्रभूः) पालन करने में सामर्थ्यवान् है। जो (वत्सानाम्) प्रजारूप बच्चों का (पिता) पिता है, (अघ्न्यानाम्) अनश्वर वेदवाणियों का (पतिः) पति है, वह (नः) हमें (साहस्रे पोषे) सहस्रविध पुष्टियों में (अपि) भी (कृणोतु) स्थापित करे।

[अघ्न्यानाम्; "अघ्न्या पदनाम" (निघं० ५।२) प्रभूः=प्रभवतीति। वत्सानाम्="**शृण्वन्तु विश्वेऽमृतस्य पुत्राः**" (यजु० ११।५)। इस मन्त्र भाग में प्रजा को अमृत=परमेश्वर के पुत्र कहा है।

बलीवर्द में,—"अपाम्" उत्पत्ति काल से ही जो जलों के सदृश शान्त प्रकृति का है। वत्सानाम्=बछड़े बछड़ियों का पिता अघ्न्यानाम्=गौओं का (निघं० २।११)]

पुमानन्तर्वान्त्स्थविरः पयस्वान् वसोः कबन्धमृषभो बिभर्ति।
तमिन्द्राय पथिभिर्देवयानैर्हुतमग्निर्वहतु जातवेदाः ॥३॥

(पुमान्) शक्ति में बढ़ा हुआ, (अन्तर्वान्) सबके भीतर व्याप्त, (स्थविरः) कालवृद्ध, (पयस्वान्) दुग्धादि पदार्थों का स्वामी, (ऋषभः) सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर, (वसोः) वास सम्बन्धी (कबन्धम्) मेघ का (बिभर्ति) भरण-पोषण करता है। (देवयानैः पथिभिः) देवयान मार्गों द्वारा (इन्द्राय) इन्द्रियों के स्वामी जीवात्मा के लिये (हुतम्) समर्पित हुए (तम्) उस परमेश्वर को, (जातवेदाः अग्निः) वेदानुसार उत्पन्न ज्ञानाग्नि (वहतु) प्राप्त करती है। अथवा प्रज्ञानरूपी ज्ञानाग्निः उसे प्राप्त करती है। वह प्रापणे।

[पुमान्=पुंस अभिवर्द्धने (चुरादिः) । कबन्धम्="मेघम्, **कबनमुदकं भवति, तदस्मिन् धीयते**" (निरु० १०।१।४) । हुतम्=परमेश्वर, जीवात्मा की उन्नति के लिये, उसके प्रति अपने-आप को समर्पित किए हुए है। देवयानैः पथिभिः) देवजन जिन मार्गों के अनुसार जीवन व्यतीत करते हैं, उन मार्गों में चलाने वाले जीवात्मा के लिये परमेश्वर अपने-आप को समर्पित कर देता है]

पिता वत्सानां पतिरघ्न्यानामथो पिता महतां गर्गराणाम् ।
वत्सो जरायु प्रतिधुक् पीयूषं आमिक्षा घृतं तद् वस्य रेतः ॥४॥

(वत्सानाम्) प्रजारूपी बच्चों का (पिता) पिता की तरह रक्षक, (अघ्न्यानाम्) अनश्वर वेदवाणियों का (पतिः) स्वामी (अथो) तथा (गर्गराणाम्) गरगर शब्द करते हुए, गर्जते हुए (महताम्) बड़े-बड़े मेघों का (पिता) उत्पादक परमेश्वर (वत्सः) सर्वत्र बसा हुआ है, (जरायु) तथा संसार का जरायु अर्थात् जेर के सदृश रक्षक है, (प्रतिधुक्) वह प्रत्येक व्यक्ति द्वारा दोहा जा सकता हैं, (पीयूषः) पेय अमृतरूप है। (आमिक्षा) तथा आमिक्षा और (तद् घृतम्) वह घृत (अस्य उ रेतः) इस परमेश्वर का रेतस् है, अर्थात् इन द्वारा वह प्रजाजनों को नवजीवन प्रदान करता है।

[आमिक्षा=गर्म दूध में दधि डाल कर दूध का फटा स्वरूप। गर्गर=गृ शब्दे (क्र्यादिः)। वत्सः=वस निवासे। बलीवर्दपक्षे—वत्सानाम्=बछड़े-बछड़ियों का। अघ्न्यानाम्=गवाम्। गर्गराणाम्=बैल का गर्जना गौओं के उत्पादन द्वारा आमिक्षा, घृत आदि का रेतस् अर्थात् कारण]

देवानां भाग उपनाह एषोऽपां रसो ओषधीनां घृतस्य ।
सोमस्य भक्षमवृणीत शक्रो बृहन्नद्रिरभवद् यच्छरीरम् ॥५॥

(एषः) यह परमेश्वर (देवानाम्) दिव्य जनों का (भागः) भजनीय है, (उपनाहः) यह जगत् के घटकों को परस्पर बान्धता है, अथवा भजन कर्त्ताओं के कष्टों के लिये यह अध्यात्म मरहमरूप हैं, (अपाम्) जलों का (रसः) शिवतम रसरूप है, (ओषधीनाम्) ओषधियों के, और (घृतस्य) घृत के (रसः) स्वादिष्ट रसवत् आनन्द रसरूप है। वह (सोमस्य) भक्तिरस के (भक्षम्) भक्षण को (अवृणीत्) स्वीकार करता है,

(शक्रः) वह शक्तिशाली है। उस की कृपा से (यत्) जो (शरीरम्) शरीर है वह (बृहद्-अद्रिः[1]) बड़े पर्वत के सदृश (अभवत्) सुदृढ हो जाता है।

[उपनाहः=उप+नह बन्धने, (दिवादिः), तथा "An unguent applied to a wound or sore (आप्टे)]

सोमेन पूर्णं कलशं बिभर्षि त्वष्टा रूपाणां जनिता पशूनाम् ।
शिवास्ते सन्तु प्रजन्व इह या इमा न्यस्मभ्यं स्वधिते यच्छ या अमूः ॥६॥

हे परमेश्वर ! (सोमेन पूर्णम्) भक्ति रस से भरे (कलशम्) हृदय कलश का (बिभर्षि) तू भरण-पोषण करता है, (रूपाणाम्) नानाविध रूपों का तू (त्वष्टा) कारीकर या सूर्यसमान है, (पशूनाम्) पशुओं अर्थात् प्राणियों का (जनिता) जन्मदाता है। (इह याः इमाः) इस संसार में जो ये (ते प्रजन्वः) तेरी उत्पत्तियां [उत्पन्न पदार्थ] हैं वे (शिवाः सन्तु) कल्याण कारिणी हों, (स्वधिते) हे निजरचित संसार में स्थिति वाले ! (याः अमूः) जो वे उत्पत्तियां हैं उन्हें (अस्मभ्यम्) हमें (नियच्छ) नितरां प्रदान कर।

[स्वधितिः="**स्वयं कर्माणि धत्ते**" (निरु० १३(१४)। २ (१)। २६ (१४)।

बलीवर्दपक्षे—सोम=दुग्ध, कलश=स्तन (गौ के)। रूपाणाम्, पशूनाम्=नानाविध बछड़ी-बछड़े]

आज्यं बिभर्ति घृतमस्य रेतः साहस्रः पोषस्तमु यज्ञमाहुः ।
इन्द्रस्य रूपमृषभो वसानः सो अस्मान् देवाः शिव ऐतु दत्तः ॥७॥

(घृतम्) प्रदीप्त सूर्य (अस्य) इस परमेश्वर का (रेतः) रेतस् है, जो कि (आज्यम्) आज्य आदि का (बिभर्ति) भरण-पोषण करता है, (साहस्रः) परमेश्वर हजारों प्रकार से (पोषः) सब का परिपोषण करता है। (तम् उ यज्ञम् आहुः) उसे [वेदवेत्ता] यज्ञ कहते हैं। (ऋषभः) श्रेष्ठ परमेश्वर

[1] **एह्यश्मानमातिष्ठाश्मा भवतु ते तनूः** (अथर्व० २।१३।४) मन्त्र में भी तनू अर्थात् शरीर को पत्थर समान दृढ़ करने का वर्णन हुआ है।

(इन्द्रस्य) सम्राट् तथा सूर्य के (रूपम्, वसानः) रूप को धारण करता है। (सः) वह (दत्तः) दिया गया, (देवाः) हे दिव्य जनो! (अस्मान्) हमें (शिवः ऐतु) कल्याणकारी स्वरूप में प्राप्त हो।

[घृतम्=घृ क्षरणदीप्त्योः (जुहोत्यादिः); प्रदीप्तम् (उणा० ३।८९; महर्षि दयानन्द)। यज्ञम्=स यज्ञः (अथर्व० १३।४ (४)।४०), तथा (यजु० ३१।६,७)। इन्द्रः=सम्राट् (यजु० ८।३७)। तथा सूर्य सम्राट् के सदृश प्रजापोषक परमेश्वर। अथवा "सूर्य के रूप वाला परमेश्वर यथा **आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्**" (यजु० ३१।१८)। दत्तः=योगी आचार्य द्वारा हृदय में प्रकट किया गया परमेश्वर।

बलीवर्दपक्षे,—"गौओं के उत्पादन द्वारा घृत आज्य प्रदाता। गो-वंश परम्परा द्वारा हजारों का पोषक। दत्तः=दान में दिया गया]

इन्द्रस्यौजो वरुणस्य बाहू अश्विनोरंसौ मरुतामियं ककुत्।
बृहस्पतिं संभृतमेतमाहुर्ये धीरासः कवयो ये मनीषिणः ॥८॥

परमेश्वर (इन्द्रस्य) विद्युत् का (ओजः) ओजस् रूप है, (वरुणस्य) अन्तरिक्ष का आवरण करने वाली वायु का (बाहू) यश-और-बल रूप है, (अश्विनोः अंसौ) पृथिवी का स्कन्ध रूप और द्यौः का स्कन्ध रूप है, (मरुताम्) मानसून वायुओं की (इयं ककुद्) यह जो ककुद् अर्थात् मेघ है, परमेश्वर तद्रूप है। इस प्रकार (ये) जो (धीरासः) मेधावी (कवयः) वेद-काव्य के अभिज्ञ, तथा (ये) जो (मनीषिणः) मनीषी लोग हैं वे (एनम्) इस परमेश्वर को (संभृतम्) संहृत अर्थात् एकत्रित रूप (बृहस्पतिम्) महाशक्तियों-का-पति (आहुः) कहते हैं।

[विद्युत् मध्यमस्थानी है, उसके साथ वरुण अर्थात् वायु भी मध्यम-स्थानी है। बाहू=बाहुभ्यां यशोबलम् (वैदिक-सन्ध्या-मन्त्र)। परमेश्वर पृथिवी और द्यौः को मानो निज कन्धों का सहारा दिये हुए है। मरुताम्=मानसून वायु (अथर्व० ४।२७।४,५) मरुतों की ककुद् अर्थात् उच्च-शिखर है मेघ। परमेश्वर मानो तद्रूप हुआ वर्षा करता है। धीरासः=धीरः मेधाविनाम (निघं० ३।१५)]

बलीवर्द पक्ष में प्रसिद्ध अर्थः "इसका ओज इन्द्र का है, दो बाहुएं अर्थात् अगली दो टांगें वरुण की हैं, दो कन्धे अश्वियों के है, ककुद

[Hump] मरुतों की है। इस प्रकार दैविकरूप में इसे सम्भृत बृहस्पति कहते हैं।

[बलीवर्द, कृषि द्वारा तथा भारोद्वहन द्वारा, ओज रूप है। यह कथन राष्ट्रिय दृष्टि से हुआ है। अश्विनोः बाहू=माता-पिता के रूप में विभक्त प्रजाजनों के कामों में सहारा देने वाले दो बाहुओं के सदृश यह सहायक है। मरुताम्=कृषि द्वारा सुवर्ण आदि सम्पत्तियों की प्राप्ति के लिये यह दो-स्कन्धरूप है। यह भी राष्ट्रिय दृष्टि से कथन हुआ है। "मरुत् हिरण्यनाम" (निघं० १।२) तथा "**मरुभ्यो वैश्यम्**" (यजु० ३०।५), अर्थात् हिरण्यादि सम्पत्तियों की प्राप्ति के लिये तथा वैश्यों के लिये यह ककुद् है, उच्चशक्ति रूप है। बृहस्पतिः=बृहतः गोवंशस्य पतिः]

देवीर्विशः पयस्वाना तनोषि त्वामिन्द्रं त्वां सरस्वन्तमाहुः।
सहस्रं स एकमुखा ददाति यो ब्राह्मण ऋषभ मा जुहोति ॥९॥

हे परमेश्वर! (पयस्वान्) दुग्धादि पदार्थों का स्वामी तू (देवीः विशः) दिव्यगुणी प्रजा का (आतनोषि) विस्तार करता है, (त्वाम् इन्द्रम्) तुझे परमैश्वर्यमान्, (त्वाम् सरस्वन्तम्) तुझे वेदवाणियों का स्वामी (आहुः) कहते हैं। (यः) जो योगी-आचार्य (ब्राह्मणे) ब्रह्मोपासक व्यक्ति में (ऋषभम्) सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर की (आजुहोति)[1] आहुति देता है, (सः) वह मानो (एकमुख से प्रकट हुई (सहस्रम्) हजारों वेदवाणियों का (ददाति) प्रदान करता है।

[भोज्य पदार्थों में सर्वश्रेष्ठ सात्त्विक—भोजन में दुग्ध है, परमेश्वर इस सात्त्विक भोजनप्रदान के द्वारा मानुषी प्रजा को बनाता है; अथवा "पयः" का अर्थ है वेदवाणियों का ज्ञान रूपी दुग्ध। इसके प्रदान द्वारा मानुषी प्रजा को वह दिव्य बनाता है। इस लिये वेदवाणी को "धेनुः" कहते हैं, अर्थात् ज्ञान-दुग्ध पिलाने वाली गौः। "धेनुः वाङ्नाम", (निघं० १।११)। निरुक्तकार यास्काचार्य वेद-धेनु के दुग्धपान का फल कहते हैं "**देवताध्यात्मे वा**"; अर्थात् वैदिक देवताओं

१. जिसने परमेश्वर का साक्षात् कर लिया, उस द्वारा दी गई एक ही ब्रह्मा-हुति, साक्षात् कराने के लिये पर्याप्त होती है।

का ज्ञान तथा अध्यात्म-तत्त्वों का ज्ञान । जिन्हें इन दो का ज्ञान हो जाय वह दिव्य तो बन ही जायगा, धेनुः (ऋ० १०।७१।५), धेनु की व्याख्या (निरु० ११।६।२०) ।

वेदवाणियां एक ही ब्रह्म या ब्रह्मा के मुख से प्रकट हुई हैं, इसलिये इन्हें "एकमुखाः" कहा है । वेदवाणियों का तात्पर्य है मुख्यरूप से परमेश्वर का नाम या साक्षात्कार । तभी ऋग्वेद में कहा है कि "**यस्तं न वेद किमृचा करिष्यति**" (ऋ० १।१६४।३६) । अर्थात् जो वेद पढ़ कर भी परमेश्वर को नहीं जानता उसे वेद पढ़ने से क्या लाभ हुआ । जिसने ब्रह्मोपासक को ब्रह्म का साक्षात् करा दिया, मानो उसने हजारों वेदवाणियों [गौओं] का प्रदान कर दिया । वेदमन्त्र लगभग बीस हजार हैं ।

वलीवर्द पक्ष में—पयस्वान्=बैल दुग्ध देने वाली गौओं का उत्पादक होने से दुग्ध का स्वामी है । जिसने बैल का दान किया उसने मानों सदृश मुखों-वाली हजारों गौओं का प्रदान किया । गोवंश परम्परा की दृष्टि से एक बैल हजारों गौओं को पैदा करता है]

बृहस्पतिः सविता ते वयो दधौ त्वष्टुर्वायोः पर्यात्मा त आभृतः ।
अन्तरिक्षे मनसा त्वा जुहोमि बर्हिष्टे द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥१०॥

(बृहस्पतिः) बृहद्-ब्रह्माण्ड के पति, (सविता) उत्पादक-तथा-प्रेरक परमेश्वर ने (ते) तेरे लिये (वयः) अन्न का (दधौ) पोषण किया है, तथा (त्वष्टुः वायोः परि) सूर्य और वायु से (ते आत्मा) तेरे शरीर को (आभृतः) धारित तथा परिपुष्ट किया है । (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में या तेरे हृदयान्तरिक्ष में स्थित मैं परमेश्वर, (मनसा) विचारपूर्वक तथा स्वेच्छया, (त्वा) तुझे लक्ष्य करके, (जुहोमि) तेरे उदर में अन्नाहुतियां देता हूं, (उभे) दोनों (द्यावापृथिवी) द्युलोक तथा पृथिवी लोक (ते) तेरे लिये (बर्हिः) वृद्धिकारक (स्ताम्) हों ।

[परमेश्वर ने मनुष्य को पुष्टिकारक अन्न प्रदान किया है, तथा प्राकृतिक शक्तियों द्वारा उसके शरीर को धारित तथा परिपुष्ट किया है । परमेश्वर ने यह अन्न "आहुति" रूप में दिया है । अतः मनुष्य, निज जीवन को यज्ञ जानता हुआ, कौष्ठयाग्नि में, आहुतिरूप में अन्न प्रदान करे, लालच और लोभरूप से नहीं । ऐसा करने पर द्यावा पृथिवी दोनों, उसकी वृद्धि के

लिये होंगे । दधौ=डुधाञ् धारणपोषणयोः (जुहोत्यादिः) । बर्हिः=बृह वृद्धौ (भ्वादिः)] आभृतः=आ+भृञ् (धारणपोषणयोः), (जुहोत्यादिः)]

य इन्द्र इव देवेषु गोष्वेति विवावदत् ।
तस्य ऋषभस्याङ्गानि ब्रह्मा सं स्तौतु भद्रया ॥११॥

(देवेषु) देवों में (इन्द्रः इव) इन्द्र के सदृश (यः) जो ऋषभ, (गोषु) गौओं में, (विवावदत्) विविध प्रकार से बोलता हुआ (एति) आता है, (तस्य ऋषभस्य) उस ऋषभ के (अङ्गानि) अङ्गों को, (ब्रह्मा) चारों वेदों का विद्वान् (भद्रया) भद्ररीति से, (संस्तौतु) सम्यक्तया प्रस्तुत करे ।

[इन्द्र=विद्युत्[1]; देव=अन्तरिक्ष, वायु, मेघ । विद्युत्-प्रतिवर्ष वर्षा ऋतु में देवों में विविध प्रकार से बोलता हुआ, कड़कड़ाता हुआ आता है । ऋषभ अर्थात् श्रेष्ठ परमेश्वर, गौओं [वेदवाणियों][2] में भिन्न-भिन्न विषयों का कथन करता हुआ प्रतिसृष्टिकाल में आता है । ऋषभ अर्थात् वलीवर्द गौओं में विविध-गर्जना करता हुआ आता है । अधोलिखित मन्त्रों में ऋषभ परमेश्वर के सृष्टि सम्बन्धी "देवों और ऋषभ अर्थात् बलीवर्द के शरीरावयवों में" परस्पर सम्बन्ध वस्तुतः सत्य है,—यह दर्शाने के लिये संस्तोता को ब्रह्मा अर्थात् चारों वेदों का ज्ञाता कहा है]

पार्श्वे आस्तामनुमत्या भगस्यास्तामनूवृजा ।
अष्ठीवन्तावब्रवीन्मित्रो ममैतौ केवलाविति ॥१२॥

बलीवर्द के (पार्श्वे) दो पार्श्व (आस्ताम्) थे (अनुमत्याः) अनुमति के, (अनूवृजौ) दो अनुवृज आस्ताम् थे (भगस्य) भग के । (मित्रः अब्रवीत्) मित्र ने कहा कि (एतौ अष्ठीवन्तौ) ये दो घुटने हैं (केवलौ) केवल (मम) मेरे (इति) यह ।

नुमतिः=देवपत्नी (नैरुक्ताः) । या **पूर्वा पौर्णमासी साऽनुमतिः** (याज्ञिका) **अनुमतिरनुमननात्** (निरुक्त ११।३।२६) । **भगः** सूर्यः, "**तस्य काल**

१. "**वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः**" (निरु० ७।२।५) में इन्द्र को अन्तरिक्षस्थ कहा है । (२) गौः वाङ्नाम (निघ० १।११) ।

प्रागुत्सर्पणात् । अन्धो भग इत्याहुः,अनुत्सृप्तो न दृश्यते । प्राशित्रमस्याक्षिणी निर्जघान इति च ब्राह्मणम् । जनं भगो गच्छतीति वा विज्ञायते, जनं गच्छत्यादित्य उदयेन" (निरुक्त १२।२।१४) । **मित्रः—"प्रमीतेस्त्रायते: । सम्मिन्वानो द्रवतीति वा । मेदयतेर्वा"** (निरुक्त १०।२।२१) । मित्र[1] का सम्बन्ध कृषिकर्म के साथ है (ऋ० ३।५६।१) । अनूवृजो—बलीवर्द की छाती से लेकर,, पिछली टांगों के उरुओं तक के दो पासे"—ऐसा अर्थ कई कहते हैं; और पार्श्वे—बलीवर्द की पृष्ठ पर कन्धों से गुदा तकके दो पासे । अवयवों और देवों का परस्पर सम्बन्ध अनुसन्धेय है] ।

भसदासीदादित्यानां श्रोणी आस्तां बृहस्पतेः ।
पुच्छं वातस्य देवस्य तेन धूनोत्योषधीः ॥१३॥

(भसद्) जघन (आसीत्) था (आदित्यानाम्)[2] आदित्यों का, (श्रोणी) दो कटि प्रदेश (आस्ताम्) थे (बृहस्पतेः) बृहस्पति के ।(पुच्छम्) पूंछ थी (वातस्य देवस्य) वायु देव की, (तेन) उस पूंछ द्वारा बलीवर्द (ओषधीः) ओषधियों को (धूनोति) कम्पाता है ।

[पुच्छ और वायुदेव का परस्पर सम्बन्ध बुद्धिगम्य है। दोनों द्वारा ओषधियां कम्पित हो जाती हैं]

---

१. मित्र अर्थात् उस काल का सूर्य जब कि वह मनुष्यों को, निज आजीविकाके लिये, कृषि आदि कर्मों में प्रयत्न शील कर देता है । कहा भी है **"मित्रो जनान् यातयति"** (ऋ० ३।५६।१) अर्थात् मित्र जनों को यत्नशील करता है । यत्न स्वस्थ-घुटनों के कारण होता है । इसलिये "अष्ठीवन्तौ" का सम्बन्ध मित्र के साथ दर्शाया है ।

२. आदित्यानाम् द्वारा आदित्य रश्मियां अभिप्रेत हैं । निरुक्त में आदित्य को "जार" कहा है । यथा **"आदित्योऽत्र जार उच्यते, रात्रेर्जरयिता । स एव भासाम"** (३।३।१६) । आदित्य निज रश्मियों द्वारा रात्री का, तथा उषा की दीप्ति और द्युलोक की दीप्तियों को जीर्ण करता है । इस कर्म को जारकर्म कहा है । वह रश्मियों द्वारा जारकर्म करता है । इसलिये "आदित्यानाम्" का सम्बन्ध "भसद्" के साथ दर्शाया है । "भसद्"—इन्द्रिय गौ की होती है, बलीवर्द [बैल] की नहीं । तथापि गोजाति की दृष्टि से बलीवर्द के साथ "भसद्" का वर्णन कर दिया है ।

गुदा आसन्त्सिनीवाल्याः सूर्यायास्त्वचमब्रुवन् ।
उत्थातुरब्रुवन् पदः ऋषभं यदकल्पयन् ॥१४॥

(गुदाः) गुदा के अवयव (आसन्) थे (सिनीवाल्याः) सिनीवाली के, (त्वचम्, सूर्यायाः) त्वचा है सूर्या की (अब्रुवन्) यह उन्हों ने कहा । (पदः) पैर हैं (उत्थातुः)[3] उत्थाता के (अब्रुवन्) यह भी उन्होंने कहा, (यद्) जब कि (ऋषभम्) बलीवर्द की (व्यकल्पयन्) विविध कल्पना उन्होंने की ।

[उन्होंने—अनुमति आदि देवों ने (१२, १३, १४) । सिनीवाली—**देवपत्नी** (नैरुक्ताः) ; **या पूर्वा अमावास्यां सा सिनीवाली** (याज्ञिकाः) । **सिनीवाली—सिनमन्नं भवति, सिनाति भूतानि, वालं पर्वः, वृणोतेः, तस्मिन् अन्नवती, वालिनी वा वाले नैवास्यामणुत्वात् चन्द्रमाः सेवितव्यो भवति, इति वा"** (निरुक्त ११।३।३१) । सूर्या है सूर्य-की-प्रभा । यह सूर्य का आवरणरूप है, त्वचा बलीवर्द का आवरण है । सम्भवतः इसलिये त्वचा का सम्बन्ध सूर्या के साथ कहा हो । "उत्थाता" भी देव है, यह केवल इसी मन्त्र में कहा है । "उत्था" का अर्थ है "ऊपर की ओर स्थित हुआ । सम्भवतः सूर्य । यह ऊर्ध्वदिशा में द्युलोक में स्थित है । चलता नहीं । इसका चलना पृथिवी के निज अक्ष पर पश्चिम से पूर्व की ओर परिभ्रमण की वजह से है । यह स्थित तो है, परन्तु इसके पैर नहीं । पैरों द्वारा ही स्थिति होती है । यथा "**पादयो प्रतिष्ठा**" (अथर्व० १६।६०।२) इस कमी की पूर्ति के लिये मन्त्र में कहा है कि "उत्थातुरब्रुवन् पदः"]

क्रोड आसीज्जामिशंसस्य सोमस्य कलशो धृतः ।
देवाः संगत्य यत् सर्वं ऋषभं व्यकल्पयन् ॥१५॥

(क्रोडः) छाती (आसीत्) थी (जामिशंसस्य) जामिशंस की, (कलशः) दुग्धाशय (सोमस्य) सोम के लिये (धृतः) निर्धारित किया । (सर्वे देव) सब देवों ने (संगत्य) मिलकर (यत्) जब (ऋषभम्) बलीवर्द की (व्यकल्पयन्) विविध प्रकार की कल्पना की ।

---

३. उत्थात्—उद् उर्ध्वं तिष्ठति, इति उत्थाता, सूर्यः, तस्य ।

'जामिशंस"का अर्थ है"बहिन की प्रशंसा करने वाला। जामि अर्थात् सह-जात भगिनी, शंस=शंसु स्तुतौ,स्तुति करने वाला,प्रशंसा करने वाला भाई। जो भाई निज बहिन की सदा प्रशंसा करता और उस की रक्षा करता है उसके लिये क्रोड है, छाती है,वह छाती में लगाकर स्नेह करने के योग्य है। "**स्वसुर्जारः**" (ऋ० ६।५५।५) में "जार" का अर्थ "प्रशंसक" भी सम्भव है। यथा "जरिता स्तोतृनाम (निघं० ३।१६)। "सोमस्य कलशः" में सोम का अर्थ है दुग्ध (ऋ० ६।१०७।६) में सोम का अर्थ दुग्ध है (निरुक्त ५।१।३)।"कलश" का अर्थ है गौ का दुग्धाशय जिसमें दुग्ध का आवास होता है। निरुक्त में जामिशंस का वर्णन नहीं हैं।

ते कुष्ठिकाः सरमायै कूर्मेभ्यो अदधुः शफान् ।
ऊवध्यमस्य कीटेभ्यः श्ववर्तेभ्यो अधारयन् ॥१६॥

(ते) उन्होंने (सरमायै) कुतिया के लिये (कुष्ठिताः) कुत्सित अर्थात् छोटी अस्थियां (अदधुः) निर्धारित की, (कूर्मेभ्यः) कछुओं के लिये (शफान्) खुर निर्धारित किये। (अस्य) इस के (ऊवध्यम्) आन्तों का मल (कीटेभ्यः) कीड़ों के लिये, तथा (श्ववर्तेभ्यः) कुत्तों की वृत्ति अर्थात् आजीविका के लिये (अधारयन्) निर्धारित किया।

[सरमा का अर्थ है कुतिया। सारमेय का अर्थ होता है कुत्ते,जोकि सरमा से पैदा होते हैं। कुतिया छोटी-छोटी अस्थियों को चबा लेती है। शफ अर्थात् खुर गोल होते हैं, और कछुए भी गोल। अतः इन दो का परस्पर सम्बन्ध दर्शाया है]

मन्त्र १२ से १६ तक के ऋषभाङ्ग और देवताः

१. पार्श्वे	अनुमत्या	८. त्वचम	सूर्यायाः
२. अनूवृजो	भगस्य	९. पदः	उत्थातुः
३. अष्ठीवन्तौ	मित्रः	१०. क्रोडः	जामिशंसस्य
४. भसद्	आदित्यानाम्	११. कलशः	सोमस्य
५. श्रोणी	बृहस्पतेः	१२. कुष्ठिकाः	सरमायै
६. पुच्छम्	वातस्य	१३. शफान्	कूर्मेभ्यः
७. गुदाः	सिनीवाल्याः	१४. ऊवध्यम्	कीटेभ्यः, श्ववर्तेभ्यः

शृङ्गाभ्यां रक्ष ऋषत्यवर्तिं हन्ति चक्षुषा ।
शृणोति भद्रं कर्णाभ्यां गवां यः पतिरघ्न्यः ॥१७॥

(शृङ्गाभ्याम्) दो सीगों द्वारा (रक्षः) राक्षस को (ऋषति) हटाता हैं, (चक्षुषा)[1] चक्षु द्वारा (अवर्तिम्) अनाजोविका का (हन्ति) हनन करता है, (कर्णाभ्याम्) दो कानों द्वारा (भद्रम्) भद्र प्रार्थनावचनों को (शृणोति) सुनता है (यः) जोकि (अघ्न्यः) अहन्तव्य, अत्याज्य अर्थात् प्रापणीय परमेश्वर (गवां पतिः) गौओं का पति है।

[मन्त्र १७ से २४ तक मुख्यरूप में "ऋषभ" द्वारा परमेश्वर का, और गौणरूप में बलीवर्द का वर्णन है। अथर्व० ९।७।१ में "**प्रजापतिश्च परमेष्ठी च शृङ्गे**" कहा है। प्रजापति है उत्पन्न पदार्थों का स्वामी परमेश्वर, और परमेष्ठी है परमस्थान जीवात्मा में स्थित परमेश्वर। इन दो स्वरूपों द्वारा तामसिक-राक्षसों काम, क्रोध, लोभ आदि को हटाता है। वह निज कृपा दृष्टि (चक्षुषा) द्वारा अनाजीविका का हनन कर देता है, और चक्षु-रूपी सूर्य[1] द्वारा वर्षा आदि करा कर, अन्नोत्पादन करके अनाजीविका का हनन करता है। परमेश्वर के प्राकृतिक कर्ण तो नहीं है परन्तु "**पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः**" (उपनिषद्) के अनुसार कर्णों के विना सुनने से कर्णों का आरोप किया है। वह भद्र-प्रार्थनाओं को सुनकर प्रार्थी की अभिलाषा को पूर्ण करता है, वह अभद्र प्रार्थनाओं को नहीं सुनता। वह "गवाम्" वेदवाणियों का पति है, "गौः वाङ्नाम (निघं० १।११)। वह "अघ्न्यः" है, न हनन करता और न उसका हनन हो सकता है। "यो न हन्यते न हन्तीति वा स अघ्न्य (उणा० ४।११३, दयानन्द]।

शतयाजं स यजते नैनं दुन्वन्त्यग्नयः ।
जिन्वन्ति विश्वे तं देवा यो ब्राह्मण ऋषभमाजुहोति ॥१८॥

(सः) वह [परमयोगी] मानो (शतयाजम्) सैंकड़ों यज्ञ (यजते) करता है, (एनम्) इसे (अग्नयः) कामादि अग्नियां (न दुन्वन्ति) उत्तप्त नहीं करती, और (विश्वे देवाः)सब प्रकार के दिव्य विचार तथा दिव्य कर्म

१. **चक्षोः सूर्यो अजायत** (यजु० ३१।१२)। बलीवर्द निज चक्षु द्वारा अना-जीविका का हनन कैसे कर सकता है। उस की कृपा दृष्टि से कृषि द्वारा अनाजी-विका का हनन सम्भव है– यह क्लिष्ट कल्पना है।

'जामिशंस''का अर्थ है''बहिन की प्रशंसा करने वाला। जामि अर्थात् सह-जात भगिनी, शंस=शंसु स्तुतौ,स्तुति करने वाला,प्रशंसा करने वाला भाई। जो भाई निज बहिन की सदा प्रशंसा करता और उस की रक्षा करता है उसके लिये क्रोड़ है, छाती है,वह छाती में लगाकर स्नेह करने के योग्य है। "**स्वसुर्जारः**" (ऋ० ६।५५।५) में "जार" का अर्थ "प्रशंसक" भी सम्भव है। यथा "जरिता स्तोतृनाम (निघं० ३।१६)। 'सोमस्य कलशः" में सोम का अर्थ है दुग्ध (ऋ० ६।१०७।६) में सोम का अर्थ दुग्ध है (निरुक्त ५।१।३)।"कलश" का अर्थ है गौ का दुग्धाशय जिसमें दुग्ध का आवास होता है। निरुक्त में जामिशंस का वर्णन नहीं हैं।

ते कुष्ठिकाः सरमायै कूर्मेभ्यो अदधुः शफान् ।
ऊवध्यमस्य कीटेभ्यः श्ववर्तेभ्यो अधारयन् ॥१६॥

(ते) उन्होंने (सरमायै) कुतिया के लिये (कुष्ठिताः) कुत्सित अर्थात् छोटी अस्थियां (अदधुः) निर्धारित की, (कूर्मेभ्यः) कछुओं के लिये (शफान्) खुर निर्धारित किये। (अस्य) इस के (ऊवध्यम्) आन्तों का मल (कीटेभ्यः) कीड़ों के लिये, तथा (श्ववर्तेभ्यः) कुत्तों की वृत्ति अर्थात् आजीविका के लिये (अधारयन्) निर्धारित किया।

[सरमा का अर्थ है कुतिया। सारमेय का अर्थ होता है कुत्ते,जोकि सरमा से पैदा होते हैं। कुतिया छोटी-छोटी अस्थियों को चबा लेती है। शफ अर्थात् खुर गोल होते हैं, और कछुए भी गोल। अतः इन दो का परस्पर सम्बन्ध दर्शाया हैं]

मन्त्र १२ से १६ तक के ऋषभाङ्ग और देवताः

१. पार्श्वे	अनुमत्या	८. त्वचम	सूर्यायाः
२. अनूवृजो	भगस्य	६. पदः	उत्थातुः
३. अष्ठीवन्तौ	मित्रः	१०. क्रोडः	जामिशंसस्य
४. भसद्	आदित्यानाम्	११. कलशः	सोमस्य
५. श्रोणी	बृहस्पतेः	१२. कुष्ठिकाः	सरमायै
६. पुच्छम्	वातस्य	१३. शफान्	कूर्मेभ्यः
७. गुदाः	सिनीवाल्याः	१४. ऊवध्यम्	कीटेभ्यः, श्ववर्तेभ्यः

शृङ्गाभ्यां रक्ष ऋषत्यवर्तिं हन्ति चक्षुषा ।
शृणोति भद्रं कर्णाभ्यां गवां यः पतिरघ्न्यः ॥१७॥

(शृङ्गाभ्याम्) दो सीगों द्वारा (रक्षः) राक्षस को (ऋषति) हटाता हैं, (चक्षुषा)[1] चक्षु द्वारा (अवर्तिम्) अनाजीविका का (हन्ति) हनन करता है, (कर्णाभ्याम्) दो कानों द्वारा (भद्रम्) भद्र प्रार्थनावचनों को (शृणोति) सुनता है (यः) जोकि (अघ्न्यः) अहन्तव्य, अत्याज्य अर्थात् प्रापणीय परमेश्वर (गवां पतिः) गौओं का पति है।

[मन्त्र १७ से २४ तक मुख्यरूप में "ऋषभ" द्वारा परमेश्वर का, और गौणरूप में बलीवर्द का वर्णन है। अथर्व० ६।७।१ में "**प्रजापतिश्च परमेष्ठी च शृङ्गे**" कहा है। प्रजापति है उत्पन्न पदार्थों का स्वामी परमेश्वर, और परमेष्ठी है परमस्थान जीवात्मा में स्थित परमेश्वर। इन दो स्वरूपों द्वारा तामसिक-राक्षसों काम, क्रोध, लोभ आदि को हटाता है। वह निज कृपा दृष्टि (चक्षुषा) द्वारा अनाजीविका का हनन कर देता है, और चक्षुरूपी सूर्य[1] द्वारा वर्षा आदि करा कर, अन्नोत्पादन करके अनाजीविका का हनन करता है। परमेश्वर के प्राकृतिक कर्ण तो नहीं है परन्तु "**पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः**" (उपनिषद्) के अनुसार कर्णों के विना सुनने से कर्णों का आरोप किया है। वह भद्र-प्रार्थनाओं को सुनकर प्रार्थी की अभिलाषा को पूर्ण करता है, वह अभद्र प्रार्थनाओं को नहीं सुनता। वह "गवाम्" वेदवाणियों का पति है, "गौः वाङ्नाम (निघं० १।११)। वह "अघ्न्यः" है, न हनन करता और न उसका हनन हो सकता है। "यो न हन्यते न हन्तीति वा स अघ्न्य (उणा० ४।११३, दयानन्द]।

शतयाजं स यजते नैनं दुन्वन्त्यग्नयः ।
जिन्वन्ति विश्वे तं देवा यो ब्राह्मण ऋषभमाजुहोति ॥१८॥

(सः) वह [परमयोगी] मानो (शतयाजम्) सैंकड़ों यज्ञ (यजते) करता है, (एनम्) इसे (अग्नयः) कामादि अग्नियां (न दुन्वन्ति) उत्तप्त नहीं करती, और (विश्वे देवाः) सब प्रकार के दिव्य विचार तथा दिव्य कर्म

---

१. **चक्षोः सूर्यो अजायत** (यजु० ३१।१२)। बलीवर्द निज चक्षु द्वारा अनाजीविका का हनन कैसे कर सकता है। उस की कृपा दृष्टि से कृषि द्वारा अनाजीविका का हनन सम्भव है—यह क्लिष्ट कल्पना है।

(जिन्वन्ति) उसे नई प्रेरणाएं देते हैं, (यः) जो कि (ब्राह्मणे) ब्रह्मोपासक में (ऋषभम्) श्रेष्ठ परमेश्वर की (आजुहोति) आहुति देता है।

[उपासक है तो ब्रह्मोपासक, परन्तु इसे ब्रह्म के दर्शन नहीं हुए। परमयोगी इस की "उपासनारूपी-अग्नि" में परमेश्वर की आहुति देकर इसे ब्रह्म का साक्षात् करा देता है। यह आहुति देता है, परमयोगी। मानो इस आहुति द्वारा उसने महायज्ञ किया है। इसलिये वह मानो सैकड़ों यज्ञों के फलों का अधिकारी बन जाता है। अग्नयः—देखो (अथर्व० १९।१।१-१३)। दुन्वन्ति=टुदु उपतापे (स्वादिः)। जिन्वन्ति=जिवि प्रीणनार्थः (भ्वादिः)]

ब्राह्मणेभ्य ऋषभं दत्वा वरीयः कृणुते मनः।
पुष्टिं सो अघ्न्यानां स्वे गोष्ठेऽव पश्यते ॥१९॥

(ब्राह्मणेभ्यः) ब्रह्मोपासकों को (ऋषभम्) श्रेष्ठ परमेश्वर का (दत्त्वा) प्रदान करके दाता (मनः) निज मन को (वरीयः) श्रेष्ठ तथा उदार (कृणुते) करता है, (सः) और वह (स्वे) अपने (गोष्ठे) मन या शरीर में (अघ्न्यानाम्) वेदवाणियों की (पुष्टिम्) पुष्टि को (अवपश्यते) देखता है।

[वरीया=श्रेष्ठ और विस्तृत [उदार] बिना किसी प्रतिफल के मांगे, ब्रह्म दर्शन करा देने में, दाता निज मन की उदारता प्रकट करता है, और लोभ से रहित होने से मन को श्रेष्ठ बनाता है। गोष्ठे=गावः इन्द्रियाणि वेदवाचो वा तिष्ठन्ति यस्मिन् =मन या शरीर। इन्द्रियों को गौ भी कहते हैं, तभी इन्द्रिय-विषयों को गोचर कहते हैं। गोचर=जिन में इन्द्रियां विचरती हैं तथा **"गौः पशुरिन्द्रियं सुखं किरणो वज्रं चन्द्रमा भूमिर्वाणी जलं वा"** (उणा० २।६८, महर्षि दयानन्द)। "अघ्न्या पदनाम" (निघं० ५।५)। वेदवाणी अघ्न्या है, कभी इस का हनन नहीं होता, यह नित्या है। दाता के मन से वेदवाणियों की पुष्टि सदा होती रहती है। यथा **"यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः। यस्मिंश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु"** (यजु० ३४।५) अभिप्राय यह कि दाता-परमयोगी के मन में, परमेश्वर की स्तुति करने के लिये, वेदवाणी सदा जागृत रहती हैं, वह निशि-दिन परमेश्वर की स्तुति करता रहता है।

इन मन्त्रों में बलीवर्द का वर्णन भी अभिप्रेत है, जोकि मन्त्र पाठ के समय अनायास प्रकट होता है, परन्तु मन्त्रों का मुख्य अभिप्राय परमेश्वर ही है]

गावः सन्तु प्रजाः सन्त्वथो अस्तु तनूबलम्।
तत् सर्वमनु मन्यन्तां देवा ऋषभदायिने ॥२०॥

(गावः सन्तु) गौएं हों, (प्रजाः सन्तु) प्रजाएं हों, (अथो) और (तनूबलम्) शारीरिक बल (अस्तु) हो। (ऋषभदायिने) ऋषभ के दाता के लिये (तत् सर्वम्) उस सब का (देवाः) देवलोग (अनुमन्यन्ताम्) अनुमोदन करें, इसकी स्वीकृति दें।

[मन्त्र में परमयोगी का वर्णन है, जोकि ब्रह्मोपासक को ब्रह्म का दर्शन करा देता है। ऐसा योगी यदि गृहस्थी हो तो उसके गृहजीवन के लिये आवश्यक साधनों को उपस्थित करना, तथा यदि वह रुग्ण हो तो उसके स्वास्थ्य तथा शारीरिक बल के लिये औषधादि की व्यवस्था करना राज्याधिकारियों का कर्त्तव्य है, जोकि राज्याधिकारी देव हों, देव कोटि के व्यक्ति हों। किस स्थान में ऐसा कौन सा योगी रहता है इस की सूचना तो स्थानीय विशिष्ट जन ही दे सकते हैं। वे ही सहायतार्थ यथोचित प्रस्ताव राज्याधिकारियों के समीप उपस्थित कर सकते हैं। प्रस्ताव आने पर राज्याधिकारी उसका अनुमोदन करें, तत्पश्चात् राज्य की ओर से ऐसे परमयोगियों की सहायता की जानी चाहिये,यह उपदेश मन्त्र का है। दूसरी बात मन्त्र से यह प्रतीत होती है कि ऐसे योगी महात्मा भी गृहस्थ धारण कर, धर्मात्मा, सद्गुणी,तथा सदाचारी सन्तानें उत्पन्न कर, यदि राष्ट्र को दें, तो राष्ट्र की वास्तविक समुन्नति हो सकती है।

अयं पिपान इन्द्र इद् रयिं दधातु चेतनीम्।
अयं धेनुं सुदुघां नित्यवत्सां वशं दुहां विपश्चितं परो दिवः ॥२१॥

(अयम्) यह परमेश्वर (इन्द्रः इत्) मानो विद्युत् ही है, (पिपानः) जोकि विद्युत् जैसे जल पिलाती है वैसे आनन्दरस पिलाता है, (चेतनीम्) वह चेतना अर्थात् सम्यक्-ज्ञानरूपी (रयिम्) सम्पत्ति (दधातु) हमें प्रदान करे (अयम्) यह परमेश्वर जो कि (परः दिवः) द्युलोक से भी परे है वह (सुदुघाम्) सुगमता से दुही जाने वाली, (नित्यवत्साम्) नित्यवत्स वाली,

(वशां दुहाम्) यथेच्छ दुही जा सकने वाली, (विपश्चितम्) मेधावियों का चयन करने वाली (धेनुम्) वेदवाणीरूपी धेनु (दधातु) प्रदान करे।

[पिपानः=पा पाने (णिजर्थः अन्तर्भावितः)+कानच्। चेतनीम्=चिती संज्ञाने (भ्वादिः) संज्ञानाम्=सम्यक्-ज्ञान। धेनुम्=धेट् पाने (भ्वादिः), जोकि दूध पिलाती हो। धेनुः वाङ्नाम" (निघं० १।११)। मन्त्र में धेनु का अर्थ है वाक्, वेदवाणी, जोकि सदा ज्ञान-दुग्ध पिलाती है। वेदवाणी नित्या है, और ज्ञान प्रदा है। अतः सदा ज्ञान-दुग्ध पिला सकती है, "प्राणिगौः" सदा दुग्ध नहीं पिला सकती। धेनु, नित्यवत्सा है। वेदधेनु का वत्स है जीवात्मा, जोकि नित्य है, और इस वत्स के कारण वेद-धेनु सदा दुग्ध पिलाती है। यह सुदुघा है, आसानी से दुही जा सकती है, केवल प्रतिदिन स्वाध्याय द्वारा। प्राणिगौः नित्यवत्सा नहीं हो सकती। वेद-धेनु विपश्चित् है, मेधावियों का चयन करने वाली है। व्यक्ति जैसे-जैसे इसका स्वाध्याय और मनन करेंगे, वैसे वैसे मेधावियों का चयन होता जायगा, मेधावियों की संख्या बढ़ती जायगी। विपश्चित="विपः मेधाविनाम" (निघं० ३।१५)+चित् (चिञ् चयने)+क्विप्, तुक्। परो दिवः=परमेश्वररूपी "ऋषभः" द्युलोक से भी परे विद्यमान है, चूंकि वह विभु है, सर्वत्र व्यापक है]

पिशङ्गरूपो नभसो वयोधा ऐन्द्रः शुष्मो विश्वरूपो न आगन्।
आयुरस्मभ्यं दधत् प्रजां च रायश्च पोषैरभि नः सचताम् ॥२२॥

(पिशङ्गरूपः) पीतवर्णी-सूर्य को रूप देने वाला, (नभसः) अन्तरिक्षस्थ मेघ से (वयोधाः) अन्नपोषक, (ऐन्द्रः शुष्मः) विद्युत् सदृश बलस्वरूप, (विश्वरूपः) विश्व को रूप देने वाला [ऋषभ-परमेश्वर] (नः) हमें (आगन्) प्राप्त हुआ है। (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (आयुः प्रजां च) आयु और सन्तान (दधत्) देता हुआ, (रायः च पोषैः) सम्पत्तियों की पुष्टियों के साथ, (नः अभि सचताम्) हमारे साथ घनिष्ठ सम्बन्ध वाला हो।

[पिशङ्गः—पीतवर्ण वाला, हिरण्यसदृश रूपवाला काञ्चन सदृश (६।३२।२, अथर्व० सायण) [सूर्य]। नभस्=मेघ, उदक, तथा वर्षा ऋतु (आप्टे)। "वयः अन्ननाम (निघं० २।७)। "शुष्मम् बलनाम" (निघं० २।९)। सचताम्=षच समवाये (भ्वादिः)]

उपह्वोपपर्चनास्मिन् गोष्ठ उप पृञ्च नः।
उप ऋषभस्य यद् रेत उपेन्द्र तव वीर्यम् ॥२३॥

(इह उपपर्चन) इस संसार में समीपता से सम्पर्क वाले! (नः अस्मिन् गोष्ठे) हमारे इस गोष्ठ में (उप पृञ्च) तू समीपता से सम्पर्क कर। (ऋषभस्य) तुझ श्रेष्ठ की (यद् रेतः) जो शक्ति है वह (उप) हमारे समीप हो जाय! (इन्द्र) हे परमैश्वर्य वाले! (तव वीर्यम्) तेरा सामर्थ्य (उप) हमारे समीप हो जाय।

[उपपर्चन=उप (समीप)+पर्चन (पृची सम्पर्के, अदादिः)+ल्युट् (कर्तरि)। गोष्ठे=मन में या शरीर में (मन्त्र १७)। गावः इन्द्रियाणि तिष्ठन्ति अस्मिन् इति गोष्ठः।

परमेश्वर सर्वव्यापक होने से सबके समीप है। उपासकों की भावना यह है कि सर्वव्यापक होने पर भी हमारी उपासनाओं तथा जीवनों में उस की सत्ता अनुभूत नहीं हो रही। इस लिये वे प्रार्थना करते हैं कि तेरी शक्ति और तेरा सामर्थ्य हमें प्राप्त हो, ताकि तेरी सत्ता की समीपता हमें अनुभूत हो सके]।

एतं वो युवानं प्रति दध्मो अत्र तेन क्रीडन्तीश्चरत वशाँ अनु।
मा नो हासिष्ट जनुषा सुभागा रायश्च पोषैरभि नः सचध्वम् ॥२४॥

(एतम्, युवानम्) इस युवा को, (वः प्रति) तुम्हारे प्रति, (अत्र) इस गोष्ठ में (दध्मः) हम स्थापित करते हैं, (क्रीडन्तीः) हे प्रजाओ! क्रीडा स्वभाव वाली होकर, (वशान् अनु) इच्छाओं के अनुसार (तेन) उस युवा के साथ (चरत) तुम विचरो। (जनुषा) नव जीवन के कारण (सुभागाः) सौभाग्य सम्पन्न हुई तुम (नः) हमारा अर्थात् हम योगियों का (हासिष्ट मा) परित्याग न करो, (च) अपितु (रायः पोषैः) अध्यात्म सम्पत्तियों की पुष्टियों से सम्पन्न हुई तुम (नः अभि सचध्वम्) हमारी ओर आकर हमारे सत्संगों को प्राप्त करती रहो।

[मन्त्र २३ के अनुसार सर्वव्यापक परमेश्वर का सामीप्य उपासक अनुभव नहीं कर रहे हैं परमयोगी उनके प्रति कहते हैं कि इस सदा युवा, अतः

सदा शक्ति तथा सामर्थ्य वाले परमेश्वर को तुम्हारे गोष्ठों अर्थात् मनों या शरीरों (मन्त्र १७) में हम स्थापित करते हैं। सदा क्रीडा स्वभाव वाली होकर जब चाहो, उस युवा के साथ विचरो। परन्तु इस नए अध्यातम जीवनों तथा अध्यातम सम्पत्तियों को प्राप्त कर, हम गुरुओं के साथ अपना सम्बन्ध भी बनाए रखो।

बलीवर्द पक्ष में युवा बैल तथा गौओं में परस्पर क्रीड़ा का वर्णन है]

काण्ड ९। सूक्त ४। सम्पूर्ण

—:०:—

सूक्त ५

विषय प्रवेश

का० ९ के ५ वें सूक्त का याज्ञिक विनियोग निम्नलिखित है—

अपराजिताया आनीयमानोऽजः हतः संस्कृतश्च इन्द्रं तर्पयित्वा तृतीयनाके नाम स्वर्गभागे, यद्वा सुकृतां पुण्यलोके गच्छति। तत्र गतपूर्वस्य यजमानादेश्च तमोहन्ता भवतीत्यादि वर्णनम् (सायण)।

अपराजिता अर्थात् ऐशानी (उत्तर-पूर्व की) दिशा से लाया गया अज (बकरा) मारा गया तथा शुद्ध किया गया, इन्द्र को तृप्त करके स्वर्ग के भाग रूप तीसरे-नाक में, या सुकर्मियों के लोक में जाता है, वहां पहिले गए हुए यजमान आदि के तमस् का हनन करता है,—इत्यादि वर्णन इस सूक्त में हुआ है।

तथा अथर्ववेद के अंग्रेजी भाषा में अनुवाद करने वाले "विलियम ड्विट ह्विटनी" ने इस सूक्त का शीर्षक दिया है "with the offering of a goat and five rice-dishens", अर्थात् पांच ओदनतश्तरियों के साथ, बकरा देना। सूक्त में बार बार जो "पञ्चौदनम्, अजम्" तथा "ब्रह्मणे" पद पठित हैं उनकी दृष्टि से "ह्विटनी" ने इस प्रकार का शीर्षक दिया है।

१. परन्तु "पञ्चौदनम् अजम्" के दो अर्थ सूक्त में अधिक सुसंगत प्रतीत होते हैं। (१) पांच इन्द्रियभोगों का भोक्ता, स्वरूपतः (अज) अजन्मा जीवात्मा। तथा (२) पांच इन्द्रियभोगों का स्वामी अजन्मा, अकाय परमेश्वर। इसी प्रकार "ब्रह्मणे" का अर्थ है ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर के प्रति, न कि ब्राह्मण के प्रति।

२. मन्त्र ४ में "श्यामेन, असिना अनुच्छच, यथा परु" शब्दों द्वारा "अज" के छेदन की भावना प्रतीत होती है, परन्तु मन्त्र के यथार्थभाव प्रमाण सहित प्रकट कर दिये हैं।

३. सूक्त में ३८ मन्त्र हैं। मन्त्र १ से २६ तक एक विषय का वर्णन हुआ है, और मन्त्र २७ से ३८ तक "पुनर्भूः" स्त्री के विवाह सम्बन्धी वर्णन हुआ है।

४. मन्त्र २०, २१ में "अज" परमेश्वर के विराट् स्वरूप का वर्णन हुआ है।

५. मन्त्र १० में "त्रिनाके" पद द्वारा नाक के तीन भागों का वर्णन है। तथा मन्त्र १,३,४,६,८ में "तृतीय नाक" का वर्णन है।

६. मन्त्र ३१ से ३६ तक में ६ ऋतुओं का वर्णन, तथा इन ऋतुओं और "पञ्चौदनअज" में तादात्म्य का कथन हुआ है। ऋतुओं के नाम हैं, (१) नैदाघ (ज्येष्ठ-आषाढ़); (२) कुर्वन्तम् (श्रावण-भाद्रपद); (३) संयन्तम् (आश्विन-कार्तिक); (४) पिन्वन्तम् (मार्गशीर्ष-पौष); (५) उद्यन्तम् (माघ-फाल्गुन); (६) अभिभुवम् (चैत्र-वैशाख)। मन्त्रों में "नैदाघ" को वर्ष के प्रारम्भ की ऋतु कहा है।

—:०:—

१-३८ भृगुः। पञ्चौदनोऽजः देवता। त्रिष्टुप् छन्दः। ३ चतुष्पदा पुरोतिशक्वरी जगती; ४,१० जगती; १४,१७, २७-३० अनुष्टुप् (३० ककुम्मती); १६ त्रिपदानुष्टुप्, १८-३७ त्रिपदाविराड्गायत्री; २३ पुरउष्णिक्; २४ पञ्चपदानुष्टुबुष्णिग्गर्भोपरिष्टाद्विराड्जगती; २०-२२,२६ पञ्चपदानुष्टुबुष्णिग्गर्भोपरिष्टाद् बार्हताभुरिक्; ३१ सप्तपदार्षी; ३२-३५ दशपदाप्रकृतिः; ३६ दशपदाकृतिः; ३८ एकपदावसाना द्विपदा साम्नी त्रिष्टुप्।

आ नयैतमारभस्व सुकृतां लोकमपि गच्छतु प्रजानन्।
तीर्त्वा तमांसि बहुधा महान्त्यजो नाकमा क्रमतां तृतीयम् ॥१॥

[कोई शुभेच्छु आचार्य के प्रति निवेदन करता है कि हे आचार्य!] (एतम्) इस मुमुक्षु को (आनय) अपने समीप ले आ, (आरभस्व) और इसका शिक्षण आरम्भ कर, ताकि (प्रजानन्) योग विधि को जानता हुआ यह (सुकृतां लोकम्) सुकर्मियों के लोक में (अपि गच्छतु) जाय। (बहुधा) बहुत प्रकार के (महान्ति) बड़े-बड़े (तमांसि) तमोमय जीवनों को (तीर्त्वा) तैर कर, पार कर, (अजः) यह अजन्मा जीवात्मा (तृतीयं नाकम्) तीसरे सुखमय लोक की ओर (आक्रमताम्) पग बढ़ाए।

["अज" का अर्थ बकरा जानकर, याज्ञिक सम्प्रदाय, मन्त्र में बकरे का वर्णन मानते हैं, परन्तु बकरा अर्थ में "प्रजानन्" पद व्यर्थ प्रतीत होता है। मन्त्र में मुमुक्षु का वर्णन है जोकि निज आत्मस्वरूप को "अज" अर्थात् जन्म-मरण से रहित जानकर मोक्ष पाने का अभिलाषी है। "महान्ति तमांसि" का अभिप्राय है लम्बे-लम्बे कालों तक नानाविध तामसिक जीवन को तैर कर मानुष शरीर को पाना। "तृतीय नाक" के सम्बन्ध में देखो, मन्त्र १० का व्याख्या]

इन्द्राय भागं परि त्वा नयाम्यस्मिन् यज्ञे यजमानाय सूरिम्।
ते नो द्विषन्त्यनु तान् रभस्वानागसो यजमानस्य वीराः ॥२॥

[आचार्य मुमुक्षु के प्रति कहता है कि] हे मुमुक्षु! (अस्मिन् यज्ञे) इस योगरूपी, ध्यानरूपी, यज्ञ में, (त्वा सूरिम्) तुझ स्तोता को, (यजमानाय इन्द्राय) संसार-यज्ञ के रचयिता परमैश्वर्यवान् परमेश्वर के लिये (भागम्) भागरूप में, (परिनयामि) मैं पूर्णतया लाता हूं।

(ये) जो काम, क्रोध, लोभ आदि (नः) हमारे साथ (द्विषन्ति) द्वेष करते हैं (तान्) उन्हें (अनुरभस्व) निरन्तर तू पकड़ता रह। ताकि (यजमानस्य) संसार-यज्ञ के रचयिता के (वीराः) वीर पुत्र (अनागसः) पापों से रहित हो जाय।

[व्यक्ति जब तक सांसारिक भोगों में लिप्त रहता है तब तक वह परमेश्वर के लिये निजभागरूप नहीं होता। परन्तु वह मुमुक्षु होकर जब ध्यानयज्ञ में परमेश्वर का स्तोता बन जाता है तब उसे परमेश्वर निजभागरूप में स्वीकार कर लेता है। काम क्रोध लोभ आदि प्रिय तो लगते हैं, परन्तु परिणाम में ये हैं द्वेषी। मुमुक्षु को चाहिये कि वह इनकी पकड़ में न आए अपितु इन शत्रुओं को निरन्तर पकड़ कर इन्हें निज वश में करता रहे। ताकि परमेश्वर के पुत्र, वीर बनें, और वीर बनकर इन शत्रुओं पर विजय पा कर, पापों से रहित हो जाय। सूरिम् = सूरिः स्तोतृनाम (निघं० ३।१६)]

प्र पदोऽव नेनिग्धि दुश्चरितं यच्चचार शुद्धैः शफैरा क्रमतां प्रजानन्।
तीर्त्वा तमांसि बहुधा वि पश्यन्नजो नाकमा क्रमतां तृतीयम् ॥३॥

[हे आचार्य !] (प्र पदः) प्रत्येक पाद सम्बन्धी (यत्) जिस (दुश्चरितम्) दुराचार को (चकार) इस मुमुक्षु ने किया है (अव नेनिग्धि)[1] उसे तथा उस सदृश दुराचार को तू शुद्ध कर दे, ताकि (प्रजानन्) ज्ञान सम्पन्न हुआ यह (आक्रमताम्) आगे की ओर पग बढ़ाए, जैसे कि "अज" अर्थात् बकरा (शुद्धैः) रोगों से रहित (शफैः) निज पगों द्वारा आगे पग बढ़ाता है। ताकि (विपश्यन्) जीवन के नए मार्ग को देखता हुआ (अजः) स्वरूप से जन्म रहित मुमुक्षु (बहुधा तमांसि तीर्त्वा) बहुत प्रकार के तमोमय जीवनों को तैर कर, (तृतीयं नाकम्) तीसरे सुखमय लोक की ओर (आक्रमताम्) पग बढाए।

[प्र पदः = प्रत्येक पाद सम्बन्धी; षष्ठी विभक्ति का एकवचन। जो दुश्चरित किये जाते हैं वे प्रायः पैरों द्वारा चल कर ही किये जाते हैं। मन्त्र में "शफैः" पद द्वारा बकरे के खुरों का निर्देश कर बकरे को उपमान रूप में निर्दिष्ट किया है। मन्त्र में "प्रजानन्-तथा-विपश्यन्" पदों द्वारा ज्ञानवान् मुमुक्षु का निर्देश हुआ है। प्रत्येक पाद सम्बन्धी दुश्चरित का यह अभिप्राय है कि दुराचार करने के लिये जिस पाद को उसने प्रथम उठाया है, मानो वह दुराचार उस पाद द्वारा किया गया है]

अनुच्छ्य श्यामेन त्वचमेतां विशस्तर्यथापर्वसिना माभिमंस्थाः ।
माभि द्रुहः परुशः कल्पयैनं तृतीये नाके अधि विश्रयैनम् ॥४॥

(विशस्तः) हे विशेष प्रशस्त [आचार्य !] (श्यामेन) श्याम ब्रह्म के उपदेश द्वारा, (असिना) तथा ज्ञानासि द्वारा, (यथापरु) परु-परु करके, (एताम् त्वचम्) इस मुमुक्षु की त्वचा को (अनुच्छ्य) अनुकूलतया काट दे, (माभिमंस्थाः) इस सम्बन्ध में तू अभिमान न कर, अथवा इसकी हिंसा न कर (मा अभिद्रुहः) और न इसके साथ द्रोह कर, (एनम् परुशः कल्पय) अपितु इस मुमुक्षु को परु-परु में सामर्थ्यवान् कर, तथा (एनम्) इसको (तृतीये नाके अधि) सुखमय तीसरे नाक पर (विश्रय) विश्राम करने योग्य कर।

[विशस्तः = विशस्तृ[2] प्रातिपदिक का सम्बुद्धि पद; यथा हे पितः !, हे मातः ! । "शस्" धातु प्रशंसार्थक भी है, यथा प्रशस्तः पुरुषः। शस्त =

१. णिजिर् शौचपोषणयोः, (जुहोत्यादिः), अर्थात् मुमुक्षु के दुर्गणरूपी मलों को धोकर इसे पवित्र तथा परिपुष्ट कर। २. अगले पृष्ठ की टि० १ देखें।

Praised, best (आप्टे)। अनुच्छ्य = अनुकूल होकर काट (छो छेदने, दिवादिः), प्रतिकूल भावना से नहीं। श्यामेन = ब्रह्म के दो रूप हैं श्याम और शबल (छान्दोग्य उप० अध्याय ८, खण्ड १३)। शबल का अर्थ है नानारूपी, और श्याम का अभिप्राय है एकरूपी। जगत् के साथ सम्बन्ध से ब्रह्म नानारूपी है। माता, पिता, बन्धु, जगत् का कर्त्ता, धर्त्ता, प्रलय कर्त्ता, कर्माध्यक्ष, न्यायकारी आदि नानारूपों में ब्रह्म प्रकट होता है, और प्रलयकाल में वह एकरूपी होता है "अमात्र" अव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवः, अद्वैतम् = आदि रूप। आचार्य मुमुक्षु को सांसारिक रूपों से पृथक् करने के लिये मुमुक्षु को श्याम[1] ब्रह्म का उपदेश देता है ताकि वह मोक्ष का अधिकारी हो सके। साथ ही आचार्य ज्ञानासि अर्थात् विवेक ज्ञान रूपी "असि"[1] अर्थात् तलवार का भी उपदेश देता है ताकि वह अविद्या की गांठ को काट सके। यथा "**तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः। छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत**॥ (गीता ४।४२) में ज्ञानासि का वर्णन हुआ है।

"असि" के द्वारा शरीर के परुषों अर्थात् अङ्ग-प्रत्यङ्गों के काटने का यह अभिप्राय है कि मुमुक्षु के जन्मजात अङ्ग-प्रत्यङ्गों में दुराचार (मन्त्र ३) प्रविष्ट हुए-हुए है उन्हें ज्ञानासि द्वारा काटकर अलग कर देना, ताकि मुमुक्षु नव पवित्र जीवन को प्राप्त कर मुक्त हो सके। इस सम्बन्ध में आचार्य को कहा है कि मुमुक्षु को मोक्षाधिकारी बनाने में तू आत्माभिमान न कर। तथा उसे यह भी कहा है कि मुमुक्षु के साथ तू द्रोह भी न कर।

अति-तपश्चर्या के द्वारा इसका हनन न कर। "अभिपूर्वो मन्यतिर्हिंसार्थः" (महीधर, यजु० १३।४१)। इसी भावना को प्रकट करने के लिये मन्त्र में "मा द्रुहः" तथा "कल्पयैनम्" का प्रयोग हुआ है। मन्त्रार्थ में प्रायः "शबलेन असिना" ऐसा अन्वय किया जाता है, जिस का अर्थ है "कृष्णवर्ण मिश्रित नीली तलवार" द्वारा इसके परुओं अर्थात् जोड़ों को काट दे। परन्तु यह अर्थ मन्त्रोक्त "माभिमंस्थाः, मा अभिद्रुहः, और कल्पयैनम्" के विरुद्ध प्रतीत होता है]

१. आचार्य शिष्य के दुर्गुणों को हटाने के लिये असि-क्रिया अर्थात् शल्य-क्रिया करता है, और सद्गुणों का आधान करने के लिये श्याम-ब्रह्म के सदुपदेश का आश्रय लेता है इसलिये आचार्य को "मृत्यु" कहा है, और "वरुण, सोम, ओषधः, तथा पयः (दूध) भी कहा है (अथर्व० ११।५।१४॥)।

ऋचा कुम्भीमध्यग्नौ श्रयाम्या सिञ्चोदकमव धेह्येनम् ।
पर्याधत्ताग्निना शमितारः शृतो गच्छतु सुकृतां यत्र लोकः ॥५॥

(ऋचा) वेदवाणी के अनुसार (कुम्भीम्) तेरी शरीररूपी कुम्भी को (अग्नौ) तपश्चर्या की अग्नि पर (अधि श्रयामि) मैं आचार्य स्थापित करता हूं, (आ सिञ्च उदकम्) [हे आश्रमाध्यक्ष !] इसमें आश्वासनरूपी उदक को तू सींचता रह, (एनम्) और इसे (अवधेहि) सावधान करता रह । (शमितारः) हे शान्त करने वालो ! (अग्निना) ज्ञानरूपी अग्नि के द्वारा इस का (पर्याधत्त) पर्याधान करो [इसे नया वस्त्र पहनाओ], (शृतः) परिपक्व होकर यह (गच्छतु) जाए (यत्र) जहां कि (सुकृतां लोकः) सुकर्मियों का लोक है ।

[मन्त्र में कुम्भी के परिपाक का वर्णन तो स्पष्ट ही है, परन्तु अभिप्राय प्रतीत होता है मुमुक्षु की शारीरिक तपश्चर्या का "ऋचा" पद द्वारा सम्भवतः ब्रह्मचर्य सूक्त (अथर्व० ११।५) प्रतीत होता है जिसमें कि तपश्चर्या का वर्णन है । मुमुक्षु ब्रह्मचर्याश्रम का निवासी नहीं, परन्तु मोक्ष प्राप्ति के लिये भी तपश्चर्या का जीवन आवश्यक है । इसलिये आचार्य, मुमुक्षु को तपश्चर्या की अग्नि पर स्थापित करने की आज्ञा देता है । और आश्रम के अन्य निवासियों को,—जिन्हें कि "शमितारः" कहा है,—इस मुमुक्षु की देख-भाल के लिये निर्देश देता है, (१) कि इसे आश्वासनरूपी उदक द्वारा सींचते रहो, (२) इसे सावधान भी करते रहो ताकि यह तपश्चर्या के व्रत को छोड़ न दे, (३) तथा इसे ज्ञानाग्नि द्वारा ज्ञानवान् करके नवजीवन रूपी नववस्त्र द्वारा आच्छादित करो, ताकि यह सुकर्मियों के स्थान को प्राप्त हो सके]

उत्क्रामातः परि चेदतप्तस्तप्ताच्चरोरधि नाकं तृतीयम् ।
अग्नेरग्निरधि सं बभूविथ ज्योतिष्मन्तमभि लोकं जयैतम् ॥६॥

(अतः परि) इस परिस्थिति से (उत्काम) तू उन्नति की ओर पग बढ़ा (चेत्) यदि (अतप्तः) तूने तपश्चर्या नहीं की; (तप्तात्) अर्थात् तपश्चर्या द्वारा तप्त हुए (चरोः अधि) चरु से (तृतीये नाकम्) सुखमय तीसरे लोक की ओर पग बढ़ा । क्योंकि (अग्नेः अधि) तपश्चर्या की अग्नि से (अग्निः) अग्निसदृश पाप मल को जला देने वाला (सं बभूविथ) तू हुआ है । तू

(एतम्) इस (ज्योतिष्मन्तं लोकम् अभि जय) ज्योतिःसम्पन्नलोक पर विजय प्राप्त कर ।

[चरु[1]=चलने फिरने वाला शरीर । इसे (मन्त्र ५) में कुम्भी कहा है । (नाकं तृतीयम्, देखो मन्त्र १०) ।

अजो अग्निरजमु ज्योतिराहुरजं जीवता ब्रह्मणे देयमाहुः ।
अजस्तमांस्यप हन्ति दूरमस्मिँल्लोके श्रद्दधानेन दत्तः ॥७॥

(अजः) स्वरूपतः जन्म से रहित जीवात्मा (अग्नि) अग्निरूप है, (अजम्) जन्म से रहित जीवात्मा को (ज्योतिः आहुः) ज्योतिरूप कहते हैं, (जीवता) जीवित व्यक्ति द्वारा [जीवित काल में] (अजम्) निज जीवात्मा को (ब्रह्मणे) ब्रह्म के प्रति (देयम् आहुः) समर्पणीय कहते हैं (श्रद्दधानेन) श्रद्धालु द्वारा (दत्तः) ब्रह्म के प्रति समर्पित किया गया (अजः) जीवात्मा, (अस्मिन् लोके) इस पृथिवी लोक में (दूरम्) दूर-दूर तक (तमांसि) अज्ञानान्धकारों को (अव) हटाकर, (हन्ति) उन का हनन कर देता है ।

[मन्त्र में अज को अग्नि कहा है, जैसे अग्नि मल को भस्मीभूत कर देती है वैसे प्रबुद्ध जीवात्मा पाप-मल को भस्मीभूत कर देता है । प्रबुद्ध जीवात्मा ज्योतिरूप हो जाता हैं, जैसे ज्योतिरूप सूर्य अन्धकार को हटाता है, वैसे प्रबुद्ध जीवात्मा ज्योतिर्मय होकर भूमण्डल वासियों के अज्ञानान्धकारों को दूर-दूर तक हटा देता है । परन्तु ऐसी शक्ति उसी जीवात्मा को प्राप्त होती है जिसने कि निज को ब्रह्म के प्रति समर्पित कर दिया होता है । याज्ञिक सम्प्रदायानुसारी मन्त्र में "अज" का अर्थ करते हैं "बकरा" । क्या बकरे में मन्त्रोक्त भावनाएं सार्थक हो सकती हैं ?]

पञ्चौदनः पञ्चधा वि क्रमतामाक्रंस्यमानस्त्रीणि ज्योतींषि ।
ईजानानां सुकृतां प्रेहि मध्यं तृतीये नाके अधि वि श्रयस्व ॥८॥

(त्रीणि ज्योतींषि) तीन ज्योतियों की प्राप्ति को लक्ष्य करके (आक्रंस्यमानः) आक्रमण करना चाहता हुआ, (पञ्चौदनः) पांच प्रकार के पञ्चेन्द्रियभोगों वाला व्यक्ति, (पञ्चधा) पांच प्रकार से (विक्रमताम्)

---

१. परिपक्व हविः, ओदन, यव आदि ।

विक्रम अर्थात् पराक्रम करे। तब (ईजानानाम् सुकृताम्) जिन्होंने इन्द्रिय-भोगों पर विजयरूपी यज्ञ किये हैं उन सुकर्मियों के (मध्ये) मध्यमें (प्रेहि) तू जा। तदन्तर (तृतीये नाके) सुखमय तीसरे नाक में (अधि) अधिकार पूर्वक (विश्रयस्व) तू आश्रय ले अर्थात् विश्राम करे।

[व्यक्ति की परिस्थिति को दर्शाने के लिये उसे पञ्चौदन कहा है, अर्थात् वह अभी पञ्चेन्द्रियों के पांच भोगों में लिप्त है। वह चाहता है तीन ज्योतियों की प्राप्ति। एतदर्थ वह आक्रमण करना चाहता है। यह आक्रमण शत्रुरूप पांच विषयों पर करता है। आक्रमण अर्थात् शत्रु पर धावा करने के लिये अधिक बल की आवश्यकता होती है। बल अर्थात् मानसिक और आध्यात्मिक बल का संचय करके व्यक्ति पांच प्रकार से पञ्चभोगों पर आक्रमण करे। पहिले किसी एक इन्द्रियविषय पर आक्रमण करके उस पर विजय प्राप्त करे, तदनन्तर अवशिष्ट विषयों पर एक-एक कर के आक्रमण करे। इसके पश्चात् वह तीन ज्योतियों की प्राप्ति का अधिकारी बन जाता है। पांच ऐन्द्रियिक भोगों पर विजय पाकर वह, (१) सुकर्मियों की समाज में जाने-आने योग्य बनता है, और (२) अधिक उन्नति करके वह तीन ज्योतियों को प्राप्त करता है; (३) तदनन्तर वह सुखमय तीसरे नाक में चिरकाल तक विश्राम पाता है।

तीन ज्योतियां हैं तीन ज्ञान ज्योतियां, जोकि योगी को विभूतिरूप में प्राप्त होती है—

(१) पांचों इन्द्रियों में, दिव्य तथा दूर और व्यवहित विषयों की ग्रहण करने की शक्ति का हो जाना (योग ३।३१)। (२) प्रातिभ-ज्ञान (योग ३।३३) जिसे कि "Intutional insight" कहते हैं। (३) विवेकज-ज्ञान (योग ३।५४)। विवेकज-ज्ञान उत्पन्न हो जाने पर सब वस्तुओं का ज्ञान, प्रत्येक वस्तु की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का ज्ञान, क्रम की अपेक्षा के विना सब को एक क्षण में जान सकना,—सम्भव हो जाता है (योग ३।५४)]

अजा रोह सुकृतां यत्र लोकः शरभो न चत्तोऽति दुर्गाण्येषः ।
पञ्चौदनो ब्रह्मणे दीयमानः स दातारं तृप्त्या तर्पयाति ॥९॥

(अज) हे अजन्मा जीवात्मा! (आरोह) आरोहण कर (यत्र) जहां कि (सुकृतां लोकः) सुकर्मियों का लोक है, (चत्तः) प्रार्थित हुए (शरभः) और शान्ति धारण किये हुए के (न) सदृश, (दुर्गाणि अति) दुर्गम मार्गों को लांघ कर भी (एषः) हमारे पास आया कर। (पञ्चौदनः) पांच इन्द्रिय-भोगों वाला जो "अज" था वह जब (ब्रह्मणे) ब्रह्म के प्रति (दीयमानः) समर्पण के योग्य हो जाता है, तो वह (दातारम्) दाता आचार्य को (तृप्त्या तर्पयाति) तृप्ति से तृप्त कर देता है।

[शरभः=जिसने कि शान्त जीवन आरम्भ किया हुआ है, प्रार्थना करने पर, जैसे वह कठिन मार्गों को लांघ कर भी हमारे पास आता है, वैसे हे जीवन्मुक्त! तू भी आया कर। इस से प्रतीत होता है जीवन्मुक्त अभी जीवित है, उसने अभी तक मोक्षारोहण नहीं किया। केवल शुभभावना की गई है कि हे अजः तू आरोहण के लिये यत्न करता रह और निज को तू ब्रह्म के प्रति समर्पण कर दे। जब जीवन्मुक्त इस योग्य हो जाता है तब उस योगाचार्य को जिसने जीवन्मुक्त को इस योग्य किया है, तृप्ति से तृप्त कर देता है। (योगाचार्य के लिये देखो मन्त्र १, २)। चत्तः=चते याचने (भ्वादिः) +क्त। एषः=आ+इष गतौ]।

अजस्त्रिनाके त्रिदिवे त्रिपृष्ठे नाकस्य पृष्ठे ददिवांसं दधाति ।
पञ्चौदनो ब्रह्मणे दीयमानो विश्वरूपा धेनुः कामदुघाऽस्येका ॥१०॥

[हे मुमुक्षुः] (पञ्चौदनः) पांच इन्द्रिय-भोगों वाला जो तू था, वह तू (ब्रह्मणे दीयामानः) जब ब्रह्म के प्रति दिया जाने वाला अर्थात् समर्पित किया जाने वाला हो जाता है, तब तू (एका) एक (कामदुघा असि) यथेच्छ-दुही-जाने-वाली गौ के सदृश हो जाता है, जो कामदुघा कि (विश्वरूपा) विश्व को रूपवान् बना देती है। और जब तू (अजः) पुनर्जन्म से मुक्त हुआ जीवन्मुक्त हो जाता है, तब (अजः) अज एकपाद् परमेश्वर (ददिवांसम्) ब्रह्म के प्रति दे चुके हुए तुझ को, (त्रिनाके, त्रिदिवे, त्रिपृष्ठे नाकस्य पृष्ठे) त्रिविभक्त नाक में, जोकि ब्रह्म के प्रकाश द्वारा द्योतमान होता है, और जिस की तीन पीठें हैं, ऐसे नाक की किसी एक पृष्ठ पर (दधाति) स्थापित कर देता है।

[मन्त्र में "दीयमानः और ददिवांसम्" द्वारा मुमुक्ष की दो अवस्थाओं का वर्णन किया है। मुमुक्षु जब ब्रह्म के प्रति निज को दिये जाने की अवस्था में होता है। तब वह कामदुघा गौ के सदृश हुआ-हुआ मानुष जगत् की

कामनाओं को सफल कर के, मानुष-जगत् को एक नया रूप दे देता है, निज सदुपदेशों द्वारा उनके जीवनों में परिवर्तन पैदा कर उन के जीवनों को सुधार देता है, जैसे कि गौ निज दुग्ध द्वारा दुग्धसेवियों को रूपवान् कर देती है]।

परन्तु जो जीवन्मुक्त अपने आप को पूर्णरूप से ब्रह्म के प्रति समर्पण कर चुका होता है उसकी आत्मा को 'अज' परमेश्वर या ब्रह्म उस के देहावसान पर नाक के किसी एक पृष्ठ पर, उसकी योग्यता के अनुसार, स्थापित कर देता है।

योगी तीन प्रकार के होते हैं, विदेह, प्रकृतिलीन, समाधिसिद्ध (योग० १।१६,२०)। तीन प्रकार के योगियों में से प्रत्येक योगी, निजकर्मानुसार, त्रिविध नाकों में किसी एक नाक के पृष्ठ पर जाने का अधिकारी होता है।

"भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्" (योग० ३।२६) इस के भाष्य में व्यासमुनि ने एक प्राचीन श्लोक उद्धत किया है। यथा:—

ब्राह्मस्त्रिभूमिको लोको बार्हस्पत्यस्ततो महान्।
माहेन्द्रश्च स्वरित्युक्तो दिवि तारा भुवि प्रजाः॥

श्लोकपठित "ब्राह्मः त्रिभूमिको लोकः" और मन्त्रपठित "त्रिनाके" में आर्थिक और भाव सम्बन्धी समता प्रतीत होती है। श्लोक में ७ भुवनों का निर्देश भी प्राप्त होता है, तीन तो "ब्राह्मस्त्रिभूमिकलोकः" एक बार्हपत्य लोक "महान्," एक माहेन्द्र लोक "स्वः", द्युलोक, तथा भूलोक[1]]।

१. "**येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा, येन स्वः स्तभितं येन नाकः। योऽन्तरिक्षे रजसो विमानः, कस्मै देवाय हविषा विधेम**" (यजु० ३२।६) में (१) द्यौः, (२) पृथिवी, (३) स्वः, (४) नाकः, (५) अन्तरिक्ष का वर्णन है। परन्तु व्याख्येय मन्त्र १० में यतः "नाकः" को "त्रिनाके" कहा है, अतः "नाकः" को त्रिविभक्त मान कर मन्त्र ३२।६ में भी सात भुवनों का ही वर्णन जानना चाहिये। नाक भी ब्रह्माण्ड का एक भाग है, लोक है। इस नाक में मुक्तात्माओं का निवास होता है। इस में निम्न लिखित मन्त्र प्रमाण है। यथा "**यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः**" (यजु० ३१।१६)। मन्त्र में "साध्य देवों" की स्थिति "नाक" में दर्शाई है। "साध्याः देवाः" हैं योगसाधना द्वारा सम्पन्न दिव्य मुक्तात्मा। नाक में मुक्तात्मा

एतद् वो ज्योतिः पितरस्तृतीयं पञ्चौदनं ब्रह्मणेऽजं ददाति।
अजस्तमांस्यप हन्ति दूरमस्मिँल्लोके श्रद्दधानेन दत्तः॥११॥

(पितरः) हे पितरो! (एतत्) यह (वः) तुम्हारे लिये (तृतीयम् ज्योतिः) तीसरी ज्योति है जोकि (पञ्चौदनम्) पांच ऐन्द्रियिक भोगों को [त्याग कर], (अजम्) निज नित्य आत्मा को (ब्रह्मणे) ब्रह्म के प्रति समर्पित कर देता है। (अजः) यह नित्य आत्मा [जीवात्मा] (अस्मिन् लोके) इस पृथिवी लोक में (तमांसि) अज्ञानान्धकारों को (दूरम्) दूर-दूर के प्रदेशों तक (अप हन्ति) विनष्ट कर देता है, जब कि यह (श्रद्दधानेन दत्तः) श्रद्धापूर्वक ब्रह्म के प्रति समर्पित कर दिया हो।

[पितरः=गृहस्थी लोग, माता-पिता आदि। तृतीयम् ज्योतिः=गृहस्थियों के लिये एक ज्योति है। आचार्य, विज्ञपुरोहित। दूसरी ज्योति है उपस्थित परमेश्वर। तीसरी ज्योति है 'अज' अर्थात् नित्य जीवात्मा, जिस ने पांच प्रकार के भोगों को त्याग कर, अपने-आप को ब्रह्म के प्रति समर्पित कर दिया है। यह तीसरी ज्योति निज उपदेशों द्वारा दूर-दूर के प्रदेशों के निवासियों के अज्ञानान्धकारों को विनष्ट कर देता है]।

ईजानानां सुकृतां लोकमीप्सन् पञ्चौदनं ब्रह्मणेऽजं ददाति।
स व्याप्तिमभि लोकं जयैतं शिवोऽस्मभ्यं प्रतिगृहीतो अस्तु॥१२॥

(ईजानानाम्) ध्यान-यज्ञ जिन्होंने किये हैं ऐसे (सुकृताम्) सुकर्मियों के (लोकम्) लोक की (ईप्सन्) इच्छा करता हुआ मुमुक्ष (पञ्चौदनम्, अजम्) पञ्चौदन "अज" को पञ्चौदन सहित जनन मरण रहित निज आत्मा को (ब्रह्मणे ददाति) ब्रह्म के प्रति समर्पित कर देता है। हे अज! (सः) वह तू (एतम्) इस (व्याप्तिम् लोकम्, अभि) व्याप्ति वाले लोक पर (जय) विजय पा, और (शिवः) कल्याणमय हुआ वह (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (प्रतिगृहीतः, अस्तु) स्वीकृत हुआ हो]।

[पञ्चौदनम् अजम्=पांच इन्द्रियों के पांच भोगों सहित आत्मा को समर्पित करना। जिस लोक को मुमुक्षु चाहता है वह परिमाण में पृथिवी

ब्रह्म में विचरते हुए ब्रह्मानन्द रस का पान करते हैं। इस भावना को दर्शाने के लिये त्रिभूमिकलोक को "ब्राह्मः" कहा है (योग ३।२६)। त्रिनाके को त्रिदिवे कहा है। यह त्रिनाक ब्राह्मी द्युति द्वारा द्योतमान होता है।

की अपेक्षा अधिक व्याप्त है। मुमुक्षु अभी जीवन्मुक्त की अवस्था में है, कल्याणमार्गी है, वह जब शिवरूप हो जाता है तो प्रजाजन आदर पूर्वक उसे स्वीकृत करते हैं]।

अजो ह्य१ग्नेरजनिष्ट शोकाद् विप्रो विप्रस्य सहसो विपश्चित् ।
इष्टं पूर्तमभिपूर्तं वषट्कृतं तद् देवा ऋतुशः कल्पयन्तु ॥१३॥

(अग्नेः) अग्नि स्वरूप परमेश्वर के (शोकात्) प्रकाश से मुमुक्षु, (अजः) पुनर्जन्म से रहित (अजनिष्ट) हुआ है, वह (विप्रस्य) मेधावी परमेश्वर की (सहसः) शक्ति से (विप्रः) मेधावी तथा (विपश्चित्) ज्ञानी हुआ है। अतः (देवाः) देव अर्थात् इस के सम्बन्धी मातृदेव, पितृदेव, आचार्यदेव [इस प्रसन्नता में] (इष्टम्) यथेष्ट (पूर्त्तम्) सामाजिक दान, (अभिपूर्त्तम्) बहुदान तथा (वषट्कृतम्) यज्ञाहुतियां (ऋतुशः) समयानुसार (कल्पयन्तु) करें।

[अग्निः=परमेश्वर "**तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः । तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ताऽआपः स प्रजापतिः** ॥ (यजु० ३२।१)। मन्त्रोक्त वर्णन "बकरा" अर्थ में सम्भव नहीं]।

अमोतं वासो दद्याद्धिरण्यमपि दक्षिणाम् ।
तथा लोकान्त्समाप्नोति ये दिव्या ये च पार्थिवाः ॥१४॥

[मुमुक्षु] (अमोतम् वासः) घर में बुना वस्त्र, (अपि) तथा (हिरण्यम्) सोना (दक्षिणाम्) यज्ञ कराने वाले को दक्षिणा में (दद्यात्) दे। (तथा) इस प्रकार मुमुक्षु, (लोकान्) उन लोकों को (समाप्नोति) प्राप्त करता है, (ये दिव्याः) जो दिव्य हैं (ये च) और जो (पार्थिवाः) पार्थिव है (देखो मन्त्र २५, २६)।

एतास्त्वाजोप यन्तु धाराः सोम्या देवीर्घृतपृष्ठा मधुश्चुतः ।
स्तभान पृथिवीमुत द्यां नाकस्य पृष्ठेऽधि सप्तरश्मौ ॥१५॥

(अज) हे जन्म मरण से रहित परमेश्वर! (सोम्याः) सोम का, (देवीः, घृतपृष्ठाः, मधुश्चुतः) दिव्य, घृतस्पर्शी तथा मधुमिश्रित (एताः धाराः) ये धाराएं (त्वा उपयन्तु) तुझे प्राप्त हों। (नाकस्य पृष्ठे) नाक

की पीठ पर (सप्तरश्मौ) सात प्रकार की रश्मियों वाले सूर्य में (अधि) अधिष्ठित हुआ तू (पृथिवीम् उत द्याम्) पृथिवी और द्युलोक को (स्तभान) थाम।

[मन्त्र १३ में अग्नि स्वरूप परमेश्वर के प्रकाश से मुमुक्षु "अज" अर्थात् जन्मरहित है, इस निमित्त मन्त्र १४ में यज्ञ कराने सम्बन्धी दक्षिणा का वर्णन हुआ है, और मन्त्र १५ में घृत तथा मधु से मिश्रित सोमयाग की कर्त्तव्यता का निर्देश किया है। सूर्य को सप्तरश्मि कहा है। इस की शुभ्र रश्मियां फट कर, सातरंगों की रश्मियों में परिवर्त्तित हो जाती हैं। ये सातरंगी रश्मियां बर्षर्तु में मेघीय इन्द्र-धनुष् में दीखती हैं। यजुर्वेद (४०।१७) में भी परमेश्वर की स्थिति आदित्य में दर्शाई है।

अजो३स्यज स्वर्गोऽसि त्वया लोकमङ्गिरसः प्राजानन् ।
तं लोकं पुण्यं प्र ज्ञेषम् ॥१६॥

(अज) हे अजन्मा परमेश्वर! (अजः असि) तू सदा से जन्म रहित है, अकाय है, (स्वर्गः असि) तू स्वर्गरूप है, (अङ्गिरसः) प्राण विद्या के विज्ञों ने (त्वया) तेरी कृपा द्वारा (लोकम्) नाक को (प्राजानन्) जाना है। (तं पुण्यं लोकम्) उस पुण्य लोक को (प्रज्ञेषम्) तेरी कृपा से मैं भी जानूं।

[यह कथन जीवन्मुक्त मुमुक्षु का है, क्या यह प्रार्थना अज (बकरा) कर सकता है?]

येना सहस्रं वहसि येनाग्ने सर्ववेदसम् ।
तेनेमं यज्ञं नो वह स्वर्देवेषु गन्तवे ॥१७॥

(अग्ने) हे प्रकाशस्वरूप तथा ज्ञानस्वरूप परमेश्वर! (येन) जिस हेतु से (सहस्रम्) हजारों लोक लोकान्तरों का (वहसि) तू वहन करता है, (येन) जिस हेतु से (सर्ववेदसम्) सर्वस्वत्यागी का वहन करता है। (तेन) उस हेतु से (नः) हमारे (यज्ञम्) यज्ञ को सफलता की ओर (वह) ले चल, ताकि (देवेषु) देवों में वर्तमान (स्वः) सुखविशेष को (गन्तवे) हम प्राप्त हो सकें।

[अग्नि है परमेश्वर (मन्त्र १३)। परमेश्वर लोकलोकान्तरों का वहन करता है मनुष्यों और अन्य प्राणियों के भोग और अपवर्ग के लिये, "भोगा-

पवर्गार्थं दृश्यम्" (योग २।१८)। सर्वस्वत्यागी का वहन इसलिये करता है क्योंकि उस के सकामकर्म निष्कामरूप हो गए हैं अतः उस के जीवन को परमेश्वर निज प्रेरणाओं द्वारा प्रेरित करता है। मन्त्र में प्रार्थना की गई है कि हम जीवन्मुक्तों के जीवन यज्ञों का भी तू वहन कर, ताकि उस सुख विशेष को हम प्राप्त हो सकें जोकि दिव्य गुणियों को प्राप्त है। गन्तवे= गन्तुम्, तुमुन् प्रत्यय।

अजः पुक्वः स्वुर्गे लोके दधाति पञ्चौदनो निर्ऋतिं बाधमानः ।
तेन लोकान्त्सूर्यवतो जयेम ॥१८॥

(पक्वः अजः) समाधि में परिपक्व हुआ, साक्षात् प्रकट हुआ नित्य परमेश्वर, (पञ्चौदनः) जो कि पंचविध इन्द्रियभोगों का स्वामी है, (निर्ऋतिं बाधमानः) कष्टों को हटाता हुआ, (स्वर्गे लोके दधाति) स्वर्गलोक में स्थापित कर देता है। (तेन) उस की सहायता या कृपा से (सूर्यवतः लोकान् जयेम) सूर्य वाले लोकों पर हम विजय पाएं, उन्हें प्राप्त हों।

[सूर्यवतः लोकान्=सौर परिवार सम्बन्धी लोक ग्रह आदि; या सूर्य जहां स्थित है, तत्सम्बन्धी द्युलोकस्थ लोकलोकान्तर]।

यं ब्राह्मणे निदधे यं च विक्षु या विप्रुष ओदनानामजस्य ।
सर्वं तदग्ने सुकृतस्य लोके जानीतान्नः संगमने पथीनाम् ॥१९॥

(यम्) जिस ओदन को (ब्राह्मणे) ब्रह्मवेत्ता तथा वेदवेत्ता आचार्य [के हाथ] में (निदधे) मैं स्थापित करता हूं, (यं च) और जिसे (विक्षु) प्रजाओं में स्थापित करता हूं, और (अजस्य) व्रीहि के (ओदनानाम् याः विप्रुषः) पके ओदनों की जो विन्दुएं हैं, (सर्वं तद्) उस सब को (अग्ने) हे प्रकाशमय तथा ज्ञानमय परमेश्वर! (पथीनां संगमने, सुकृतस्य लोके) पथों के संगम में जहां कि सुकर्मों का लोक है वहां, तू (नः) हमारे लिये (जानीत) जान।

[मन्त्र में ब्राह्मण है वह आचार्य, जोकि अध्यात्म-शिक्षक है। विक्षु पद द्वारा बलिवैश्वदेव यज्ञ को सूचित किया है, जिस में कि प्राणिमात्र के लिये पक्वान्न के अंश भेंट किये जाते हैं। यथा "**शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम्। वायसानां कृमीणां च शनकैर्निवपेद् भुवि**"। "अजस्य" द्वारा व्रीहि सूचित किया है जिस से तण्डुल निकाल कर ओदन पकाए जाते हैं।

यथा "**अजसंज्ञानि बीजानि छागं नो हन्तुमर्हथ**" (महाभारत, शान्ति-पर्व अध्याय ३३७)। पथीनां संगमने=सम्भवतः देवमार्ग और पितृमार्ग का जहां संगम होता हो, वहां सुकृत का कोई स्थान विशेष हो जिसे कि "सुकृतस्य लोके" द्वारा निर्दिष्ट किया है]।

अजो वा इदमग्रे व्यक्रमत तस्योर इयमभवद् द्यौः पृष्ठम् ।
अन्तरिक्षं मध्यं दिशः पार्श्वे समुद्रौ कुक्षी ॥२०॥

(अग्रे) प्रारम्भ में (वै) निश्चय से (अजः) जन्मरहित, अकाय परमेश्वर ने (इदम्) इस ब्रह्माण्ड पर (व्यक्रमत) विक्रम दर्शाया या पादनिक्षेप किया, (तस्य) उस की (उरः अभवत्) छाती हुई (इयम्) यह पृथिवी, (द्यौः) द्युलोक हुआ (पृष्ठम्) पीठ। (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष हुआ (मध्यम्) शरीर का मध्यभाग, (दिशः) दिशाएं हुईं (पार्श्वे) दो पार्श्व (कुक्षी) दो कोखें हुईं। (समुद्रौ) दो समुद्र।

[पार्श्वे=दो पार्श्वों की नाना, अस्थियों को "दिशः" नाना दिशाएं कहा है। कुक्षी=अन्तरिक्ष का समुद्र, तथा पार्थिव समुद्र[1]।

सत्यं चर्तं च चक्षुषी विश्वं सत्यं श्रद्धा प्राणो विराट् शिरः ।
एष वा अपरिमितो यज्ञो यदजः पञ्चौदनः ॥२१॥

(सत्यं च ऋतं च) सत्य और नियम (चक्षुषी) दो आंखें हैं; (विश्वं सत्यम्) सम्पूर्णरूप में सत्य और (श्रद्धा) अर्थात् उस सत्य का धारण करना है (प्राणः) प्राण, अर्थात् श्वास-और-प्रश्वास (विराट्) है (शिरः) सिर। (एषः) यह है (वै) निश्चय से (अपरिमितः यज्ञः) परिमाण रहित अर्थात् सर्वव्यापक यज्ञ (यद्) जोकि (पञ्चौदनः अजः) पांचों भोगों का स्वामी "अज" है, जन्मरहित परमेश्वर है।

[मन्त्र २०, २१ में "अज" परमेश्वर को और ब्रह्माण्ड में उसके शरीरी और-शरीरभाव को द्योतित किया है। जैसे अस्मदादि पिण्डों में आत्माओं

---

१. इन्हें उत्तर-समुद्र और अधर-समुद्र भी कहा है। यथा "**स उत्तरस्मादधरं समुद्रमपो दिव्या असृजद्वर्ष्या अभि**" (ऋ० १०।६८।५)। अथवा कुक्षी=पूर्व समुद्र तथा पश्चिम समुद्र। यथा "**उतो समुद्रौ वरुणस्य कुक्षी**" (अथर्व० ४।१६।३) पर सायणाचार्य।

और शरीरों का सम्बन्ध है, नियामक और नियम्य भाव है, ऐसा ही सम्बन्ध है परमेश्वर और ब्रह्माण्ड का। अस्मदादि शारीरिक जीवनों में आत्मा और शरीर का सम्बन्ध भोग और अपवर्ग द्वारा प्रेरित है, और परमेश्वर और ब्रह्माण्ड का सम्बन्ध भोग करवाने और आत्माओं को मोक्ष दिलाने के लिये हैं, कर्मवासनाजन्य नहीं।

यह भी जानना आवश्यक है कि जहां मन्त्रों में परमेश्वर के सम्बन्ध में शारीरिक अङ्गों का वर्णन हो, वहां उरस्, पृष्ठ आदि (मन्त्र २०) तथा चक्षुः शिरः आदि (मन्त्र ११) द्वारा ब्रह्माण्ड के अवयव ही समझने चाहियें, जो कि काल्पनिक ही होते हैं। परमेश्वर की दो आंखें हैं, सत्य और ऋत। इन द्वारा वह जगत् का निरीक्षण तथा शासन करता है। "विश्वं सत्यम्" को "बृहत्-सत्यम्" भी कहा है (अथर्व० १२।१।१)। वैयक्तिक, सामाजिक, राष्ट्रिय तथा सार्वभौम जीवनों में सदा सत्य व्यवहार ही "विश्वं सत्यम्" है। श्रद्धा है जीवन में श्रत् (सत्यम्, निघं० ३।१०) का+धा (धारण और पोषण करना)। ये दो हैं परमेश्वर के प्राणरूप, श्वास-प्रश्वासरूप, प्राणापानरूप। विराट् है विशेषेण दीप्यमाना द्यौः (वि+राजृ दीप्तौ), इसे शिरः कहा है अर्थात् परमेश्वर का शिर। **"शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत"** (यजु० ३१।१३), तथा **"दिवं यश्चक्रे मूर्धानम्"** (अथर्व० १०।७।३२) में द्यौः, दिव् को सिर तथा मूर्धा कहा है। तथा **"ते दिवमेव विराजं पञ्चमीं चितिमपश्यन्"** (श० ब्रा० ८।५।१।२) में दिव् को विराट् कहा है। त्रिलोकी में सर्वोच्च होने से द्यौः त्रिलोकी का शिर है, जैसे कि मनुष्य का शिरः शरीर में सर्वोच्च है। इसी प्रकार विराट् को शिरः कहना उपयुक्त ही है। तथा विराट् निज दीप्ति से दीप्यमान है, शिरः भी निज ज्ञानदीप्ति से दीप्यमान होता है। अपरिमितः यज्ञः=परमेश्वर (यजु० ३१।६,७,९)]।

पिण्ड और ब्रह्माण्ड में प्रतिरूपता

उरः	=	पृथिवी	कुक्षी	=	समुद्रौ
पृष्ठम्	=	द्यौः	चक्षुषी	=	ऋतं च सत्यं च
मध्यम्	=	अन्तरिक्षम्	प्राणः	=	विश्वं सत्यम्, श्रद्धा
पार्श्वे	=	दिशः	शिर	=	विराट्

"विशेष" मध्यम्=उदरम्। कुक्षी का अर्थ गर्भाशय भी है (उणा० ३।१५५, म० दयानन्द) इस दृष्टि से कुक्षी "दो वृक्क" अर्थात् दो Kidneys प्रतीत होते हैं, जिन में मूत्र पैदा होता है जिन्हें कि समुद्रौ कहा है।

अपरिमितमेव यज्ञमाप्नोत्यपरिमितं लोकमव रुन्द्धे ।
योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥२२॥

(अपरिमितम् एव) परिमाणरहित अर्थात् सर्वव्यापक (यज्ञम्) यज्ञनामक परमेश्वर को ही (आप्नोति) वह प्राप्त करता है, और (अपरिमितम्) व्यापी (लोकम्) लोक को (अवरुन्धे) रोक लेता है, स्वायत्त कर लेता है, अपना बना लेता है (यः) जो अध्यात्म गुरु (पञ्चौदनम्) पांच भोगों के स्वामी, (अजम्) अकाय, तथा (दक्षिणा[1]ज्योतिषम्) ज्योतिः स्वरूप परमेश्वर को, दक्षिणा के फलस्वरूप में ददाति शिष्य को प्रदान करता है।

[मन्त्र में अध्यात्म गुरु का वर्णन हुआ है। जो अध्यात्मगुरु शिष्य को परमेश्वर की प्राप्ति करा देता है, और इस अध्यात्म यज्ञ की सफलता में शिष्य से दक्षिणा प्राप्त कर लेता है, वह दक्षिणा के फलरूप में शिष्य को परमेश्वर का दर्शन करा देता है। इससे शिष्य भी अपरिमित यज्ञ परमेश्वर को और अपरिमित लोक को प्राप्त करता है, और अध्यात्म गुरु भी। "अपरिमितलोक प्राप्त करना" अर्थात् सब लोकलोकान्तरों में गमन की योग्यता]

नास्यास्थीनि भिन्द्यान्न मज्ज्ञो निर्धयेत् ।
सर्वमेनं समादायेदमिदं प्र वेशयेत् ॥२३॥

(अस्य) इस शिष्य की (अस्थीनि) अस्थियों को (न भिन्द्यात्) अध्यात्मगुरु न तोड़े, (न) और न (मज्जः) अस्थिगत मज्जा को (निर्धयेत्) निकाल कर पीए। (एनम्) इस शिष्य को (सर्वम्) सम्पूर्णरूप में, (इदम्, इदम्) इसके इस प्रत्येक अङ्ग समेत (समादाय) इसे लेकर (प्रवेशयेत्) परमेश्वर में प्रविष्ट करा दे।

[परमेश्वर की प्राप्ति के लिये तप की अर्थात् तपश्चर्यामय जीवन की आवश्यकता होती है (मन्त्र ६)। इसके लिये गुरु शिष्य से ऐसी तपश्चर्या

१. दक्षिणायां ज्योतिः=दक्षिणा देने पर प्राप्त हुई ज्योतिः। समसान्तः टच्। अथवा दक्षिणा निमित्त ज्योतिः। दक्षिणार्थं ज्योतिः, वा।

न कराए जिससे शिष्य के अंग भंग की आशंका हो, इसकी हड्डियों में विकृति पैदा हो जाय, और रीढ़ की हड्डियों का मज्जा सूख जाय, विनष्ट हो जाय। अपितु इसे सर्वाङ्ग रूप में प्राप्त कर इसे परमेश्वर में तल्लीन करे। योगदर्शन में तप मे सम्बन्ध में कहा है कि "**नातपस्विनो योगः सिद्ध्यति, तच्च चित्तप्रसादनमबाधमानमनेनाऽऽसेव्यमिति मन्यते**" (साधन पाद, सूत्र १ का भाष्य), अर्थात् अतपस्वी को योग सिद्ध नहीं होता, परन्तु वह तप उस सीमा तक ही होना चाहिये जितनी तक कि मन प्रसन्न रहे और योग में बाधा न पड़े"। शरीर के स्वस्थ रहते ही तो योगसाधन किये जा सकते हैं, अस्थि तोड़ तथा रीढ़ की अस्थियों के रस को सुखा देने वाला तप योगविरोधी ही है]

इदमिदमेवास्य रूपं भवति तेनैनं सं गमयति।
इषं मह ऊर्जमस्मै दुहे यो३जं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥२४॥

(इदम्, इदम्, एव) इस-इस प्रत्येक स्वस्थ अङ्गों वाला ही (अस्य) इस शिष्य का (रूपम्) स्वरूप (भवति) होता है, (तेन) उस स्वस्थ स्वरूप के साथ ही (एनम्) इस शिष्य का (संगमयति) अध्यात्म गुरु, परमेश्वर के साथ संगम अर्थात् मेल करा देता है। जो अध्यात्मगुरु (पञ्चौदनम्) पांच भोगों के स्वामी, (अजम्) अकाय, तथा (दक्षिणाज्योतिषम्) ज्योतिः स्वरूप परमेश्वर को दक्षिणा के फलरूप में (ददाति) प्रदान करता है (अस्मै) इस अध्यात्म गुरु के लिये परमेश्वर (इषम्) अन्न (महः) महत्त्व, (ऊर्जम्) बल और प्राण [दीर्घायुष्य] (दुहे) दोहन करता है, एतद्-रूपी दुग्ध प्रदान करता है।

[जो अध्यात्म गुरु शिष्य को परमेश्वर का दर्शन करा कर, उसके जीवन को सफल करता है उसे भी परमेश्वर इष आदि प्रदान करता है। इषम्=अन्नम् (निघं० २।७) महः महन्नाम (निघं० ३।३) ऊर्जम्=ऊर्ज-बलप्राणनयोः (चुरादिः)]

पञ्च रुक्मा पञ्च नवानि वस्त्रा पञ्चास्मै धेनवः कामदुघा भवन्ति।
यो३जं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥२५॥

(अस्मै) इस अध्यात्मगुरु के लिये (पञ्च रुक्मा) पांच सुवर्णभूषण, (पञ्च नवानि वस्त्रा) पांच नवीन वस्त्र, (पञ्च कामदुघाः धेनवः) पांच

यथेच्छ दूध देने वाली दुधारु गौएं (भवन्ति) देय होती हैं (यः) जो अध्यात्मगुरु (पञ्चौदनम्) पांच भोगों के स्वामी, (अजम्) अकाय, तथा (दक्षिणाज्योतिषम्) ज्योतिः स्वरूप परमेश्वर को दक्षिणा के फलस्वरूप में प्रदान करता है।

[मन्त्र में "पञ्च" शब्द का प्रयोग हुआ है। इसलिये क्योंकि अध्यात्म गुरु ने पञ्च-इन्द्रिय भोगों पर शिष्य की विजय कराई है। प्रत्येक इन्द्रिय भोग पर विजय प्राप्त कराने के लिये, गुरु एक-एक सुवर्णभूषण, वस्त्र, तथा उत्तम धेनु की प्राप्ति का अधिकारी होता है। इन्द्रिय भोगों पर विजय प्राप्त कराकर शिष्य के जीवन को सफल बनाना कोई साधारण कार्य नहीं। तो भी परिणाम रूप में कथित दक्षिणा, है भी मामूली। शिष्य पांच सुवर्ण-मालाएं तो कृतज्ञता रूप में गुरु की गर्दन पर पहनाता है, मुरझा जाने वाली पुष्पमालाएं नहीं, तथा गुरु के परिधान के लिये पांच नवीन वस्त्र, तथा दुग्धसेवी गुरु के लिये पांच गौएं देता है, जिस द्वारा गुरु के परिवार का पालन-पोषण हो सके। पांच सुवर्ण-मालाएं भी तात्कालिक समारोह में गुरु के संमान के लिये ही हैं, गुरु ने स्वयं तो उन्हें पहिने नहीं रखना। ये भी गुरु के परिवार के लिये उपयोगी हो सकती हैं]

पञ्च रुक्मा ज्योतिरस्मै भवन्ति वर्म वासांसि तन्वे भवन्ति।
स्वर्गं लोकमश्नुते यो३जं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥२६॥

(पञ्च रुक्मा) पांच सुवर्णभूषण (अस्मै) इसके लिये (ज्योतिः भवन्ति) शोभारूप होते हैं, (वासांसि) वस्त्र (तन्वे) शरीर के लिये (वर्म) कवचरूप (भवन्ति) होते हैं, तथा वह (स्वर्गम् लोकम्) सवंगलोक को (अश्नुते) प्राप्त करता है (यः) जोकि (पञ्चौदनम्) पांच इन्द्रिय भोगों के पति (अजम्) अजन्मा परमेश्वर को, (दक्षिणा ज्योतिषम्) अर्थात् ज्योतिः स्वरूप परमेश्वर को, दक्षिणा के फलस्वरूप में (ददाति) देता है, प्रत्यक्ष दर्शन करा देता है। पञ्चौदनम्=पञ्च ओदनाः ओदनानि वा यस्य, तम्।

[पञ्च रुक्मा ज्योतिः=दक्षिणा प्राप्त करने के समारोह में भेंट किये गये पांच सुवर्णभूषण, पांच सुवर्णमालाएं, अध्यात्मगुरु को सुशोभित करती हैं, उस समय उसके मुख की आभा चमकती है। वर्म=वृञ् आवरणे,

शरीर का आवरण करने वाले ढकने वाले, कवच के सदृश वस्त्र समारोह में शोभा और ख्याति प्राप्त कर मानो गुरु स्वर्गीय सुख का अनुभव करता है]

या पूर्वं पतिं वित्त्वाऽथान्यं विन्दतेऽपरम् ।
पञ्चौदनं च तावजं ददातो न वि योषतः ॥२७॥

(या) जो स्त्री (पूर्वम् पतिम्) पहिले पति को (वित्त्वा) प्राप्त कर, (अथ) पुनः (अन्यम्) उससे भिन्न (अपरम्) दूसरे पति को (विन्दते) प्राप्त करती है, (तौ) वे दोनों (पञ्चौदनम् अजम् च) यदि अपने-अपने पञ्चेन्द्रिय भोगों तथा निज आत्माओं को (ददातः) परस्पर के प्रति सौंप देते हैं तो वे (न वियोषतः) परस्पर से वियुक्त नहीं होते ।[1]

["वियोषतः", पद द्वारा यह भाव प्रकट होता है कि ये नव वर-वधू प्रथम अपने वैवाहिक सम्बन्धों से वियुक्त हुए-हुए हैं । मन्त्र में यह शिक्षा दी गई है यदि पति-पत्नी पारस्परिक भोगों को, और परस्पर की आत्माओं तक को, एक-दूसरे पर न्यौछावर कर दें तो उन के वियोग की सम्भावना नहीं रहती]

समानलोको भवति पुनर्भुवापरः पतिः ।
योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥२८॥

(पुनर्भुवा) "पुनः पत्नी" होने वाली के साथ (अपरः पति) यह दूसरा पति (समानलोकः) एक ही गृहस्थ लोक में वास करने वाला (भवति) हो जाता है, (यः) जोकि (पञ्चौदनम्) निज पचेन्द्रिय भोगों को, (अजम्) और निज आत्मा को, (दक्षिणाज्योतिषम्) विवाहनिमित्त दक्षिणा के समय एक नई ज्योति रूप में (ददाति) पत्नी के प्रति देता है ।

[पञ्चौदन और अज का प्रदान, पत्नी के प्रति, पति कर रहा है, पत्नी नहीं । प्रायः पतियों द्वारा पत्नियों पर बलात्कार की सम्भावना होती है । इसलिये विवाह विधि की समाप्ति पर, पति जो पत्नी के प्रति पञ्चभोगों और निज आत्मा को न्यौछावर कर देने का आश्वासन देता है वह मानो

[1] "पञ्चौदन और अज," इन पदों के साम्य के कारण, इस अध्यात्मिक प्रकरण में, पुनर्भू के पुनर्विवाह की प्रसक्ति हुई है।

पत्नी के लिये एक ज्योति का प्रदान है, जीवन मार्ग में जोकि पत्नी को नव-मार्ग प्रदर्शन कराएगी] ।

अनुपूर्ववत्सां धेनुमनड्वाहमुपबर्हणम् ।
वासो हिरण्यं दत्त्वा ते यन्ति दिवमुत्तमाम् ॥२९॥

(अनुपूर्ववत्साम्) पहिले बच्चे के पश्चात् पुनः बच्चा देने वाली (धेनुम्) दुधारू गौ को, (अनड्वाहम्) शकटवाही बैल को, (उपबर्हणम्) तकिया समेत बिछौने को, (वासः हिरण्यम्) वस्त्र और सुवर्ण को (दत्त्वा) विवाह में [पुरोहित को] दक्षिणारूप में देकर, (ते) वे गृहस्थी लोग (उत्तमाम् दिवम्) उत्तम दिव् को स्तुतियां प्रशंसा को (यान्ति) प्राप्त करते हैं ।

[दिवु स्तुतौ (दिवादिः)]

आत्मानं पितरं पुत्रं पौत्रं पितामहम् ।
जायां जनित्रीं मातरं ये प्रियास्तानुप ह्वये ॥३०॥

(आत्मानम्) निज अर्थात् अपने (पितरम्) पिता को, (पुत्रम्) पुत्र को, (पौत्रम्) पोते को, (पितामहम्) पिता के पिता को, (जायाम्) निज पत्नी को, (जनित्रीम् मातरम्) जन्मदात्री माता को, तथा (ये) जो (प्रियाः) अन्य प्रिय सम्बन्धी या मित्र हैं, (तान्) उन्हें, (उपह्वये) अपने समीप मैं बुलाता हूं, या सदा सत्कार पूर्वक बुलाता हूं, आदर पूर्वक बुलाता हूं । "आत्मनः, अपने पिता आदि" ।

[यह कथन पति का है । पति गृहजीवन में सबके साथ प्रेमपूर्वक व्यवहार करे, और उनके प्रति मधुर तथा प्रेममयी वाणी का प्रयोग किया करे । मन्त्र में "संयुक्त पारिवारिक जीवन" का निर्देश हुआ है]

यो वै नैदाघं नामर्तुं वेद । एष वै नैदाघो नामर्तुर्यदजः पञ्चौदनः ।
निरेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियं दहति भवत्यात्मना ।
योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥३१॥

(यः) जो (वै) वस्तुतः (नैदाघम् नाम ऋतुम्) निदाघ-सम्बन्धी ऋतु को उसके नामानुसार (वेद) जानता है,—(एष वै नैदाघः) यह है वस्तुतः

नैदाघ (नाम ऋतुः) नाम वाली ऋतु (यद् अजः पञ्चौदनः) जोकि पांच इन्द्रिय भोगों-का-स्वामी, अजन्मा परमेश्वर है,—[अध्यात्म गुरु] (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य) अप्रिय भ्रातृव्य की (श्रियम्) शोभा सम्पत्ति को (निर्दहति) दग्ध कर देता है, (भवति आत्मना) और उस पर स्वयं प्रभुता को प्राप्त करता है, (यः) जोकि (पञ्चौदनम् अजम्) पांच-इन्द्रिभोगों के स्वामी, अजन्मा परमेश्वर को (दक्षिणाज्योतिषम्) दक्षिणा के फलस्वरूप पारमेश्वरीय ज्योति के रूप में गृहस्थ के प्रति (ददाति) प्रदान करता है।

[निदाघ है ग्रीष्मकाल, जोकि नितरां दग्ध कर देता है, जिसमें कि ओषधियां वनस्पतियां सूख सी जाती हैं, और अति गर्मी के कारण प्राणी भी कमजोर पड़ जाते हैं। यह काल ज्येष्ठ-आषाढ़ मासों का होता है। "पञ्चौदन अज" को नैदाघ-ऋतुरूप कहा है, अर्थात् प्रत्यक्षीकृत परमेश्वर उपासक की अविद्या और तज्जन्य कामादि वासनाओं को ऐसे दग्ध कर देता है जैसे कि उग्र नैदाघ ऋतु दग्ध करती है। वैदिक साहित्य में देवों और असुरों को प्रजापति की सन्तानें कहा हैं, यथा **"देवाश्चासुराश्चोभये प्राजापत्या अस्पर्धन्त"** (श० ब्रा० कण्डि ६।८।१।१)। इनमें परस्पर स्पर्धा रही। इस कारण असुर, देवों के भाई होते हुए भी अप्रिय अर्थात् शत्रु हुए। और इनकी सन्तानों को भ्रातृव्य अर्थात् भाई की सन्तानें होते हुए भी शत्रु कहा। ये देव और असुर कोई मानुष जाति के नहीं, अपितु आध्यात्मिक "देवासुर-संग्राम" के आध्यात्मिक तत्त्व हैं। इसी प्रकार "पञ्चौदन-अज" भी अध्यात्मिक तत्त्व हैं। परमेश्वर द्वारा शक्ति को प्राप्त कर देवों ने आसुरी अर्थात् तामसिक तथा राजसिक विचारों और भावनाओं से उत्पन्न उग्र काम, क्रोध, लोभ आदि की श्री को दग्ध कर दिया, और स्वयं उन्होंने जीवन में प्रभुता पाई, जीवन में दिव्य विचारों, दिव्य भावनाओं और तज्जन्य उदारता, परोपकार, दिव्य कामनाओं का राज्य हुआ।

यह वर्णन अध्यात्म-गुरु सम्बन्धी हुआ है, जोकि गृहस्थी को पञ्चौदनों के स्वामी अजन्मा परमेश्वर की दिव्य ज्योति का दर्शन करा देता है। मन्त्र २८ में वर का विवाह पुनर्भूः के साथ हुआ है। विवाह तो पुरोहित ही ने कराया, अतः मन्त्र २९ में उसे यथोचित दक्षिणा प्राप्त हुई, अतः दक्षिणा के फलरूप में पुरोहित ने विवाहित पुरुष को परमेश्वर के दर्शन करा दिये।

विवाहित पुरुष भी परमेश्वर की दिव्य ज्योति को प्राप्त कर, निज जीवन में आसुरी श्री को दग्ध कर, दैवी श्री को प्राप्त करता है। ऐसी ही भावनाएं मन्त्र ३२ से ३६ में समझनी चाहियें]

यो वै कुर्वन्तं नामर्तुं वेद। कुर्वतीं कुर्वतीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियमादत्ते। एष वै कुर्वन्नामर्तुर्यदजः पञ्चौदनः। निरेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियं दहति भवत्यात्मना योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥३२॥

(यः) जो पुरोहित या अध्यात्म गुरु (वै) वस्तुतः (कुर्वन्तं नाम ऋतुम्) पैदा करने वाली ऋतु को उसके नामानुरूप (वेद) जानता है, वह (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य) अप्रिय भ्रातृव्य की (कुर्वतीं कुर्वतीम् एव) पैदा होती हुई या बढ़ती हुई ही प्रत्येक (श्रियम्) शोभा सम्पत्ति को (आदत्ते) हर लेता है, स्वायत्त कर लेता है। (एष वै कुर्वन् नाम ऋतुः) यह वस्तुतः पैदा करने वाली ऋतु है (यद् अजः पञ्चौदनः) जोकि पांच इन्द्रियभोगों का स्वामी, अजन्मा परमेश्वर है। वह अध्यात्म गुरु (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य) अप्रिय भ्रातृव्य की (श्रियम्) शोभा सम्पत्ति को (निर्दहति) दग्ध कर देता है, और (आत्मना भवति) स्वयं उस पर प्रभुता को प्राप्त कर लेता हैं, (यः) जोकि (पञ्चौदनम्, अजम्) पांच इन्द्रिय भोगों के स्वामी अजन्मा परमेश्वर को (दक्षिणाज्योतिषम्) दक्षिणा के फलस्वरूप पारमेश्वरीय ज्योति के रूप में गृहस्थी के प्रति (ददाति) प्रदान करता है।

[मन्त्र ३१ में निदाघ या नैदाघ द्वारा ग्रीष्म ऋतु का वर्णन हुआ है। वर्तमान मन्त्र में "कुर्वन्तम्" द्वारा वर्षा ऋतु कथित हुई है। ग्रीष्म ऋतु तो व्यक्ति को कार्यक्षम कर देती है। वर्षा ऋतु में कृषि कर्म प्रारम्भ होता है, नानाविध सब्जियां पैदा होने लगतीं हैं, पठन-पाठन भी शुरू हो जाता है। अतः वर्षा ऋतु को "कुर्वन्तम्" कहा है। इस ऋतु को भी "पञ्चौदन अज" कहा है। ऋतुओं का निर्माता तथा नियन्ता परमेश्वर हो है। वही ऋतुओं द्वारा भूमण्डल को सजीव कर रहा है। इस लिये ऋतुओं और "पञ्चौदन अज" में तादात्म्य का वर्णन इन मन्त्रों में हुआ है। शेष अभिप्राय पूर्वमन्त्र ३१ वत् है]

यो वै संयन्तं नामर्तुं वेद । संयतीं संयतीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियमा दत्ते । एष वै संयन्नामर्तुर्यदजः पञ्चौदनः । निरेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियं दहति भवत्यात्मनो योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥३३॥

(यः) जो पुरोहित या अध्यात्म गुरु (वै) वस्तुतः (संयन्तम् नाम ऋतुम्) एकत्रित करने वाली ऋतु को उस के नामानुरूप (वेद) जानता है वह (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य) अप्रिय भ्रातृव्य की (संयती संयतीम् एव) एकत्रित की जाने वाली (श्रियम्) प्रत्येक शोभा सम्पत्ति को (आदत्ते) हर लेता है, स्वायत्त कर लेता है । (एष वै संयत् नाम ऋतुः) यह वस्तुतः एकत्रित करने वाली ऋतु है (यद् अजः पञ्चौदनः) जोकि पांच इन्द्रिय-भोगों का स्वामी अजन्मा परमेश्वर को, (दक्षिणाज्योतिषम्) दक्षिणा के फलस्वरूप पारमेश्वरीय ज्योति के रूप में, गृहस्थी के प्रति (ददाति) प्रदान करता है ।

[नैदाघ", और "कुर्वन्तम्" ऋतुओं के पश्चात्, "संयन्तम्" ऋतु का वर्णन हुआ है । यह ऋतु है शरद् ऋतु जो वर्षा ऋतु के पश्चात् होती है । "संयत्" का अर्थ है "एकत्रित करना" । वर्षा ऋतु में बोए व्रीहि को एकत्रित करना । यथा "व्रीहीन् संयच्छते" अर्थात् व्रीहि (धान) को एकत्रित करता है । शेष अभिप्राय मन्त्र ३१ पूर्ववत्]

यो वै पिन्वन्तं नामर्तुं वेद । पिन्वतीं पिन्वतीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियमादत्ते । एष वै पिन्वन्नामर्तुर्यदजः पञ्चौदनः । निरेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियं दहति भवत्यात्मना योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥३४॥

(यः) जो पुरोहित या अध्यात्मगुरु (वै) वस्तुतः (पिन्वन्तं नाम ऋतुम्) पुष्टिदायक ऋतु को उसके नामानुरूप (वेद) जानता है, । वह (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य) अप्रिय भ्रातृव्य की (पिन्वतीम् पिन्वतीम् एव) पोषण करती हुई प्रत्येक (श्रियम्) शोभा सम्पति को (आदत्ते) हर लेता है, स्वायत्त कर लेता है । (एष वै पिन्वन्नामर्तुर्यदजः पञ्चौदनः) जोकि पांच इन्द्रियभोगों का स्वामी अजन्मा परमेश्वर है । यह ही पोषण करने

वाली ऋतु है । वह अध्यात्मगुरु (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य) अप्रिय भ्रातृव्य को (श्रियम्) शोभा सम्पत्ति को (निर्दहति) दग्ध कर देता है, (आत्मना) भवति) और स्वयं उस पर प्रभुता को प्राप्त कर लेता है, जोकि (पञ्चौदनम् अजम्) पांच इन्द्रियभोगों के स्वामी, अजन्मा परमेश्वर को, (दक्षिणाज्योतिषम्) दक्षिणा के फलस्वरूप पारमेश्वरीय ज्योति के रूप में गृहस्थी के प्रति (ददाति) प्रदान करता है ।

[पिन्वन्तम् यथा पिवन्य=पोषयथ (सायण अथर्व० ६।२२।२) एकत्रित की हुई व्रीहि आदि के सेवन द्वारा भोक्ता पुष्टि प्राप्त करते हैं, अतः शरद् ऋतु (मन्त्र ३३) के पश्चात् (मन्त्र ३४) में हेमन्त ऋतु का वर्णन हुआ है । शेष अभिप्राय मन्त्र ३१ के सदृश]

यो वा उद्यन्तं नामर्तुं वेद । उद्यतीमुद्यतीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियमादत्ते । एष वा उद्यन्नामर्तुर्यदजः पञ्चौदनः । निरेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियं दहति भवत्यात्मना । योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥३५॥

(यः) जो पुरोहित या अध्यात्मगुरु (वै) वस्तुतः (उद्यन्तम्) उदित होती हुई (ऋतुम्) ऋतु को (नाम) उसके नामानुरूप (वेद) जानता हैं, वह (उद्यतीम् उद्यतीम् एव) उदित होती हुई प्रत्येक (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य) अप्रिय भ्रातृव्य की (श्रियम्) शोभासम्पत्ति को (आदत्ते) हर लेता है । (एषः) यह (वै) वस्तुतः (उद्यन् नाम ऋतुः) उदय होती हुई ऋतु है, (यद् अजः पञ्चौदनः) जोकि पांच इन्द्रिय भोगों का स्वामी अजन्मा परमेश्वर है । वह पुरोहित या, अध्यात्मगुरु (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य) अप्रिय भ्रातृव्य की (श्रियम्) शोभा सम्पत्ति को (निर्दहति) दग्ध कर देता है, (आत्मना भवति) और स्वयं उस पर प्रभुता पा लेता है (यः) जोकि (पञ्चौदनम् अजम्) पांच इन्द्रिय भोगों के स्वामी अजन्मा परमेश्वर को, (दक्षिणाज्योतिषम्) दक्षिणा के फलस्वरूप पारमेश्वरीय ज्योति के रूप में गृहस्थी के प्रति (ददाति) प्रदान करता है ।

[उदित होती हुई ऋतु को "पञ्चौदन अज" कहा है । "उद्यन्तम्" ऋतु शिशिर है जोकि हेमन्त ऋतु के पश्चात् आती है । "शिशिर" पद शॄ हिंसायाम् (क्र्यादिः) द्वारा निष्पन्न हुआ है, जिस में कि वृक्षों के पत्ते विशीर्ण

हो जाते हैं, झड़ जाते हैं। इस लिये इस ऋतु को पतझड़ भी कहते हैं, अर्थात् पत्ते-झाड़ने वाली ऋतु। शिशिर ऋतु को "पञ्चौदन अजः" कहा है। अजन्मा परमेश्वर हृदयाकाश में जब उदित हो रहा होता है तब जीवन में तामस, राजस रूपी पत्ते झड़ने आरम्भ हो जाते हैं। शेष अभिप्राय पूर्ववत् मन्त्र ३१]

यो वा अभिभुवं नामर्तुं वेदं। अभिभवन्तीमभिवन्तीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियमादत्ते। एष वा अभिभूर्नामर्तुर्यदजः पञ्चौदनः। निरेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियं दहति भवत्यात्मना योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥३६॥

(यः) जो पुरोहित या अध्यात्म गुरु (अभिभुवम् नाम ऋतुम्) पराभव करने वाली ऋतु को उस के नामानुरूप (वेद) जानता है वह (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य) अप्रिय भ्रातृव्य की (अभिभवन्तीम् अभिभवन्तीम् एव) पराभव करती हुई [बढ़ती हुई] प्रत्येक (श्रियम्) शोभा सम्पत्ति को (आदत्ते) हर लेता है, स्वायत्त कर लेता है। (एषः वा अभि भूः नाम ऋतुः) यह है वस्तुतः पराभव करने वाली ऋतु (यद् अजः पञ्चौदनः) जो कि पांच इन्द्रियभोगों का स्वामी अजन्मा परमेश्वर है। (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य) वह पुरोहित या अध्यात्म गुरु अप्रिय भ्रातृव्य की (श्रियम्) शोभा सम्पत्ति को (निर्दहति) दग्ध कर देता है, (भवति आत्मना) और स्वयं उस पर प्रभुता पा लेता है (यः) जोकि (पञ्चौदनम् अजम्) पांच इन्द्रिय भोगों के स्वामी अजन्मा परमेश्वर को, (दक्षिणा ज्योतिषम्) दक्षिणा के फलस्वरूप पारमेश्वरीय ज्योति के रूप में, गृहस्थी के प्रति (ददाति) प्रदान करता है।

[अभि भूः ऋतु है, वसन्त; जोकि शिशिर ऋतु के (मन्त्र ३५) पश्चात् आती है। निज शोभा के कारण शेष सब ऋतुओं पर यह ऋतु विजय पाती है। गीता में श्री कृष्ण ने अपनी श्रेष्ठता दर्शाने के लिये अपने-आप को **"ऋतूनां कुसुमाकरः"** (१०।३५) कहा है। कुसुमाकर का अर्थ है कुसुमों अर्थात् फूलों की खान। इस ऋतु में वृक्षों में भी नवाङ्कुर पैदा होने लगते हैं। इस ऋतु को मन्त्र में "पञ्चौदन-अज" कहा है। जैसे बसन्त निज शोभा द्वारा अन्य ऋतुओं का पराभव करती हुई नवाङ्कुरों को पैदा करती है, वैसे "पञ्चौदन-अज" भी तामस राजस विचारों तथा कर्मों का पराभव कर, ध्याता में सात्विक नवाङ्कुरों को पैदा करता है। शेष अभिप्राय पूर्ववत मन्त्र ३१]।

अजं च पचत पञ्च चौदनान्। सर्वा दिशः संमनसः सध्रीचीः सान्तर्देशाः प्रति गृह्णन्तु त एतम् ॥३७॥

(अजम् च पचत) अज को परिपक्व करो, (पञ्च च ओदनान्) और पांच इन्द्रिय भोगों को परिपक्व करो। (सान्तर्देशाः) अवान्तर देशों समेत (सर्वाः दिशः) सब दिशाएं अर्थात् सब दिशाओं के वासी प्रजाजन (सध्रीचीः) परस्पर मिल कर और (संमनसः) एक मन हो कर (ते) हे पुरोहित! या अध्यात्म गुरु! तेरे (एतम्) इस गृहस्थो का (प्रतिगृह्णन्तु) प्रतिगृह करें, इसे स्वीकृत करें, संमानित करे। 'सान्तर्देशाः' में देशशब्द देशवासियों का सूचक है।

[पचत का अभिप्राय अग्नि पर पकाना नहीं, अपितु निज जीवनों में उन का परिपाक करना है, परिपक्व करना है। "अज" का अर्थ है अजन्मा परमेश्वर, न कि बकरा। इसी प्रकार "पांच ओदनों" का अभिप्राय है पांच प्रकार के "ऐन्द्रियिक-भोगाः" रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श रूपी भोग। इन पर विजय पाना है, इन का परिपक्व करना। जो व्यक्ति "अज" और "पञ्च ओदनों का परिपाक निज जीवनों में कर लेते हैं उन का संमान सब प्रजाजन करते हैं]

तास्ते रक्षन्तु तव तुभ्यमेतं ताभ्य आज्यं हविरिदं जुहोमि ॥३८॥

(ताः) वे सब दिशाएं अर्थात् सब दिशाओं के वासी प्रजाएं (मन्त्र ३७) (ते) हे "पुनर्भूः" तेरे, (तव एतम्) अर्थात् तेरे इस पति की, (तुभ्यम्) तेरे लिये, (रक्षन्तु) रक्षा करें। (ताभ्यः) उन प्रजाओं के लिये (आज्यम्) घृत और (इदम् हविः) (जुहोमि) में पुरोहित आहुतियों के रूप में आहुत करता हूं।

[मन्त्रोक्त कथन "पुनर्भूः" को लक्ष्य करके हुआ है। पत्नी की प्रसन्नता इस में है कि उस का पति जीवित तथा सुरक्षित रहे]

विशेषः—काण्ड ६।५।३१ में नैदाघ० ऋतु से वर्षारम्भ किया गया है। इसी प्रकार अथर्व० काण्ड १२ सूक्त १। मन्त्र ३६ भी ग्रीष्म-ऋतु द्वारा प्रारम्भ हुआ है। यथा **"ग्रीष्मस्ते भूमे वर्षाणि शरद्धेमन्तः शिशिरो वसन्तः"**। का ग्रीष्म या नैदाघ [ग्रीष्मः] ऋतु द्वारा वर्ष का आरम्भ किसी ज्यौतिष काल गणना का सूचक है—इन पर विचार की आवश्यकता है।

काण्ड ६। सूक्त ५। सम्पूर्ण

सूक्त ६

विषय-प्रवेश

सूक्त ६ में मन्त्र ६२ हैं। सूक्त ६ के पर्याय अर्थात् खण्ड ६ हैं, जिन्हें कि पर्याय १, पर्याय २ आदि द्वारा निर्दिष्ट किया है।

पर्याय (१):—अतिथि "प्रत्यक्ष-ब्रह्म" अर्थात् "ब्रह्मरूप" है (मन्त्र १,२); अतिथि यज्ञ के अङ्ग-प्रत्यङ्ग (३-१७)।

पर्याय (२):—अतिथि यज्ञ में आतिथ्य भोजन (१८-२२); अतिथि चाहे प्रिय हो या अप्रिय, परन्तु हैं अतिथि यज्ञ के ऋत्विक्, जोकि अतिथि पति को स्वर्ग का अधिकारी कर देते हैं (२३), अतिथि-यज्ञ को फलदायक न जानने वाले का अन्न, अतिथि स्वीकार न करे (२४); अतिथियज्ञ प्राजापत्य-यज्ञ है (२८, २९); अतिथि आहवनीयाग्नि है (३०)।

पर्याय (३):—अतिथि पति अतिथि से पूर्व भोजन न करे (३१-३६); वास्तविक अतिथि है "वेदाध्येता" (श्रोत्रिय), इस से पूर्व भोजन न करे, इसे निजव्रत जाने; अतिथि से पूर्व स्वादु भोजन न करे अर्थात् गोक्षीर तथा गोमांस न खाए; मांस का अभिप्राय (३७-३९)।

पर्याय (४):—अन्न सम्बन्धी उपसेचन अर्थात् व्यञ्जन है क्षीर, घिघला घृत, मधु, मांस, उदक; अतिथियज्ञ है अग्निष्टोम-रूप (४०-४४)।

पर्याय (५):—अतिथियज्ञ में मानो प्रकृति भी सामगान करती है (४५-४७)।

पर्याय (६):—अतिथि यज्ञ में आश्रावण तथा प्रत्याश्रावण (४९,५०) भोजन परोसने वाले हैं चमसाध्वर्यु (५१); परोसने वाले अनग्निहोत्री न होने चाहियें (५२); अवभृथस्नान (५३); ऋत्विजों को दक्षिणा (५४); तथा मुक्ति या स्वर्ग प्राप्त अतिथि पति का त्रिलोकी में स्वागत (५५-६२)।

—:o:—

१. स्वर्ग की कामना वाला **"यो विद्यात्"** सूक्त द्वारा जप करे। ऐसा विनियोग है। परन्तु सायणाचार्य की इस विनियोग से विमति है। वे कहते हैं कि **"यो विद्यात्"** [पर्याय १] से **"यत् क्षत्तारम्"** [पर्याय ६] तक के मन्त्र, अतिथि के माहात्म्य, उस की सेवा का फल, तथा अतिथियज्ञ की प्रशंसा परक हैं।

मन्त्र १-१७।१ त्रिपदा गायत्री, **२** त्रिपदार्षी गायत्री, **३७** साम्नीत्रिष्टुप् **४, ९** आर्च्यनुष्टुप्, **५** आसुरीगायत्री, **६** त्रिपदासाम्नीगायत्री, **८** याजुषी त्रिष्टुप्; **१०** साम्नीभुरिग्बृहती; **११, १४, १६** साम्न्यनुष्टुप्; **१२** विराड्गायत्री, **१३** साम्नीनिचृत्पंक्तिः, **१७** त्रिपदाविराड्भुरिग् गायत्री।

यो वि॒द्याद् ब्रह्म॑ प्र॒त्यक्षं॒ परू॑ंषि॒ यस्य॑ स॒म्भा॒रा ऋचो॒ यस्या॑नू॒क्य॑म् ॥१॥

(यः) जो अतिथिपति अर्थात् गृहस्थी, अतिथि को (प्रत्यक्षम् ब्रह्म) साक्षात् वेदरूप या ब्रह्मरूप (विद्यात्) जाने (यस्य) जिसके कि (परूंषि) अङ्ग (संभारा) यज्ञ के साधन रूप हैं, और (यस्य) जिस का (अनूक्यम्) ज्ञाननाड़ी संस्थान (ऋचः) ऋग्वेद के मन्त्र हैं—

[संभारा=यज्ञ के साधन स्रुव, स्रुक् आज्यस्थाली आदि। अनूक्य है मस्तिष्क तथा जिसके द्वारा ज्ञान होता है, ऋग्वेद की ऋचाएं भी ज्ञान प्रदायिनी हैं]

सामा॑नि॒ यस्य॒ लोमा॑नि॒ यजु॒र्हृद॑यमु॒च्यते॑ परि॒स्तर॑ण॒मिद्ध॒विः ॥२॥

(यस्य) जिस अतिथि के (लोमानि) लोम (सामानि) सामवेद के सामगान हैं, और (हृदयम्) हृदय (यजुः उच्यते) यजुर्वेद कहा जाता है, और (परिस्तरणम्) बैठने के लिये कुशासन (हविः इत्) हविः ही है, प्रथमोपहार है।

[लोमानि=सामगान द्वारा लोमहर्षण होता है। हृदय, रक्तप्रदान द्वारा, जीवन का निर्माण करता है, यजुर्वेद भी यज्ञों की इतिकर्त्तव्यता के प्रदान द्वारा यज्ञों के स्वरूपों का निर्माण करता है]

यद् वा अति॑थिपति॒रति॑थीन् प्रति॒ पश्य॑ति दे॒व॒यज॑नं॒ प्रेक्ष॑ते ॥३॥

(यद्) जो (अतिथिपतिः) अतिथियों की रक्षा करने वाला गृहस्थी (अतिथीन्) अतिथियों को (प्रति पश्यति) मानपूर्वक देखता है वह (वै) वस्तुतः (देवयजनम्) देवों के प्रति जहां आहुतियां दी जाती हैं उस यज्ञ-शाला को (प्रेक्षते) देखता है।

[प्रति पश्यति=आगत अतिथियों में से प्रत्येक को मानपूर्वक देखना]

यदभि वदति दीक्षामुपैति यदुदकं याचत्यपः प्रणयति ॥४॥

अतिथिपति (यद् अभिवदति) अतिथियों को अभिवादन करता है मानो यज्ञिय दीक्षा को प्राप्त करता है, (यद् उदकम् याचति) जो भृत्यों द्वारा जल लाने की मांग करता है मानो (अपः) यज्ञ निमित्त उदक को (प्रणयति) प्राप्त करता है।

[भृत्यों द्वारा उदक की मांग अतिथियों के पादप्रक्षालनार्थ है]

या एव यज्ञ आपः प्रणीयन्ते ता एव ताः ॥५॥

(यज्ञे) यज्ञ के निमित्त (एव) ही (या आपः) जो जल (प्रणीयन्ते) लाए जाते हैं (ताः एव ताः) वे ही वे हैं [जोकि अतिथि यज्ञ के निमित्त लाए जाते हैं]

यत् तर्पणमाहरन्ति य एवाग्नीषोमीयः पशुर्बध्यते स एव सः ॥६॥

सेवक (तर्पणम् यत्) तृप्ति कारक जो (आहरन्ति) आहार लाते हैं, (यः एव) जो ही (अग्नीषोमीयः पशुः वध्यते) अग्नि और सोम देवताक पशु बान्धा जाता है (सः एव सः) वह ही वह है।

यदावसथान् कल्पयन्ति सदोहविर्धानान्येव तत् कल्पयन्ति ॥७॥

(यद् आवसथान्) जो निवास स्थानों को (कल्पयन्ति) तय्यार करते हैं (तत्) वह (सदोहविर्धानानि एव) सदस् [बैठने का स्थान या सभागृह] और हवि के रखने के गृहों को ही (कल्पयन्ति) तय्यार करते हैं।

यदुपस्तृणन्ति बर्हिरेव तत् ॥८॥

(यद् उपस्तृणन्ति) जो बिछौना बिछाते हैं, (तत बर्हिः एव) वह यज्ञ स्थल में कुशास्तरण ही है।

यदुपरिशयनमाहरन्ति स्वर्गमेव तेन लोकमव रुन्द्धे ॥९॥

(यद्) जो (उपरिशयनम्) ऊंची-शय्या (आहरन्ति) लाते हैं (तेन) उस द्वारा (स्वर्गम् लोकम् एव) स्वर्ग लोक का ही (अव रुन्द्धे) अवरोध करते हैं, उसे प्राप्त करते हैं।

[उपरिशयन=सोने के लिये ऊंची चारपाई। मानो यह ऊर्ध्वा दिशा का स्वर्ग लोक है]

यत्कशिपूपबर्हणमाहरन्ति परिधय एव ते ॥१०॥

(यद्) जो (कशिपूपबर्हणम् आहरन्ति) जो तकिया और मसनद लाते हैं (ते परिधयः एव) वे परिधियां ही हैं। यज्ञ स्थल को घेरने के साधन हैं,

[परिधयः=यज्ञ स्थल को घेरने के लिये चारों ओर का घेरा]

यदाञ्जनाभ्यञ्जनमाहरन्त्याज्यमेव तत् ॥११॥

(यत्) जो (आञ्जनाभ्यञ्जनम्) सुरमा तथा मलने का तैल (आहरन्ति) लाते हैं (तत्) वह (आज्यम् एव) यज्ञिय घृत ही है।

यत् पुरा परिवेषात् खादमाहरन्ति पुरोडाशावेव तौ ॥१२॥

(पुरा परिवेषात्) मुख्य भोजन परोसने से पहिले (यद्) जो (खादम्) खाने की वस्तु (आहरन्ति) आहार रूप में लाते हैं (तौ) वे दो (पुरोडाशौ एव) ही हैं।

[पुरोडाशौ=तण्डुल को पीस कर भटूरों की सी गोल-काकृति के दो खाद्य]

यदशनकृतं ह्वयन्ति हविष्कृतमेव तद्ध्वयन्ति ॥१३॥

(अशनकृतम्) भोजन तय्यार करने वाले को ही (ह्वयन्ति) बुलाते हैं (तत्) वह (हविष्कृतम् एव) यज्ञ की हवि के तय्यार करने वाले को ही (ह्वयन्ति) बुलाते हैं।

ये व्रीहयो यवा निरुप्यन्तेऽशव एव ते ॥१४॥

(व्रीहयः यवाः) धान और जौं (ये) जो (निरुप्यन्ते) निकाल कर लाए जाते हैं, (ते) वे (अंशवः एव) सोम ओषधि के अंश ही हैं।

यान्युलूखलमुसलानि ग्रावाण एव ते ॥१५॥

(यानि) जो (उलूखलमुसलानि) ओखली और मुसल हैं (ते) वे (ग्रावाणः एव) सिल-वट्टा ही हैं।

[उलूखल और मुसल व्रीहि (धान) को कूट कर तण्डुल तय्यार करने के लिये होते हैं, और सिल-बट्टा पीठी पीसने तथा सोम ओषधि पीस कर सोमरस निकालने के लिये होते हैं]

शूर्पं पवित्रं तुषा ऋजीषाभिषवणीरापः ॥१६॥

(शूर्पम्) छाज है (पवित्रम्) सोमरस के छानने का साधन, (तुषाः) व्रीहि के कूटने पर प्राप्त छिलके हैं (ऋजीषा) सोम ओषधि के पीसने पर बचे छिलके, (आपः) जल हैं (अभिषवणीः) सोम ओषधि पीसने के लिये जल।

स्रुग् दर्विर्नेक्षणमायवनं द्रोणकलशाः कुम्भ्यो वायव्यानि पात्राणीयमेव कृष्णाजिनम् ॥१७॥

(दर्विः) कड़छी है (स्रुक्) घी की आहुति देने का चमचा, (आयवनम्) मिश्रित करने का दण्डा है (नेक्षणम्) नेक्षण, (कुम्भ्यः) गृहस्थ की कुम्भियां हैं (द्रोणकलशाः) सोमरस के काष्ठ-कलसे, (पात्राणि) जल पीने के पात्र हैं (वायव्यानि[1]) वायव्यपात्र, (इयम्) यह पृथिवी है (कृष्णाजिनम्) कृष्णमृग की छाल।

[आयवनम्=उदके प्रक्षिप्तानां तण्डुलानां मिश्रणसाधनं काष्ठम् (सायण)]

पर्याय २

(मन्त्र १-१७), १ विराट्पुरस्तात्बृहती; २, १२ साम्नीत्रिष्टुप्; ३ आसुरी अनुष्टुप्; ४ साम्नी उष्णिक्; ५,११ साम्नीबृहती (११ भुरिक्) ६ आर्च्यनुष्टुप्; ७ त्रिपदा स्वराडनुष्टुप्; ८ आसुरीगायत्री; ९ साम्नी अनुष्टुप्; १० त्रिपदार्चीत्रिष्टुप्; १३ त्रिपदार्ची पंक्तिः (७ पंचपदा विराट् पुरस्ताद् बृहती; ८ साम्न्यनुष्टुप् वा)।

१. जल पीने के पात्रों को वायव्य अर्थात् वायु सम्बन्धी पात्रों से रूपित किया है। सोमयाग में वायुदेवताक पात्र होते हैं, छोटी-छोटी प्यालियां जिनके द्वारा सोमरस पिया जाता है। इन्हें "ग्रहाः" कहते हैं, अर्थात् सोमरस "ग्रहण" करने के पात्र। पानी के पात्रों को वायु के पात्रों द्वारा रूपित इसलिये किया है कि पानी वर्षा द्वारा अन्तरिक्षस्थ वायु द्वारा ही प्राप्त होता है। पानी और सोमरस दोनों द्रव हैं। अतः इन में भी रूपकता दर्शाई है।

यजमानब्राह्मणं वा एतदतिथिपतिः कुरुते यदाहार्याणि प्रेक्षत इदं भूया३ इदा३मिति ॥१॥ [१८]

[यज्ञ में] (यजमान ब्राह्मणम्) यजमान के लिये ब्राह्मण जो काम करता है (वै) निश्चय से (अतिथिपतिः कुरुते) अतिथिपति वही करता है (यदा) जब कि वह (आहार्याणि प्रेक्षते) आहारयोग्य वस्तुओं की पड़ताल करता है कि (इदम् भूयः) यह प्रभूत मात्रा में है (इदम् इति) या यह।

यदाह भूय उद्धरेति प्राणमेव तेन वर्षीयांसं कुरुते ॥२॥ [१९]

[अतिथिपति सेवक को] (यद् आह) जो कहता है कि (भूयः उद्धर) प्रभूत मात्रा को उठा या ले (तेन) उस द्वारा (प्राणम् एव) प्राण को ही (वर्षीयांसम् कुरुते) प्रवृद्ध करता है।

[प्रभूतमात्रा के अन्न को प्रवृद्धप्राण कहा है। अन्न कारण है प्राण का यथा "अन्नं वै प्राणिनां प्राणः"। कार्य का कारण में उपचार हुआ है]।

उप हरति हवींष्या सादयति ॥३॥ [२०]

(उपहरति) समीप लाता है (हवींषि आसादयति) और हवियों अर्थात् भोज्य पदार्थों को समीप स्थापित करता है।

[हवींषि=अतिथिसेवा यतः यज्ञ है, इसलिये भोज्य पदार्थों को हवींषि कहा है। उपहरति=उपहार रूप में देता है]।

तेषामासन्नानामतिथिरात्मन् जुहोति ॥४॥ [२१]

(आसन्नानाम् तेषाम्) समीप स्थापित उन भोज्यों की (अतिथिः आत्मन् जुहोति) अतिथि आहुतियां अपने में देता है।

स्रुचा हस्तेन प्राणे यूपे स्रुक्कारेण वषट्कारेण ॥५॥ [२२]

(स्रुचा हस्तेन) हाथ रूपी स्रुच् द्वारा, (प्राणे यूपे) प्राण रूपी यूप[1] में,

१. यूप, यज्ञियखम्भा होता है जिस के साथ यज्ञियपशु बान्धा जाता है। (अथर्व० ६।६ (१)।६)।

(स्रुक्कारेण वषट्कारेण) खाते हुए जो स्रुक् शब्द होता है तद्रूपी, वषट्कार[1] द्वारा।

एते वै प्रियाश्चाप्रियाश्चर्त्विजः स्वर्गं लोकं गमयन्ति यदतिथयः ॥६॥ [२३]

(वै) निश्चय से (एते) ये (यद् अतिथयः) जो अतिथि हैं (प्रियाः च अप्रियाः च) चाहे प्रिय हों चाहे अप्रिय (ऋत्विजः) परन्तु हैं ऋत्विज्, जो कि अतिथिपति को (स्वर्गम् लोकम्) स्वर्गलोक की ओर (गमयन्ति) पहुंचाते हैं[2]।

स य एवं विद्वान् न द्विषन्नश्नीयान्न द्विषतोऽन्नमश्नीयान्न मीमांसितस्य न मीमांसमानस्य ॥७॥ [२४]

(सः) वह (यः) जो (एवम्) इस प्रकार (विद्वान्) अतिथियज्ञ के महत्त्व को समझता है वह [अतिथिपति के प्रति] (द्विषन्) द्वेषभाव रखता हुआ (न अश्नीयात्) [उसका] अन्न न खाए और (न द्विषतः, अन्नम् अश्नीयात्) न द्वेष भाव रखने वाले [अतिथिपति] का अन्न खाए, (न मीमांसितस्य) न उस का अन्न खाए जिस ने निश्चय कर लिया हो कि अतिथियज्ञ निष्फल है, (न मीमांसमानस्य) और न उसका अन्न खाए जोकि अतिथियज्ञ के सम्बन्ध में सन्दिग्धावस्था में हो, [कि अतिथियज्ञ करना चाहिए या नहीं]।

सर्वो वा एष जग्धपाप्मा यस्यान्नमश्नन्ति ॥८॥ [२५]

(वै) निश्चय से (एषः सर्वः) यह प्रत्येक (जग्धपाप्मा) क्षीणपापों वाला हो जाता है (यस्य) जिस के (अन्नम्) अन्न को (अश्नन्ति) अतिथि खा लेते हैं।

[अतिथि प्रसन्न हो कर अतिथिपति को आशीर्वाद देते हैं और सदुपदेशों द्वारा उसके जीवन को निष्पाप कर देते हैं]।

१. अग्निहोत्र में आहुति "स्वाहा" के उच्चारण द्वारा दी जाती है। अन्य यज्ञों में याज्यामन्त्रों के अन्त में "वषट्" के उच्चारण द्वारा आहुति दी जाती है।

२. सदुपदेशों द्वारा गृहस्थियों को सन्मार्ग दर्शा कर।

सर्वो वा एषोऽजग्धपाप्मा यस्यान्नं नाश्नन्ति ॥९॥ [२६]

(वै) निश्चय से (एषः सर्वः) यह प्रत्येक (अजग्धपाप्मा) क्षीणपापों वाला नहीं होता (यस्य) जिस के (अन्नम्) अन्न को (न अश्नन्ति) अतिथि नहीं खाते।

[सत्संग के अभाव में, अतिथिपति को सन्मार्ग का ज्ञान न होने से, वह कुसंगी हो कर पापकर्मों में प्रवृत्त हो सकता है]।

सर्वदा वा एष युक्तग्रावार्द्रपवित्रो वितताध्वर आहृतयज्ञक्रतुर्य उपहरति ॥१०॥ [२७]

(यः) जो (उपहरति) उपहार रूप में अन्न देता है (वै) निश्चय से (एषः) यह (सर्वदा) सब काल (युक्तग्रावा) सिलवट्टों को तय्यार रखता है, (आर्द्रपवित्रः) छानने का साधन उस का गीला रहता है, (आहृत यज्ञ क्रतुः) यज्ञ और क्रतु उस के होते रहते हैं, (वितताध्वरः) और अध्वर जारी रहता है।

[अभिप्राय यह कि सब काल अर्थात् जब भी अतिथि आए उन की सेवा के लिये तय्यार रहना मानो सभी प्रकार के यज्ञों और क्रतुओं को करना है]।

प्राजापत्यो वा एतस्य यज्ञो विततो य उपहरति ॥११॥[२८]

(एतस्य) इस अतिथि पति का (वै) निश्चय से (प्राजापत्यः यज्ञः) प्रजापति सम्बन्धी यज्ञ (विततः) फैला रहता है (यः उपहरति) जो उपहार रूप में अन्न प्रदान करता रहता है।

[प्राजापत्यः=प्रजापति है प्रजाओं का रक्षक परमेश्वर। प्रजाओं की रक्षा के लिये परमेश्वर रचित संसार-यज्ञ सर्वकाल होता रहता है। जो अतिथिपति सर्वकाल अतिथियों की सेवा के लिये सन्नद्ध रहता वह मानो प्राजापत्य यज्ञ कर रहा होता है]।

प्रजापतेर्वा एष विक्रमाननु विक्रमते य उपहरति ॥१२॥ [२९]

(यः) जो (उपहरति) उपहाररूप में अन्न प्रदान करता है (वै) निश्चय से (एषः) यह (प्रजापतेः) प्रजाओं के रक्षक परमेश्वर के

(विक्रमान्) पदविक्षेपों के (अनु विक्रमते) अनुसार पदविक्षेप करता है, अर्थात् उस का पदानुयायी होता है।

[विक्रमते=वि+क्रमु पादविक्षेपे (भ्वादि:)]।

योऽतिथिनां स आहवनीयो यो वेश्मनि स गार्हपत्यो यस्मिन् पचन्ति स दक्षिणाग्निः ॥१३॥ [३०]

(य:) जो (अतिथिनाम्) अतिथियों की [जाठर] अग्नि है (स:) वह (आहवनीय:) आहवनीय अग्नि है, (य:) जो (वेश्मनि) घर में गृह्याग्नि है (स:) वह है (गार्हपत्य:) गार्हपत्य अग्नि, (यस्मिन्) जिस अग्नि में (पचन्ति) पाकक्रिया करते हैं (स:) वह है (दक्षिणाग्नि:) दक्षिणाग्नि।

[यज्ञ में प्रायः तीन अग्नियां होती हैं, (१) आहवनीय, जिस में कि आहुतियां दी जाती हैं, (२) दूसरी अग्नि होती है गार्हपत्य, जो कि सदा प्रतप्त रहती है, (३) तीसरी है दक्षिणाग्नि, जिस में कि यज्ञियपाक किया जाता है]।

पर्याय ३

(१ से ९) १-६, ९ त्रिपदा पिपीलिकमध्या गायत्री; ७ साम्नी बृहती; ८ पिपीलिकमध्योष्णिक्।

इष्टं च वा एष पूर्तं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति ॥१॥ [३१]

(य:) जो अतिथिपति (अतिथे:) अतिथि से (पूर्व:) पहले (अश्नाति) खा लेता है (वै) निश्चय से (एष:) यह (गृहाणाम्) गृहवासियों के (इष्टम् च) यज्ञों और (पूर्तम् च) सामाजिक दानों को (अश्नाति) खाता है, उन्हें विनष्ट करता है।

[इष्टम्=अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चैव पालनम्।
आतिथ्यं वैश्वदेवश्च इष्टमित्यभिधीयते ॥
पूर्तम्=वापी कूपतडागादि देवतायतनानि च।
अन्नप्रदानमारामः, पूर्तमित्यभिधीयते ॥]

पयश्च वा एष रसं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति ॥२॥ [३२]

(य:) जो अतिथिपति (अतिथे: पूर्व: अश्नाति) अतिथि से पहिले खा लेता है। (वै) निश्चय से (एष: गृहाणाम् पय: च, रसं च अश्नाति) यह गृहवासियों के लिये दूध को और रस को खाता है, विनष्ट करता है।

ऊर्जां च वा एष स्फातिं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति ॥३॥ [३३]

जो अतिथिपति अतिथि से पहिले खा लेता है, निश्चय से वह गृहवासियों की ऊर्जा को और वृद्धि को खा लेता है, विनष्ट करता है।

[ऊर्जा=ऊर्ज बल प्राणनयोः' ब्रह्म-तथा-प्राण बढ़ाने वाला अन्न। स्फाति=वृद्धि:]

प्रजां च वा एष पशूंश्च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति ॥४॥ [३४]

जो अतिथिपति अतिथि से पहिले खा लेता है, निश्चय से, वह गृहवासियों की प्रजा को और पशुओं को खा लेता है, विनष्ट कर देता है।

कीर्तिं च वा एष यशश्च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति ॥५॥ [३५]

जो अतिथिपति अतिथि से पहिले खा लेता है, निश्चय से, वह गृहवासियों की कीर्त्ति और यशः को खा लेता है, विनष्ट कर देता है।

श्रियं च वा एष संविदं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति ॥६॥ [३६]

जो अतिथिपति अतिथि से पहिले खा लेता है वह गृहवासियों की श्री और संविद् को खा लेता है, विनष्ट कर देता है।

[श्री:=शोभा (उणा० २।५८, म० दयानन्द। संविद्=सहानुभूति तथा सम्यक्-ज्ञान]

एष वा अतिथिर्यच्छ्रोत्रियस्तस्मात्पूर्वो नाश्नीयात् ॥७॥ [३७]

(वै) निश्चय से (एष: अतिथि:) यह अतिथि है (यत् श्रोत्रिय:) जो कि वेदाध्ययन करता तथा वैदिक विद्वान् है, (तस्मात् पूर्व:) उस के पहिले अतिथिपति (न अश्नीयात्) न खाए।

अशितावत्यतिथावश्नीयाद् यज्ञस्य सात्मत्वाय यज्ञस्याविच्छेदाय तद्व्रतम् ॥८॥ [३८]

(अतिथौ अशितावति) अतिथि के खा चुकने पर (अश्नीयात्) अतिथिपति खाए, (यज्ञस्य सात्मत्वाय) अतिथियज्ञ की सात्मकता के लिये, अतिथियज्ञ के अविच्छेद के लिये, (तद् व्रतम्) यह अतिथिपति के लिये व्रत है।

[मन्त्र में "गृहाणामश्नाति" में दान्तों और मुख द्वारा खाना ही अभिप्रेत नहीं, मन्त्र १ में इष्ट-और-पूर्त, मन्त्र ३, में स्फाति, मन्त्र ४ में प्रजा और पशु, मन्त्र ५ में कीर्त्ति और यश:, मन्त्र ६ में श्री और संविद् का खाना दान्तों और मुख द्वारा नहीं हो सकता, इस लिये "विनाश करना" यह अर्थ सुसंगत प्रतीत होता है।

मन्त्र ७ में वास्तविक अतिथि "श्रोत्रिय" कहा है। श्रोत्रिय वेदज्ञ है जिसे कि वेदों द्वारा नाना विद्याओं का ज्ञान है। अत: वह इष्ट-पूर्त, दुग्ध और नानारसों सम्बन्धी, ऊर्जा, स्फाति, प्रजा और पशु सम्बन्धी, यश और कीर्त्ति सम्बन्धी ज्ञान विज्ञान का उपदेश दे सकता है, ताकि गृहवासियों की इस श्रेष्ठ सम्पत्तियों का विनाश न हो। निमन्त्रित या स्वयमागत अतिथि के भोजन से पहिले भोजन करना सभ्यता और शिष्टाचार के विपरीत है। इस से अतिथि यज्ञ निरात्मक हो जाता है और अतिथि यज्ञ की प्रथा विच्छिन्न हो जाती है। अत: वेदोक्त विधि को बनाए रखने के लिये अतिथिपति को यह निजव्रत समझना चाहिये कि वह अतिथि से पूर्व भोजन न करे। अतिथिसेवा 'यज्ञ' रूप है। यज्ञ में देवता को आहुति देने के पश्चात् यज्ञशेष के प्राशन की विधि है। श्रोत्रिय, सब, अतिथियों में सर्वश्रेष्ठ देवता रूप हैं]।

एतद्वा उ स्वादीयो यदधिगवं क्षीरं वा मांसं वा तदेव नाश्नीयात् ॥९॥ [३९]

(वै उ) निश्चय से (एतत्) यह (स्वादीय:) अधिक स्वादु है (यद् अधिगवम्) जो कि गौ सम्बन्धी है, (क्षीरं वा मांसम् वा) दूध या मांस अथवा दूध-और-मांस, (तदेव) उसे ही (न अश्नीयात्) श्रोत्रिय अतिथि से पहिले न खाए।

[अधिगवम् का अर्थ "पृथिवी में" भी सम्भव है। "गौ: पृथिवी नाम" (निघं० १।१)। वेदों में गौ को "अघ्न्या" कहा है (निघं० २।११) अत: गोमांस की अनुज्ञा वेद नहीं दे सकता। "मांस" का अर्थ प्राणिमांस भी है और अप्राणिमांस भी। शतपथ १।२।३।८ में, चावल और जौं की पीठी पर जल डालकर जब उन्हें मिलाया जाता है तब पीठी मांसरूप हो जाती है, ऐसा कथन हुआ है। मांस के सम्बन्ध में, अधिक जानकारी के लिये मेरा रचित "वैदिक पशुयज्ञ मीमांसा" पुस्तक देखो। पता "आर्यसाहित्य मण्डल प्राईवेट लिमिटेड अजमेर"।

व्याख्येयमन्त्र में गोपशु सम्बन्धी मांस की झलक प्रतीत होती है। तथा अथर्व० ९।४।७ में "स य एवं विद्वान् मांसमुपसिच्योपहरति" द्वारा मांसोपसेचन द्वारा भी मांस के रस की झलक मालूम पड़ती है। परन्तु इस मन्त्र ७ में मुझे आमिक्षा का वर्णन प्रतीत होता है। गर्म दूध में जब दधि डाली जाती है तब दूध फट कर जो पनीर होता है वह "आमिक्षा" कहा जाता है। इस आमिक्षा में दो तत्त्व होते हैं, (१) दुग्ध का रस, (२) तथा पनीर। इसे मसाला डाल कर अब इसे पका लिया जाता है तो रस अधिक स्वादु बन जाता है जिसे कि मन्त्र ९।६।(३)।९ में "स्वादीय:" कहा है। आमिक्षा का स्थूलभाग "पनीर" मांस प्रतीत होता है। वेदोक्त मुख्य भोज्य ओदन है। ओदन में "मांसोपसेचन" का अभिप्राय परिपक्व आमिक्षा का उपसेचन है। इस के द्वारा स्वादु भी बन जाता है, और पौष्टिकपनीर (मांस) भी खाया जाता है। अथर्व० ९।४।४; तथा १०।९।१३।१४ में आमिक्षा का सम्बन्ध गौ के साथ दर्शाया है। आमिक्षा आ+मिषु (सेचने, स्वादि:)]

पर्याय ४

(मन्त्र १-१०); १-४ प्राजापत्यानुष्टुप्; ९ भुरिक्; २-५ त्रिपदा-गायत्री; १० चतुष्पदा प्रस्तारपंक्ति:।

स य एवं विद्वान् क्षीरमुपसिच्योपहरति ॥१॥

यावदग्निष्टोमेनेष्ट्वा सुसमृद्धेनावरुन्द्धे तावदनेनाव रुन्द्धे ॥२॥[४०]

(य:) जो अतिथिपति (एवम्) इस प्रकार (विद्वान्) अतिथियज्ञ के

महत्त्व को जानता है, और (क्षीरम् उपसिच्य) दूध डाल कर (उपहरति) उपहार रूप में अन्न देता है, (सः) वह (सुसमृद्धेन[1]) उत्तम प्रकार समृद्ध हुए (अग्निष्टोमेन) अग्निष्टोम द्वारा (इष्ट्वा) यजन कर के (यावत्) जितना फल (अवरुन्द्धे) प्राप्त करता है (तावत्) उतना फल (अनेन) इस अतिथियज्ञ द्वारा (अवरुन्द्धे) प्राप्त कर लेता है ।

स य एवं विद्वान्त्सर्पिरुपसिच्योपहरति ॥३॥

यावदतिरात्रेणेष्ट्वा सुसमृद्धेनावरुन्द्धे तावदनेनाव रुन्द्धे ॥४॥ [४१]

(यः) जो अतिथिपति (एवम्) इस प्रकार (विद्वान्) अतिथियज्ञ के महत्त्व को जानता है, और (सर्पिः) पिघला घृत (उपसिच्य) डाल कर (उपहरति) उपहाररूप में अन्न देता है,

(सः) वह (सुसमृद्धेन) उत्तम प्रकार सिद्ध हुए (अतिरात्रेण) अतिरात्र द्वारा (इष्ट्वा) यजन कर के (यावत्) जितना फल (अवरुन्द्धे) प्राप्त करता है, या स्वाधिकार में कर लेता है, (तावत्) उतना फल (अनेन) इस अतिथियज्ञ द्वारा प्राप्त कर लेता है, या स्वाधिकार में कर लेता है ।

स य एवं विद्वान् मधूपसिच्योपहरति ॥५॥

यावत् सत्त्रसद्येनेष्ट्वा सुसमृद्धेनावरुन्द्धे तावदनेनाव रुन्धे ॥६॥ [४२]

(यः) जो अतिथिपति (एवम्) इस प्रकार (विद्वान्) अतिथियज्ञ के महत्त्व को जानता है, और (मधु) शहद या मधुरशक्कर (उपसिच्य) सींच कर, डाल कर (उपहरति) उपहाररूप में अन्न प्रदान करता है, (सः) वह ।

(सुसमृद्धेन) उत्तम प्रकार से समृद्ध हुए (सत्त्रसद्येन) सत्त्रसद्य यज्ञ द्वारा (इष्ट्वा) यजन करके (यावत्) जितना फल (अवरुन्द्धे) प्राप्त करता या स्वाधिकार में कर लेता है (तावत) उतना फल (अनेन) इस अतिथियज्ञ द्वारा (अवरुन्द्धे) प्राप्त कर लेता या स्वाधिकार में कर लेता है ।

---

१. "सुसमृद्धि" फल की दृष्टि से, न कि याज्ञिक इतिकर्त्तव्यता की दृष्टि से । यही भावना अन्य मन्त्रों में भी जाननी चाहिये ।

स य एवं विद्वान् मांसमुपसिच्योपहरति ॥७॥

यावद् द्वादशाहेनेष्ट्वा सुसमृद्धेनावरुन्द्धे तावदनेनावरुन्द्धे ॥८॥ [४३]

(यः) जो अतिथिपति (एवम्) इस प्रकार (विद्वान्) अतिथियज्ञ के महत्त्व को जानता है, और (मांसम्[1]) मांस को (उपसिच्य) सींच कर, डाल कर (उपहरति) उपहाररूप में अन्न प्रदान करता है (सः) वह ।

(सुसमृद्धेन) उत्तम प्रकार से समृद्ध हुए (द्वादशाहेन) द्वादशाह-यज्ञ द्वारा (इष्ट्वा) यजन करके (यावत्) जितना फल (अवरुन्द्धे) प्राप्त करता या स्वाधिकार में कर लेता है (तावत्) उतना फल (अनेन) इस अतिथियज्ञ द्वारा (अवरुन्द्धे) प्राप्त करता या स्वाधिकार में कर लेता है ।

[मांसम्=देखो अथर्व० पर्याय ३।९ (३९)]।

स य एवं विद्वानुदकमुपसिच्योपहरति ॥९॥

प्रजानां प्रजननाय गच्छति प्रतिष्ठां प्रियः प्रजानां भवति य एवं विद्वानुदकमुपसिच्योपहरति ॥१०॥ [४४]

(यः) जो अतिथिपति (एवम्) इस प्रकार (विद्वान्) अतिथियज्ञ के महत्त्व को जानता है, और (उदकम्, उपसिच्य) उदक सींच कर (उपहरति) उपहार रूप में अन्न प्रदान करता है, (सः) वह (प्रजानाम्) सन्तानों के (प्रजननाय) उत्पादन के लिये होता है, (प्रतिष्ठाम्, गच्छति) प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है, (प्रजानाम्, प्रियः) प्रजाओं का प्यारा (भवति) होता है (य एवम् विद्वान्, उदकम्, उपसिच्य, उपहरति) जो इस प्रकार अतिथियज्ञ के महत्त्व को जानता हुआ उदक सींच कर उपहाररूप में अन्न प्रदान करता है ।

[अतिथिपति जो कि क्षीर आदि के उपसेचन देने में असमर्थ है, वह अन्न के साथ केवल जल प्रदान कर के ही सामाजिक प्रतिष्ठा और प्रेम को पा लेता है, और सत्सन्तानों के उत्पादन में गृहस्थ कर्त्तव्यों का पालन करता है] ।

---

१. देखो पर्याय ३ । ९[३९] की व्याख्या । तथा मांसम्=The fleshy part of a fruit (आप्टे) ।

विशेष वक्तव्य

पर्याय ४ में कथित अग्निष्टोम, अतिरात्र, सत्त्रसद्य, द्वादशाह यज्ञों का विस्तृत वर्णन विशेषतया शतपथ-ब्राह्मण में है। परन्तु अर्वाक्-कालीन विस्तृत याज्ञिकवर्णन, सर्वरूप में, अनादि अथर्ववेद प्रतिपादित अग्निष्टोम आदि के सम्बन्ध में लागू नहीं किया जा सकता। अग्निष्टोम आदि यज्ञों का उतना ही अभिप्राय समझना उचित होगा जितना कि इन के यौगिकार्थों द्वारा प्रतीत हो, और अथर्ववेद आदि के अन्य मन्त्रों द्वारा परिपुष्ट हो।

अग्निष्टोमेन इष्ट्वा—अथर्व (११।७।७) में **"अग्निष्टोमस्तदध्वरः"** द्वारा अग्निष्टोमयज्ञ को अध्वरः, अर्थात् हिंसा रहित कहा है। परन्तु ब्राह्मण के अनुसार अग्निष्टोम में पशु हिंसा का विधान है। यथा "अग्नी-षोमीयं पशुमालभेत"[1]। अतः अग्निष्टोम की वैदिकी व्याख्या निम्न प्रकार होनी चाहिये। यथा "अग्निनायक परमेश्वर" (यजुः ३२।१) के स्तावक मन्त्र समूह द्वारा (इष्ट्वा[2]) परमेश्वरदेव के पूजन, उस के संग तथा उसके प्रति आत्मसमर्पण करके जितना फल प्राप्त होता है उतना फल अतिथि-पति को, क्षीर-सेचन पूर्वक, अतिथि के लिये, अन्नोपहार द्वारा प्राप्त होता है।

अतिरात्रेण इष्ट्वा—रात्रिकाल के उपरान्त, प्रातः कालीन परमेश्वर सम्बन्धी ध्यान यज्ञ द्वारा, परमेश्वर देव के पूजन, उस के संग तथा उसके प्रति आत्मसमर्पण करके जितना फल प्राप्त होता है, उतना......पूर्ववत्।

सत्त्रसद्येन इष्ट्वा—सत्[3] (ब्रह्म)+त्र (त्रैङ् पालने)+सद्+य= स्थिति। अर्थात् "सत्" नामक ब्रह्म द्वारा त्राण निमित्तक ध्यानावस्थिति पूर्वक (इष्ट्वा) परमेश्वरदेव के पूजन, उस के संग तथा उस के प्रति आत्मसमर्पण करके जितना फल प्राप्त होता है, उतना......पूर्ववत्।

द्वादशाहेन इष्ट्वा—द्वादशाह व्रत है, जिसे कि "अनड्हो व्रतम्" कहा है। १२ दिनों की १२ रात्रियों में प्रजापति सम्बन्धी इस व्रत को पूरा

---

१. सायण, (अथर्व० ११।७।७)।

२. इष्ट्वा=यज् (देवपूजा, संगतिकरण, दानेषु)+क्त्वा।

३. ओ३म् तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मण "स्त्रिविधः स्मृतः" (गीता १७।२३) में ब्रह्म का निर्देश ओ३म्, तत् और सत् पदों द्वारा किया जाता है, ऐसा कहा है।

करना होता है। अभ्यासी दिन में विश्राम करता है, और रात्रिकाल में ध्यानावस्थित रहता है। ध्यान में प्रजापति ब्रह्म का ध्यान करते हुए यह भावना चित्त में लानी होती है कि यह प्रजापति अर्थात् ब्रह्म अनस् (संसार शकट) का वहन करता है। इस भावना सहित चित्त को ब्रह्म में लीन करना होता है। यथा "द्वादश वा एता रात्रीर्व्रात्या आहुः प्रजापतेः। तत्रोप ब्रह्म यो वेद तद् वा अनड्हो व्रतम्"॥ (अथर्व० ४।११।११)। इस व्रत का फल कहा है कि **"अनड्वान् दुहे सुकृतस्य लोके"** (अथर्व० ४।११।४), अर्थात् संसार-शकट का वहन करने वाला उपासक के लिये, "सुकर्मियों के लोक में "दुहे" फलप्रदान करता है, आनन्द रस का दोहन करता है"। उपासना की रात्रियों के सम्बन्ध में कहा कि—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥ (गीता २।६९)।

अर्थात् जो रात्रि सब भूतों [प्राणियों] के लिये है उस में संयमी जागता है। और जिस में भूत जागते हैं वह रात्रि है द्रष्टा-मुनि के लिये। इस श्लोक में अध्यात्म भावना भी ओत-प्रोत है। रात्रि में उपासना की दृष्टि से श्लोक का अर्थ किया है। रात्रि काल सर्वतः शान्तिकाल होता है, अतः उपासना के अनुकूल है। "द्वादशाहेन इष्ट्वा" में अहः[1] शब्द दिन अर्थात् २४ घण्टों के दिन के लिये प्रयुक्त हुआ है। इन दिनों की रात्रियों में उपासना का वर्णन ४।११।११ में हुआ है। अभिप्राय यह कि १२ रात्रियों में ध्यानाभ्यास द्वारा परमेश्वरदेव के पूजन, उस के सङ्ग और उसे आत्म-समर्पण करके जितना फल मिलता है, उतना फल अतिथि की सेवा द्वारा प्राप्त हो जाता है।

अतिथि सेवा सामाजिक धर्म है। अतः इस के माहात्म्य का वर्णन हुआ है। वेद ने सामाजिक धर्म को सर्वश्रेष्ठ धर्म माना है]।

पर्याय ५

(मन्त्र १-१०); १ साम्नी उष्णिक्; २ पुरोष्णिक्; ३, ५, ७, १०

---

१. अथवा "द्वादशाहेन=द्वादशरात्रेण"। वेदों में अहन् शब्द रात्रिवाचक भी है। यथा "अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च" (ऋ० ६।९।१) में निरुक्त में कहा है कि "अहश्च कृष्णं रात्रिः, शुक्लं चाहः, अर्जुनं च" (२।६।२१)।

साम्नी भुरिग् बृहती, ४, ६, ६ साम्नी अनुष्टुप्; ५ त्रिपदा निचृद् विषमा नामगायत्री; ७ त्रिपदा विराड् विषमानामगायत्री; ८ त्रिपदा विराडनुष्टुप् ।

तस्मा उषा हिङ्कृणोति सविता प्र स्तौति ॥१॥

बृहस्पतिरूर्जयोद्गायति त्वष्टा पुष्ट्या प्रति हरति विश्वेदेवा निधनम् ॥२॥

निधनं भूत्याः प्रजायाः पशूनां भवति य एवं वेद ॥३॥ [४५]

(तस्मै) उस अतिथिपति के लिये (उषाः) उषा-काल (हिङ्करोति) हिङ् शब्द का उच्चारण करता है, (सविता प्रस्तौति) सविता का काल प्रस्ताव करता है ॥१॥

(बृहस्पतिः ऊर्जया उद्गायति) बृहस्पति का काल बल पूर्वक ऊंचागान करता है, (त्वष्टा) त्वष्टा का काल (पुष्टचा) पुष्टि पूर्वक (प्रतिहरति) प्रतिहार करता है, (विश्वेदेवाः) समग्रदेवों का काल (निधनम्) साम की संपूर्णता करता है ॥२॥

(यः एवम् वेद) जो अतिथिपति इस प्रकार जानता है वह (भूत्याः, प्रजायाः पशूनाम्) सम्पत्ति का, प्रजा का, पशुओं का (निधनम्) निधिरूप हो जाता है ॥३॥

[हिङ्कार, प्रस्ताव, उद्गीथ (उद्गयति), प्रतिहार, निधन—इन पांच अवयवों वाला सामगान होता है, (छान्दोग्य उप० २।१-७)। हिङ्कार प्रारम्भिक आलाप है, प्रस्ताव का अभिप्राय है सामगान का वास्तविक आरम्भ, उद्गीथ है मुख्यगान, प्रतिहार है साम का उपसंहार और निधन है सामगान की सम्पूर्णता। उषा-काल है दिन का प्रारम्भ काल। सविता-काल है जब कि द्युलोक में तो प्रकाश हो और पृथिवी पर अभी तमस्। बृहस्पति काल है मध्याह्न काल, जब कि दिन पूरे यौवन में होता है। त्वष्टा का काल है प्रतिहार या प्रतीहार का काल, मध्याह्न के पश्चात् ढलता हुआ काल। विश्वेदेवाः का काल है जबकि द्युलोक में सब तारे चमक रहे हों। यथा—

उषा का काल=हिङ्कार। सविता का काल=प्रस्ताव। बृहस्पति का काल=उद्गीथ। त्वष्टा का काल=प्रतिहार। विश्वेदेवाः का काल है तारामण्डितद्युलोक।

अभिप्राय यह कि जैसे कि यज्ञों में सामगान होता है वैसे अतिथियज्ञ में भी मानो दैनिक काल, सामगान करता है। यह कालिकगान है अर्थात् कालगान कर रहा है। निधनम्=नितरां धनं यस्मिन्। अर्थात् सामगान की सम्पूर्णता। इसी प्रकार अतिथिपति भी प्रजा आदि की दृष्टि से सम्पूर्ण हो जाता है, उसे अधिक प्राप्ति की आवश्यकता नहीं रहती]। इसके अनन्तर सूर्य आदि का "दैवत सामगान" वर्णित होगा।

तस्मा उद्यन्त्सूर्यो हिङ्कृणोति संगवः प्र स्तौति ॥४॥

मध्यन्दिन उद्गायत्यपराह्णः प्रतिहरन्त्यस्तंयन् निधनम् ।

निधनं भूत्याः प्रजायाः पशूनां भवति य एवं वेद ॥५॥ [४६]

(तस्मै) उस अतिथिपति के लिये (उद्यन्) उदित होता हुआ (सूर्यः) सूर्य (हिङ्कृणोति) हिङ् शब्द का उच्चारण करता है, (संगवः) रश्मियों से संगत हुआ (प्रस्तौति) प्रस्ताव करता है ॥४॥

(मध्यन्दिनः) मध्याह्न का सूर्य (उद्गायति) उद्गीथ अर्थात् उच्चैः गान करता है, (अपराह्णः) मध्याह्नोत्तर का सूर्य (प्रतिहरति) प्रतिहार अर्थात् उपसंहार करता है, (अस्तंयन्) अस्तंगत होता हुआ सूर्य (निधनम्) सामगान की सम्पूर्णता करता है।

(य एवं वेद) जो गृहस्थी या अतिथिपति इस प्रकार जानता है वह (भूत्याः प्रजायाः पशूनाम्) सम्पत्ति का, प्रजा का, पशुओं का, (निधनम्, भवति) निधिरूप हो जाता है। मन्त्र में सूर्य के सामगान का वर्णन हुआ है।

तस्मा अभ्रो भवन् हिङ्कृणोति स्तनयन् प्रस्तौति ॥६॥

विद्योतमानः प्रतिहरति वर्षन्नुद्गायत्युद्गृह्णन् निधनम् ।

निधनं भूत्याः प्रजायाः पशूनां भवति य एवं वेद ॥७॥ [४७]

(तस्मै) उस अतिथिपति के लिये (अभ्रः भवन्) मेघ होता हुआ (हिङ्कृणोति) हिङ् शब्द का उच्चारण करता है, (स्तनयन् प्रस्तौति) गर्जता हुआ प्रस्ताव करता है, गान आरम्भ करता है, (वर्षन् उद्गायति) बरसता हुआ ऊच्चैः गान अर्थात् उद्गीथ करता है, (विद्योतमानः प्रतिहरति) विद्युत् रूप में चमकता हुआ प्रतिहार अर्थात् उपसंहार करता है,

(उद्गृह्णन्[1] निधनम्) वर्षा के पश्चात् अन्तरिक्ष में ऊपर चढ़ा हुआ (निधनम्) सामगान की सम्पूर्णता करता है।

(यः एवं विद्वान्) जो अतिथिपति इस प्रकार जानता है वह (भूत्याः, प्रजायाः पशूनाम्) सम्पत्ति का, प्रजा का, पशुओं का (निधनम् भवति) निधिरूप हो जाता है।

[निधनम्=नितरां धनं यस्मिन् तत्। मन्त्र ७ में "उद्गायति" से पहिले "प्रतिहरति" का वर्णन या तो अथर्ववेदपाठी द्वारा या छापे खाने द्वारा हुआ प्रतीत होता है। यह स्थान विपर्यास है]।

अतिथीन् प्रतिपश्यति हिङ्कृणोत्यभि वदति प्र स्तौत्युदकं याचत्युद्गायति ॥८॥

उप हरति प्रति हरत्युच्छिष्टं निधनम् ॥९॥

निधनं भूत्याः प्रजायाः पशूनां च भवति य एवं वेद ॥१०॥ [४८]

अतिथिपति जो (अतिथीन् प्रतिपश्यति) अतिथियों में से प्रत्येक को मानपूर्वक देखता है (हिङ्कृणोति) वह हिङ् शब्द का उच्चारण करता है, (अभिवदति) जो अभिवादन करता है वह (प्रस्तौति) प्रस्ताव करता है, सामगान आरम्भ करता है, (उदकम् याचति) भृत्य द्वारा जो उदक की मांग करता है वह (उद्गायति) उच्चैः गान (उद्गीथ) करता है।

(उपहरति) उदक को जो उपहार रूप में देता है वह (प्रति हरति) प्रतिहार करता है, सामगान का उप संहार करता है, (उच्छिष्टम्) खाने के पश्चात् जो बच जाता है (स्थाली आदि वर्तन) वह (निधनम्) सामगान की सम्पूर्णता है।

(यः एवम् वेद) जो अतिथिपति इस प्रकार जानता है वह (भूत्याः प्रजायाः पशूनाम्) सम्पत्ति का, पशुओं का (निधनम् भवति) निधिरूप हो जाता है।

१. मेघ में जब पानी भरा रहता है तो भारी होने से मेघ वायुमण्डल के नीचे के स्तर में हुआ वर्षा करता है, और वर्षा के पश्चात् हलका होकर वायुमण्डल के ऊपर के स्तरों में चढ़ जाता है।

पर्याय ६

(मन्त्र १-१४) १ आसुरी गायत्री; २ साम्नी अनुष्टुप्; ३-५ त्रिपदार्ची पंक्तिः; ४ एकपदा प्राजापत्या गायत्री; ६-११ आर्ची बृहती; १२ एकपदा आसुरी जगती; १३ याजुषी त्रिष्टुप्; १४ एकपदासुरी उष्णिक्।

यत् क्षत्तारं ह्वयत्या श्रावयत्येव तत् ॥१॥ [४९]

अतिथिपति (यत्) जो (क्षत्तारम्) क्षत्ता को (ह्वयति) बुलाता है (तत्) वह (आश्रावयति एव) वह यज्ञिय आश्रावण ही करता है।

[क्षत्ता[1]=व्रीहि से तण्डुल तय्यार कर, उन का परिपाक करने वाला सेवक। उपोह और समूह को "क्षत्तारौ" कहा है (अथर्व० ३।२४।७)। उपोह=उप+वह (प्रापणे) अर्थात् धान्य आदि प्राप्त कराने वाला, तथा समूह=सम्+वह अर्थात् प्राप्त धान्य आदि का संग्रह करने वाला। इन दो को क्षत्तारौ कहा है। अतः मन्त्र १ में क्षत्ता, ओदन तय्यार करने वाला सेवक प्रतीत होता है। यज्ञिय आश्रावण अर्थात् बुलाने में, अध्वर्यु आश्रावण करता है अग्नीध् का अर्थात् अध्वर्यु बुलाता है अग्नीध् को। अग्नीध्=अग्नि को प्रदीप्त करने वाला ऋत्विक्]

यत् प्रतिशृणोति प्रत्याश्रावयत्येव तत् ॥२॥ [५०]

(यत्) जब क्षत्ता (प्रतिशृणोति) स्वीकृति देता है, तो (तत्) वह (प्रत्याश्रावयति एव) आश्रावण का उत्तर ही है।

यत् परिवेष्टारः पात्रहस्ताः पूर्वे चापरे च प्रपद्यन्ते चमसाध्वर्यव एव ते ॥३॥ [५१]

(यत्) जब (परिवेष्टारः) परोसने वाले, (पात्रहस्ताः) परोसने के पात्रों को हाथों में लिये, (पूर्वे च अपरे च) आगे-पीछे होकर (प्रपद्यन्ते) आगे की ओर जाते हैं, तब (ते) वे (चमसाध्वर्यवः एव) यज्ञिय चमसों के अध्वर्यु ही हैं।

१. क्षत्ता=धान्य को "क्षत्" करके, क्षुधा के कष्टों से "तैराने" वाला। क्षत्+तृ (संतरणे)।

तेषां न कश्चनाहोता ॥४॥ [५२]

(तेषाम्) उन परोसने वालों में (कः चन) कोई भी (अहोता न) न अग्निहोत्र करने वाला नहीं होता।

यद् वा अतिथिपतिरतिथीन् परिविष्य गृहानुपोदैत्यवभृथमेव तदुपावैति ॥५॥ [५३]

(यद्) जब (अतिथिपतिः) अतिथिपति (अतिथीन् परिविष्य) अतिथियों को खाना परोस कर (गृहान् उप उदैति) समीप के घरों पर चढ़ता है तो वह (वै) निश्चय से (तत्) उस द्वारा (अवभृथम् एव) पवित्रता के लिये यज्ञिय स्नान को ही (उप अवैति) प्राप्त करता है।

[उदैति, अवैति="उद्" का अभिप्राय है ऊपर, और "अव" का अभिप्रायः है नीचे। "उद्" से यह प्रतीत होता है कि घर सम्भवतः सीढ़ियों वाला है, "अव" से प्रतीत होता है कि स्नान गृह निचाई पर है अथवा उद् और अव केवल पादपूर्ति के लिये प्रयुक्त हुए हैं]

यत् सभागयति दक्षिणाः सभागयति यदनुतिष्ठत उदवस्यत्येव तत् ॥६॥ [५४]

अतिथिपति (यत्) जो (सभागयति) अन्न बांटता है (दक्षिणाः सभागयति) मानो दक्षिणाएं बांटता है, (यत्) जो (अनुतिष्ठते) वापिस जाते हुए अतिथियों के पीछे या साथ स्थित होता है (तत्) वह (उदवस्यति एव) अतिथियज्ञ का अवसान करता है, उसे समाप्त करता है।

[सभागयति=अथवा अतिथियों को, अतिथि यज्ञ के ऋत्विक् रूप में, जो कुछ भेंट करता है वह दक्षिणाएं भेंट करता है। यज्ञ में दक्षिणाएं तो भेंट करनी होती हैं]।

स उपहूतः पृथिव्यां भक्षयत्युपहूतस्तस्मिन् यत् पृथिव्यां विश्वरूपम् ॥७॥ [५५]

(पृथिव्याम्) पृथिवी पर स्थित हुआ (सः) वह अतिथिपति (तस्मिन्) उस भोज के निमित्त (यत्) जोकि (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (विश्वरूपम्) नानाविध है, (उपहूतः, उपहूतः) बार-बार निमन्त्रित हुआ (भक्षयति) भोजों का भक्षण करता है।

[अतिथि यज्ञ नानाविध श्रौत यज्ञों का प्रतिरूप है, जैसे कि पूर्व के मन्त्रों में निर्दिष्ट हुआ है (पर्याय ४।२,४,६,८)। अतिथि यज्ञ द्वारा मानो श्रौतयज्ञों का सम्पादन कर के अतिथिपति, स्वर्ग प्राप्ति का अधिकारी हो चुका है, और पृथिवी पर जीवन्मुक्तावस्था में वास कर रहा है। पृथिवीवासी उसे बार-बार निमन्त्रित करते हैं, और वह उपहाररूप में दिये उन नानाविध भोज्यों का भक्षण करता है। स्थूल शरीर के छूट जाने पर सूक्ष्म शरीर के साथ वह अन्तरिक्ष तथा द्युलोक आदि में यथेच्छ विचरता है. और पूर्व के स्वर्गीय आत्माओं द्वारा निमन्त्रित हुआ सूक्ष्म भोगों को भोगता है। इस परिस्थिति का वर्णन अगले मन्त्रों में हुआ है]

स उपहूतोऽन्तरिक्षे भक्षयत्युपहूतस्तस्मिन् यदन्तरिक्षे विश्वरूपम् ।८। [५६]

(अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में स्थित हुआ (सः) वह अतिथिपति, (तस्मिन्) उस भोज के निमित्त (यत्) जो कि (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में (विश्वरूपम्) नानाविध है, (उपहूतः, उपहूतः) बार-बार निमन्त्रित हुआ (भक्षयति) भोगों का भक्षण करता है, भोग भोगता है।

स उपहूतो दिवि भक्षयत्युपहूतस्तस्मिन् यद् दिवि विश्वरूपम् ॥९॥ [५७]

(दिवि) द्युलोक में स्थित हुआ (सः) वह अतिथिपति, (तस्मिन्) उस भोज के निमित्त (यद्) जो कि (दिवि) द्युलोक में (विश्वरूपम्) नाना विध है, (उपहूतः, उपहूतः) बार-बार निमन्त्रित हुआ (भक्षयति) भोगों का भक्षण करता है, भोगों को भोगता है।

स उपहूतो देवेषु भक्षयत्युपहूतस्तस्मिन् यद् देवेषु विश्वरूपम् ॥१०॥ [५८]

(देवेषु) देवों में स्थित हुआ (सः) वह अतिथिपति, (तस्मिन्) उस भोज के निमित्त (यद्) जोकि (देवेषु) देवों में (विश्वरूपम्) नानाविध है, (उपहूतः, उपहूतः) बार-बार निमन्त्रित हुआ (भक्षयति) भोगों का भक्षण करता है, भोगों को भोगता है।

स उप॑हूतो लो॒केषु॑ भक्षय॒त्युप॑हूत॒स्तस्मि॑न् यल्लो॒केषु॑ वि॒श्वरू॑पम् ॥११॥ [५९]

(लोकेषु) विविध लोकों में स्थित हुआ (सः) वह अतिथि पति, (तस्मिन्) उस भोज के निमित्त (यद्) जोकि (लोकेषु) विविध लोकों में (विश्वरूपम्) नानाविध है, (उपहूतः, उपहूतः) बार-बार निमन्त्रित हुआ (भक्षयति) भोगों का भक्षण करता है, भोगों को भोगता है।

स उप॑हूत॒ उप॑हूतः ॥१२॥ [६०]

(सः) वह अतिथिपति (उपहूतः, उपहूतः) सत्कार पूर्वक निमन्त्रित हुआ, और सत्कार पूर्वक निमन्त्रित हुआ—

आ॒प्नोती॒मं लो॒कमा॒प्नोत्य॒मुम् ॥१३॥ [६१]

(आप्नोति) प्राप्त होता है (इमम्) इस लोक को, और (आप्नोति) प्राप्त होता है (अमुम्) उस लोक को।

ज्योति॑ष्मतो लो॒कान् ज॑यति॒ य ए॒वं वेद॑ ॥१४॥ [६२]

(यः) जो अतिथिपति (एवम्) इस प्रकार [अतिथियज्ञ के महत्त्व को] (वेद) जानता है [तथा तदनुसार अतिथियज्ञ करता है] वह (ज्योष्मतो लोकान्) ज्योतिर्मय लोकों पर (जयति) विजय पा लेता है [उन में यथेच्छ विचरता तथा संमान पाता है]।

विशेषः—मुक्ति वा स्वर्ग में जीवात्मा सूक्ष्म भोगों को भोगता है। यथा "शृण्वन् श्रोत्रं भवति, स्पर्शयन् त्वग् भवति, पश्यन् चक्षुर्भवति, रसयन् रसना भवति, जिघ्रन् घ्राणं भवति, मन्वानो मनो भवति, बोधयन् बुद्धिर्भवति, चेतयंश्चित्तं भवति, अहंकुर्वाणोऽहङ्कारो भवति" (सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ९)।

काण्ड ९। सूक्त ६, सम्पूर्ण

—:०:—

सूक्त ७

विषय-परिचय

(१) सूक्त के मन्त्र १-२६ मन्त्रों में विश्व अर्थात् ब्रह्माण्ड को गोरूप कहा है, न कि गौ को विश्वरूप (२५)। मन्त्र १-१८ में गौ का वर्णन स्त्री-लिङ्गी हुआ है, और मन्त्र १९-२४ में गोजातीय बैल का वर्णन हुआ है। सायणाचार्य की दृष्टि में गौ के भिन्न-भिन्न अङ्गों को भिन्न-भिन्न देवता रूप में वर्णित किया है।

(२) गोरूप विश्व का वर्णनः—

मन्त्र		
मन्त्र १	प्रजापतिः परमेष्ठी=शृङ्गे	इन्द्रः=शिरः
	अग्निः=ललाटम्	यमः=कृकाटम्
मन्त्र २	सोमराजा=मस्तिष्कः	द्यौः=उत्तरहनुः
	पृथिवी=अधरहनुः	
मन्त्र ३	विद्युद्=जिह्वा	मरुतः=दन्ताः
	रेवतीः=ग्रीवाः	कृत्तिकाः=स्कन्धः
	घर्मः—वहः	
मन्त्र ४	विश्वम्=वायुः	स्वर्गो लोकः=कृष्णद्रम्
	विधरणी=निवेष्यः	
मन्त्र ५	श्येनः=क्रोडः	अन्तरिक्षम्=पाजस्यम्
	बृहस्पतिः=ककुद्	बृहतीः=कीकसाः
मन्त्र ६	देवानां पत्नीः=पृष्टयः	उपसदः=पर्शवः
मन्त्र ७	मित्रः, वरुणः=अंसौ	त्वष्टा, अर्यमा=दोषणी
	महादेवः=बाहू	
मन्त्र ८	इन्द्राणी=भसद्	वायुः=पुच्छम्
	पवमानः=वालाः	
मन्त्र ९	ब्रह्म, क्षत्रम=श्रोणी	बलम्=ऊरू
मन्त्र १०	धाता, सविता=अष्ठीवन्तौ	गन्धर्वाः=जङ्घाः
	अप्सरसः=कुष्ठिकाः	अदितिः=शफाः

मन्त्र ११	चेतः=हृदयम्	मेधा=यकृत्
	व्रतम्=पुरीतत्	
मन्त्र १२	क्षुत्=कुक्षिः	इरा=वनिष्ठः
	पर्वताः=प्लाशयः	
मन्त्र १३	क्रोधः=वृक्को	मन्युः=आण्डौ
	प्रजा=शेपः	
मन्त्र १४	नदी=सूत्री	वर्षस्य पतयः=स्तनाः
	स्तनयित्नुः=ऊधः	
मन्त्र १५	विश्वव्यचाः=चर्म	ओषधयः=लोमानि
	नक्षत्राणि=रूपम्	
मन्त्र १६	देवजनाः=गुदाः	मनुष्याः=आन्त्राणि
	अत्राः=उदरम्	
मन्त्र १७	रक्षांसि=लोहितम्	इतरजनाः=ऊबध्यम्
मन्त्र १८	अभ्रम्=पीवः	मज्जा=निधनम्
मन्त्र १९	अग्निः=आसीनः	अश्विना=उत्थितः
मन्त्र २०	इन्द्रः=प्राङ् तिष्ठन्	यमः=दक्षिणा तिष्ठन्
मन्त्र २१	धाता=प्रत्यङ् तिष्ठन्	सविता=उदङ् तिष्ठन्
मन्त्र २२	सोमो राजा=तृणानि प्राप्तः	
मन्त्र २३	मित्रः=ईक्षमाणः	आवृत्तः=आनन्दः
मन्त्र २४	वैश्वदेवः=युज्यमानः	प्रजापतिः=मुक्तः
	सर्वम्=विमुक्तः	
मन्त्र २५	विश्वरूपम्, सर्वरूपम्=गोरूपम् ।	

(३) विश्व को गोरूप कहने का प्रयोजन, (देखो मन्त्र २४ की व्याख्या)।

(४) विश्व और गौ में तादात्म्य के वर्णन द्वारा "यत् पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे" उक्ति का भी समर्थन होता है।

—:०:—

(मन्त्र १-२६)। १. आर्ची बृहती; २. आर्च्युष्णिक्; ३,५ आर्च्यनुष्टुप्; ४, १४, १५, १६ साम्नी बृहती; ६, ८ आसुरी गायत्री; ७ त्रिपदा पिपीलिकमध्या निचद् गायत्री; ९, १३, साम्नी गायत्री; १० पुरोष्णिक्; ११, १२, १७, २५ साम्न्युष्णिक्; १८, २२ एकपदासुरी जगती; १९ एकपदासुरी पंक्तिः; २० याजुषी जगती; २१ आसुर्यनुष्टुप्; २३ एकपदासुरी बृहती; २४ साम्नी भुरिग्बृहती; २६ साम्नी त्रिष्टुप्; ७, १८, १९,२२, २३ द्विपदा।

प्रजापतिश्च परमेष्ठी च शृङ्गे इन्द्रः शिरो अग्निर्ललाटं यमः कृकाटम् ॥१॥

(प्रजापतिः च) उत्पत्तियों का पति मेघ, (परमेष्ठी च) और परमस्थान में स्थित सूर्य (शृङ्गे) दो सींग हैं, (इन्द्रः) विद्युत्[1] (शिरः) सिर है, (अग्निः) अग्नि (ललाटम्) माथा है; (यम) यम (कृकाटम्) ग्रीवास्थियां हैं।

[इस मन्त्र और आगामी मन्त्रों में विश्व के घटकों और गौ के अवयवों में तद्रूपता अर्थात् तादात्म्य का वर्णन हुआ है। विश्व के घटकों को उद्देश-रूप में माना है, और गौ के अवयवों को विधेयरूप में। अतः विश्व को गोरूप कहा है, नकि गौ को विश्वरूप। "इन्द्र" अन्तरिक्षस्थानी है (निरुक्त ७।२।५)। अतः यह विद्युत् है।

प्रजापतिः, परमेष्ठी=शृङ्गे

इन्द्रः=शिरः

अग्निः=ललाटम्

यमः=कृकाटम्

शृङ्ग आदि उत्तरोत्तर अङ्ग, गौ के क्रमिक अंग हैं। कृकाट से सुषुम्णा

---

१. विद्युत् सर्वजगद् व्यापिनी है, अतः सब के लिये शिरोरूप है। परन्तु प्रकट होती है वर्षाकाल में अन्तरिक्ष में, इसलिये निरुक्त में इसे अन्तरिक्षस्थ कहा है। इसका वर्णन सूक्त ७ में त्रिविध रूप में हुआ है, (१) अप्रकट रूप में अन्तरिक्ष में। (२) कड़कड़ाती हुई मेघ में, इस रूप में इसे जिह्वा कहा है (मन्त्र ३)। जिह्वा भी बोलती है, मानो कड़कड़ाती है, मुख में। (३) लहररूप में गतिशीला। इस तीसरे रूप में इसे श्येन कहते हैं (मन्त्र ५)। मेघों में विद्युत् लहर रूप में चमकती है।

नाड़ी का प्रारम्भ होता है। यह नाड़ी समग्र शरीर का नियमन करती है, अतः यम है। इसी प्रकार प्रजापति आदि में क्रमिकता है। छन्दोदृष्ट्या प्रजापति को परमेष्ठी से पूर्व रखा है। क्रम निम्नरूप जानना चाहिये। परमेष्ठी, प्रजापतिः, इन्द्रः, अग्निः [पार्थिव], और यमः [पृथिवी पर होने वाले जन्म-मृत्यु का अधिष्ठाता] सुषुम्णा नाड़ी के बिगड़ जाने से मृत्यु हो जाती है, अतः यह मृत्युरूप भी है।]

सोमो राजा मस्तिष्को द्यौरुत्तरहनुः पृथिव्यधरहनुः ॥२॥

(सोमः राजा) प्रदीप्त चन्द्रमा (मस्तिष्कः) मस्तिष्क है, (द्यौः) द्युलोक (उत्तरहनुः) ऊपर का जबड़ा है, (पृथिवी अधरहनुः) पृथिवी निचला जबड़ा है।

[राजा=राजृ दीप्तौ। चन्द्रमा का सम्बन्ध मन (मस्तिष्क) के साथ है। यथा "चन्द्रमा मनसो जातः" (यजु० ३१।१२), तथा "मनश्चन्द्रो दधातु मे" (अथर्व० १६।४३।४)।

विद्युज्जिह्वा मरुतो दन्ता रेवतीर्ग्रीवाः कृत्तिका स्कन्धा घर्मो वहः ॥३॥

(विद्युत्[1]) कड़कड़ाती हुई विद्युत् (जिह्वा[1]) जीब है, (मरुतः) मरुत् [बहुवचने] (दन्ताः) दान्त हैं, (रेवतीः) रेवती नक्षत्र के तारा (ग्रीवाः) गर्दन की अस्थियां हैं, (कृत्तिकाः) कृत्तिका-तारे (स्कन्धाः) कन्धे की अस्थियां हैं, (घर्मः) ग्रीष्मारम्भ (वहः) बैल का वह स्थान है जिस पर शकट का जुआ (yoke) रखा जाता है।

[मरुतः=ये ७×७=४९ प्रकार के मरुत् हैं। यजुर्वेद १७।८०-८५ ये ६ मन्त्र तथा "उग्रश्च भीमश्च" आदि ७ वां मन्त्र। इन ७ मन्त्रों में प्रत्येक में सात-सात मरुतों के नाम दिये हैं। महीधराचार्य लिखते हैं "शुक्रज्या-रित्याद्या एकोनपञ्चाशन्मन्त्राः" (यजु० १७।८०)। इन मन्त्रों की व्याख्या में शतपथ ब्राह्मण में कहा है कि "स यः स वैश्वानरः। असौ सऽ आदित्योऽथ ये ते मारुता रश्मयस्ते, सप्त-सप्त हि मारुता गणाः" (६।३।१। २५)। रश्मियां नोकीली होती हैं। इस साम्य से मरुतों को मन्त्र ३ में "दन्ताः" कहा है।

---

१. द्र० पूर्व पृष्ठ ११७, टि० १।

रेवतीः, कृत्तिकाः—रेवतीः नक्षत्र है मीन राशि में, और कृत्तिकाः नक्षत्र है मेष राशि में। मन्त्र में रेवतीः को "ग्रीवा" कहा है, और कृत्तिकाः को "स्कन्धः"। गौ में ग्रीवाः पूर्ववर्ती होती है, और स्कन्ध अर्थात् कन्धे पश्चाद्-वर्ती। जैसे कि अस्मदादि में ग्रीवाः के पश्चात् दो स्कन्ध वर्तमान हैं। यह ही पूर्वापरभाव रेवतीः [मीनराशि] में और कृत्तिकाः [मेषराशि] में दर्शाया है। रेवतीः नक्षत्र या मीनराशि पर राशिचक्र की समाप्ति होती है, तत्पश्चात् [मेषराशि को छोड़ कर] कृत्तिकाः नक्षत्र या वृषराशि आती है। मेषराशि में अश्विनी और भरणी नक्षत्र विद्यमान हैं। इन्हें इसलिये उपेक्षित किया है कि अथर्ववेदानुसार राशि चक्र की अन्तिम राशि मीन न हो कर मेषराशि पड़ती है, क्योंकि अथर्ववेदानुसार कृत्तिकाः या वृषराशि से राशि चक्र का या वर्ष का आरम्भ माना है। यथा "सुहवमग्ने कृत्तिका रोहिणी च" (१६।७।२)।

मन्त्र में कृत्तिका और रोहिणी का देवता "अग्नि" कहा है। वर्ष के प्रारम्भ में सूर्य जब कृत्तिका पर आता है तब अधिक प्रकाश और गर्मी अनुभूत होने लगती है, और शीतकाल के शैत्य की समाप्ति हो जाती है। इस अग्नि को व्याख्येय मन्त्र ३ में घर्मः अर्थात् घाम गर्मी या कहा है। इस प्रकार कृत्तिकाः नक्षत्र या वृषराशि, सौर रथ के वहन में "वहः" का काम करती है। "वहः" है बैल का ककुद् [hump] जिस के अग्रभाग पर शकट का 'जुआ [yoke] स्थापित किया जाता है]

विश्वं वायुः स्वर्गो लोकः कृष्णद्रं विधरणी निवेष्यः ॥४॥

(विश्वम्) विशेषतया अन्तरिक्ष में गति करने वाली तथा बढ़ने [फैलने] वाली अन्तरिक्षस्थ वायु है (वायुः) गौ की श्वासोच्छ्वास की प्राणवायु है, (स्वर्गो लोकः) स्वर्ग लोक है (कृष्णद्रम्=कृष्णद्रुम्[1]) गहरे-हरे वृक्ष [गौ के लिये], (विधरणी) विस्तृत पृथिवी है (निवेष्यः) गौ के बैठने तथा विश्राम करने का स्थान [गोशाला]।

[विश्वम्=वि+श्वम् (टुओश्वि गतिवृद्ध्योः (भ्वादिः)। यथा "मात-रिश्वा=मातरि [अन्तरिक्षे]+श्वयति गच्छति वर्द्धते वा (उणा० १।१५९ महर्षि दयानन्द)। विधरणी=वि+धरणी (the earth, आप्टे)।

---

१. कृष्ण+द्रु (A tree) [वृक्ष] आप्टे।

श्येनः क्रोडो३ऽन्तरिक्षं पाजस्यं१ बृहस्पतिः ककुद् बृहतीः कीकसाः ।५।

(श्येनः) श्येन है (क्रोडः) गौ की छाती; (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष है (पाजस्यम्) उदर, पेट; (बृहस्पतिः) बृहस्पति है (ककुद्) ककुद्; (बृहतीः) बृहती हैं (कीकसाः) रीढ़ की अस्थियां।

["श्येन" है अन्तरिक्षस्थ विद्युत् (निरुक्त ११।१।१) । यह गतिशील है "श्यायति गच्छतीति श्येनः" (उणा २।४७) । श्येन पक्षी भी होता है जोकि अन्तरिक्ष में गति करता है, उड़ता है । विद्युत् भी अन्तरिक्षस्थ मेघ में गति करती है, लहर के रूप में मानो उड़ती है । इसे क्रोड कहा है, अर्थात् गौ की छाती । छाती में दो अङ्ग होते हैं—(१) फेफड़े, जिन में श्वास-प्रश्वास रूपी वायु रहती है, (२) हृदय, जिस में कि रक्तरूप आपः रहते हैं । आपः के कारण हृदय को सिन्धु कहा है (अथर्व० १०।२।११) । अन्तरिक्षस्थ श्येन अर्थात् विद्युत् का साधर्म्य भी दो तत्त्वों के साथ है, (१) अन्तरिक्षस्थ वायु के साथ, तथा (२) मेघस्थ आपः के साथ । इस साधर्म्य के कारण श्येन को क्रोड़ अर्थात् गौ की छाती कहा है । "पाजस्यम्" है उदर अर्थात् पेट । "पाजः बलम्" (निघं० २।९), तथा पाजः अन्नम्" (निघं० २।७) । पाजः अस्यते प्रक्षिप्यतेऽस्मिन्निति पाजस्यम्, उदरम् । अन्न को मुख में चबा कर अधःस्थ उदर में फैंक दिया जाता है । अन्तरिक्ष है "पाजस्य", अर्थात् गौ का उदर । यथा "अन्तरिक्षमुतोदरम्' (अथर्व० १०।७।३२) । उदर स्वयं एक थैले जैसा है, अन्तरिक्ष सदृश है, जिस में कि आमाशय, पक्वाशय आदि अङ्ग रखे हुए हैं । उदरम्=उ+दरम् (दृ विदारणे), विदीर्ण हुआ-हुआ अङ्ग ।

"बृहस्पतिः" एक ग्रह है सौरमण्डल में । यह ग्रह बड़ा है "बृहतः पतिः" (निरुक्त १०।१।११) । बड़े होने के कारण इसे बृहस्पति कहा है । कुकद् भी गौ की पीठ से ऊपर उठा रहता है, सींगों को छोड़ कर गौ के सब अङ्गों से ऊंचा है । इस लिये बृहस्पति को गौ का कुकद् कहा है । "बृहतीः" यह वैदिक छन्द है । यह अन्य छन्दों का उपलक्षक भी हैं । छन्दोमय वेद, ज्ञान का स्रोत है । ज्ञानमय होने के कारण इसे वेद कहते हैं (विद् ज्ञाने) । 'कीकसाः' हैं पृष्ठवंश की अस्थियां, जिन के छिद्रों में से सुषुम्णा नाड़ी फैली हुई है । सुषुम्णा नाड़ीज्ञान-साधिका है । इस हेतु "बृहतीः" को कीकसाः कहा है, अर्थात् गौ के कीकस]

देवानां पत्नीः पृष्टय उपसदः पर्शवः ।।६।।

(देवानाम्) देवों की (पत्नीः) पत्नियां (पृष्टयः) गौ [बैल] की पीठ की अस्थियां हैं, (उपसदः) उपग्रह (पर्शवः) वक्षः स्थल की अस्थियां हैं।

[दिव्यगुणी-पतियों के लिये जैसे उन की पत्नियां आश्रय होती हैं वैसे बैल के पीठ की अस्थियां भारोद्वहन में आश्रय होती हैं । इस आश्रयरूपी-साम्य द्वारा "देवानां पत्नी" को पृष्टयः कहा है । मन्त्र में "देवानां पत्नीः" द्वारा ब्रह्माण्ड की देवपत्नियां भी अभिप्रेत हैं, इन का वर्णन देखो (निरुक्त १२।४।४४) ; तथा (ऋ० ५।४६।७,८) ; यथा इन्द्राणी, अग्नायी, अश्विनी, रोदसी, वरुणानी । ये ब्रह्माण्ड की शक्तियां हैं जिन के द्वारा प्राणिजगत् का उपकार हो रहा है । गौ (बैल की पृष्टियां) अर्थात् पीठ की अस्थियां भी भारोद्वहन द्वारा प्राणिजगत् का उपकार करती हैं ।

उपसदः हैं उपग्रह, जोकि निज ग्रहों के समीप स्थित हुए उन की परिक्रमाएं करते हैं । (मन्त्र ५ मे बृहस्पति द्वारा ग्रह का वर्णन है, और मन्त्र ६ में उपसदः द्वारा उपग्रह का वर्णन हुआ है । उपग्रह का अभिप्राय है चन्द्रमा । चन्द्रमा शुक्लपक्ष में अष्टमी से पहिले, तथा कृष्णपक्ष में अष्टमी के पश्चात् पशु अर्थात् पसलियों के आकार का दृष्टिगोचर होता है । इस लिये इसे गौ की पसलियां कहा है । मन्त्रों में ब्रह्माण्ड के घटकों को गौ के अवयवों के रूप में वर्णित किया है । इस अभिप्राय से कहा है कि "एतद् वै विश्वरूपं सर्वरूपं गोरूपम् (२५) अर्थात् यह विश्व गोरूप है, गौ का रूप है]

मित्रश्च वरुणश्चांसौ त्वष्टा चार्यमा च दोषणी महादेवो बाहू ।।७।।

मित्र और वरुण (अंसौ) गौ के दो कन्धे (shoulders) हैं, त्वष्टा और अर्यमा (दोषणी) दो भुजाएं हैं, महादेव दो बाहुएं हैं ।

[मित्र=मिद् स्नेहने । सूर्य, वर्षा द्वारा, वनस्पति आदि को स्निग्ध करता है । "वरुणः पदनाम" (निघं० ५।४।५।६) आवृणोति रात्रिं स्व-प्रकाशेनेति वरुणः । रात्रि को, चन्द्रमा, निज प्रकाश द्वारा आवृत करता

है, अतः वरुण=चन्द्रमा। ये दो सूर्य, चन्द्रमा मानो अंसौ[1] हैं। त्वष्टा=माध्यमिकः त्वष्टेत्याहुः, मध्यमे च स्थाने समाम्नातः (निरुक्त=८।२।१४)। इसी प्रकार "अर्यमा" भी माध्यमिक देवता है। ये दोनों "दोः" हैं, कन्धों और कोहनियों के मध्यवर्ती दो भाग हैं। महादेव का अभिप्राय है देवों का देव अर्थात् परमेश्वर। सृष्टि रचना में परमेश्वर की दो बाहुओं का वर्णन होता है, यथा "सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैः द्यावाभूमिर्जनयन् देव एकः" (यजु० १६-१९), इन दो बाहुओं की शक्तियों को, गौ की बाहुएं कहा है। बाहू हैं कोहनियों के अग्रभाग, हाथों समेत। इसके द्वारा गौ की आगे की दो टांगों का कथन मन्त्र में हुआ है]

इन्द्राणी भसद् वायुः पुच्छं पवमानो बालाः ॥८॥

इन्द्राणी है जघनप्रदेश [भसद्], वायु है पूंछ बहती, वायु (पवमानः) है बाल [पूंछ के], पवमानः=गच्छन् वायुः (अथर्व० ६।१९।१ सायण)।

ब्रह्म च क्षत्रं च श्रोणी बलमूरू ॥९॥

ब्रह्म और क्षत्र दो कटिप्रदेश [श्रोणी] हैं, बल है दो ऊरु [दो घुटनों के ऊपर के भाग, कटिप्रदेश तक] [ऊरु=उर्वोरोजः (अथर्व० १९।६०।२)। कटिप्रदेश=गौ की पिछली टांगे जहां जुड़ी रहती हैं।

धाता च सविता चाष्ठीवन्तौ जङ्घा गन्धर्वा अप्सरसः कुष्ठिका अदितिः शफाः ॥१०॥

धाता और सविता हैं दो घुटने [अष्ठीवन्तौ=अस्थियों वाले], गन्धर्व हैं जङ्घाएं [लातें], अप्सराएं हैं,-जङ्घाओं और खुरों के जोड़ों की अस्थियां [कुष्ठिकाः=कु+अस्थिकाः] प्रकृति [अदितिः] है खुर [शफाः]।

[जङ्घाः="जङ्घयोर्जवः" (अथर्व० १९।६०।२)। अदितिः "अदीना देवमाता" (निरुक्त ४।४।२२), सूर्यादि देवों की माता प्रकृति अथवा "अदितिः पृथिवी नाम" (निघं० १।१)। पृथिवी को "प्रमा" कहा है,

(१) पौर्णमासी के सायंकाल पूर्व में तो पूर्ण चन्द्रमा, और पश्चिम में सूर्य, एक दूसरे के सामने, दो क्षितिजों पर होते हैं, मानो ये उठे हुए भूमि के दो स्कन्धरूप हैं। सूक्त में विश्व और गौ में तादात्म्य का वर्णन है।

(२) पूंछ के हिलते ही पूंछ के बाल हिलते हैं। मच्छर के निवारण के लिये।

यथा "यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्। दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥ (अथर्व० १०।७।३२)। "प्रमा का अर्थ है "पाद", जिसके द्वारा कि भूमि नापी जाती है" प्रमीयते यया सा प्रमा"। पादों द्वारा भूमि नापी जाती है,, "फुटे" को foot (पाद) कहते हैं। इस प्रकार अदिति और शफाः का परस्पर सम्बन्ध भी द्योतित हो जाता है। गन्धर्वों, अप्सराओं के स्वरूप, यथा—

	(गन्धर्वाः) +	(अप्सरसः)		(गन्धर्वाः) +	(अप्सरसः)
(१)	अग्निः	ओषधयः	(४)	वातः	आपः
(२)	सूर्यः	मरीचयः	(५)	यज्ञः	दक्षिणाः
(३)	चन्द्रमाः	नक्षत्राणि	(६)	मनः	ऋक् सामानि

यजु० १८ (३८-४३)

चेतो हृदयं यकृन्मेधा व्रतं पुरीतत् ॥११॥

(चेतः) चित्त है (हृदयम्) गौ का हृदय, (मेधा)[1] आशु ग्रहणशक्ति है (यकृत्) जिगर [liver], (व्रतम्) व्रत है (पुरीतत्) शरीर में विस्तृत आन्तें।

[चेतः, हृदयम्,—चित्त है विश्वाङ्ग, और हृदय है गौ का अङ्ग। इन दोनों में तादात्म्य है। योगदर्शन में भी चित्त और हृदय का परस्पर सम्बन्ध दर्शाया है "हृदये चित्तसंवित्" (३।३४), अर्थात् हृदय में चित्त के स्वरूप का ज्ञान होता है। मेधा और यकृत् का पारस्परिक सम्बन्ध अनुसन्धेय है। व्रत का अभिप्राय है व्रत में "खाद्य-अन्न"। इस प्रकार व्रत और पुरीतत् का परस्पर सम्बन्ध द्योतित हो जाता है]

क्षुत् कुक्षिरिरा वनिष्ठुः पर्वताः प्लाशयः ॥१२॥

(क्षुत्) क्षुधा है (कुक्षिः) कोख, जठर, (इरा) अन्न है (वनिष्ठुः) स्थूल-आन्त [colon], (पर्वताः) पर्वत हैं (प्लाशयः) प्लाशियां, मांस पेशियां, mussles।

[कुक्षिः=पशु की वह थैली जिसमें कि चबाया हुआ चारा एकत्रित होता है, जिस की कि जुगाली पशु करते हैं। वनिष्ठुः="वनिष्ठोः स्थविरान्त्रात् (सायण, अथर्व० २।३३।४)। प्लाशयः=मांसपेशियां। ये शरीर में पर्वत-

(१) मेधा आशुग्रहणे कण्ड्वादिः।

श्रेणी के सदृश परस्पर सम्बद्ध हुई फैली हुई हैं। इरा-और-वनिष्ठु में तादात्म्य वर्णित किया है। वनिष्ठु में निःसार परिपक्व मल होता है]

क्रोधो॑ वृ॒क्कौ म॒न्युरा॒ण्डौ प्र॒जा शेपः॑ ॥१३॥

(क्रोधः) क्रोध है (वृक्कौ) दो गुर्दे, (मन्युः) मन्यु है (आण्डौ) दो अण्ड-ग्रन्थियां, (प्रजा) सन्तान है (शेपः) जननेन्द्रिय।

[क्रोध में अज्ञानांश होता है, और मन्यु में ज्ञानांश होता है।[1] ये दोनों मानसिक वृत्तियां हैं, विश्व के अङ्ग हैं। वृक्कौ हैं [बैल] के अङ्ग। इसी प्रकार अण्डौ और शेपः भी बैल के अङ्ग है, और प्रजा है विश्व का अङ्ग। क्रोध-और-वृक्कौ का, तथा मन्यु-और-आण्डौ का परस्पर सम्बन्ध अनुसन्धेय है]

न॒दी सूत्री॑ व॒र्षस्य॒ पत॑यः॒ स्तना॑ स्तनयि॒त्नुरूधः॑ ॥१४॥

(नदी) नदी है (सूत्री) नाभिनाल, (वर्षस्य पतयः) वर्षा के पति हैं (स्तनाः) स्तनः, (स्तनयित्नुः) गर्जता मेघ है (ऊधः) दुग्धाशय।

[नदी, वर्षस्य पतयः और स्तनयित्नु हैं विश्व के अङ्ग। और सूत्री, स्तनाः और ऊधः हैं गौ के अङ्ग। इनमें परस्पर तादात्म्य दर्शाया है]।

वि॒श्वव्य॑चा॒श्चर्मौष॑धयो॒ लोमा॑नि॒ नक्ष॑त्राणि रू॒पम् ॥१५॥

(विश्वव्यचाः) अन्तरिक्ष में विस्तृत वायु, या विश्व में विस्तृत सौर-रश्मियां या, अन्तरिक्ष है (चर्म) गौ की चमड़ी, (ओषधयः लोमानि) ओषधियां हैं गौ के लोम, (नक्षत्राणि) नक्षत्र हैं (रूपम्) गौ के अङ्गों के [चमकते] रूप।

[व्यचः=विस्तार। यथा "अन्तरा द्यां च पृथिवीं च यद् व्यचः" (अथर्व० ९।३।१५) व्यचः=वि+अञ्चु, अचु, अचिं गतौ, (भ्वादिः)]

दे॒व॒ज॒ना गुदा॑ मनु॒ष्या॑ आ॒न्त्राण्य॒त्रा उ॒दर॑म् ॥१६॥

(देवजनाः) उन्मत्त जन हैं (गुदाः) गौ की गुदा के अवयव, (मनुष्याः)

[1] क्रोध रजस्तमोगुणप्रधाना चित्तवृत्ति है, और मन्यु सत्त्वगुणा चित्तवृत्ति है। परमेश्वर को भी मन्यु कहा है, और उस से मन्यु की प्रार्थना भी की गई है। यथा "मन्युरसि मन्युं मयि धेहि"।

मनुष्य हैं (आन्त्राणि) गौ का पक्वाशय, (अत्राः) अन्य अदनकर्त्ता प्राणी हैं (उदरम्) गौ का पेट।

[देव पद "दिव्" धातु का रूप है। दिव् का अर्थ "मद" भी होता है (दिवादिः)। अतः देवजनाः=उन्मत्त जन। ये गौ के गुदा के समान हैं। मनुष्याः=मननशील जन। यथा "मनुष्याः=मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति" (निरुक्त ३।२।७)। मननपूर्वक कर्मपट बुनने या सीनेवाले व्यक्ति अपने काम में परिपक्व प्रज्ञा वाले होते हैं, अतः इन्हें आन्त्राणि कहा है, आन्तों में परिपक्व अन्न होता है। मनुष्याः=मनु (मत्वा)+स्याः (सीव्यन्ति) देवजनों तथा मनुष्यों से अतिरिक्त प्राणी केवल भोजनपरायण होते हैं, "अत्राः" होते हैं [अद्+राः], अतः इन्हें उदर कहा है]

रक्षां॑सि॒ लोहि॑तमितरज॒ना ऊब॑ध्यम् ॥१७॥

(रक्षांसि) राक्षसस्वभाव के लोग हैं (लोहितम्) गौ का खून, (इतरजनाः) उपर्युक्त कथितों से भिन्न लोग हैं, (ऊबध्यम्) गौ का गोबररूप, सामाजिक जीवन में अल्पोपयोगी।

[राक्षस खूनी स्वभाव वाले होते हैं, अतः इन्हें खून कहा है]

अ॒भ्रं पीवो॑ म॒ज्जा नि॒धन॑म् ॥१८॥

(अभ्रम्) जल से भरा मेघ है (पीवः) गौ का मोटा शरीर, (मज्जा) मज्जा है (निधनम्) गौ की नलिकास्थियों का अन्तिम सार (marrow), [अभ्रम्=आपः+भृञ् (भरणे)]

अ॒ग्निरासी॑न॒ उत्थि॑तो॒ऽश्विना॑ ॥१९॥

(अग्निः) अग्नि है (आसीनः) बैठा हुआ बैल, (अश्विना) दो अश्विन् तारा हैं (उत्थितः) उठा हुआ बैल।

[अग्नि है पार्थिव-अग्नि। यह पृथिवीस्थ है। अतः अग्नि को बैठा बैल कहा है। अश्विनौ हैं मेषराशिस्थ दो तारा। ये द्युलोक में ऊंचे उठे हुए हैं, इस लिये अश्विनौ को उत्थित अर्थात् उठा हुआ बैल कहा है। अग्नि और अश्विनौ विश्व के अङ्ग हैं, और बैल का बैठना और उठना बैल की क्रियाएं हैं। इन में तादात्म्य दर्शाया है]।

इन्द्रः प्राङ् तिष्ठ॑न् दक्षि॒णा तिष्ठ॑न् य॒मः ॥२०॥

(इन्द्रः) रश्मिरूपी ऐश्वर्यवाला सूर्य है, (प्राङ् तिष्ठन्) पूर्व की ओर मुख कर खड़ा बैल। (यमः) रश्मियों को नियन्त्रित किया हुआ सूर्य है, (दक्षिणा तिष्ठन्) दक्षिण की ओर मुख कर खड़ा बैल।

[सूर्य जब विषुवत्‌रेखा अर्थात् भूमध्यरेखा पर होता है, तब सूर्य रश्मिरूपी ऐश्वर्य वाला होता है, उधर मुख कर खड़ा बैल मानो सूर्यरूप है। सूर्य पूर्वदिशा से जब दक्षिण की ओर जाता है तब शीतकाल होता है, मानो उस समय सूर्य यमरूप होता है, यतः वह निज रश्मियों को नियन्त्रित कर शैत्याधिक्य के कारण मृत्युरूप होता है, दक्षिण की ओर का सूर्य, मानो दक्षिण की ओर मुख कर खड़ा बैल है।

"यमः यच्छतीति सतः" (निरुक्त १०।२।१७)। इन्द्र और यम विश्व के अङ्ग हैं। इन्द्र और यम के द्युलोक में खड़े होने को, पूर्व और दक्षिण की ओर खड़ा बैल कहा है। इसके द्वारा दर्शा दिया है कि सूर्य वास्तव में एक स्थान में खड़ा है। उस में गति पृथिवी की गति के कारण प्रतीत होती है। तिष्ठन् = "ष्ठा गतिनिवृत्तौ"]

प्र॒त्यङ् तिष्ठ॑न् धा॒तोदङ् तिष्ठ॑न्त्सवि॒ता ॥२१॥

(धाता) धारण-पोषण करने वाला सूर्य है (प्रत्यङ् तिष्ठन्) पश्चिम की ओर मुख कर खड़ा बैल, (सविता) उत्पादक तथा प्रेरक सूर्य है (उदङ् तिष्ठन्) उत्तर की ओर मुख कर खड़ा बैल।

[मन्त्र २०,२१ में सूर्य की गति दर्शाई है,प्राङ् दक्षिण प्रत्यङ् तथा उदङ्। मकरसंक्रान्ति [लगभग २१ दिसम्बर] तक सूर्य दक्षिणभाग में गति करता रहता है। तदनन्तर सूर्य पश्चिमदिशा की ओर अग्रसर होता है। पश्चिम दिशा का सूर्य "धाता" है। इस काल में शीतकाल की वर्षा द्वारा खाद्यान्न पैदा होता है, जिस से प्राणियों का धारण-पोषण होता है। धाता = धा धारण-पोषणयोः। धाता की व्याख्या में देखो (निरुक्त ११।१।१०)। निरुक्त में धाता द्वारा "जीवातुमक्षिताम्" अर्थात् प्रवृद्ध-आजीविका की प्राप्ति का कथन हुआ है। उदङ् के साथ "सविता" का वर्णन हुआ है। उत्तर दिशा में ही प्राणियों की अधिक उत्पत्ति है]

तृणा॑नि प्रा॒प्तः सोमो॒ राजा॑ ॥२२॥

(सोमः राजा) सोम राजा है [बैल], जब कि वह [चारे के लिये] घास आदि तृणों को प्राप्त होता है।

[सोम है महौषध। अतः यह वीरुधों का अधिपति है। यथा "सोमो वीरुधामधिपतिः" (अथर्व० ५।२४।७)। सोम अत्य तृणरूप-वीरुधों में प्राप्त रहता है। अतः इसे बैलरूप में वर्णित किया है जब कि बैल घास आदि के तृणों के खाने के लिये तृणों को प्राप्त होता है।]

मि॒त्र ईक्षमा॒ण आवृ॑त्त आन॒न्दः ॥२३॥

(ईक्षमाणः) तृप्त हो कर जब बैल देख रहा होता है तब वह (मित्रः) मित्र के सदृश स्नेहभरी दृष्टि से मानो देखता है। (आवृत्तः) जब वापिस लौटता है तब वह (आनन्दः) आनन्दस्वरूप होता है। आनन्दमयी अवस्था में होता है। मित्रः = ञिमिदा स्नेहने (भ्वादिः)।

अथवा

(मित्रः) वर्षा द्वारा स्निग्ध करने वाला सूर्य, जोकि पृथिवी का (ईक्षमाणः) निरीक्षण करता है। (ईक्षमाणः) ईक्षण करता हुआ बैलरूप है। (आवृत्तः) प्रातःकाल पुनः लौट कर आया सूर्य—(आनन्दः) जोकि आनन्द प्रद होता है, आवृत्त हुए आनन्दस्वरूप बैल सदृश है।

युज्यमा॑नो वैश्वदे॒वो यु॒क्तः प्र॒जाप॑ति॒र्विमु॑क्तः सर्वम् ॥२४॥

(युज्यमानः) जोता जाता हुआ [बैल] (वैश्वदेवः) विश्वदेवों का है, (युक्तः) जुता हुआ (प्रजापतिः) प्रजापति है, (विमुक्तः) विमुक्त हुआ (सर्वम्) आत्मना "सर्वरूप" है।

(१) [यह अर्थ गौ [बैल] की दृष्टि से है। जोता जाता हुआ बैल मानो [राष्ट्र के] सब देवों के लिये उपकारी है, दुधारु-गौओं के उत्पादन तथा भारवाही बछड़ों के उत्पादन द्वारा, कृषिकर्म द्वारा, खाद के लिये गोबर प्रदान द्वारा, तथा गोवंश की वृद्धि द्वारा। शकट में जुता हुआ बैल प्रजापति है, प्रजाओं का रक्षक है। शकट कार्य से विमुक्त हुआ आत्मना "सर्वरूप" है। भारोद्वहन आदि कार्यों से विमुक्त हुआ निज "सर्वरूप" में है। युज्यमानः और युक्तः के सदृश "वियुक्तः" प्रयोग चाहिये था।

परन्तु इसके स्थान में "विमुक्तः" का प्रयोग कर जीवन्मुक्तावस्था का स्मरण कराया है। मानो आत्मना "सर्वरूप" अवस्था में बैल ऐसा सुख अनुभव करता है जैसे कि जीवन्मुक्त-मोक्षाधिकारी जीवन्मुक्तावस्था में मोक्षानन्द का अनुभव करता है]

शकट-वहन द्वारा बैल के "अनड्वान्" स्वरूप को द्योतित किया है। अनड्वान्=अनः शकटम् वहतीति।

(२) परमेश्वर भी अनड्वान् है, अनः [विश्वरूपम्] शकटं वहतीति। देखो अथर्व० ९।६। पर्याय ४, मन्त्र ८ की व्याख्या। परमेश्वर, ब्रह्माण्ड की रचना के निमित्त प्रथम, ब्रह्माण्ड-शकट के साथ निज सम्बन्धार्थ आलोचना या ईक्षण करता है "स ऐक्षत लोकान्नु सृजा इति ॥१॥ स इमान् लोकान् सृजत ॥२॥ यह आलोचना या ईक्षण परमेश्वर का "युज्यमान" स्वरूप है। परमेश्वर निज आलोचनानुरूप जब ब्रह्माण्ड की रचना प्रारम्भ कर देता है तब यह उसका "युक्त" स्वरूप है। ब्रह्माण्ड की रचना के पश्चात् जब परमेश्वर ब्रह्माण्ड का प्रलय करता है तब वह परमेश्वर का "विमुक्त" स्वरूप है। प्रलय में ब्रह्माण्ड के सम्बन्ध से विमुक्त हुआ परमेश्वर केवल सब प्रकार से "सर्वात्मस्वरूप" में स्थित होता है। इस स्वरूप को "सर्वम्" कहा है, तथा समग्र-ब्रह्माण्ड प्रलय में परमेश्वर में लीन सा हो जाता है, इस लिये भी परमेश्वर सर्वरूप है। परमेश्वर के सम्बन्ध में विश्वेदेव हैं सभी द्युतिमान् पदार्थ, सूर्य, ग्रह, उपग्रह तथा नक्षत्र और तारामण्डल। परमेश्वर प्रजापति है जब कि वह "युक्त" हुआ प्रजाओं को पैदा कर देता है। प्रजाओं की सत्ता के होने पर ही परमेश्वर प्रजाओं का पति कहलाएगा, प्रजाओं की असत्ता में नहीं।

पूर्व के मन्त्रों में विश्व के अङ्गों में तादूप्य या तादात्म्य दर्शाया है, और मन्त्र २४ में सम्पूर्णविश्व और सम्पूर्ण गौ [बैल] में तादूप्य या तादात्म्य दर्शाया है। मन्त्रों में विश्व को गोरूप कहा है, गौ को विश्वरूप नहीं। गौ सर्वोपकारी है जैसे कि मन्त्र २४ की व्याख्या में दर्शा दिया है। इसी लिये गौ मातृवत् पूजनीया है। परमेश्वर द्वारा रचा "विश्व" भी गोसदृश महोपकारी है। यह हमारे और सब प्राणियों के लिये भोग अपवर्ग के लिये है।

---

(१) एतरेय उप० खण्ड १। कण्डिका १, २॥ "ऐक्षत लोकान्नु सृजा इति", यह "युज्यमान" स्वरूप है, और "स इमान् लोकानसृजत" यह "युक्त" स्वरूप है।

भोग और अपवर्ग, इन दोनों द्वारा प्राणियों को सुख और अपवर्ग की प्राप्ति होती है। अतः शिक्षा दी गई है कि जैसे हम गौ की पूजा और सेवा करते हैं उसी प्रकार हमें महोपकारी परमेश्वर की भी पूजा और सेवा करनी चाहिये।

एतद्वै विश्वरूपं सर्वरूपं गोरूपम् ॥२५॥

(एतद्) यह दृश्यमान् ब्रह्माण्ड (वै) निश्चय से (विश्वरूपम्) विश्वरूप है, (सर्वरूपम्) सर्वरूप है (मन्त्र २४), (गोरूपम्) गोरूप है।

उपैनं विश्वरूपाः सर्वरूपाः पशवस्तिष्ठन्ति य एवं वेद ॥२६॥

(यः) जो (एवम्) इस प्रकार (वेद) जानता है (एनम्) इसे (विश्वरूपाः) विश्व के रूप वाले, (सर्वरूपाः) सर्वरूपी (पशवः) पशु (उपतिष्ठन्ति) उपस्थित हो जाते हैं।

[अभिप्राय यह है कि जो व्यक्ति भिन्न-भिन्न पशुओं के लाभों को जानता है वह निज आवश्यकतानुसार भिन्न-भिन्न पशुओं का संग्रह करता है। यथा दूध के लिये गौ का, कृषि के लिये बैल का, सवारी के लिये अश्व का, गृहरक्षा के लिये श्वा का। इस प्रकार विविध प्रयोजनों के लिये विविध पशुओं का संग्रह करता है।

काण्ड ९। सूक्त ७। सम्पूर्ण

—:०:—

सूक्त ८

विषय प्रवेश

(१) सूक्त मन्त्र १-२२। शीर्षण्य आदि रोगों का बहिष्कार (१-५, २१, २२)।

(२) मलेरिया का बहिष्करण (६)।

(३) यक्ष्म रोगों का बहिष्करण (७, १०-१२, १९, २०।

(४) बलास अर्थात् बलक्षय की उत्पत्ति बुरी कामवासना से (८)।

(५) हरापन, पीलापन, पेट की हवा, यक्ष्मभावना का बहिष्करण (९)।

(६) मूत्रमार्ग से यक्ष्मा का निराकरण (१०)।

(७) हृदय कम्पन [Palpitation], हृदयव्यथा का शमन (२२)।

—।०।—

मन्त्र १-२२। भृग्वङ्गिराः। सर्वशीर्षामयाद्यपाकरणम्। अनुष्टुप्; १२ अनुष्टुब्गर्भाककुम्मतीचतुष्पदोष्णिक्; १५ विराडनुष्टप्; विराट् पथ्याबृहती; २२ पथ्यापंक्तिः।

शीर्षक्तिं शीर्षामयं कर्णशूलं विलोहितम्।
सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं बहिर्निर्मन्त्रयामहे ॥१॥

(शीर्षक्तिम्) सिर की पीड़ा, (शीर्षामयम्) सिर के अन्य रोग, (कर्णशूलम्) कान की उग्रपीडा, (विलोहितम्) मुख का पीलापन अर्थात् रक्त हीनता [अनीमिया), या मुख पर रक्ताधिक्य, अधिक लालिमा (ते) तेरे (सर्वम् शीर्षण्यम् रोगम्) सब सिर के रोगों को (बहिः निर्मन्त्रयामहे) हम चिकित्सक, मन्त्रोक्त साधनों द्वारा, बाहिर निकाल देते हैं (देखो मन्त्र २२)। या परस्पर मन्त्रणा अर्थात् विचार द्वारा रोग को शान्त कर देते हैं।

कर्णाभ्यां ते कङ्कूषेभ्यः कर्णशूलं विसल्पकम्।
सर्वं शीर्षण्यंऽ ते रोगं बहिर्निर्मन्त्रयामहे ॥२॥

(ते) तेरे (कर्णाभ्याम्) कानों से, (कङ्कूषेभ्यः) कानों के आभ्यान्तरावयवों से (कर्णशूलम्) कानों की उग्रपीडा को, और (विसल्पकम् = विसर्पकम्) विसर्पी रोग को, तथा (सर्वम् शीर्षण्यम् रोगम्) सब प्रकार के शिरोरोग को (बहिः निर्मन्त्रयामहे) हम चिकित्सक पृथक् कर देते हैं (मन्त्र १)।

[कङ्कूषेभ्यः = "कम् सुखम् कुष्णन्ति", (कुष निष्कर्षे, क्र्यादिः), कानों के आभ्यन्तरावयव = कोकुलस, तीन अस्थियां, तथा संवेदन नाड़ी [Nerisa]। विसल्पकम् = विसर्पीरोग, मुख पर फैलता हुआ श्वेतकुष्ठ, Leukoderma, सफेद दाग]

यस्य हेतोः प्रच्यवते यक्ष्मः कर्णत आस्यतः।
सर्वं शीर्षण्यंऽ ते रोगं बहिर्निर्मन्त्रयामहे ॥३॥

(यस्य हेतोः) जिस किसी उपाय से (यक्ष्मः) यक्ष्म (कर्णतः) कान से और (आस्यतः) मुख से (प्रच्यवते) प्रच्युत हो जाता है, हट जाता है [उस का आश्रय करके] (ते) तेरे (सर्वम् शीर्षण्यम् रोगम्) सब प्रकार के शिरोगत यक्ष्म रोग को, हम चिकित्सक पृथक् कर देते हैं (मन्त्र १)।

[यस्य हेतोः = निर्धारणे षष्ठी। शिरोगत यक्ष्मरोग अथर्व० २।३३।१]।

यः कृणोति प्रमोतमन्धं कृणोति पूरुषम्।
सर्वं शीर्षण्यंऽ ते रोगं बहिर्निर्मन्त्रयामहे ॥४॥

(यः) जो यक्ष्म (पूरुषम्) पुरुष को (प्रमोतम्) मूक अर्थात् गूंगा (कृणोति) कर देता है, और (अन्धम् कृणोति) अन्धा कर देता है, (ते) तेरे (सर्वम्) उस सब प्रकार के (शीर्षण्यम् रोगम्) शिरोगत यक्ष्म रोग को, (बहिः निर्मन्त्रयामहे) हम चिकित्सक, पृथक् कर देते हैं (मन्त्र १)।

अङ्गभेदमङ्गज्वरं विश्वाङ्ग्यं विसल्पकम्।
सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं बहिर्निर्मन्त्रयामहे ॥५॥

(अङ्गभेदम्) अङ्गों का टूटना, (अङ्गज्वरम्) अङ्गों का बुखार, (विश्वाङ्ग्यम्) तथा सब अङ्गों में व्यापी (विसल्पकम्) विसर्पी रोग (मन्त्र २), —इन्हें, तथा (ते) तेरे (सर्वम्) सब प्रकार के (शीर्षण्यम् रोगम्) शिरोगत रोग को (बहिः निर्मन्त्रयामहे) हम पृथक् करते हैं (मन्त्र १)।

यस्य भीमः प्रतीकाश उद्वेपयति पूरुषम् ।
तक्मानं विश्वशारदं बहिर्निर्मन्त्रयामहे ॥६॥

(यस्य) जिस की प्रतीकाशः) चमक (भीमः) भयानक है, (पूरुषम्) पुरुष को (उद्वेपयति) कम्पा देती है, उस (विश्वशारदम्) सब प्रकार के सर्दी के (तक्मानम्) कष्टदायक ज्वर को (बहिः निर्मन्त्रयामहे) हम चिकित्सक पृथक् कर देते हैं (१)।

[प्रतीकाशः=प्रति+काशृ (दीप्तौ)। विश्वशारदम्=सर्दी लगकर हो जाने वाला मलेरिया बुखार]

य ऊरू अनुसर्पत्यथो एति गवीनिके ।
यक्ष्मं ते अन्तरङ्गेभ्यो बहिर्निर्मन्त्रयामहे ॥७॥

(यः) जो (ऊरू) दो पट्टों, [Thighs] के (अनु सर्पति) साथ-साथ सर्पण करता है (अथो) और (गवीनिके) दो मूत्रनालियों तक (एति) आ जाता है उस (यक्ष्मम्) यक्ष्मरोग को, (ते) तेरे (अन्तरङ्गेभ्यः) आभ्यन्तर अङ्गों से (बहिः निर्मन्त्रयामहे) हम चिकित्सक पृथक् करते हैं (१)।

[गवीनिके="आन्त्रेभ्यो विनिर्गतस्य मूत्रस्य मूत्राशयप्राप्तिसाधने पार्श्वद्वयस्थे नाड्यौ गवीन्यौ इत्युच्यते" (अथर्व० १।३।६, सायण); तथा (अथर्व० ५।२५।१०-१३ सायण)। तथा "योनेः पार्श्वद्वयवर्तिन्यौ निर्गमनप्रतिबन्धिके नाड्यौ" अथर्व० १।११।५, सायण)]

यदि कामादपकामाद् हृदयाज्जायते परि ।
हृदो बलासमङ्गेभ्यो बहिर्निर्मन्त्रयामहे ॥८॥

(यदि) यदि (अपकामात् कामात्) बुरी कामनामयी कामवासना से (हृदयात् परि) हृदय से (बलासम्) "बलास" रोग (जायते) पैदा होता है, तो (बलासम्) उस बलास को, (हृदः) हृदय से (अङ्गेभ्यः) और अवशिष्ट अङ्गों से (बहिः निर्मन्त्रयामहे) हम चिकित्सक पृथक् कर देते हैं (१)।

[बलासम्=बलम् अस्यति क्षिपतीति बलासः, श्लेष्मरोगः (अथर्व० ६।१४।१, सायण), श्वास प्रश्वासादिरोगः (अथर्व० ६।१२७।१,२ सायण), यक्ष्मः (अथर्व० ६।१२७।३)।

बलास रोग बुरी कामवासना से प्रथम, हृदय में प्रकट होता है, तत्पश्चात् अन्य अङ्गों में फैल जाता है। बलास, यक्ष्म का विकार है।

हरिमाणं ते अङ्गेभ्योऽप्वामन्तरोदरात् ।
यक्ष्मोधामन्तरात्मनो बहिर्निर्मन्त्रयामहे ॥९॥

(ते) तेरे (अङ्गेभ्यः) अङ्गों से (हरिमाणम्) हरेपन या पीलेपन को, (अन्तरोदरात्) उदर के भीतर से (अप्वाम्) दुर्गन्धित वायु अर्थात् अपान वायु को, (अन्तरात्मनः) तेरी अन्तरात्मा से, — (यक्ष्मोधाम्) "मैं ने यक्ष्मा धारण किया हुआ है" इस भावना को (बहिः निर्मन्त्रयामहे) हम चिकित्सक पृथक् कर देते हैं।

[हरिमाणम्[1]=jaundice, पाण्डुरोग, कामलारोगः। अप्वाम्=अप (बुरी)+वा (वायु)। अप्वा=व्याधिर्वा भयं वा (निरुक्त ६।३।१२)]

आसो बलासो भवतु मूत्रं भवत्वामयत् ।
यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत् ॥१०॥

हे यक्ष्मरोगिन्! तेरा (बलासः) बलक्षयकारी रोग (आसः भवतु) अस्त हो जाय, और (मूत्रम्) तेरा मूत्र (आमयत् भवतु) उस रोग से युक्त हो जाय। इस प्रकार सर्वेषां यक्ष्माणां विषम्) सब प्रकार के यक्ष्मों के विष को (त्वत्) तुझ से (निर् अवोचम् अहम्) निकाल देने की विधि मैंने कह दी है।

[उपचार द्वारा यक्ष्म के विष को मूत्र में आरोपित कर, उस रोग युक्त मूत्र को, शरीर से बाहर निकाल देना चाहिये। आमयत्=अम रोगे (चुरादिः)+णिच्+शतृ। बलासः="बलमस्यति क्षिपतीति," असु क्षेपणे (दिवादिः)। आसः=क्षिप्तः, अस्तः]

बहिर्बिलं निर्द्रवतु काहाबाहं तवोदरात् ।
यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत् ॥११॥

१. "हरिमा" के लिये अथर्व० १।२२।४ में शुक अर्थात् तोते का दृष्टान्त दिया है। तोता हरा होता है पीला नहीं। हरिमा रोग jaundice का ही भेद है। जिगर का रस (Bile पित्त) यदि देर तक रुका रहे तो वह हरा पड़ जाता है, जिस से दस्तों में हरापन आ जाता है। जिगर रस स्वयं पीला होता है।

(कहावाहम्) प्रयत्न पूर्वक अल्पाल्पमात्रा में परित्यक्त होकर प्रवाहित हुआ मूत्र, (तव उदरात्) तेरे उदर से, पेट से (बिलं बहिः) बस्तिछिद्र द्वारा बाहर (निर्द्रवतु) द्रवरूप में निकल जाय। (सर्वेषां यक्ष्माणाम् विषम्) इस प्रकार (त्वत्) तुझ से, सब प्रकार के यक्ष्मों के विष को (निरवोचम्, अहम्) निकाल देने को विधि मैं ने कह दी है।

[काहावाहम्=का (कुत्सिते)+हा (ओहाक् त्यागे)+वाहम् वह, प्रवाह [वाला मूत्र] बिलम्=मूत्राशय अर्थात् बस्ति [Bladder] का छिद्र (देखो अथर्व० १।३।६-९)]

उदरात् ते क्लोम्नो नाभ्या हृदयादधि ।
यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत् ॥१२॥

(ते) तेरे (उदरात्) पेट से, (क्लोम्नः) फेफड़े से, (नाभ्याः) नाभि से, (हृदयात् अधि) हृदय से, (सर्वेषाम् यक्ष्माणम्) सब प्रकार के यक्ष्मों के (विषम्) विष को (त्वत्) तुझ से (अहम्) मैंने (निर् अवोचम्) निकाल देने की विधि कह दी है।

याः सीमानं विरुजन्ति मूर्धानं प्रत्यर्षणीः ।
अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम् ॥१३॥

(मूर्धानम् प्रति) सिर की ओर (अर्षणीः) गति करने वाले (याः) जो [आपः] रक्तरूपी जल (सीमानम्) सीमा को (विरुजन्ति) विशेषतया रुग्ण करते हैं, वे (अहिंसन्तीः, अनामयाः) न हिंसा करने वाले, रोग रहित [आपः] रक्तरूपी जल, (बिलम्, बहिः) बलि के छिद्र से बाहर, (निर्द्रवन्तु) द्रवरूप में निकल जांय।

[अर्षणीः=ऋषी गतौ (तुदादिः)+ल्युट्+ङीप् । मन्त्र में "अर्षणीः" में बहुवचन और स्त्रीलिङ्ग "आप" का सूचक है, और आप पद रक्त-जल का निर्देशक है (अथर्व० १०।२।११) ये रक्त-आपः मूर्धा की ओर गति करते हुए अपने में विलीन यक्ष्म-क्रिमियों [Germes] को ले जाते हैं, और सिर की सीमा [meninges[1]] को रुग्ण कर देते हैं। उपचार द्वारा ये

१. मस्तिष्कावरण। इस के सूजन को maningitis कहते हैं।

क्रिमि मूत्ररूप[1] में जब मूत्रमार्ग से बाहर निकल जाते हैं, तब सिर हिंसा रहित और रोगरहित हो जाते हैं। क्रिमियों अर्थात् Germs के लिये देखो (अथर्व० २।३१।५; ३२।१-४; ५।२३।१-१३)]

या हृदयमुपसर्पन्त्यनुतन्वन्ति कीकसाः ।
अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम् ॥१४॥

(याः) जो [आपः] रक्त जल (हृदयम् उपसर्पन्ति) हृदय तक सर्पण करते हैं, और (कीकसाः) हंसलियों तथा पसलियों के (अनु) साथ-साथ (तन्वति) फैल जाते हैं, वे (अहिंसन्तीः) न हिंसा करने वाले, (अनामयाः) रोगरहित रक्त-जल (बिलम् बहिः) वस्तिछिद्र के बाहर (निर्द्रवन्तु) द्रवरूप में निकल जांय।

[भावार्थ (मन्त्र १३)। कीकसः=कीकसाभ्यः "जत्रुवक्षोगतास्थिभ्यः" (अथर्व० २।३३।२, सायण)]

याः पार्श्वे उपर्षन्त्यनु निक्षन्ति पृष्टीः ।
अहिंसन्तीरनामयाः निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम् ॥१५॥

(याः) जो [आपः] रक्त जल (पार्श्वे) दो पार्श्वों के (उप) समीप समीप (अर्षन्ति) गति करते हैं, और (पृष्टीः) छाती के पीछे की अस्थियों का (अनुनिक्षन्ति) निरन्तर चुम्बन करते हैं, वे (असन्तीः) न हिंसा करने वाले (अनामयाः) रोगरहित [आपः] रक्तजल (बिलम् बहिः) वस्ति के छिद्र से (निर्द्रवन्तु) द्रवरूप में निकल जांय। निक्षन्ति=णिक्ष चुम्बने (भ्वादिः)।

[भावार्थ (मन्त्र १३)]

यास्तिरश्चीरुपर्षन्त्यर्षणीर्वक्षणासु ते ।
अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम् ॥१६॥

(याः) जो (अर्षणीः) गति करने वाले [आपः] रक्त-जल (ते) तेरी (वक्षणासु) बखियों में, (तिरश्चीः) तिरछी रेखाओं में, (उप) समीप

१. रक्त में के क्रिमि, रक्त से स्रुत हुए मूत्ररूप में, मूत्र मार्ग से बाहर निकल जाते हैं।

समीप (ऋषन्ति) गति करते हैं, वे (अहिंसन्तीः) न हिंसा करते हुए (अनामयाः) रोग रहित [आपः] रक्त-जल (बिलम्, बहिः) वस्ति के छिद्र से बाहर (निर्द्रवन्तु) द्रवरूप में निकल जांय ।

[भावार्थ (मन्त्र १३) । वक्षणाः=शरीर के दो पार्श्वों में पेट के अन्दर की ओर के भाग । तिरश्चीः=Cross-wise]

या गुदा अनुसर्पन्त्यान्त्राणि मोहयन्ति च ।
अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम् ॥१७॥

(याः) जो [आपः] रक्त-जल (गुदाः अनु) गुदा के अवयवों के साथ साथ (सर्पन्ति) गति करते हैं, (च) और (आन्त्राणि) आन्तों को (मोहयन्ति) मूढ़ावस्था में कर देते हैं, वे [उपचार द्वारा, या चिकित्सा द्वारा] (अहिंसन्तीः) हिंसा न करते हुए (अनामयाः) और रोग रहित हुए [मूत्ररूप में] (बिलम् वहिः) वस्ति के छिद्र से बाहर (निर्द्रवन्तु) द्रवरूप में निकल जांय ।

या मज्जो निर्धयन्ति परूंषि विरुजन्ति च ।
अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम् ॥१८॥

(याः) जो [आपः] यक्ष्मान्वित रक्त-जल (मज्जः) मज्जा को (निर्धयन्ति) पी जाते हैं (च) और (परूंषि) जोड़ों को (विरुजन्ति) तोड़ देते हैं वे [उपचार या चिकित्सा द्वारा] (अहिंसन्तीः) न हिंसा करते हुए, (अनाशयाः) और रोग रहित हुए [मूत्ररूप में] (विलम् बहिः) वस्ति के छिद्र से बाहर (निर्द्रवन्तु) द्रवरूप में निकल जांय ।

[मन्त्र में पृष्ठवंश का वर्णन प्रतीत होता है । पृष्ठवंश सच्छिद्र-अस्थिमणकों के जोड़ों द्वारा मालारूप में बना हुआ है, जिन में सुषुम्णा नाड़ी सूत्र में निवास करती है । जोड़ों के जोड़ पर एक-एक गद्दी होती है, और मणकों में मज्जा होती है । मज्जा=Marrow]

ये अङ्गानि मदयन्ति यक्ष्मासो रोपणास्तव ।
यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत् ॥१९॥

(ये यक्ष्मासः) जो यक्ष्मरोग या यक्ष्मकीटाणु (तव) तेरे (अङ्गानि) अङ्गों को और (रोपणाः) रोपणों को (मदयन्ति) मदयुक्त करते या सुला देते हैं, उन (सर्वेषां यक्ष्माणाम् विषम्) सब प्रकार के यक्ष्मों के विष को (त्वत्) तुझ से (निर्) पृथक् करने की विधि (अहम्) मैंने (अवोचम्) कह दी है ।

[रोपणाः=Tendons=मांस तन्तुः जिन के द्वारा मांसपेशियां अस्थियों के साथ जुड़ी रहती हैं । यक्ष्म कीटाणुओं के लिये देखो (मन्त्र १३)]

विसल्पस्य विद्रधस्य वातीकारस्य वालजेः ।
यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत् ॥२०॥

(विसल्पस्य) विसर्पी रोग के, (विद्रधस्य) विदरणशील व्रण विशेष के, (वातीकारस्य) उदर में वायु के प्रकोप के, (वा) तथा (अलजेः) अलजि के—(सर्वेषां यक्ष्मणाम्) इन सब यक्ष्मों के (विषम्) विष को (त्वत्) तुझ से (निर्) निकाल देने की विधि (अहम्) मैं ने (अवोचम्) कह दी है ।

[विसल्पस्य, श्वेतकुष्ठ । विद्रधि=सम्भवतः विशेष प्रकार की दाद, या carbuncle[1] फोड़ा अथवा ringworm[2]] ।

पादाभ्यां ते जानुभ्यां श्रोणिभ्यां परि भंससः ।
अनूकादर्षणीरुष्णिहाभ्यः शीर्ष्णो रोगमनीनशम् ॥२१॥

(ते) तेरे (पादाभ्याम्) पैरों से, (जानुभ्याम्) घुटनों से, (श्रोणिभ्याम्) कटि प्रदेशों से (भंससः परि) जघन प्रदेश से, (अनूकात्) पृष्ठवंश से, (उष्णिहाभ्यः) गर्दन की नाड़ियों से, (अर्षणीः[3]) फैलने वाले यक्ष्मों को, तथा (शीर्ष्णः) सिर के (रोगम्) रोग को (अनीनशम्) मैंने नष्ट कर दिया है ।

---

१. परस्पर संनिकृष्ट नाना फुंसियां, जो कि समय पा कर नानामुखी एक बड़ा फोड़ा बन जाता है ।

२. त्वचमा लाल, किनारे कुच्छ उठे हुए, ऐसा फोड़ा ।

३. मन्त्र १३,१६ ॥

सं ते शीर्ष्णः कपालानि हृदयस्य च यो विधुः ।
उद्यन्नादित्य रश्मिभिः शीर्ष्णो रोगमनीनशोऽङ्गभेदमशीशमः ॥२१॥

(ते) तेरे (शीर्ष्णः) सिर के (कपालानि सम्) कपालों के साथ (शीर्ष्णः रोगम्) सिर के रोग को, (च) तथा (हृदयस्य) हृदय का (यः) जो (विधुः) कम्पन या बींधना है उसे (उद्यन् आदित्य) हे उदित हुए आदित्य ! तूने (रश्मिभिः) रश्मियों द्वारा (अनीनशः) नष्ट कर दिया है, और (अङ्गभेदम्) अङ्गों के टूटने को (अशीशमः) शान्त कर दिया है ।

[विधुः=वि+धूञ् कम्पने, हृदय की धड़क, Palpitation, अथवा विधुः=व्यध् ताडने (दिवादिः)]।

काण्ड ९ । सूक्त ८ । सम्पूर्ण

—।०।—

सूक्त ९

विषय प्रवेश

(१) मन्त्र संख्या २२ । सात पुत्रों वाले विश्पति का दर्शन (१); एकचक्ररथ, सूर्य (२); सप्तचक्ररथ, सूर्य (३); अस्थिवाले शरीर का भर्ता अनस्था, जीवात्मा (४); पक्षिरूपी सूर्य का पाद द्वारा उदकपान (५); सप्त तन्तु (६); अज में आश्रित एक तत्त्व, प्रकृति (७); वेदमाता का प्रादुर्भाव (८, ९); तीन माताओं और तीन पिताओं का भर्ता, सूर्य; तथा इस की पीठ पर वेदवाणी के सम्बन्ध में मन्त्रणा (१०); पांच अरों वाला चक्र, सूर्य (११); पञ्चपाद पिता राशिचक्र (१२); वर्ष में अहोरात्र ७२० (१३); सूर्यचक्र की नेमि, परमेश्वर (१४); स्त्रियां पुमान् हैं (१५); षड्यमा ऋषयः (१६); पराविद्या और अपराविद्या (१७); ब्रह्माण्ड का स्वरूप और उस का पिता, परमेश्वर (१८, १९); जीव, ब्रह्म, मोक्ष तथा ब्रह्म प्राप्ति (२०-२२) ।

(२) यह "अस्यवामीय" सूक्त है । ऋग्वेद में भी वर्तमान है । (ऋ० १।१६४।१-२२) ।

—:०:—

ब्रह्मा । द्वाविंशकम् । वामीयम् । आदित्य देवत्यम्, अध्यात्मकम् । त्रैष्टुभम्; १२, १४, १६, १८ जगती ।

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः ।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम् ॥१॥

(वामस्य) सम्भजनीय अर्थात् सेवनीय, (पलितस्य) पालन कर्त्ता, (होतुः) वर्षा प्रदाता तथा शक्ति प्रदाता (अस्य) इस प्रत्यक्ष दृष्ट तथा (तस्य) उस दूरस्थ सूर्य का (भ्राता) भाई या भर्तव्य (अस्ति) है (मध्यमः) अन्तरिक्ष लोक में रहने वाला (अश्नः) मेघ, वायु, या विद्युत् । (अस्य) इस सूर्य का (तृतीयः) तीसरा (भ्राता) भाई या भर्तव्य है

(घृतपृष्ठः) यज्ञियाग्नि, जिस की पीठ पर घृताहुतियां पड़तो हैं। (अत्र) इस में (अपश्यम्) मैं ने देखा है (विश्पतिम् सप्तपुत्रम्) सातपुत्रों वाले, प्रजाओं के पति को।

[वामस्य=वन षण संभक्तौ भ्वादिः। पलितस्य=पालयितुः भ्राता=भर्तव्यः (निरुक्त ४।४।२६)। अश्नः मेघनाम (निघं० १।१०)। सूर्य, मेघ [वायु या बिद्युत्] तथा पार्थिवाग्नि ये तीन भाई-भाई हैं,एक पिता परमेश्वर और एक माता अदिति से उत्पन्न हुए हैं। तथा सूर्य द्वारा भर्तव्य है मेघ; मेघ का भरण-पोषण सूर्य रश्मियों द्वारा होता है। पार्थिवाग्नि का भरण पोषण भी सूर्य की रश्मियां ही करती हैं। वृक्ष पैदा होते हैं। सौराग्नि द्वारा। यही अग्नि, काष्ठ जलाते समय प्रकट होती है। "अत्र अपश्यम्" द्वारा उपासक कहता है कि "मैंने पार्थिवाग्नि में विश्पति का दर्शन किया है", यह विश्पति है "परमेश्वराग्नि",जो कि यज्ञियाग्नि में प्रविष्ट है। यथा "अग्नावग्निश्चरति प्रविष्ट ऋषीणां पुत्र अभिशस्तिपा उ" (अथर्व० ४।३९।९)। इस प्रविष्ट हुए अग्नि के अर्थात् विश्पति के ७ पुत्र हैं, ७ भुवन[1]]।

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभिचक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः ॥२॥

(एक चक्रं रथम्) एकचक्ररूपी रथ को (सप्त युञ्जन्ति) सात अश्व जोतते हैं, वस्तुतः (एकः अश्वः सप्तनामा) एक अश्व जोकि सात अश्वों में परिणत होता है (वहति) सूर्य रथ का वहन करता है। (चक्रम्) रथचक्र (त्रिनाभि) तीन नाभियों वाला है, (अजरम्) जीर्ण नहीं होता, (अनर्वम्) इसके साथ कोई अर्वः अर्थात् प्राणी घोड़ा जुता हुआ नहीं है। (यत्र अधि) जिस रथ में(विश्वा भुवना) सौर परिवार के सब भुवन (तस्थुः)स्थित हैं।

[सूर्य चक्राकार है। यह एकचक्ररूप रथ है। इसमें ७ अश्व लगे हुए हैं। ये हैं रश्मिसप्तक, जोकि वर्षाऋतु में इन्द्र धनुष के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। वस्तुतः इस एक चक्ररथ का एक वहन एक अश्व ही करता है,

१. यथा "ब्राह्मस्त्रिभूमिको लोकः प्राजापत्यस्ततो महान्। माहेन्द्रश्च स्वरित्युक्तो दिवि तारा भुवि प्रजाः। योग (३।२६, व्यास-भाष्य)। अथवा भूः भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्।

जोकि शुक्लरश्मि समूह है। यह शुक्लरश्मि ७ रश्मियों में परिणत हो जाती है। तीन नाभियां है ग्रीष्म, वर्षा, तथा शरद् ऋतुएं। कई "एक चक्र रथ" द्वारा "वर्ष चक्र' का कथन करते हैं]

इमं रथमधि ये सप्त तस्थुः सप्तचक्रं सप्त वहन्त्यश्वाः।
सप्त स्वसारो अभि सं नवन्त यत्र गवां निहिता सप्तनामा ॥३॥

(इमम्) इस (रथम् अधि) और रथ के आश्रय (ये सप्त तस्थुः) जो सात चक्र स्थित हैं, उन का (वहन्ति) वहन करते हैं (सप्त अश्वाः) उन के सात अश्व, या सात सौराश्व। (सप्त स्वसारः) सात जोकि "स्वसारः" अर्थात् अपने-अपने मार्ग में सरण करते हैं वे (अभि) सूर्य के अभिमुख हुए हुए (संनवन्त) मिल कर मानो सूर्य की स्तुतियां करते हैं, (यत्र) जिस सूर्य के आश्रय (गवाम्) सौर-रश्मियों के (सप्तनामा सप्तनामानि) सात परिणाम (निहिता=निहितानि) निहित हैं।

[सूर्य एक चक्र अर्थात् चक्राकार एक रथ है। एतत्सम्बन्धी सात अन्य चक्र हैं, जो कि चक्राकार हैं। वे सप्तचक्र हैं बुध, शुक्र, पृथिवी, चन्द्रमा, मंगल, बृहस्पति, तथा शनैश्चर ग्रह। ये निज मार्गों पर गति करते हुए सूर्य की परिक्रमाएं कर रहे हैं। ये परिक्रमाएं मानो सूर्य की स्तुति रूप हैं। ये सात चक्र या ग्रह मानो अश्वरूप हुए, सूर्यरथ का वहन कर रहे हैं। सूर्य में जो गौएं अर्थात् श्वेत रश्मियां निहित हैं वे ही "रश्मिसप्तक" रूप में सात प्रकार को रश्मियों में परिणत हो रही है। वर्षा ऋतु में इन्द्र धनुष में भी ये सात रश्मियां प्रकट होती हैं। "गावः रश्मिनाम" (निघं० २।५)]

को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति।
भूम्या असुरसृगात्मा क्व स्वित् को विद्वांसमुप गात् प्रष्टुमेतत् ॥४॥

(प्रथमम्) सर्वप्रथम (जायमानम्) पैदा हुए, (अस्थन्वन्तम्) अस्थियों वाले शरीर को (कः ददर्श) किस ने देखा है, (यत्) जिस शरीर का कि (अनस्था) अस्थियों से रहित [जीवात्मा] (बिभर्ति) भरण-पोषण करता है। (असुः असृक्) प्राण और रक्त तो (भूम्याः) भूमि सम्बन्धी हैं। (आत्मा) परन्तु जीवात्मा (क्वस्वित्) कहां था। (कः) कौन है जोकि (एतत् प्रष्टुम्) इसे पूछने के लिये (विद्वांसम्) ज्ञाता परमेश्वर के (उप) समीप (गात्) गया है।

[असु है प्राण अर्थात् प्राण वायु, जोकि अन्तरिक्षस्थ है,और भूमि का ही अंश है, असृक् अर्थात् रक्त भूमि का ही अंश है, भूमि से उत्पन्न अन्न का ही परिणामरूप है। परन्तु जीवात्मा भूमि का अंश नहीं। यह कहां था, और कहां से आया जो कि अस्थियों वाले शरीर का भरण-पोषण करता है। सृष्टि के प्रारम्भ में जब अस्थियों वाला शरीर प्रथम पैदा हुआ तब इसे पैदा होते हुए देखने वाला कोई न था। उस समय इस का द्रष्टा और ज्ञाता केवल परमेश्वर ही था। परन्तु इस रहस्य के जानने और पूछने के लिये उस समय कौन था जो कि परमेश्वर के समीप योग समाधि द्वारा पहुंचा हो।

इह ब्रवीतु य ईमङ्ग वेदास्य वामस्य पदं वेः।
शीर्ष्णः क्षीरं दुह्रते गावो अस्य वव्रिं वसाना उदकं पदाऽपुः ॥५॥

(अङ्ग) हे प्रिय ! (यः) जो (अस्य) इस (वामस्य) सम्भजनीय या सुन्दर (वेः) पक्षी के (पदम्) पद को (वेद) जानता है वह (इह) यहां (ब्रवीतु) उसका कथन करे। (अस्य) इस के (शीर्ष्णः) सिर से (गावः) निकली हुई रश्मियां (मन्त्र ३) (क्षीरम्) दुग्धसमान गुणकारी उदक को (दुह्रते) दोहती हैं, (वव्रिं वसानाः) रूप को ओढ़ती हुई। और (पदा) पाद द्वारा (उदकम्) उदक को (अपुः) पीती हैं।

[सूर्य को पक्षी कहा है जोकि आकाश में मानो उड़ता है। इसे ही सिर कहा है जो कि सिर के सदृश गोल हैं, जिस में कि रश्मिरूपज्ञान-रश्मियों का निवास है। इस सिर से निकलती हुई रश्मियां चमकीली होती हैं। अतः इन्हें "वव्रिं वसानाः" कहा है। वव्रिः रूपनाम (निघं० ३।७)। सूर्य से निकलती हुई रश्मियां जो वर्षा रूप में जल बरसाती हैं वह क्षीर अर्थात् दूध सदृश गुणकारी होता है, क्योंकि वह अति स्वच्छ होता है। और पादस्थानी रश्मियां जोकि भूमि पर गिरती हैं, वे अशुद्ध जल के साथ स्पर्श करती हुई, उसे पान पर, अन्तरिक्ष में पहुंचाती हैं। भूमिष्ठ जल में भूमि के अंश मिले होते हैं, अतः वे क्षीर सदृश नहीं होते, अतः इन्हें केवल "उदकम्" कहा है, वर्षा जल शुद्ध होते हैं। अतः इन्हें क्षीरम् अर्थात् दुग्ध कहा है। भूमि पर पड़ने वाली रश्मियों को "पदा" द्वारा निर्दिष्ट किया है। जैसे कि कहा है कि "बालस्यापि रवेः पादाः पतन्ति शिरसि भूभृताम्"। जब सूर्य को "वि" अर्थात् पक्षी कहा, तब इसका सिर भी होगा, और पाद भी होंगे। इसलिये मन्त्र में "शीर्ष्णः", और "पदा" का कथन हुआ है। "क्षीरम् उदकनाम" (निघं० १।१२)]।

पाकः पृच्छामि मनसाऽविजानन् देवानामेना निहिता पदानि।
वत्से बष्कयेऽधि सप्त तन्तून् वि तत्निरे कवय ओतवा उ ॥६॥

(पाकः) प्रशस्त अर्थात् पवित्र जीवन वाला, परन्तु (मनसा) मन अर्थात् मनन की दृष्टि से (अविजानन्) अज्ञानी (पृच्छामि) मैं पूछता हूं, जहां कि (देवानाम्) पृथिवी आदि देवों के (एना पदानि) ये पद (निहिता) स्थापित हैं। (बष्कये) दर्शनीय (वत्से अधि) वत्स [आदित्य] में (कवयः) वेदकाव्य के कवि, उन (सप्त) सात पदों को या देवों को, (तन्तून्) तन्तुओं के रूप में, (वितेनिरे) विस्तृत हुए कहते हैं, जिनमें कि (ओतवै) बाना डालने के लिये हैं। (उ) वितर्क, बाना के लिये वितर्क? अर्थात् वितर्क करो कि बाना के तन्तु कौन से हैं?

["पाकः प्रशस्यनाम" (निघं० ३।८) ।प्रशस्य जीवन पवित्र होता है। वत्से=आदित्ये, देखो अधोलिखित[1] चार्ट। बष्कये=बष्क (दर्शने, चुरादिः)+णिच्+अ। सप्त तन्तून्=बुध, शुक्र, पृथिवी, मङ्गल, बृहस्पति, शनैश्चर, चन्द्र। ये सात तन्तु हैं, "ताना" हैं, वस्त्र बुनने में लम्बाई के तन्तु हैं। और बाना, [ओतवै] हैं चौड़ाई के तन्तु। ताना तो हैं बुध आदि ७। इन में बाना हैं प्राणियों के त्रिविध कर्म, अर्थात् शुक्लकर्म, कृष्ण-कर्म, तथा शुक्ल-और-कृष्ण मिश्रित कर्म। ताना के होते भी, बाना के विना, पट नहीं तय्यार हो सकता। मन्त्र में सौरमण्डल अर्थात् सौरपरिवार को पट सदृश कहा है। इस के तय्यार करने के लिये ताना-बाना दोनों की आवश्यकता है। प्राणियों के त्रिविध कर्म जो कि "बाना" रूप है उनके विना, सौरपरिवार रूपी पट किस के लिये हैं। समग्र जगत् भोग-और-अपवर्ग के लिये है, जोकि प्राणियों के कर्मों द्वारा अर्जित होता है।

अचिकित्वांश्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मनो न विद्वान्।
वि यस्तस्तम्भ षडिमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम् ॥७॥

(अत्र) यहां (अचिकित्वान्) अप्रज्ञानी, (न विद्वान्) और न विद्या-वाला मैं (चिकितुषः) प्रज्ञानी (विद्मनः) विद्वानों से (पृच्छामि) पूछता हूं,

---

१. पृथिवी धेनुः, तस्या अग्निर्वत्सः। अन्तरिक्षं धेनुः, तस्य वायुर्वत्सः। द्यौर्धेनुः, तस्या आदित्यो वत्सः। दिशो धेनवः, तासां चन्द्रो वत्सः। अथर्व० ४।३९।२-८॥

कि (यः) जो (इमा) इन (षट् रजांसि) ६ लोकों को (तस्तम्भ) थामे हुए है उस (अजस्य) अजन्मा के (रूपे) स्वरूप में (किम् अपि स्वित् एकम्) क्या कोई एक तत्त्व है ?

[अचिकित्वान् 'केतु प्रज्ञानाम" (निघं० ३।८)। इस से ज्ञात होता है कि वैदिक "कित्" धातु है, जिस का अर्थ प्रज्ञान है। षड् रजांसि="रजांसि वै लोकाः" (निरुक्त ४।३।२९)। सौरमण्डल के तीन लोक हैं, पृथिवी लोक अन्तरिक्ष लोक, और सूर्य लोक। इन से अतिरिक्त तीन लोक हैं द्युलोक, स्वः, तथा नाक। यथा "येन द्यौरुग्रा, पृथिवी च दृढा, येन स्वः स्तभितं, येन नाकः" (यजु० ३२।६) इस मन्त्र में द्यौः, स्वः, और नाकः,—ये तीन लोक कहे हैं। ये मिलकर ६ लोक हैं। "किमपि स्विदेकम्" प्रकृति तत्त्व।

माता पितरमृत आ बभाज धीत्यग्रे मनसा सं हि जग्मे ।
सा बीभत्सुर्गर्भरसा निविद्धा नमस्वन्त इदुप वाकमीयुः ॥८॥

(ऋते) जगत् की यथार्थता के निमित्त (माता) प्रकृति माता ने (पितरम्) सब के पिता परमेश्वर की (आ बभाज) सेवा की। (अग्रे) पहिले (धीती) अपने कर्मों द्वारा और (मनसा) विचार या इच्छा द्वारा (संजग्मे) उस प्रकृति ने परमेश्वर के साथ संगम किया। (सा) वह माता (बीभत्सुः) प्राणियों के लिये कल्याण और सुख चाहने वाली हुई, और (निवित्) ज्ञान वाली हुई ने (गर्भरसा) गर्भ में रसधारण किया। (नमस्वन्तः इद्) नमस्कार करने वालों ने ही (वाकम्) वक्तव्य, कथनीय पिता को (उप ईयुः) प्राप्त किया।

[आ बभाज; भज सेवायाम् (भ्वादिः)। "धीतिं कर्माणि" (निरुक्त १३ (१४)।२ (१)।२१ (१४)। बीभत्सुः=भदि कल्याणे सुखे च (भ्वादि,)+सन् (इच्छायाम्)। प्रकृति माता है अतः उस में इच्छा का आरोप हुआ। निविद्धा=नि+विद् (ज्ञाने)+धा (धारणे), स्त्रियाम्। अथवा नि+व्यध (ताडने, दिवादिः)+क्त+टाप्। प्रलयावस्था में प्राणी सुख और कल्याण से वञ्चित हो रहे हैं। इस चिन्ता से विद्ध हुई प्रकृति माता। परमेश्वर प्राणियों का पिता है, और प्रकृति माता का पति। गर्भरसा=जगत् पैदा करने में परमेश्वर के कामना रूपी रस को गर्भ में धारण करने वाली। प्राणी, पिता के वीर्यरूपी रस और माता के "रजम्" रूपी रस से पैदा होते हैं। इसलिये परमेश्वर की कामना को रस कहा है]।

युक्ता मातासीद्धुरि दक्षिणाया अतिष्ठद् गर्भो वृजनीष्वन्तः ।
अमीमेद् वत्सो अनु गामपश्यद् विश्वरूप्यंऽ त्रिषु योजनेषु ॥९॥

(माता) वेदमाता (दक्षिणायाः) वृद्धि की (धुरि) धुरा में (युक्ता आसीद्) युक्त हुई, जुती और (गर्भः) उपदेष्टा परमेश्वर गर्भरूप में (वृजनीषु) शक्तिशाली प्रजाओं के (अन्तः) अन्तरात्माओं में (अतिष्ठत्) स्थित हुआ। (त्रिषु योजनेषु) तीन के योगयुक्त हो जाने पर, (वत्सः) परमेश्वर के पुत्र ने (विश्वरूप्यम्) विश्व का निरूपण करने वाली (गाम्) वेदवाणी का (अपश्यत्) साक्षात् किया, (अनु) तदनन्तर उसने (अमीमेत्) वेदवाणी का उच्चारण किया।

[मन्त्र ८ के अनुसार प्रकृतिरूपी माता ने जब जगत् को उत्पन्न कर दिया, तब वेदमाता प्रकट हुई, और उस द्वारा मनुष्यों वा ऋषियों की समृद्धि हुई। समृद्धि के पश्चात् बलशाली[1] प्रजाजनों की अन्तरात्माओं में परमेश्वर गर्भरूप में प्रकट हुआ, और अन्तरात्माओं में उसने वेदवाणी को प्रकट किया। वेदवाणी प्रकट हो जाने पर ऋषियों ने वेदवाणी का उच्चारण किया, जबकि उन की इन्द्रियां, मन और बुद्धि तीनों योग सम्पत्ति से सम्पन्न हुए। "वेद माता" यथा **स्तुता मया वरदा वेद माता**" (अथर्व० १९।७१।१)

दक्षिणायाः=दक्ष वृद्धौ (भ्वादिः)। गर्भः=गृणाति उपदिशतीति (उणा० ३।१५२, महर्षि दयानन्द)। गृ शब्दे क्र्यादिः)=गुरुः। इसलिये योगशास्त्र में कहा है **"स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्"** (१।२६)। वृजनीषुः **"वृजनम् बलनाम"** (निघं० २।९)।

वत्सः पुत्रः 'शृण्वन्तु सर्वे अमृतस्य पुत्राः" (यजुर्वेद)। "वत्सः" जिस का कि परमेश्वर में निवास हो, ऐसा अध्यात्म व्यक्ति, अथवा वदतीति वत्सः (उणा० ३।६२), जोकि परमेश्वर के गुणों का कथन करता रहता है] योजनेषु=युजिर् योगे (रुधादिः) तथा युज समाधौ (दिवादिः)]।

तिस्रो मातृस्त्रीन् पितॄन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्त ।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वविदो वाचमविश्वविन्नाम् ॥१०॥

१. मनोबलशाली या आत्मबलशाली।

(तिस्रः मातृः) तीन माताओं का, (त्रीन् पितृन्) तीन पिताओं का (बिभ्रत्) भरण-पोषण करता हुआ (एकः) एक सूर्य, (ऊर्ध्वः) ऊर्ध्वदिशा में (तस्थौ) स्थित है। (ईम्) इसे (न अवग्लापयन्त) विरोधी शक्तियों ने नहीं ग्लानियुक्त किया, नहीं थकाया। (अमुष्य) उस (दिवः) द्युतिमान् की (पृष्ठे) पीठ पर विद्यमान [मुक्तात्मा] (विश्वविदः) विश्व-के-वेत्ता की (वाचम्) वाणी का (मन्त्रयन्ते) गुप्त भाषण करते हैं, या उस के सम्बन्ध में परस्पर मन्त्रणा अर्थात् विचार करते हैं, जो वाणी कि (अविश्वविन्नाम्) सब को विदित नहीं होती।

[मातृः-और-पितृन् के दो अभिप्राय सम्भव हैं, (१) मातृशक्ति सम्पन्न तथा पितृशक्ति सम्पन्न, और (२) स्त्रीलिङ्गी तथा पुंलिङ्गी तत्त्व। तीन माताएं हैं पृथिवी, अन्तरिक्ष, और द्यौः। ये तीन मातृवत् जगत् के पदार्थों का निर्माण करती हैं। "अन्तरिक्ष" शब्द यद्यपि स्त्रीलिङ्गी नहीं, तब भी इसमें स्त्रीलिङ्गी होने की भावना अन्तर्निहित है। "मातरिश्वा" पद की व्याख्या में कहा है कि "मातरि अन्तरिक्षे श्वसिति, मातर्याश्वनितीति वा, वायुः" (निरुक्त ७।७।२६)। इस प्रकार अन्तरिक्ष को भी माता कहा है।

तीन पिता हैं (१) अग्नि, (२) वायु, (३) वरुण अर्थात् मेघ। ये तीनों पितृवत् पालक हैं, और पुंल्लिङ्गी हैं। एक सूर्य ऊंचे स्थित है, स्थित है अतः यह चलता नहीं। इस में गति, पृथिवी के निज अक्ष पर घूमने के कारण प्रतीत होती है। संसार में विरोधी शक्तियां भी हैं जिन द्वारा बुढ़ापा बीमारियां तथा मृत्युएं होती हैं, और हर्षक्षय होता रहता है। परन्तु सूर्य सृष्टि रचना काल से चमक रहा है, मानो निज चमक में हंसता तथा हर्षित रहता है, इस का हर्षक्षय कोई नहीं कर सका। ग्लापयन्त="ग्लै हर्षक्षये" (भ्वादिः)।

सूर्य की पीठ पर मुक्तात्मा रहते हैं, और वहां रह कर वेदवाणी के सम्बन्ध में परस्पर मन्त्रणा करते हैं,--यह वर्णन वेदानुमोदित होने से प्रामाणिक है। सूर्य यद्यपि अत्युष्ण है, परन्तु मुक्तात्मा तो सूक्ष्म शरीर की अपेक्षा भी अतिसूक्ष्म कारण शरीर में वास करते हैं, अतः उन के शरीरों के भस्मीभूत होने की सम्भावना नहीं होती। परमेश्वर की सत्ता भी आदित्य में कही है (यजु० ४०।१७)। वहां मुक्तात्माओं को परमेश्वर का सत्संग भी मिलता है। यजुर्वेद में 'नाक' में साध्य देवों की सत्ता भी कही है। यथा "तेह

नाकं महिमानः सचन्ते यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः' (३१।१६)। "साध्या देवाः" का अभिप्राय है सिद्धदेव अर्थात् मुक्तात्मा। अविश्वविन्नाम्=अ+विश्व+विद् (ज्ञाने)+क्त+टाप्। वेदवाणी और उसके अर्थों का ज्ञान सब को नहीं होवे। जो श्रद्धापूर्वक वेद का स्वाध्याय नित्य करता रहता है उस के लिये "**उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे**" (ऋ० १०।७१।४) द्वारा वेदवाणी निज स्वरूप को प्रकट कर देती है. **इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य** (ऋ०१०।७१।५; तथा निरुक्त १।६।२०)]।

पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने यस्मिन्नातस्थुर्भुवनानि विश्वा।
तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभारः सनादेव न च्छिद्यते सनाभिः ॥११॥

(पञ्चारे चक्रे) पांच अरों वाले चक्र [राशिचक्र] के (परिवर्तमाने) घूमने पर,--(यस्मिन्) जिसमें कि (विश्वा भुवनानि) सब [सौर परिवार के] ग्रह, उपग्रह आदि भुवन (आतस्थुः) स्थित हैं,—(तस्य) उस [राशिचक्र] का (अक्षः) अक्ष [Axle], (भूरिभारः) जिस पर कि बहुत भार है [ग्रह, उपग्रह आदि का] वह (सनात् एव) सनातन काल से हो (सनाभिः) नाभि समेत (न तप्यते) न तप्त होता है, (न छिद्यते) न टूटता ही है, [वह सनातन काल से ही विद्यमान है]।

[द्युलोक में भिन्न-भिन्न ऋतुओं में भिन्न-भिन्न राशियों का उदयास्त होता रहता है। इसलिये राशिचक्र को घूमता हुआ कहा है। राशिचक्र के मध्य में सूर्य की स्थिति है, इसे राशिचक्र की नाभि कहा है। सूर्य भी चक्राकार है, और राशिचक्र भी चक्राकार है। इन दोनों चक्रों को परस्पर जोड़ने वाली शक्ति को अक्ष कहा है। हेमन्त और शिशिर ऋतु के समास अर्थात् एक हो जाने से, ५ ऋतुएं पांच अरे हैं (निरुक्त ४।४।२७)]।

पञ्च पादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम्।
अथेमे अन्य उपरे विचक्षणे सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितम् ॥१२॥

(पञ्च पादम्) पांच पैरों वाले, (पितरम्) पालक, (द्वादशाकृतिम्) १२ आकृतियों वाले, (पुरीषिणम्) जल के कारणीभूत [राशिचक्र] को (दिवः परे अर्धे) द्युलोक के अर्धभाग में (अर्पितम् आहुः) अर्पित हुआ कहते हैं। (अथ) तथा (इमे अन्ये) वे अन्य विद्वान् [राशिचक्र को],— (उ+परे) के अर्धभाग में स्थित (सप्तचक्रे) सात चक्रों वाले (षडरे) और ६

अरों वाले (विचक्षणे) द्रष्टा सूर्य के निमित्त,--(अर्पितम्, आहुः) अर्पित हुआ कहते हैं।

["पञ्चपादम्"=राशिचक्र को पञ्चपाद, ५ ऋतुओं की दृष्टि से कहा है (मन्त्र ११ की व्याख्या देखो)। राशिचक्र की दो-दो राशियों में पृथिवी या सूर्य की गति द्वारा एक-एक ऋतु का निर्माण होता है। ६ वीं और १० वीं तथा ११ वीं और १२ वीं इन चार राशियों में पृथिवी या सूर्य की गति के कारण एक ही वस्तु का निर्माण अभिप्रेत है, **हेमन्त और शिशिर के समास के कारण** (निरुक्त ४।४।२७)। "द्वादशाकृतिम्" राशिचक्र द्वादश आकृतियों वाला है, १२ राशियों के कारण। प्रत्येक राशि अपनी-अपनी भिन्न-भिन्न आकृति वाली है। यथा मेषाकृति, वृषाकृति, मिथुनाकृति, कन्याकृति, कर्काकृति, सिंहाकृति, तुलाकृति, वृश्चिकाकृति, धनुषाकृति, मकराकृति, कुम्भाकृति तथा मीनाकृति। इस प्रकार राशिचक्र द्वादशाकृतिक है।

"परे अर्धे"=अथवा (परे) उत्कृष्टे, (अर्धे) नक्षत्रादिसमृद्धया समृद्धे, द्युभागे[1]। अर्धे=ऋधु वृद्धौ। "पुरीषिणम्"=उदकवन्तम् "पुरीषम् उदकनाम" (निघं० १।१२)। रश्मिचक्र उदक वाला है। सूर्य जब कर्कराशि में तथा मकरराशि में होता है तब-तब वर्षा होती है।

"सप्तचक्रे"=सूर्य सम्बन्धी ७ चक्र हैं, बुध, शुक्र, पृथिवी, चन्द्रमा, मंगल बृहस्पति, शनैश्चर। "सप्तचक्रे", सप्तचक्राणि यस्य, तस्मिन्। "षडरे", राशिचक्र की दो-दो राशियों में सूर्य की गति के कारण एक ऋतु होती है, अतः १२ राशियों में गति के कारण ६ ऋतुएं हुईं। यह वस्तुतः है। परन्तु हेमन्त और शिशिर की सर्दी में एकानुभूति होने के कारण ऋतुएं ५ भी कही जाती हैं। अतः "पञ्चपादम्", और "षडरे" में परस्पर विरोध नहीं]।

द्वादशारं नहि तज्जराय ववर्ति चक्रं परि द्यामृतस्य।
आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थुः॥१३॥

(द्वादशारम्) १२ अरों वाला. (ऋतस्य) सत्यस्वरूप ब्रह्म का (चक्रम्) चक्राकार सूर्य (द्याम् परि) द्युलोक के समीप (ववर्ति) निज अक्ष पर वार-वार घूमता है। (तत्) वह चक्र (जराय नहि) जीर्ण होने के लिये

---

१. सूर्य और राशिचक्र की स्थिति एक ही द्युभाग में होती है। क्योंकि सूर्य की गति राशिचक्र में होती है। अतः दोनों का एक द्युभाग में होना आवश्यक है।

नहीं रचा। (अग्ने) हे अग्नि! (अत्र) इस चक्र में (सप्त शतानि विंशतिः) ७ सौ और बीस (मिथुनासः) मिथुन रूप, नर-मादारूप (पुत्राः) सूर्य के पुत्र (आतस्थुः) स्थित हैं।

[द्वादशारम्=१२ मासरूपी अरे। मिथुनासः=मिथुनरूप, स्त्री-पुरुष रूप, ३६० रात्रियां और ३६० दिन। ये ३६० मिथुन हैं। एक रात्री और एक दिन=एक मिथुन। इन के साथ अग्नि का सम्बन्ध है। अथर्ववेदानुसार वर्ष का प्रारम्भ कृत्तिका नक्षत्र से होता है. और कृत्तिका का देवता अग्नि है (अथर्व० १६।७।२)। ऋतस्य द्वारा जगत् को सात्मक दर्शाया है। तथा वेद की दृष्टि में पुत्र-पुत्रियां,-दोनों पुत्रपद वाच्य हैं]।

सनेमि चक्रमजरं वि वावृत उत्तानायां दश युक्ता वहन्ति।
सूर्यस्य चक्षू रजसैत्यावृतं यस्मिन्नातस्थुर्भुवनानि विश्वा॥१४॥

(सनेमि) ब्रह्मरूपी नेमि वाला, (अजरम्) जीर्ण न होता हुआ (चक्रम्) चक्रसमान गोलाकार सूर्य (विवावृते) निज अक्ष पर घूम रहा है, (उत्तानायाम्) ऊपर तानी हुई दिशा में (युक्ताः दश) जुती हुईं १० शक्तियां (वहन्ति) सूर्य का वहन करती हैं। (सूर्यस्य चक्षुः) सूर्यरूपी आंख (रजसा आवृतम्) प्रकाश से घिरी हुई (एति) आती है, (यस्मिन्) जिस सूर्य के आश्रय में (विश्वा भुवनानि) सब सौर-भुवन (आ तस्थुः) उसके सब ओर स्थित हैं।

[सनेमि=रथ के पहिये की परिधि पर लोहे का चक्कर जिसे नेमि कहते हैं, चढ़ा दिया जाता है जो कि पहिये की रक्षा करता है, उसे टूटने से बचाता है। सूर्यरूपी पहिये की रक्षा करता है ब्रह्म। इसलिये ब्रह्म को नेमि कहा है। दशयुक्ताः=१० अश्व[1] सूर्यचक्र या सूर्य के काल्पनिक रथ का वहन कर रहे हैं। सूर्यस्य चक्षुः=सूर्यरूपी चक्षुः, विकल्पे षष्ठी। यथा पुरुषस्य चैतन्यम्। पुरुष चैतन्य स्वरूप है, तो भी पुरुष में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग होता है (योग १।६) पर व्यासभाष्य। रजसा=ज्योतिषा। "ज्योतीरज उच्यते" (निरुक्त ४।३।१६)। अथवा सूर्य को रास्ता दिखाने वाली ब्रह्मरूपी चक्षु प्रातःकाल की उपासना में प्रकट होती है, जिस में कि ब्रह्माण्डव्यापी सब भुवन स्थित हैं]।

---

१. बुध, शुक्र, पृथिवी, मङ्गल, बृहस्पति, शनैश्चर, यूरेनस, [वरुण] नेपच्यून, धूम्रकेतु तथा पृथिवी सम्बन्धी चन्द्रमा।

स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः पश्यदक्षण्वान्न वि चेतदन्धः ।
कविर्यः पुत्रः स ईमा चिकेत यस्ता विजानात् स पितुष्पितासत् ॥१५

(स्त्रियः सतीः) स्त्रियां होती हुई (तान्=ताः) उन को (मे आहुः) मुझे कहते हैं (पुंसः) कि ये पुमान हैं, (अक्षण्वान्) आंखों वाला (पश्यत्) इस तथ्य को देख सकता है, (अन्धः) अन्धा (न विचेतत्) इस का विवेक नहीं कर सकता। (यः कविः) जो कविता की दृष्टि वाला (पुत्रः) परमेश्वर का पुत्र है (सः) वह (ईम्) इस तथ्य को (आ चिकेत) सम्यक् प्रकार से जानता है। (यः) जो (ताः) उन्हें (विजानात्) विशेषतया जाने (सः) वह (पितुष्पिता) पिता के पिता [के सदृश पूजनीय] (असत्) होवे।

[मन्त्र १३ में "मिथुनासः पुत्राः" का कथन हुआ है। इस द्वारा ३६० रात्रियों और ३६० दिनों को "पुत्राः" कहा है। रात्रियां स्त्रियां हैं। परन्तु वैदिक विद्वान् इन्हें भी "पुंसः" पुमान् कहते हैं। क्योंकि मन्त्र १३ में इन्हें भी पुत्राः कहा है। जो आंखों वाला है वह पूर्वगत मन्त्र में इस तथ्य को देख सकता है, अज्ञानान्ध व्यक्ति इस तथ्य को नहीं देखता। स्त्रियों को भी "पुंसः" और "पुत्राः" कह कर वेद ने स्त्रियों और पुत्रों को समदृष्टि से देखा है, और इन्हें समानाधिकार दिये हैं। मनु की भी यही सम्मति है। यथा—

अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः ।
मिथुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥

(मनु० ९।१३३, १३९); (निरुक्त ३।१।४)।

इस प्रकार मन्त्र १५ का अर्थ प्रकरण के अनुकूल हो जाता है। इस मन्त्र के भिन्न-भिन्न अर्थ सूक्त ९ की समाप्ति पर देखिये]।

साकंजानां सप्तथमाहुरेकज षडिद्यमा ऋषयो देवजा इति ।
तेषामिष्टानि विहितानि धामश स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः ॥१६

(साकंजानाम्) साथ उत्पन्नों में से (सप्तथम्) सातवें को (एकजम्) एक से उत्पन्न हुआ (आहुः) कहते हैं, इन सात में (षट् इत्) ६ ही (यमाः) नियमनकर्त्ता हैं, (ऋषयः) जो कि गति करते हैं, तथा (देवजा इति) देवज हैं। (तेषाम्) उन के (इष्टानि) अभीष्ट (धामशः) उन के स्थानानुसार (विहितानि) विहित किये हैं, निश्चित किये हैं, वे (रूपशः) निज

स्वरूपों के अनुरूप (विकृतानि) प्रकृति के विकार हैं, और (स्थात्रे) शरीर में स्थित जीवात्मा के लिये (रेजन्ते) गति करते हैं।

[महत्तत्त्व अर्थात् विद्या या बुद्धि, तथा ५ ज्ञानेन्द्रियां, और १ मन, ये ७ साथ-साथ रहते हैं। शरीरावस्था में भी साथ-साथ रहते हैं, और जन्म-जन्मान्तरों में भी साथ-साथ रहते हैं, और सूक्ष्मशरीरावस्था में भी साथ-साथ रहते हैं। इन में एक अर्थात् महत्तत्त्व "एक-कारण" प्रकृति से पैदा हुआ है, और शेष ६ अनेक कारणों से पैदा हुए हैं, महत्तत्त्व और अहङ्कार रूपी विकृतियों से। ये ६ शरीर का नियमन करते हैं, गति शील हैं, और परमेश्वर देव से पैदा हुए हैं। शरीर में इन के अभीष्ट स्थान निश्चित कर दिये गए हैं। ये शरीर में स्थित हुए जीवात्मा के भोगापवर्ग के लिये गतिमान् होते हैं, अपने-अपने नियत स्थानों में रहते हुए भी गति करते हैं। महत्तत्त्व तो मोक्षावस्था में भी जीवात्मा के साथ रहता है, जिस द्वारा जीवात्मा मोक्षसुख का अनुभव करता है, और पुनरावर्तन पर शेष ६, महत्तत्त्व से विकृतिरूप में पुनः प्रकट हो जाते हैं]।

अवः परेण पर एनावरेण पदा वत्सं बिभ्रती गौरुदस्थात् ।
सा कद्रीची कं स्विदर्धं परागात् क्वऽस्वित् सूते नहि यूथे अस्मिन् ॥१७

(परेण) पराविद्या के साथ (अवः) अवराविद्या को, और (अवरेण) अवराविद्या के साथ (परः) पराविद्या को निरुपित करने वाले (पदा) मन्त्र पदों के द्वारा (वत्सम्) जीवात्मा का (बिभ्रती) भरण पोषण करती हुई (गौः) वेदवाणी रूप वेद माता (उदस्थात्) सदा उत्थान किये हुए है। (सा) वह वेदवाणी रूप-माता (कद्रीची) कहां से भी आती हुई, (कंस्वित्) किसी ही (अर्धम्) ऋद्धिशील को (परा गात्) उस के दूर रहते हुए भी पहुंच जाती है, (क्वस्वित्) और किसी में ही (सूते) वह स्वरहस्य को प्रकट करती है, (अस्मिन् यूथे) परन्तु इस मानुष-समुदाय में (नहि) वह स्व रहस्य को प्रकट नहीं करती। इस मन्त्र की विशेष व्याख्या के लिये देखो (अथर्व० १३।१।४१,३३)। उदस्थात्=चतुष्पाद् गौ की दृष्टि से उत्थान का वर्णन हुआ है। वत्स को दूध पिलाने के लिये गौ का उत्थान होता है, लेटे या बैठे वह दूध नहीं पिला सकती। वेदमाता भी निज ज्ञान-दुग्ध पिलाने के लिये सदा उत्थान किये हुए है, सदा उद्यत है। मन्त्र की व्याख्या, प्रकरणानुसार, जीवात्मपरक की है, क्योंकि मन्त्र १६ में जीवात्मा तथा जीवात्मा के उपकरणों का वर्णन हुआ है]।

अवः परेण पितरं यो अस्य वेदावः परेण पर एनावरेण ।
कवीयमानः क इह प्र वोचद् देवं मनः कुतो अधि प्रजातम् ॥१८॥

(यः) जो (अस्य) इस ब्रह्माण्ड के (पितरम्) पिता को, (परेण) पर के लोक के साथ (अवः) अवर के लोक से सम्बद्ध (वेद) जानता है; तथा (अवः) अवर के लोक को (परेण) पर के लोक के साथ, और (एना अवरेण) इस अवर लोक के साथ (परः) पर के लोक को भी [परस्पर सम्बद्ध जानता है, ऐसा (कः) कौन (कवीयमानः) अपने आप को वेद काव्य का कवि मानता हुआ (इह) इस जगत् में (प्रवोचत्) प्रवचन करेगा कि (देवम् मनः) दिव्यमन (कुतः) किस से (प्रजातम्) पैदा हुआ है।

ये अर्वाञ्चस्ताँ उ पराच आहुर्ये पराञ्चस्ताँ उ अर्वाच आहुः ।
इन्द्रश्च या चक्रथुः सोम तानि धुरा न युक्ता रजसो वहन्ति ॥१९॥

(ये) जो (अर्वाञ्चः) इधर के लोक हैं (तान् उ) उन्हें (पराचः) परे के लोक (आहुः) कहते हैं, (ये) और जो (पराञ्चः) परे के लोक हैं (तान् उ) उन्हें (अर्वाञ्चः) इधर के लोक (आहुः) कहते हैं। (सोम) हे चन्द्रमा तू (च इन्द्रः) और सूर्य (याः यानि) जिन [रात्रियों और दिनों] का (चक्रथुः) निर्माण करते हो, (तानि) वे (धुरा न युक्ताः) धुरि में जुते हुए (रजसः) रञ्जक पृथिवी लोक के कार्यों का (वहन्ति) वहन करते हैं, सम्पादन करते हैं।

[ब्रह्माण्ड एक बड़ा, या ब्रह्म-का-अण्डाकार गोला है। इस के घटक अवयव जो उधर अर्थात् परे दृष्टिगोचर होते हैं, तथा नीचे और ऊंचे दिखाई देते हैं, वे सापेक्ष दृष्टि से हैं, वस्तुतः न कोई नीचे है, न ऊपर। पृथिवी के वासियों को पृथिवी नीचे और सूर्य, नक्षत्र, तारा ऊंचे दिखाई देते हैं। परन्तु यदि कोई प्राणी नक्षत्रादि में निवास करते होंगे तो उन्हें निज निवास स्थान नीचे दिखाई देंगे और पृथिवी ऊंचे। जैसे अमरीका हमारे लिये पाद तलों की ओर है, परन्तु अमरीका वासियों के लिये हम उन के पाद तलों की ओर हैं।

चन्द्रमा रात्रि का निर्माता है, और सूर्य दिन का। ये रात्रियां और दिन पृथिवी वासियों के कार्यों का सम्पादन कर रहे हैं। रात्रियां विश्राम देती हैं, और दिन कृत्यों में व्यापृत करते हैं]।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति ॥२०॥

जैसे (सुपर्णा) सुन्दर पंखों वाले, (सयुजा) परस्पर सहयोगी, (सखाया) तथा मित्रों के समान वर्तमान (द्वा) दो पक्षी, (समानम्) एक (वृक्षम्) वृक्ष का (परिषस्वजाते) आश्रय करते हैं, (तयोः) उन दोनों में से (अन्यः) एक (पिप्पलम्) उस वृक्ष के पके हुए फल को (स्वादु) स्वादुपन से (अत्ति) खाता है, और (अन्यः) दूसरा (अनश्नन्) न खाता हुआ (अभि चाकशीति) सब ओर देखता रहता है, ऐसे (सयुजा) व्याप्य-व्यापक भाव से परस्पर साथ सम्बन्ध रखने वाले (सखाया) मित्रों के समान वर्तमान जीव-और-ईश, (समानं वृक्षम्) समान नश्वर-देह का (परिषस्वजाते) आश्रय करते हैं, (तयोः) उनमें से (अन्यः) जीव पापपुण्य से उत्पन्न सुखदुःखात्मक (पिप्पलम्) भोग को (स्वादु अत्ति) स्वादुपन से भोगता है, (अन्यः) और दूसरा ब्रह्मात्मा कर्मफल को (अनश्नन्) न भोगता हुआ उस भोगते हुए जीव को (अभि चाकशीति) सब ओर से देखता अर्थात् उस का साक्षी होता है।

यस्मिन् वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधि विश्वे ।
तस्य यदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोन्नशद्यः पितरं न वेद ॥२१॥

जैसे (मध्वदः) मधुर फल खाने वाले (सुपर्णाः) पक्षी (वृक्षे अधि) वृक्ष पर (निविशन्ते) निवेश अर्थात् निवास करते, (च) और (सुवते) सन्तानें पैदा करते हैं, वैसे (यस्मिन् विश्वे) जिस विश्व में जीवात्मा निवास करते, और सन्तानें उत्पन्न करते हैं, (तस्य) उस विश्व रूपी वृक्ष के जिस (पिप्पलम्) फल को (स्वादु) स्वादयुक्त तथा (अग्रे) सर्वश्रेष्ठ (आहुः) कहते हैं (तत् उत्) उसे (न) नहीं वह (नशत्) प्राप्त करता है (यः) जो कि (पितरम्) जगत् के पिता को (न वेद) नहीं जानता।

[स्वाद युक्त और सर्वश्रेष्ठ फल है, अपवर्ग। नशत् व्याप्तिकर्मा (निघं० २।१८)]।

यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भक्षमनिमेषं विदथाऽभिस्वरन्ति ।
एना विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश ॥२२॥

(यत्र) जिस परमेश्वर में, (सुपर्णाः) शोभन कर्मों वाले जीवात्मा (विदथ) ज्ञानपूर्वक (अमृतस्य भक्षम्) मोक्षसुख के भोग को,—(अनिमिषम्) निमेषमात्र काल के व्यवधान के भी विना, अर्थात् सर्वदा (अभिस्वरन्ति) परमेश्वर की साक्षात् स्तुति करते हुए,-प्राप्त करते हैं, (सः) वह (विश्वस्य भुवनस्य) समग्र ब्रह्माण्ड का (एना=इनः) स्वामी, (गोपाः) रक्षक (धीरः) ज्ञानवान् परमेश्वर, (अत्र) इस जीवन में, (पाकम् मा) मुझ पवित्र में (आ विवेश) प्रविष्ट हुआ है, मेरे हृदय में प्रविष्ट हो गया है, साक्षात् हो गया है।

[सुपर्णाः=सुपतनाः सुगमनाः "शोभन कर्मों वाले" (म० दयानन्द)। एना=इनः (ऋ० १।१६४।२१)। मन्त्र २०,२१,२२ के अर्थ, ऋ० १।१६४ पर महर्षि दयानन्दकृत भाष्य के आधार पर किये हैं। धीरः=धीः (ज्ञान) +रः (वाला)। यथा मधु और मधुरः]।

काण्ड ६ । सूक्त ६ । सम्पूर्ण

—:०:—

विशेष व्याख्या

(१)

स्त्रियः सतीस्तां उ मे पुंस आहुः पश्यदक्षण्वान्न वि चेतदन्धः ।
कविर्यः पुत्रः स ईमा चिकेत यस्ता विजानात् स पितुष्पिताऽसत् ॥१५॥
अथर्व० ६।६।१५॥

(स्त्रियः सतीः) हैं तो स्त्रियां, (तान्=ताः) उन्हें [मेधावी लोग] (मे) मेरे प्रति (पुंसः) पुमान् (आहुः) कहते हैं। (अक्षण्वान्) ज्ञानरूपी आंखों वाला व्यक्ति (पश्यत्) इस तथ्य को देखता है, जानता है, (अन्धः) अज्ञानान्ध (न वि चेतत्) इस तथ्य को विवेक पूर्वक नहीं जानता। (यः) जो (पुत्रः) पुत्र (कविः) मेधावी है, वेदकाव्य के रहस्य को जानता है (सः) वह (ईम्) इस तथ्य को (आ चिकेत) ठीक प्रकार से जानता है। (यः) जो (ताः) उन स्त्रियों को (विजानात्) विवेक पूर्वक जाने (सः) वह (पितुः पिता) पिता-के-पिता के सदृश पूजनीय (असत्) हो जाय।

[तान्=यह पद पुंलिङ्ग है। विधेय पुंसः की दृष्टि से। तैत्तिरीय आरण्यक में "तान्" के स्थान में "ताः" पठित। उद्देश्य "स्त्रियः" की दृष्टि से। मन्त्र में पुंसः शब्द यौगिकार्थक है, "पुंस अभिवर्द्धने" (चुरादिः)। मन्त्र में स्त्रियों को अभिवर्द्धनशीला कहा है। विदुषी माताएं गर्भकाल में भी, गर्भस्थ बच्चों में वृद्धिकारक उत्तम संस्कार डाल सकती हैं, और उत्पन्न हुओं में उत्तम शिक्षा द्वारा सत्सन्तान बना कर सामाजिक, राष्ट्रिय, तथा सार्वभौम उन्नति में सहयोग दे सकती हैं]।

(२)

निरुक्तकार यास्काचार्य की दृष्टि में—

"स्त्रिय एवैताः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धहारिण्यस्ता अमुं पुंशब्देन निराह प्राण इति"।

अर्थात् स्त्रियां ही ये हैं जो कि शब्दस्पर्शरूपरसगन्ध हैं, ये इन्द्रियों को अपनी ओर खींचते हैं। मन्त्र इन्हें "पुम्" शब्द द्वारा निर्दिष्ट करता है, जो कि "प्राण" है।

अभिप्राय यह शब्दादि हैं तो इन्द्रियहारी, परन्तु हैं ये प्राणरूप। जैसे

जीवन प्राण पर आश्रित है वैसे जीवन शब्द आदि पर भी आश्रित है। अतः शब्द आदि का सदुपयोग करना चाहिये, दुरुपयोग नहीं। (निरुक्त अ० १३(१४) पा० ३(२), खं० ३३(२०)।

(३)

निरुक्त में "अन्धः" पद की व्याख्या में भी यह मन्त्र उद्धृत किया है, परन्तु व्याख्या नहीं की। निरुक्त भाष्यकार स्वर्गीय स्वामी ब्रह्ममुनि ने व्याख्या में लिखा है। यथा—"सतीः स्त्रियः अध्यात्मज्ञानेन प्राप्तसत्ताका ब्रह्मवादिन्यः स्त्रियो याः सन्ति 'पुंस-तान्-आहुः'। अल्पज्ञानेन पुरुषा स्त्रीत्वं भजन्ते, अधिक ज्ञानेन, आत्मज्ञानेन स्त्रियः पुरुषत्वं पुरुषवत् मानं लभन्ते"।

अर्थात् स्त्रियां होती हुईं भी अध्यात्मज्ञान द्वारा सत्ता प्राप्त ब्रह्म-वादिनी स्त्रियां "पुंसः" होती हैं। अल्पज्ञान द्वारा पुरुष स्त्रीत्व को प्राप्त होते हैं, अधिक ज्ञान, अध्यात्मज्ञान द्वारा स्त्रियां पुरुषत्व को, पुरुषवत् मान को प्राप्त करती हैं। (निरुक्त अ० ५, पा० १, खं० २)।

(४)

ऋग्वेद के भाष्यकार श्री वेंकटमाधव की दृष्टि में—

"स्त्रीपुंविभागः शरीरकृतः। अनात्मविदां स्त्रियः सतीः इमाः मम तत्त्वविदः पुंस आहुः"।

अर्थात् स्त्री और पुम् विभाग शरीरकृत है। अनात्मविदों के लिये ये चाहे स्त्रियां हैं, परन्तु तत्त्ववेत्ता [आत्मदृष्टि से] इन्हें "पुंसः" कहते हैं [आत्मा जो कि शरीरों में है वह पुमान् ही है, पुंल्लिङ्ग ही है] (ऋ० १।१६४।१६)।

(५)

महर्षि दयानन्द की दृष्टि में—

"जिन को (सतीः) विद्या तथा उत्तम शिक्षादि शुभ गुणों से युक्त (स्त्रियः) स्त्रियां कहती हैं, (तामु) उन्हें (पुंसः) [पुरुष जानो]। अभिप्राय जैसे विद्वान् पुत्रों को पढ़ा कर विद्वान् करें वैसे विदुषी स्त्रियां कन्याओं को करें" (भावार्थ) ऋ० १।१६४।१६॥

—:०:—

सूक्त १०

विषय प्रवेश

(१) सूक्त की मन्त्र संख्या २८। इस सूक्त के मन्त्र ऋग्वेद में भी हैं (ऋ० १।१६४।२३-५२)। मन्त्र १-३ अत्यन्त अस्पष्ट हैं, इन की व्याख्या ऋग्वेद भाष्य में म० दयानन्द कृत अर्थों के आधार पर की गई है, जो कि बुद्धिगम्य है। मन्त्र १ में कहा है कि जो गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती की रचना को जानते हैं वे अमृतत्त्व को प्राप्त करते हैं। यह भावना म० दयानन्द कृत अर्थों द्वारा मान्य हो जाती है। ऋग्वेद के अनुवादक मि० विल्सन का कथन है कि गायत्री आदि तीन छन्द वेदों के मुख्य छन्द हैं, इन द्वारा वेद अभिप्रेत हैं, और वेदों का परिज्ञान अमृतत्व के लिये आवश्यक है।

(२) धेनुः (४), अघ्न्या (५), गौ (६) इन पदों द्वारा वेदमाता का निर्देश हुआ है।

(३) ब्रह्म और जीवात्मा का वर्णन, पुनर्जन्म (८,९); जीवात्मा के स्वरूप का साक्षात्कार (११); प्रश्न-उत्तर (१३,१४); मन से बन्धा जीवात्मा (१५, १६); विश्व के घटक, सात-अर्धगर्भ तत्त्व (१७); ऋचाओं द्वारा मुख्य प्रतिपाद्य परमेश्वर (१८); अर्धर्च द्वारा विश्व का निर्माण तथा त्रिपाद् ब्रह्म (१९); अघ्न्या=विदुषी स्त्री (२०); एकपदी, द्विपदी, चतुष्पदी, अष्टापदी, नवपदी वाक् (२१); वर्षा तथा सुपर्णा आदित्यरश्मयः (२२); अपाद् उषा (२३); विराट् परमेश्वर के विविध रूप (२४); शकमय धूम (२५); त्रयः केशिनः (२६); वाक्=चत्वारि पदानि (२७); एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति (२८)।

—:०:—

मन्त्र १-२८। ब्रह्मा। गौः, विराट् अध्यात्मम्, २३ मित्रावरुणौ। त्रिष्टुप्; १, ७, १४, १७, १८ जगती; २१ पञ्चपदातिशक्वरी, २४ चतुष्पदापुरस्कृतिर्भुरिगतिजगती; २, २६, २७ भुरिक्।

यद् गा॑य॒त्रे अधि॑ गाय॒त्रमाहि॑तं॒ त्रैष्टु॑भं॒ वा॒ त्रैष्टु॑भान्नि॒रत॑क्षत।
यद्वा॒ जग॒ज्जग॒त्याहि॑तं प॒दं य इत् तद् वि॒दुस्ते अ॑मृत॒त्वमा॑नशुः ॥१॥

(गायत्रे अधि) गायत्री छन्द वाले मन्त्र में (गायत्रम्) स्तुतिगाने वाले की रक्षा करने वाला (यत्) जो (पदम्[1]) ओ३म् पद वाच्य ब्रह्म (आहितम्) स्थित या कथित है, (त्रैष्टुभात् वा) अथवा त्रिष्टुप् छन्द वाले मन्त्र में (त्रैष्टुभम्) तीनों लोकों में अर्चनीय जिस ओ३म् पद वाच्य ब्रह्म के स्वरूप का परिज्ञान प्राप्त करते हैं, (वा) अथवा (यत्) जो (जगत् पदम्) सर्वगत ओ३म्-पद वाच्य ब्रह्म (जगति[2]) जगत् या जगती छन्द में (आहितम्) स्थित है, (तद्) उसे (ये इत्) जो (विदुः) जानते हैं (ते) वे (अमृतत्वम्) मोक्ष को (आनशुः) प्राप्त करते हैं[3]। (ऋ० १।१६४।२३)।

[मन्त्र में गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती — इन तीन छन्दों का वर्णन हुआ है। निरुक्त[4] में गायत्री छन्द का सम्बन्ध अग्नि के साथ,—जो कि पृथिवी का देवता है—माना है, तथा त्रिष्टुप् छन्द का सम्बन्ध इन्द्र के साथ जो कि अन्तरिक्ष का देवता है,—माना है, और जगती छन्द का सम्बन्ध आदित्य के साथ, जो कि द्युलोक का देवता है, —माना है। इस प्रकार इन तीन छन्दों को वेदों के मुख्य छन्द कहते हैं। इसलिये व्याख्येय मन्त्र में इन्हीं तीन छन्दों के साथ ब्रह्म का वर्णन हुआ है। त्रैष्टुभम् = त्रि + स्तोभति अर्चतिकर्मा (निघं० ३।१)]।

१. सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥ (कठ० उप० २।१५)।

२. मन्त्रपठित 'जगत्याहितम्' के द्विविध पदच्छेद सम्भव हैं। जगति आहितम्, तथा जगती आहितम्।

३. सूक्त १० के मन्त्रों के अर्थ, ऋ० मण्डल १, सूक्त १६४ में व्याख्यात मन्त्रों के आधार पर प्रायः किये हैं (देखो महर्षि दयानन्द भाष्य)।

४. निरुक्त (७।३।८-११)।

गा॒य॒त्रेण॒ प्रति॑ मिमीते अ॒र्कम॒र्केण॒ साम॒ त्रैष्टु॑भेन वा॒कम्।
वा॒केन॑ वा॒कं द्वि॒पदा॒ चतु॑ष्पदा॒ऽक्षरे॑ण मिमते स॒प्त वाणीः॑ ॥२॥

(गायत्रेण) गायत्री छन्द द्वारा (अर्कम्) ऋक् को, (अर्केण) ऋचाओं के समूह द्वारा (साम) साम को, (त्रैष्टुभेन) त्रिष्टुप् छन्द द्वारा (वाकम्) यजुर्वेद को, (द्विपदा) दो पादों वाले, (चतुष्पदा) चार पादों वाले (अक्षरेण) नाश रहित (वाकेन) यजुर्वेद द्वारा (वाकम्) अथर्ववेद को, और (सप्त वाणीः) सात गायत्री आदि छन्दों से युक्त वेदवाणीयों को (प्रति मिमीते) मापते हैं, (मिमते) और उन के ज्ञान को प्राप्त करते हैं (ऋ० १।१६४।२४॥ म० दयानन्द)।

जग॑ता॒ सिन्धुं॑ दि॒व्य॑स्कभायद् रथन्त॒रे सूर्यं॒ पर्य॑पश्यत्।
गा॒य॒त्रस्य॑ स॒मिध॑स्ति॒स्र आ॑हु॒स्ततो॑ म॒ह्ना प्र रि॑रिचे महि॒त्वा ॥३॥

परमेश्वर ने (जगता) जगत् के साथ (सिन्धुम्) नदी, समुद्र को, तथा (दिवि) प्रकाश में और (रथन्तरे) अन्तरिक्ष में (सूर्यम्) सूर्य को (अस्कभायद्) थामा है, (पर्यपश्यत्) और इन सब का निरीक्षण करता है। तथा (गायत्रस्य) स्तुति गायक के त्राणकर्त्ता [परमेश्वर] की (तिस्रः) तीन (समिधः) समिधाएं अर्थात् प्रदीप्त पदार्थ,—अग्नि, विद्युत्, सूर्य सहित चमकते तारावर्ग हैं, (आहुः) यह कहते हैं, परन्तु परमेश्वर (ततः) उस सब से (प्ररिरिचे) अतिरिक्त है (मह्ना, महित्वा) बड़प्पन और महिमा द्वारा, यह भी कहते हैं। (ऋ० १।१६४।२५)।

[रथन्तरे = अन्तरिक्षे, रथों अर्थात् रमणीय विमानों द्वारा जिस में मानो तैरते हुए वैमानिक गति करते हैं। गायत्रस्य = गायतः त्रातुः (देखो "गायत्रे" मन्त्र १)]।

उप॑ ह्वये सु॒दुघां॑ धे॒नुमे॒तां सु॒हस्तो॑ गो॒धुगु॒त दो॑हदेनाम्।
श्रेष्ठं॑ स॒वं स॑वि॒ता सा॑विषन्नो॒ऽभी॑द्धो घ॒र्मस्तदु॒ षु प्र वो॑चत् ॥४॥

(एताम्) इस (सुदुघाम्) सुगमता से दोही जाने वाली (धेनुम्) दुधारु वेदवाणी रूपी गौ को (उपह्वये) मैं आदर पूर्वक स्वीकार करता हूं, (सुहस्तः) स्वच्छ हाथों वाला (गोधुग्) वेदवाणी रूपी गौ का दोहने वाला

(एनाम्) इसे (दोहत्) दोहता है। (सविता) प्रेरणाप्रद परमेश्वर (नः) हमें (श्रेष्ठम्, सवम्) श्रेष्ठ प्रेरणा (साविषत्) देवे, तथा (घर्मः) दिन के सदृश (अभीद्धः) प्रकाशमान परमेश्वर (तद्) उस वैदिक ज्ञान का (सु) उत्तमतया (प्रवोचत्) प्रवचन करे।

[उपहूये=वेदस्वाध्यायी वेद का स्वयं स्वाध्याय करता है, परन्तु परमेश्वर से श्रेष्ठ प्रेरणाओं और ज्ञान की प्राप्ति सब के लिये हो, ऐसी प्रार्थना करता है। कितना उत्तम आदर्श है। सुहस्तः=चतुष्पाद् गौ को दोहने के लिये दोग्धा के हाथ स्वच्छ होने चाहिये। वेदवाणी को दोहने के लिये भी हाथ शुभ कर्मों के करने वाले चाहियें। धेनु=धेट् पाने, दूध पिला सकने वाली दुधारु चतुष्पाद् गौ। तथा "धेनुः वाङ् नाम" (निघं० १।११)। गोधुक्, गौः चतुष्पाद् गौः। तथा "गौः वाङ् नाम" (निघं० १।११)। वेदवाणी भी चार वेदों द्वारा चतुष्पाद् है, चतुर्विध पदों वाली है। "घर्मः अहर्नाम" (निघं० १।९)]।

हिङ्कृण्वती वसुपत्नी वसूनां वत्समिच्छन्ती मनसाऽभ्यागात्।
दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्येयं सा वर्धतां महते सौभगाय ॥५॥

(अघ्न्या) न हनन के योग्य गौ जैसे (हिङ्कृण्वती) हिङ्कारती हुई, और (मनसा) मन से (वत्सम्) बछड़े को (इच्छन्ती) चाहती हुई, (अभ्यागात्) बछड़े के अभिमुख आती है, वैसे (वसूनां वसुपत्नी) सम्पत्तियों की स्वामिनी वेदमाता, निज स्वाध्यायी पुत्र को, मानो स्वेच्छया चाहती हुई, प्राप्त हो जाती है। (इयम्) यह (अघ्न्या) नित्या वेदमाता, (अश्विभ्याम्) स्वाध्यायी स्त्री-पुरुषों के लिये, (पयः) ज्ञान दुग्ध (दुहाम्) देती है, (सा) वह (महते सौभगाय) हमारे महासौभाग्य के लिये (वर्धताम्) बढ़े, सर्वत्र उस का विस्तार हो।

[हिङ्कृण्वती=इस पद द्वारा ऋचाओं पर सामगान को सूचित किया है "ऋच्यधिरूढं साम गीयते"। सामगान के ५ अवयव होते हैं, (१) हिं, (२) प्रस्ताव, (३) उद्गीथ, (४) प्रतिहार, (५) निधन। हिङ्कृण्वती द्वारा पंचविध सामगान का निर्देश किया है जो कि गेयरूपी वैदिक ऋचाओं पर गाया जाता है। वसुपत्नी=वेद में नाना विध सम्पत्तियों का वर्णन है, तथा वसुरूप सदुपदेशों का वर्णन है अतः वह वसुपत्नी है। वेद का नित्य स्वाध्याय होने पर वेद का रहस्य स्वयमेव प्रकट होने लगता है "उतो त्वस्मै

तन्वं विसस्रे" (ऋ० १०।७१।४)। अघ्न्या=न हनन योग्या चतुष्पाद् गौ (निघं० २।११); तथा पदनाम (निघं० ५।५)। गौ के सम्बन्ध में हिङ्कृण्वती=हम्भारती हुई।

गौरमीमेदभि वत्सं मिषन्तं मूर्धानं हिङ्ङकृणोन्मातवा उ।
सृक्वाणं घर्ममभि वावशाना मिमाति मायुं पयते पयोभिः ॥६॥

(गौः) चतुष्पाद् गौ (मिषन्तम्, वत्सम्, अभि) आंखे झपकते हुए बछड़े को लक्ष्य कर के (अमीमेत्) शब्द करती है, और (मातवै उ) उस के परिज्ञान के लिये (मूर्धानम्) उसके सिर पर (हिं अकृणोत्) हिंकारती है, हम्भारती है। (सृक्वाणम्) सरण करने वाले (घर्मम् अभि) धारोष्ण दूध को लक्ष्य कर के (मायुम्) शब्द (मिमाति) करती है, (वावशाना) बार बार शब्द करती है, (पयोभिः) और स्तनों में दूध के साथ (पयते) विचरती है।

[मिषन्तं वत्सम्=इस द्वारा बछड़े की शैशवावस्था को सूचित किया है। मातवै=उसे जताने केलिये कि मैं आ गई हूं, उसके सिर पर हम्भारती है। मा=ज्ञान, यथा प्रमा। सृक्वाणम्=सरणम् (निरुक्त ११।४।४१), अथवा "सृज विसर्गे"+क्वनिप्=उत्पन्नं घर्मम्। वावशाना=वाशृ शब्दे+कानच्। पयते=पय गतौ (भ्वादिः)। हिङ् अकृणोत्=इस द्वारा सामगान को भी सूचित किया है। जिस में ज्ञान चक्षु का उन्मेष हुआ है ऐसे स्वाध्यायी के प्रति वेदवाणी निजस्वरूप को प्रकट करती है, और उस के परिज्ञान के लिये "हिङ्" आदि अवयवों वाले सामगान को प्रकट करती है। उसका दूध है ज्ञानदुग्ध। यथा "उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुः" (ऋक्० १०।७१।५) में वेदवाणी रूपी गौ के ज्ञानदुग्ध को "पीतम्" शब्द द्वारा निर्दिष्ट किया है। "पयोभिः" द्वारा भी ज्ञानदुग्ध अभिप्रेत है। चतुष्पाद् गौ के चार स्तनों द्वारा दुग्ध प्रस्नवित होता है, वेदवाणी के भी ४ वेदरूपी स्तनों द्वारा ज्ञान दुग्ध प्रस्नवित होता है]

अयं स शिङ्क्ते येन गौरभीवृता मिमाति मायुं ध्वसनावधि श्रिता।
सा चित्तिभिर्नि हि चकार मर्त्यान् विद्युद् भवन्ती प्रति वव्रिमौहत ॥

(अयम्, सः) यह वह दृश्यमान मेघ (शिङ्क्ते) अव्यक्त गर्जना करता है, (येन) जिस मेघ द्वारा (अभीवृता) घिरी हुई, और (ध्वसनौ अधि) अवस्रंसन करने वाले अर्थात् बरसने वाले मेघ में (श्रिता) आश्रय पाई हुई (गौः) अन्तरिक्षस्था वाणी (मिमाति) शब्द करती है। (सा) वह वाणी (विद्युत् भवन्ती) विद्युत् रूप होती हुई (वव्रिम्, प्रति औहत) रूप का वहन करती अर्थात् धारण करती है, और (चित्तिभिः) चेतावने वाले शब्दों के द्वारा (मर्त्यान्) मनुष्यों को (नि चकार) शक्ति की दृष्टि से नीचा करती है।

[ध्वसनौ=ध्वंसु अवस्रंसने (भ्वादिः)। शिङ्क्ते=शिजि अव्यक्ते शब्दे (अदादिः)। नि चकार=निकृतान् करोति, अपमानित करती है। वव्रिः रूप नाम (निघं० ३।७)।

अनच्छये तुरगातु जीवमेजद् ध्रुवं मध्य आ पस्त्यानाम्।
जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः ॥८॥

(तुरगातु) शीघ्रगति वाला ब्रह्म, (ध्रुवम्) निश्चल (जीवम्, अनत्) जीवात्मा को प्राणित करता हुआ, (एजत्) और उसे गतिमान् करता हुआ, (पस्त्यानाम्, मध्ये) शरीर-गृहों के मध्य में (आशये) सोता है। (मृतस्य) मरे व्यक्ति का (अमर्त्यः जीवः) नित्य जीवात्मा (स्वधाभिः) स्वनिहित संस्कारों सहित, (मर्त्येन) मर्त्य सूक्ष्म शरीर के साथ, (सयोनिः) समान योनि हुआ (चरति) मातृगर्भों में जाता है।

[ब्रह्म तुरगातु है। यथा "मनसो जवीयः" (यजु० ४०।४) अनत्, एजत् =णिजर्थ अन्तर्भावित है। पस्त्यं गृहनाम (निघं० ३।४) जीवः=जीव प्राण-धारणे (भ्वादिः) प्राण सहित आत्मा, जीवात्मा। "स्वधा" द्वारा सूक्ष्म-शरीरनिष्ठ संस्कारों का निर्देश किया है। शये=शेते, "लोपस्त आत्मने-पदेषु" (अष्टाध्यायी) द्वारा "त्" का लोप हुआ। "शये" के लिये देखो (अथर्व० १०।८।२६)]।

विधुं दद्राणं सलिलस्य पृष्ठे युवानं सन्तं पलितो जगार।
देवस्य पश्य काव्यं महित्वाऽद्या ममार स ह्यः समान ॥९॥

(सलिलस्य) समुद्र की (पृष्ठे) पीठ पर (दद्राणम्) दौड़ते हुए, (युवानं सन्तम्) युवा होते (विधुम्) चन्द्रमा को (पलितः) बुढ़ापा (जगार) निगल

जाता है, खा जाता है, (देवस्य) परमेश्वरदेव के (महित्वा) महिमा युक्त (काव्यम्) वेदकाव्य को देख, देख कि (सः) वह चन्द्रमा (अद्य) आज (ममार) मर गया है, जो कि (ह्यः) गुजरे कल (समान) प्राण सहित था, जीवित था।

[सलिलस्य—इस का अर्थ है जल। मन्त्र में जल वाले अन्तरिक्ष का निर्देश हुआ है। अन्तरिक्ष भी समुद्र है। यथा "स उत्तरस्मादधरं समुद्रमपो दिव्या असृजद् वर्ष्या अभि" (ऋ० १०।९८।५) में "उत्तरस्मात्" द्वारा ऊपर अर्थात् अन्तरिक्ष के समुद्र का कथन किया है। चन्द्रमा इस समुद्र की पीठ पर दौड़ रहा है। इतने सामर्थ्यवान् चन्द्रमा को भी बुढ़ापा निगल जाता है। पलितः का अर्थ है "सिर के पके बाल" अर्थात् बुढ़ापा। यथा "न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः" (मनु)। मन्त्र ८ में मृत्यु और पुनर्जन्म का वर्णन हुआ है, इसे ही चन्द्रमा के जन्म और मरण द्वारा पुनः निर्दिष्ट किया है, और मन्त्र में कहा है कि दिव्यगुणी परमेश्वर के वेदकाव्य को देखा कर, पढ़ा कर यह काव्य बड़े महत्त्व का है, यदि तू जन्म-मृत्यु की शृङ्खला से छूटना चाहता है। काव्यम्—देखो अथर्व० १०।८।३२; ५।१।५; ५।११।२-३]।

य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात्।
स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिरा विवेश ॥१०॥

(यः) जो व्यक्ति (ईम्) इस गर्भाधान को (चकार) करता है (सः) वह (अस्य) इस के परिणाम को (न वेद) नहीं जानता, (सः) वह (मातुः योना) माता की योनि में (परिवीतः) घिरा हुआ, या जरायु से घिरा हुआ, (बहुप्रजाः) बहुत बार पैदा होता हुआ, या बहुत सन्तानों वाला हुआ, (निर्ऋतिः) मूर्तिमान् कष्टरूप हुआ (आ विवेश) संसार में प्रवेश पाता रहता है। और (यः) जो व्यक्ति (ईम्) इस गर्भाधान के परिणाम को (ददर्श) प्रत्यक्ष कर लेता है (तस्मात्) उस कर्म से वह (हिरुक्) अपने आप को अन्तर्हित कर लेता है, पृथक् कर लेता है।

[मन्त्र ८, ९, १० की भावनाएं समान हैं। हिरुक् निर्णीतान्तर्हितनाम (निघं० ३।१५); तथा हिरुक् वर्जने (अव्ययार्थ वेदाङ्गप्रकाश (महर्षि दयानन्द)। निर्ऋतिः, कृच्छ्रापत्तिः, तथा पृथिवी (निरुक्त २।२।८)]।

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम् ।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः ॥११॥

(अनिपद्यमानम्) न नष्ट होते हुए अविनाशी, (गोपाम्) इन्द्रिय आदि के रक्षक, (आ च परा च) समीप के तथा दूर के (पथिभिः) मार्गों द्वारा (चरन्तम्) विचरते हुए जीवात्मा को (अपश्यम्) मैंने साक्षात् कर लिया है, देख लिया है। (सः) वह (सध्रीचीः) साथ-साथ चलने वाली, (सः) वह (विषूचीः) तथा विविध मार्गों में अर्थात् आड़े चलने वाली नस-नाड़ियों द्वारा (वसानः) आच्छादित होता रहता है, और (भुवनेषु अन्तः) भुवनों के भीतर (आ वरीवर्ति) बार-बार आता है।

[प्रकरणानुसार मन्त्र में जीवात्मा का वर्णन है, न सूर्य का, और न परमेश्वर का। जीवात्मा के साक्षात् का अभिप्राय है समाधि द्वारा आत्मा और अनात्मा का विवेकज्ञान]।

द्यौर्नः पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्नो माता पृथिवी महीयम् ।
उत्तानयोश्चम्वोर्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात् ॥१२॥

(द्यौः) द्युलोक या द्युतिमान् सूर्य (नः) हमारा (पिता, जनिता) जन्मदाता पिता है, (अत्र) इस एक जन्मदाता के होते (नाभिः) हम सब का परस्पर सम्बन्ध है। (इयम्) यह (मही) महनीया (पृथिवी) पृथिवी (माता) माता भी (नः बन्धुः) हमें परस्पर में बान्धने वाली है।

(उत्तानयोः) ऊपर की ओर तने हुए, उभरे हुए (चम्वोः) द्यौः अर्थात् द्युलोक और पृथिवी के (अन्तः) अन्तराल अन्तरिक्ष में (योनिः) योनि है। (अत्र) इस योनि में (पिता) पिता अर्थात् द्युलोक या द्युतिमान् सूर्य (दुहितुः) निज दुहिता सम्बन्धी (गर्भम्[1]) गर्भकारी मेघ को (आ अधात्) अन्तरिक्ष में सब ओर फैला कर स्थापित करता है।

[मन्त्र में दो भावनाओं का युगपत् समावेश किया है। इसलिये इन दो भावनाओं को दो सन्दर्भों में पृथक्-पृथक् दर्शाया है। प्रथम सन्दर्भ में हम

१. गर्भः=The offspring of the sky, the vapours and fogs drawn upwards by the rays of the sun during 8 months and sent down again in the rainy season आप्टे। इस प्रकार "गर्भ" का अर्थ "मेघ" भी है।

सब का पिता, द्यौः कहा है, और माता पृथिवी कही है। इस प्रकार इन से उत्पन्न हुए हम सब में परस्पर भाइयों तथा बहिनों का सम्बन्ध द्योतित किया है। दूसरे सन्दर्भ में पिता और दुहिता का कथन हुआ है। सूर्य पिता है और पृथिवी दुहिता। पृथिवी सूर्य के शरीर से विभक्त हुई है, अतः दुहिता है। पिता का कर्तव्य है कि वह निज दुहिता के सम्बन्ध में उचित पति का प्रबन्ध करे। वह उचित पति है अन्तरालस्थ, वर्षा ऋतु का चारों ओर फैला हुआ मेघ[1]। मेघ निज वर्षा रूपी वीर्य द्वारा इस दुहिता में गर्भ स्थापन करता है, जिस से प्राणी और अन्नादि पैदा होते हैं। मन्त्र में यह वर्णन नहीं कि पिता ने दुहिता में गर्भ स्थापन किया। इस अर्थ में दुहितुः के स्थान में दुहितरि पाठ चाहिये।

"उत्तानयोः" द्वारा पृथिवी और द्युलोक को ऊपर की ओर उभरे हुए दर्शाया है। इस द्वारा इन दोनों की आकृति गोलाकार सूचित की है। गोल वस्तु सब ओर उभरी हुई होती है। "चम्वौ द्यावापृथिवीनाम" (निघं० ३। ३०)। नाभिः=णह बन्धने। बन्धु का भी यौगिक अर्थ बन्धन ही है]।

पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः पृच्छामि वृष्णो अश्वस्य रेतः ।
पृच्छामि विश्वस्य भुवनस्य नाभिं पृच्छामि वाचः परमं व्योम ॥१३॥

(त्वा, तुझ से (पृथिव्याः) पृथिवी के (परम् अन्तम्) परम अन्त को (पृच्छामि) मैं पूछता हूं, (पृच्छामि) मैं पूछता हूं (वृष्णः अश्वस्य) वर्षा करने वाले अश्व का रेतस् [वीर्य] कौन सा है? (पृच्छामि) मैं पूछता हूं कि (विश्वस्य भुवनस्य) समग्र भूमि का (नाभिम्) केन्द्र कहां है? (पृच्छामि) मैं पूछता हूं (वाचः) वाणी का (परमं व्योम) परम रक्षक कौन है?

इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतः ।
अयं यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिर्ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम ॥१४॥

(इयम्, वेदिः) यह वेदि (पृथिव्याः) पृथिवी का (परः अन्तः) परला अन्त है, (अयम्) यह (सोमः) चन्द्रमा (वृष्णः) वर्षा करने वाले तथा किरणों से व्याप्त सूर्य का रेतस् अर्थात् वीर्य है। (अयम्, यज्ञः) यह यज्ञ

१. पूर्व पृष्ठ की टिप्पणी १ देखें।

(विश्वस्य भुवनस्य) समग्र भूमण्डल की (नाभिः) नाभि है, (अयम्, ब्रह्म) यह ब्रह्मा है (वाचः) वाणी का (परमम् व्योम) आकाशवत् परम रक्षा स्थान है।

[पृथिवी गोल है। गोल वस्तु का प्रारम्भिक बिन्दु और अन्त का बिन्दु कोई निश्चित नहीं होता। उस का प्रत्येक बिन्दु प्रारम्भिक बिन्दु है और अन्तिम बिन्दु भी। वैदिक धर्म यतः यज्ञप्रधान है, इस दृष्टि से यज्ञ के स्थान वेदि को पृथिवी का परम अन्त कह दिया है।

सोम हैं चन्द्रमा। उस की पूर्णता तथा कलाक्षय सूर्य पर निर्भर है। सूर्य की एक रश्मि "सुषुम्णः[1]" चन्द्रमा को प्रकाशित कर उस के स्वरूप का निर्माण करती है। यह रश्मि है सूर्य का रेतस्, इस से मानो चन्द्रमा का जन्म होता है। इसलिये सोम को सूर्य का रेतस् कहा है। यह सूर्य वर्षा का कारण है, इसलिये इसे "वृष्णः" कहा है, यह रश्मियों से व्याप्त है, इसलिये इसे अश्व कहा है "अशूङ् व्याप्तौ"। वृष्णः का अर्थ रेतस्-वर्षक भी अभिप्रेत है, मानो सूर्यरूपी अश्व, चन्द्रमा पर रश्मिरेतस् की वर्षा करता है।

भुवन की नाभि है यज्ञ। गर्भस्थ शिशु नाभि द्वारा माता से पुष्टि पाता है, भुवन की पुष्टि यज्ञरूपी नाभि द्वारा होती है—यह अभिप्राय है।

वाणियों का सम्बन्ध आकाश के साथ है "आकाशगुणः शब्दः"। वेद-वाणियों का आश्रय या रक्षक ब्रह्मा है, जगत्कर्तृत्वरूप में ब्रह्म है।

न वि जानामि यदिवेदमस्मि निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि।
यदा मागन् प्रथमजा ऋतस्यादिद् वाचो अश्नुवे भागमस्याः ॥१५॥

(यद् इव) जिस प्रकार का (इदम्) यह (अस्मि) मैं हूं (न विजानामि) इस को मैं ठीक प्रकार से नहीं जानता। (निण्यः) निज स्वरूप से अन्तरित हुआ मैं (मनसा सन्नद्धः) मन द्वारा बन्धा हुआ (चरामि) विचरता हूं। (यदा) जब (ऋतस्य) सत्यज्ञान का (प्रथमजाः) प्रथम जनयिता परमेश्वर (मा) मुझे (आगन्) प्राप्त होता है (आत् इत्) इस के पश्चात् ही, (अस्याः वाचः) इस वेदवाणी के (भागम्) फल को (अश्नुवे) मैं प्राप्त

१. "सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः" (यजु० १८।४०)। गन्धर्वः=गां सूर्य-रश्मिं धरतीति। सुषुम्णः=सु+सुम्नम् (सुखनाम, निघं० ३।६)। सूर्य की रश्मि चन्द्रमा पर पड़ कर सुखदायी हो जाती है। गर्मी नहीं देती।

करता हूं, या इस वाणी का मैं भागी बनता हूं। [निण्यम् अन्तर्हित नाम (निघं० ३-२५)]

अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्य१न्यं चिक्युर्न नि चिक्युरन्यम् ॥१६॥

(अमर्त्यः) न मरने वाला जीवात्मा, (मर्त्येन) मरणधर्मा मन के साथ, (सयोनिः) समान मातृयोनि में जाने वाला, (स्वधया) निजनिहित संस्कारों द्वारा (गृभीतः) जकड़ा हुआ, (अपाङ् प्राङ्) अपकृष्ट प्रकृष्ट योनियों में (एति) आता जाता है। (ता) वे दोनों अर्थात् मन और जीवात्मा (शश्वन्ता) शाश्वत काल से परस्पर बन्धे हुए हैं, (विषूचीना) सर्वत्र विचरते हैं, (वियन्ता) विविध योनियों में जाते हैं। लोग (अन्यम्) एक को अर्थात् मन को तो (नि चिक्युः) जानते हैं, (अन्यम्) अन्य अर्थात् जीवात्मा को (न निचिक्युः) नहीं जानते।

[अपाङ् प्राङ् नीच योनि और प्रकृष्ट योनि]।

सप्तार्धगर्भा भुवनस्य रेतो विष्णोस्तिष्ठन्ति प्रदिशा विधर्मणि।
ते धीतिभिर्मनसा ते विपश्चितः परिभुवः परि भवन्ति विश्वतः ॥१७॥

(सप्त अर्धगर्भाः) आधे-गर्भरूप सात—अर्थात् महत्तत्त्व, अहंकार, तथा पञ्चतन्मात्राएं,—(भुवनस्य रेतः) सत्ता वाले संसार के उपादन कारण हैं, वे (विधर्मणि) विविध संसार के धारण में (विष्णोः) सर्वव्यापक परमेश्वर के (प्रदिशा) प्रदिष्ट मार्ग द्वारा या आज्ञा द्वारा (तिष्ठन्ति) स्थित हो रहे हैं। (ते) वे सात (विपश्चितः) मेधावी परमेश्वर के (धीतिभिः) कर्मों के द्वारा, (ते) वे सात (मनसा) मेधावी परमेश्वर के मनन या संकल्प के द्वारा (परिभुवः) सौर पृथिवियों के सब ओर, तथा (विश्वतः) विश्व के (परि-भवन्ति) सब ओर विद्यमान हैं।

[सप्त अर्धगर्भाः=वे सात, प्रकृति से पैदा हुए हैं अतः कार्यरूप हैं, और भूत भौतिक संसार के उपादान हैं अतः कारणरूप भी हैं। अतः इन सात में कार्यरूपता और कारणरूपता अर्ध-अर्ध रूप में स्थित है[1]। धीतिभिः=

१. यथा "मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदादयः प्रकृतिविकृतयः सप्त" (सांख्य-कारिका)। जैसे कि माता के पेट में ५, ६ मासों का शिशु, वीर्य का कार्य और

कर्मों अर्थात् क्रियाशक्तियों के अनुसार, अनुकूल । यथा "स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" (श्वेता० उप० ६।८), परमेश्वर में "ज्ञान बल क्रिया" स्वाभाविकी है, अर्थात् उस में अनन्त ज्ञान, अनन्त बल और अनन्त क्रिया है, जो कि स्वाभाविक है। जो परमेश्वर निष्क्रिय होता तो जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय न कर सकता। इसलिये वह विभु तथापि चेतन होने से उस में क्रिया भी है (सत्यार्थ प्रकाश, सप्तम समुल्लास)। मन्त्र में धीतिभिः द्वारा परमेश्वर की क्रियाओं का वर्णन हुआ है। मनसा=परमेश्वर "सत्यसंकल्प" है। मनुष्य का मन संकल्प--विकल्पी है। धीतिभिः=कर्मभिः (निरुक्त ११।२।१५)]

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद् विदुस्ते अमी समासते ॥१८

(ऋचः) ऋग्वेदादि के प्रतिपाद्य (यस्मिन्) जिस (अक्षरे) अविनाशी (परमे) सर्वोत्तम (व्योमन्) आकाशवत् व्यापक परमेश्वर में (विश्वे देवाः) समस्त सूर्य आदि दिव्य पदार्थ (अधि निषेदुः) आधेयरूप से स्थित हैं, (यः) जो (तत्) उस परब्रह्म को (न, वेद) नहीं जानता वह (ऋचा) ऋग्वेदादि द्वारा (किम्) क्या (करिष्यति) करेगा, (ये इत्) जो ही (तत्) उस परब्रह्म को (विदुः) जानते हैं (ते, अमी) वे ही ये (समासते) सम्यक् स्थिति वाले होते हैं।

ऋचः पदं मात्रया कल्पयन्तोऽर्धर्चेन चाक्लृपुर्विश्वमेजत् ।
त्रिपाद् ब्रह्म पुरुरूपं वि तष्ठे तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः ॥१९॥

(ऋचः) ऋग्वेदादि के प्रतिपाद्य पद [ओ३म्] को, (मात्रया) मात्रा [अ, उ, म्] में (कल्पयन्तः) कल्पित करते हुए वेदों ने, (एजत्) गतिमान् (विश्वम्) विश्व को (अर्धर्चेन) आधी-आधी ऋचा द्वारा (चाक्लृपुः) कल्पित या समर्थित किया है। (त्रिपाद्) तीन मात्राओं द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म (पुरुरूपम्) नानारूपों वाले विश्व पर (वि तष्ठे) अधिष्ठातृरूप में स्थित है, (तेन) उस ब्रह्म द्वारा (चतस्रः) चारों (प्रदिशः) दिशाएं (जीवन्ति) सजीव हो रही हैं।

भावी बच्चे का कारण होता है, इस प्रकार वह विकृति और प्रकृति,—इन दोनों रूपों में होता है। यही अवस्था महदादि की है।

["पदम्" का अभिप्राय है "ओ३म्", अर्थात् तद् द्वारा प्रतिपाद्य ब्रह्म। यथा "सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्यो३मित्येतत्" (कठ उपनिषद्)। इस उपनिषद् मन्त्र में "पदम् और ओ३म्" का वर्णन हुआ है जिस का निर्देश व्याख्येय मन्त्र १९ में, "पदम्-तथा-मात्रया" द्वारा किया प्रतीत होता है।

यजुर्वेद ने आधी-आधी ऋचा द्वारा विश्व और त्रिपाद्-ब्रह्म का पूर्णतया कथन कर दिया है। यथा—"पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" (३१।३); तथा "त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः" (३१।४)। ये दो आधी-आधी ऋचाएं हैं, प्रत्येक आधी ऋचा द्वारा "पाद और त्रिपाद्" का कथन हुआ है]।

सूयवसाद् भगवती हि भूया अधा वयं भगवन्तः स्याम ।
अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती ॥२०॥

(१)

(अघ्न्ये) हे अगम्ये विद्युत् (भगवती) ऐश्वर्यसम्पन्ना तू हो, (अधा) तदनन्तर (वयम्) हम (भगवन्तः) ऐश्वर्यों वाले (स्याम) हों। (सूयवसाद्) तू उत्तम-यवस का भक्षण करती है, (तृणम्) तू निःसार तृणों को (अद्धि) खाया कर, (आ चरन्ती) मेघों में गति करती हुई तू (विश्वदानीम्) सदा (शुद्धम्, उदकम्, पिब) मेघस्थ शुद्ध उदक का पान किया कर। [विद्युत् अगम्या है, मेघीय विद्युत् प्राप्त नहीं की जा सकती। अघ्न्या= अ+हन् (गतौ)+यक् (उणा० ४।११२)। विद्युत् वर्षा द्वारा ऐश्वर्योत्पादिका है। इस के ऐश्वर्यवती होने हम भी ऐश्वर्यवान् होते हैं। यह जब वज्रपात करती है तब उत्तम-यवसों को भी खा जाती है, भस्मीभूत कर देती है। उत्तम यवस हैं फलदार घने वृक्ष आदि। कवित्व भाषा में इसे कहा है कि तू निःसार तृणों को ही खाया कर, उन्हीं पर ही तेरा वज्रपात हुआ करे।

(२)

महर्षि दयानन्द कृत अर्थ—

हे (अघ्न्ये) न हनन योग्य गौ के समान वर्तमान विदुषी! तू (सूयवसात्) सुन्दर सुखों को भोगने वाली, (भगवती) बहुत ऐश्वर्य वाली

(भूयाः) हो, कि (हि) जिस कारण (वयम्) हम लोग (भगवन्तः) बहुत ऐश्वर्ययुक्त (स्याम) हों। जैसे कि (तृणम्) तृण को खा (शुद्धम्) शुद्ध (उदकम्) जल को पी, और दुग्ध देकर बछड़े आदि को सुखी करती है वैसे (विश्वदानीम्) समस्त जिस में दान,—उस क्रिया का (आचरन्ती) सत्य-आचरण करती हुई, (अथो) इस के अनन्तर सुख को (अद्धि) भोग, और विद्यारस को (पिब) पी। [मन्त्र में वाचक लुप्तोपमालंकार है] (ऋ० १।१६४।४०)।

गौरिन्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी।
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा भुवनस्य पंक्तिस्तस्याः समुद्रा अधि वि क्षरन्ति ॥२१॥

(सलिलानि) जलों का (तक्षती) निर्माण करती हुई (गौः) माध्यमिका अर्थात् अन्तरिक्षस्था वाक् [विद्युत्] (मिमाय) शब्द करती है। वह (एकपदी · नवपदी) एक पदी आदि (बभूवुषी) होती हुई (सहस्राक्षरा) हजारों जल धाराओं को क्षरित करती हुई, (भुवनस्य) जल का (पंक्तिः) विस्तार करती है। (तस्याः अधि) उस से (समुद्राः) समुद्र (विक्षरन्ति) अलग-अलग क्षरित होते हैं। [पार्थिव समुद्र वर्षाजनित ही हैं]।

[गौः वाङ्नाम (निघं० १।११)। मिमाय=माङ् माने शब्दे च (जुहोत्यादिः)। तक्षती=कुर्वती (निरुक्त ११।४।४०)। सहस्राक्षरा=बहूदका (निरुक्त ११।४।४०)। तथा अक्षरः, अक्षरम्, अक्षराः=उदकम् (निघं० १।१२)। भुवनस्य; भुवनम् उदक नाम (निघं० १।१२)। पंक्तिः=पचि विस्तारवचने (चुरादिः)।

एकपदी सम्भवतः एकपाद, द्विपाद आदि वाले मन्त्रों में वर्णित वाक् [विद्युत्]। निरुक्त में कहा है कि "एकपदी मध्यमेन, द्विपदी मध्यमेन च आदित्येन च, चतुष्पदी दिग्भिः, अष्टापदी दिग्भिश्चावान्तरदिग्भिश्च, नवपदी दिग्भिश्चावान्तरदिग्भिश्चादित्येन च"। अर्थात् इन ६ स्थानों में वाक् [विद्युत्] के होने के कारण वाक् [विद्युत्] एकपदी आदि है।

तथा गौः=वेद वाक् (गौः वाङ्नाम, निघं० १।११)। यह "एकपाद" आदि मन्त्रों में विभक्त है। यह सहस्राक्षरा अर्थात् हजारों अक्षरों [अर्थात् वर्णमाला के अक्षरों] द्वारा निर्मित है। शतपथ ब्राह्मण में तीन वेदों में १०८००×८० अक्षर कहे हैं (का० १०।४।२।२५)।

सलिलानि=बहुनाम (निघं० ३।१)। "बहु" शब्द विशेषण है, इसका उपयुक्त विशेष्य 'ज्ञान' प्रतीत होता है। अतः मन्त्र २१ में सलिलानि=बहूनि ज्ञानानि। वेदवाक् नानाविध ज्ञानों का निर्माण अर्थात् प्रकाश करती है। वेदवाक् से समुद्र क्षरित हुए हैं ४ वेद, जो कि ज्ञानसागर हैं]।

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति।
त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवीं व्यूदुः ॥२२॥

(हरयः) जल का हरण करने वाली, (सुपर्णाः) शीघ्रता से, पक्षियों के सदृश, उड़ने वाली सूर्यरश्मियां, (कृष्णम्) काले (नियानम्) निचले मार्ग को प्राप्त हो कर, (अपो वसानाः) जल की ओढ़नी ओढे हुई, (दिवम्) द्युलोक की ओर (उत्पतन्ति) उड़ जाती हैं। (ते) वे रश्मियां,—जो कि जल से भरी होती हैं,—(ऋतस्य) जल के (सदनात्) घर से (आववृत्रन्) लौटती हैं, (आत् इत्) तदनन्तर ही (पृथिवीम्) पृथिवी को (घृतेन) घृत द्वारा (व्यूदुः) गीली करती हैं, सींचती हैं। घृतेन=घी द्वारा तथा उदक द्वारा।

[कृष्णं नियानम्=कृष्ण वर्ण निचला-मार्ग है, अन्तरिक्ष। सूर्यरश्मियां प्रकाशमान सूर्य से, अन्तरिक्ष को प्राप्त होकर, पृथिवी से जलाहरण कर, द्युलोक की ओर उड़ जाती हैं। ग्रीष्मकाल में जलाहरण करती रहती हैं,और वर्षा ऋतु में पृथिवी पर जल बरसाती हैं। कविता में वर्णन हुआ है। सुपर्णाः आदित्यरश्मयः। "सुपर्णा रश्मयः" (निघं० १।५)। ऋतस्य, "ऋतम् उदकनाम" (निघं० १।१२)। घृतेन, "घृतम् उदकनाम" (निघं० १।१२)। व्यूदुः=वि+उन्दी क्लेदने (रुधादिः)। घृतेन का अभिप्राय घी भी है। रश्मियां जल सींचती हुई मानो घृत सींचती हैं। जल द्वारा घास,ओषधियां, वनस्पतियां प्रभूत मात्रा में उत्पन्न होती हैं, और इन का भक्षण कर गौएं दुग्ध और घृत प्रदान करती हैं]।

अपादेति प्रथमा पद्वतीनां कस्तद् वां मित्रावरुणा चिकेत।
गर्भो भारं भरत्या चिदस्या ऋतं पिपर्त्यनृतं नि पाति ॥२३॥

(अपाद्) पादरहित उषा (पद्वतीनाम्) पादवाली प्रजाओं से (प्रथमा) पहले (एति) आती है, (मित्रावरुणा) हे सूर्य-और-चन्द्रमा! (वाम्) तुम दोनों में से (कः) कौन (तद्) उस घटना को (आ चिकेत) जानता है।

(चित्) चिद्-ब्रह्म (गर्भः) गर्भीभूत हुआ, (अस्याः) इस उषा के (भारम्) भार को (भरति) धारण करता है, या (भरति=हरति) ढो रहा है। वह गर्भ (ऋतम्) ऋत को (पिपर्ति) पालित करता है, और (अनृतम्) अनृत को (निपाति) पूर्णतया पी जाता है, निगल जाता है।

["अपाद्" उषा पाद वालो प्रजाओं से पहले आती है, अर्थात् उषा तो निज कार्य में व्याप्त हो जाती है जब कि पादों वाले मनुष्य अभी अपने अपने निज कार्यों में व्याप्त नहीं होने पाते। इस तथ्य को न तो सूर्य जानता है, और न चन्द्रमा। क्योंकि जब उषा आती है उस समय द्युलोक में न सूर्य की स्थिति होती है, न चन्द्रमा की। सूर्य उषा के पश्चात् उदित होता है, और चन्द्रमा रात को।

परन्तु प्रश्न यह है कि उषा का संचालन कौन करता है? वेद ने उत्तर दिया कि "चिद्", चिद्-ब्रह्म। चिद्-ब्रह्म उषा में गर्भरूप में स्थित है। जैसे सारथि रथ में स्थित हुआ रथ का संचालन करता है, या ड्राईवर मोटर या इञ्जन में स्थित हुआ मोटर और इञ्जन का संचालन करता है इसी प्रकार चिद्-ब्रह्म उषा के गर्भ में स्थित हुआ उषा का संचालन करता है। पिपर्ति=पॄ पालनपूरणयोः (जुहोत्यादिः)। निपाति=पा को पिब आदेश नहीं हुआ। अतः निपाति[1]=नितरां पिबति, निगिरति]।

विराड् वाग् विराट् पृथिवी विराडन्तरिक्षं विराट् प्रजापतिः ।
विराण्मृत्युः साध्यानामधिराजो बभूव तस्य भूतं भव्यं वशे
स मे भूतं भव्यं वशे कृणोतु ॥२४॥

(विराट्) "विविध जगत् का राजा" परमेश्वर (वाक्) वाक् (बभूव) हुआ है, (विराट् पृथिवी) विराट् पृथिवी हुआ है, (विराट् अन्तरिक्षम्) विराट् अन्तरिक्ष हुआ है, (विराट् प्रजापतिः) विराट् प्रजाओं का अधिपति सूर्य हुआ है। (विराट् मृत्युः) विराट् मृत्युरूप हो कर संहार करता है, वह (साध्यानाम्) साधना करने वालों का (अधिराजः) अधिराज हुआ है, (भूतम्, भव्यम्) भूत और भविष्यत् (तस्य वशे) उस के वश में है, (सः) वह (भूतम् भव्यम्) भूत और भविष्यत् को (मे वशे) मेरे वश में (कृणोतु) करे।

---

१. अथवा निपाति=नि+पै (शोषणे, भ्वादिः) नितरां सुखा देता है। वैदिक प्रयोग।

[मन्त्र में "विराट्" पद पुंलिङ्ग में है। इसलिये "तस्य" पद पुंलिङ्ग पठित है। मन्त्र में रूपकालंकार है, अतः तादात्म्य का वर्णन हुआ है। "मे वशे"—प्रार्थी प्रार्थना करता है कि विराट् उसे ऐसी शक्ति दे कि वह निज भूत और भविष्य का स्वयं यथेच्छ निर्माण करने वाला हो सके]।

शकमयं धूममारादपश्यं विषूवता पर एनावरेण ।
उक्षाणं पृश्निमपचन्त वीरास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ॥२५॥

(शकमयम्) प्रचुरशक्ति वाले (धूमम्) धूम को (आरात्) अपने समीप (अपश्यम्) मैंने देखा है, जो कि (विषूवता) अन्तरिक्ष में फैलने वाले (एना) इस प्रत्यक्ष (अवरेण) अवर धूम से (परः) उत्कृष्ट है। (उक्षाणम्) मुझ में शक्ति सींचने वाले, (पृश्निम्) संसार को स्पर्श किये हुए परमेश्वर को (वीराः) ध्यानवीर योगी (अपचन्त) परिपक्व करते हैं, अभिव्यक्त करते रहे हैं, या अभिव्यक्त करते हैं, (तानि) वे और उस प्रकार के (धर्माणि) धर्म कर्म (प्रथमानि) मुख्य या सर्वश्रेष्ठ (आसन्) रहे हैं, या हैं।

[मन्त्र में दो प्रकार के धूम का वर्णन हुआ है, अवर धूम का और "परः" धूम का। अवर धूम विषूवत् है, अन्तरिक्ष में फैलने वाला है। "विष्लृ व्याप्तौ"। और "परः धूम" समीपवर्ती है। आरात् दूरसामीप्ययोः। मन्त्र में "आरात्" का अर्थ है समीप। द्रष्टा ने इस समीप के धूम को देखा है। यह आध्यात्मिक धूम है, काष्ठ और शकृत्जन्य नहीं। आध्यात्मिक धूम का वर्णन श्वेताश्वतर उपनिषद् में हुआ है। यथा—

नीहारधूमार्कानिलानिलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम् ।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे ॥

अध्याय २, खण्ड ११॥

कोहरा, धूम, सूर्य, अग्नि, वायु, जुगनू या आकाश में द्युतिमान् तारागण, स्फटिक, चान्द—ये रूप योगाभ्यास में प्रथम दृष्टिगोचर होते हैं, जो कि ब्रह्म की अभिव्यक्ति के सूचक होते हैं। मन्त्र २५ में इस आध्यात्मिक धूम का वर्णन हुआ है जिसे कि "परः" कहा है, श्रेष्ठ कहा है।

मन्त्र में "अपचन्त" पद पठित है, जिस का अर्थ "पकाना" प्रतीत होता है, साथ ही "उक्षा" पद भी पठित है जिस का प्रसिद्ध अर्थ है बैल। इन दो शब्दों को देखकर अथर्ववेद के आङ्गलभाषा में अनुवाद के कर्त्ता "ह्विटनी" ने अर्थ किया है "The heroes coocked a spotted ox", अर्थात् "वीरों ने चितकबरे बैल को पकाया"। अपचन्त में पच धातु है। भ्वादिगण में "पचि व्यक्तीकरणे" भी पठित है, जिस का अर्थ है "अभिव्यक्त करना"। श्वेताश्वतर उपनिषद् के प्रमाण में भी "अभिव्यक्तिकराणि" ही पाठ है। इस प्रकार मन्त्र और श्वेताश्वतर में शब्दों और अर्थ में साम्य हो जाता है। "पचि" धातु यद्यपि आत्मनेपदी है, और "नुम्" की अपेक्षा करती है। परन्तु वैदिक प्रयोगों और लौकिक संस्कृत के प्रयोगों में प्रायः वैषम्य पाया जाता है। इसलिये अष्टाध्यायी में "बहुलं छन्दसि" कहा है। साथ ही पाकार्थक "पच्" धातु का अर्थ मन्त्र में संगत नहीं होता। "उक्षाणं पृश्निमपचन्त वीराः" में यदि यह भावना हो कि "वीर" परमेश्वर का परिपाक करते हैं, उसे ध्यानाभ्यास में परिपक्व करते हैं तब "अपचन्त" में "पच्" धातु परिपाक अर्थ में भी संगत प्रतीत होती हैं]।

त्रयः केशिन ऋतुथा वि चक्षते संवत्सरे वपत एक एषाम्।
विश्वमन्यो अभिचष्टे शचीभिर्ध्राजिरेकस्य ददृशे न रूपम् ॥२६॥

(त्रयः) तीन (केशिनः) रश्मियों वाले, (ऋतुथा) अपने-अपने काल के अनुसार (वि चक्षते) निज ख्यातियां प्रकट करते हैं। (एषाम्) इन में से (एकः) एक (संवत्सरे) वर्ष में (वपते) बीजावाप में सहायक होता है। (अन्यः) दूसरा (शचीभिः) निज शक्तियों या कर्मों द्वारा (विश्वम्, अभिचष्टे) विश्व को देखता है। (एकस्य) एक की (ध्राजिः) गति तो (ददृशे) देखी जाती है, अनुभूत होती है (न रूपम्) परन्तु रूप नहीं।

[केशिनः="केशा रश्मयः, तैः तद्वन्तः। काशनाद्वा प्रकाशनाद्वा" (निरुक्त १२।३।२५)। त्रयः=तीन (१) आदित्यः; (२) धूमेनाग्निः; (३) रजसा च मध्यमः (निरुक्त १२।३।२५-२६)। बीजावाप में सहायक होती है मेघीय विद्युत्। विश्व को देखता है आदित्य। रूपरहित है वायु। शची कर्मनाम (निघं० २।१)। "वपते" में "वप्" के दो अर्थ होते हैं, बीजसन्तान और छेदन। प्रथमार्थ में मेघीय विद्युत् अभिप्रेत है। द्वितीयार्थ

में पार्थिवाग्नि। ग्रीष्म ऋतु में पार्थिवाग्नि वनों को जला देती है, उन्हें उच्छिन्न कर देती है]।

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥२७॥

(वाक्) वाणी है (चत्वारि) चार (परिमिता) मापे हुए (पदानि) पद या वाणी के हैं चार स्थान (तानि) उन्हें (मनीषिणः) मन का संयम करने वाले (ब्राह्मणाः) वेदज्ञ (विदुः) जानते हैं। (त्रीणि) तीन पद (गुहा निहिता) गुहा [बुद्धि] में रखे हुए (न इङ्गयन्ति) गति नहीं करते अर्थात् अज्ञात रहते हैं, (वाचः) वाणी के (तुरीयम्) चतुर्थांश को (मनुष्याः) मनुष्य (वदन्ति) बोलते हैं।

[चत्वारि=नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात (महर्षि दयानन्द)। परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी,—ये ४ पद अर्थात् शब्द [सुबन्त, तिङन्त पद] हैं, या चार इनके स्थान हैं। चारों पदों के स्वरूपों और स्थानों को वेदज्ञ मनीषी जानते हैं। तीन पद तो बुद्धि में या गुफा में मानो छिपे रहते हैं। सब मनुष्य केवल वाणी के चतुर्थांश [वैखरी] को बोलते हैं। परा=बुद्धि के अन्तःस्थल में अज्ञायमान संस्कार रूप में वर्तमान वाणी। पश्यन्ती=बुद्धि में विभक्त पदों में निष्ठ वाणी। मध्यमा=मन में अशब्दरूप में निष्ठ विचाररूपा वाक्यवाणी। वैखरी=कण्ठ तथा मुखावयवों द्वारा स्वर अर्थात् कठोर स्वरूपा बोली जाने वाली वाणी]।

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥२८॥

(विप्राः) मेधावीजन (एकम् सत्) एक परमेश्वर को (इन्द्रम्, मित्रम्, वरुणम्, अग्निम्) इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि (आहुः) कहते हैं, (अथो) तथा (सः) वह (दिव्यः) दिव्य गुणों वाला (सुपर्णः) सुपालक तथा (गरुत्मान्[1]) महान्—आत्मा है। विप्र लोग (एकम् सद्) एक होते

---

१. "गरुत्मान्" का अर्थ "गरुड" पक्षी भी होता है (अथर्व० ४।६।३)। सुपर्णः=उत्तम पंखों वाले गरुड़ के समान शक्तिशाली। पक्षियों में सर्वाधिक शक्तिवाला गरुड़ माना गया है।

अथवा "अथापि ब्राह्मणं भवति 'अग्निः सर्वा देवताः' (ऐ० ब्रा० २,३)। तस्य

हुए को (बहुधा) बहुत प्रकार से अर्थात् बहुत नामों से (वदन्ति) कहते हैं, उसे (अग्निम्, यमम्, मातरिश्वानम्) अग्नि, यम और मातरिश्वा (आहुः) कहते हैं।

[मन्त्र में "अग्निम्" पद दो वार पठित है। अतः एक अग्नि पद द्वारा निरुक्तानुसार "अग्रणी" अर्थ उपयुक्त प्रतीत होता है। महर्षि दयानन्द ने दो वार पठित अग्नि की दृष्टि से मन्त्र के भावार्थ में दो प्रकार की अग्नियां कही हैं। यथा "जैसे अग्न्यादि पदार्थों के इन्द्रादि नाम हैं, वैसे एक परमात्मा के अग्नि आदि सहस्रों नाम वर्तमान हैं। जितने परमेश्वर के गुण कर्म स्वभाव हैं, उतने ही इस परमात्मा के नाम हैं"।

(ऋ० १।१६४।४६) । सुपर्णः=सुपालकः [पॄ पालनपूरणयोः] । गरुत्मान्=महान् आत्मा । गरु (गुरु, महान्)+त्मान् (आत्मा) । यथा त्मना=आत्मना (अथर्व० ५।१७।११; ७।५०।१; २०।१६।७ आदि) । गरुत्मान्="गुर्वात्मा, महात्मेति वा" (निरुक्त ७।५।१८)] ।

काण्ड ९ । सूक्त १० । सम्पूर्ण

—:०:—

इदं भूयसे निर्वचनाय । इन्द्रादींश्च अग्निम् आहुः । अथो दिव्यः स सुपतनः गरणं तामादित्यश्च । एकमेव सन्तमग्निं बहुशरीरपरिग्रहात् बहुधा वदन्ति । अग्निम् एव यमम् मातरिश्वानम् च आहुः" (ऋ० १६४।४६, वेङ्कट माधव) । आदित्य मरण-वान् है, आदित्य उदित होते सितारों, चन्द्रमा और रात्री को निगीर्ण कर लेता है।

दसवां काण्ड

सूक्त 1

विषय प्रवेश

(१)

सूक्त में कृत्या और उस के निवारण का वर्णन है। कृत्या का अर्थ है "छेदन", अर्थात् विनाश करने के साधन, "कृती छेदने" (तुदादिः, रुधादिः) कृत्या ४ प्रकार की है।

(१) विषकन्या, जोकि सर्वाङ्ग सुन्दर हो, वधू की तरह सजाई गई हो, जिस का निर्माण विषविद्या के जानने वाले चिकित्सकों, अर्थात् विष वैद्यों द्वारा हुआ हो (मन्त्र १)। विषकन्या उपहाररूप में विद्विष्ट राजा के लिये, शत्रुराष्ट्र के राजा द्वारा भेजी जाती है, ताकि उस के आलिङ्गन आदि से विद्विष्ट राजा विषाक्त हो जाय। राजा के विषवैद्य इस के स्वरूप को पहिचान कर इसे प्रेषक राजा के प्रति वापिस कर देते हैं (नुदामः)।

(२) दूसरी कृत्या है सेनारूप (मन्त्र २, ३, १५)।

(३) तीसरी कृत्या में कृष्यन्न, गौ आदि पशुओं, पुरुषों के खाद्य पदार्थों को विषाक्त कर देना।

जिस के निराकरण का वर्णन मन्त्र (४) में हुआ है। (४) चौथी कृत्या है विद्विष्ट राजा की भूमि में विस्फोटक पदार्थ गाड़ देने। इन्हें "निखातम्" तथा "निचख्नुः" द्वारा निर्दिष्ट किया है (मन्त्र १८,१९)। "वलग" आग्नेय-विस्फोटक है जो वलयाकार में घूमता हुआ अग्नि लगाता है (मन्त्र १९)।

(२)

वैदिक राजा शान्तिप्रिय है, वह सौम्य प्रकृति का है (२२), युद्धप्रिय नहीं। वह इस सम्बन्ध में "पाक" अर्थात् पवित्र विचारों वाला तथा अनागस है, अर्थात् आक्रमण करने वाला नहीं (११)। शत्रुसेना यदि आक्रमण भी करे तो सौम्यप्रकृति का राजा, शान्तिपूर्वक उसे वापिस चले जाने में प्रेरणा करता है; यथा "प्रत्यक् प्रतिप्रहिण्मः" त्वा प्रति प्रहिण्मः" (५, १५), अभिनिवर्तस्व (७), अथेहि यत एयथ (२८) आदि।

(३)

यदि शत्रुसेना हठीली ही हो और वापिस जाने को तय्यार न हो तो, स्वरक्षार्थं युद्ध के लिये, राजा निज सेनाध्यक्ष को युद्धार्थ आज्ञा देवे (६)। सेनाध्यक्ष शत्रुसेना का भञ्जन करे (१५), उस का पूर्ण विनाश करे "मा उच्छिष एषाम्" (१७), योद्धाओं की ग्रीवाओं और पैरों तक को काट दे (२१)।

(४)

वैदिक शस्त्रास्त्र सूक्त में वर्णित—

(१) शम्भु; यह वारुणास्त्र प्रतीत होता है, जिस द्वारा वर्षा करा कर शत्रुओं को भिगो दिया जाय "स्नपयामसि (९), इस द्वारा शत्रु सेना सर्वथा गीली हो जाती है, और उस के युद्धोपकरण गीले हो कर आक्रमण करने में सहायक नहीं रहते, और खाद्य सामग्री भी खराब हो जाती है। शम्भु= "शम् भावयतीति", जो युद्ध को शान्त कर देता है।

(२) ब्रह्मास्त्र। यह बड़ा-घातक अस्त्र है "ब्रह्मनुत्तमपायति", ब्रह्मणा वीर्यावता" (१३,१४)।

(३) उत्तम लोहे की बनी तलवारें "स्वायसा असयः" (२०)।

(४) इन्द्र (विद्युत्) तथा अग्नि के अस्त्र (२१)।

(५) वैद्युतास्त्र "विद्युतं देवहेतिम्, अस्यताम्" (२३)।

(६) तामसास्त्र, जिस द्वारा शत्रुओं में अन्धकार या धुआं फैलाया जाता है (३०)।

(७) जाल द्वारा शत्रुसेना को घेर लेना (३०)।

(५)

वैदिकदृष्टि में युद्ध पापकर्म है, "पापकृते" (२३), तथा "पापम्" (१०)। वैदिक राजा युद्धों के दुष्परिणामों की दृष्टि से युद्धों के सर्वथा परित्याग का संकल्प करता है (३२)।

(६)

युद्ध पर विजय पा कर वैदिक सेनाध्यक्ष, विजितराष्ट्र में, युद्ध में मृत-पुत्रों वाली माताओं को आश्वासन देने और सहानुभूति प्रकट करने के लिये जाये (१०)।

—:०:—

मन्त्र १-३२ । प्रत्यङ्गिरस । कृत्यादूषणम् । अनुष्टुप् । १ महाबृहती; २ विराड्गायत्री; ६ पथ्यापंक्ति,; १२ पंक्तिः; १३ उरोबृहती; १५ चतुष्पदा विराड् जगती; १७,२०,२४ प्रस्तार पंक्तिः; (२० विराड्); १६,१८ त्रिष्टुप्; १६ चतुष्पदा जगती; २२ एकावसाना द्विपादार्ची उष्णिक्; २३ त्रिपदाभुरिग् विषमागायत्री; २८ त्रिपदागायत्री; २९ मध्ये ज्योतिष्मती जगती; ३२ द्व्यनुष्टुब्गर्भा पञ्चपदातिजगती ।

यां कल्पयन्ति वहतौ वधूमिव विश्वरूपां हस्तकृतां चिकित्सवः ।
सारादेत्वप नुदाम एनाम् ॥१॥

(चिकित्सवः) चिकित्सक, (वहतौ) विवाह में (वधूम् इव) वधू के सदृश, (याम्) जिसे (विश्वरूपाम्) सब ओर से सजी-सजाई या विश्व में रूपवती, (हस्तकृताम्) अपने हाथों द्वारा रची गई (कल्पयन्ति) निर्मित करते हैं, (सा) वह (आरात्) यदि समीप (एतु) आए तो (एनाम्) इसे (अप नुदामः) हम परे धकेल देते हैं ।

[मन्त्र में विषकन्या का वर्णन हुआ प्रतीत होता है, और चिकित्सवः द्वारा विषवैद्यों का । परराष्ट्र के राजा के मारने हेतु, शत्रुराज्याधिकारी, निज विषवैद्यों द्वारा निर्मित की गई विषकन्या को प्रेषित करते हैं, ताकि विश्वरूपा कन्या के सम्पर्क द्वारा परराष्ट्र के राजा की मृत्यु हो जाय । आरात् का अर्थ है समीप । आरात् दूरसमीपयोः ।

शीर्षण्वती नस्वती कर्णिनी कृत्याकृता संभृता विश्वरूपा ।
सारादेत्वप नुदाम एनाम् ॥२॥

(शीर्षण्वती) समझदार, (नस्वती, कर्णिनी) नाक, कान आदि अङ्गों वाली, (कृत्याकृता) हिंसा तथा मारने-काटने में कुशल, (संभृता) सैनिक-संभारों अर्थात् शस्त्रास्त्रों द्वारा सम्पुष्ट, (विश्वरूपा) पदाति, अश्वारोही रथी, हस्ती आदि सैनिकाङ्गों के सब रूपों द्वारा सुसज्जित (आ) वह शत्रुसेना (आरात्) यदि हमारे समीप (एतु) आए तो (एनाम्) इसे (अप नुदामः) हम परे धकेल देते हैं ।

[सेना का प्रत्येक सैनिक समझदार होना चाहिये, युद्धविद्या का ज्ञाता होना चाहिये । कोई भी सैनिक विकलाङ्ग तथा विकृताङ्ग न होना चाहिये]।

शूद्रकृता राजकृता स्त्रीकृता ब्रह्मभिः कृता ।
जाया पत्या नुत्तेव कर्तारं बन्ध्वृच्छतु ॥३॥

(शूद्रकृता) शूद्रों द्वारा रची गई, (राजकृता) राजाओं द्वारा रची गई, (स्त्रीकृता) स्त्रियों द्वारा रची गई, (ब्रह्मभिः कृता) ब्राह्मणों द्वारा रची गई कृत्या अर्थात् शत्रुसेना (कर्तारम्) रचने वाले राष्ट्र को (ऋच्छतु) वापिस पहुंचे, (इव) जैसे कि (पत्या) पति द्वारा (नुत्ता) धकेली गई (जाया) पत्नी (कर्तारम्, बन्धु) उत्पादक बन्धु के प्रति लौट आती है ।

[सेना में शूद्र भी होते हैं जो कि सड़कें बनाते, भार ढोते हैं । स्त्रियां खानपान को तय्यार करतीं, विजय के लिये ब्राह्मण पूजा पाठ करते, राजा लोग सैनिक व्यय करते और सैनिकों की भर्ती कराते हैं]।

अनयाऽहमोषध्या सर्वाः कृत्या अदूदुषम् ।
यां क्षेत्रे चक्रुर्यां गोषु यां वा ते पुरुषेषु ॥४॥

(अनया ओषध्या) इस ओषधि द्वारा (अहम्) मैं ने (सर्वाः) सब प्रकार की (कृत्याः) कृत्याओं हिंस्रक्रियाओं को (अदूदुषम्) दूषित कर दिया है, (याम्) जिस कृत्या को (क्षेत्रे) खेत में (चक्रुः) उन्होंने किया है, (याम्) जिसे (गोषु) गौओं में, (याम् वा) या जिसे (ते) तेरे (पुरुषेषु) पुरुषों में किया है ।

[ओषधि का प्रयोग करने वाला विषवैद्य है । मन्त्र में विष प्रयोगरूपी कृत्या का वर्णन है] ।

अघमस्त्वघकृते शपथः शपथीयते ।
प्रत्यक् प्रतिहिण्मो यथा कृत्याकृतं हनत् ॥५॥

(अघकृते) पापकर्म करने वाले के प्रति (अघम्) पाप (अस्तु) हो, जैसे कि (शपथः शपथीयते) शपथ, शपथ करने वाले के प्रति होती है । कृत्या अर्थात् हिंस्रोपकरण को, (प्रत्यक्) उसके प्रेषित करने वाले के प्रति (प्रतिहिण्मः) हम वापिस भेजते हैं (यथा) ताकि वह (कृत्याकृतम्) कृत्या करने वाले का (हनत्) हनन करे ।

[दूसरे के लिये पापकर्म का विचार, विचारकर्त्ता के चित्त को दूषित कर उस के लिये ही परिणामरूप में दुःखदायक होता है । शपथ सदा झूठी

होती हैं, जैसे कि निरुक्त में उदाहरण दिया है कि "अद्या मुरीय यदि यातुधानोऽस्मि" (७।१।३) कि "मैं आज ही मर जाऊं यदि मैं किसी को यातना अर्थात् कष्ट देने वाला हूं"। परन्तु देखा जाता है कि शपथ लेने वाला उसी दिन मरता नहीं। यह झूठी शपथ उस के चित्त में बुरे परिणाम को ही पैदा करती है। जैसे अघ और शपथ, कर्त्ता को ही प्राप्त होते हैं, वैसे शत्रु द्वारा प्रेषित किये गये कृत्योपकरण उस के ही प्रति उसके हननार्थ भेज देने चाहियें, ताकि वह दोबारा वैसे प्रयत्न न कर पाए]।

प्रतीचीन आङ्गिरसोऽध्यक्षो नः पुरोहितः ।
प्रतीचीः कृत्या आकृत्यामून् कृत्याकृतो जहि ॥६॥

(नः) हमारा (अध्यक्षः) सेनाध्यक्ष (पुरोहितः) सेना के अग्रभाग में निहित है, स्थापित किया हुआ है, (प्रतीचीनः) वह शत्रुसेना को पराङ्मुख कर देता है, (आङ्गिरसः) सेनाङ्गों का ज्ञाता है। (कृत्याः) शत्रु की हिंस्र सेनाओं को (प्रतीचीः) पराङ्मुख (आकृत्य) करके (अमून् सेनाकृतः) उन सेनाध्यक्षों[1] और नायकों को (जहि) हे हमारे सेनाध्यक्ष! तू मार डाल।

यस्त्वोवाच परेहीति प्रतिकूलमुदाय्य॒म् ।
तं कृत्येऽभि निवर्त्तस्व माऽस्मानिच्छो अनागसः ॥७॥

(प्रतिकूलम्) शत्रुसेना के प्रतिकूल (उदाय्यम्) उत्थित हुए (त्वा) तुझ को हे हमारे सेनाध्यक्ष! (यः) जो परकीय सेनाध्यक्ष (उवाच) कहता है कि (परेहि इति) परे हट जा, हे (कृत्ये) हमारी सेना! (तम् अभि) उस के संमुख (निवर्तस्व) तू नितरां प्रवृत्त हो, और शत्रु के सेना-

१. सैनिक तो आज्ञा से बन्धे हुए युद्धस्थली पर आते हैं। असल में युद्ध के लिये सेनापति आदि अधिकारी ही अपराधी होते हैं, इस लिये उन्हीं को मारने का कथन हुआ है। जैसे कि अथर्ववेद में अन्यत्र भी आदेश मिलता है। यथा— "जय अमित्रान् प्रपद्यस्व जह्येऽषां वरं वरं मामीषां मोचिकश्चन" ॥ (३।१९।८) "अमित्रों पर विजय पा, और अमित्र सेना में प्रवेश पा, इनमें से प्रत्येक श्रेष्ठ अधिकारी को मार डाल, इन में से कोई भी श्रेष्ठ अधिकारी बच न पाए"। इस प्रकार वेदाज्ञानुसार, विजयानन्तर, सैनिकों का यथा सम्भव हनन न करते हुए, सेना के मुख्य-मुख्य अधिकारियों का हनन करना चाहिये।

ध्यक्ष को कह कि (अनागसः अस्मान्) हम निरपराधियों के [हनन की] (मा इच्छ) इच्छा न कर।

[उदाय्यम्=उद्+अय (गतौ), उद्गत हुए, उत्थित हुए। निरपराधियों के राष्ट्र पर आक्रमण करने का निषेध मन्त्र ने किया है]।

यस्ते परूंषि संदधौ रथस्येवर्भुर्धिया ।
तं गच्छ तत्र तेऽयनमज्ञातस्तेऽयं जनः ॥८॥

(यः) जिस ने [हे परकीय सेना] (ते) तेरे (परूंषि) जोड़ों को (संदधौ) जोड़ा है, (इव) जैसे कि (ऋभुः) तरवीन (धिया) बुद्धिपूर्वक (रथस्य) रथ के जोड़ों को जोड़ता है, (तम्) उस के प्रति (गच्छ) तू चली जा, (तत्र) वहां (ते) तेरा (अयनम्) आश्रय है, घर है, (अयम्) यह (जनः) जनसमुदाय अर्थात् जनपद (ते) तेरे लिये (अज्ञातः) अज्ञात सा हो जाय।

[सेना की कई टुकड़ियां होती हैं, उन को इकट्ठा कर के सेना तय्यार होती है; तथा सेना चतुरंगिणी होती है। प्रत्येक अङ्ग, सेना का एक जोड़ है। इन्हें परस्पर संग्रह कर के मुख्य सेना बनती है। सर्वोपरि सेनापति निज बुद्ध्यनुसार इन्हें परस्पर जोड़ता है]।

ये त्वा कृत्वालेभिरे विद्वला अभिचारिणः ।
शंभ्वी३दं कृत्यादूषणं प्रतिवर्त्म पुनः सरं तेन त्वा स्नपयामसि ॥९॥

हे [कृत्ये!] (ये) जो (विद्वलाः) सत्ताधारी (त्वा कृत्वा) तेरी रचना करके (आलेभिरे) स्वार्थलाभ वाले हुए हैं, वे (अभिचारिणः) अभिचारकर्म करने वाले हैं, अत्याचारी हैं। (शम्भु इदम्) यह शान्ति पैदा करने वाला [वारुणास्त्र] है, (कृत्यादूषणम्) हिंस्रसेना को दूषित कर देता है, और उसे (प्रतिवर्त्म) वापिसी के मार्ग पर (पुनः सरम्) फिर चला देता है, (तेन) उस द्वारा हे हिंस्रसेना! (त्वा) तुझे (स्नपयामसि) हम जलस्नान कराते हैं।

[विद्वलाः=विद् (सत्तायाम्)+वलच्। मन्त्र में वारुणास्त्र का वर्णन है, जोकि युद्ध सम्बन्धी शान्ति पैदा कर देता है। सेना को मारुशस्त्रास्त्रों द्वारा न मार कर, उन पर वारुणास्त्र द्वारा जल वर्षा करने का निर्देश हुआ है, जिस के प्रभाव से सेना वापिस चली जाती है]।

यद् दुर्भगां प्रस्नपितां मृतवत्सामुपेयिम ।
अपैतु सर्वं मत् पापं द्रविणं मोप तिष्ठतु ॥१०॥

(मृतवत्साम्) मृतपुत्रा, (दुर्भगाम्) दुर्भागिन, (प्रस्नपिताम्) शुद्धि-स्नान कराई गई स्त्री को (यद्) जो (उपेयिम) हम प्राप्त हुए हैं, [तो वह कहती है कि] (सर्वम् पापम्) सब पापकर्म (मत्) मुझ से (अपैतु) हटा रहे, [ताकि] (द्रविणम्) धन और बल (मा) मुझे [पुनः] (उपतिष्ठतु) उपस्थित हो जाय ।

[युद्ध में जिस का पुत्र मारा गया है वह मानो दुर्भागिन हुई है । पुत्र के मृत होने पर शुद्धि-स्नान उसे करा दिया है । तदनन्तर विजयी सेनाधिकारी उसे मिले हैं । वह कहती है कि युद्धकर्म पापकर्म है । ऐसे सब कर्म अर्थात् पुत्र को सेना में भर्ती कराना, उसे युद्धविद्या सिखा कर युद्ध के लिये भेजना आदि पापकर्म हैं, इन से मैं भविष्य में पृथक् रहूं । पुत्र के अभाव में मैं धन-हीन भी हो गई हूं, और अकेली होकर मैं अपने आप को निर्बल हुई भी पाती हूं । पुत्र के होते मुझे धन भी प्राप्त होता और शक्ति भी । अन्य किसी अपने पुत्र को मैं सैनिक न बनाऊंगी, ताकि उन की सत्ता में धन और बल मुझे उपस्थित होते रहें । विजयी, सान्त्वनार्थ, जिस भी मृतपुत्रा माता को मिले हैं, उस के उद्गारों का वर्णन मन्त्र में हुआ है । पुत्रादि के मृत हो जाने पर शुद्धिस्नान का विधान मन्त्र में हुआ है । "द्रविणम् धनं वा बलं वा" (निरुक्त ८।१।१)] ।

यत् ते पितृभ्यो ददतो यज्ञे वा नाम जगृहुः ।
संदेश्या३त् सर्वस्मात् पापादिमा मुञ्चन्तु त्वौषधीः ॥११॥

(पितृभ्यः) पितरों के प्रति (यद्) जो (ददतः) दान देते हुए, (वा) या (यज्ञे) राष्ट्ररक्षायज्ञ में दान देते हुए, पितरों ने (ते) तेरा (नाम जगृहुः) नाम ग्रहण किया है, (सर्वस्मात्) सब प्रकार के (संदेश्यात्) सामूहिक-देशहित से हुए (पापात्) दुःखमय या शोकमय पाप से (इमाः ओषधीः) ये ओषधियां (त्वा) तुझे (मुञ्चन्तु) मुक्त कर दें, छुड़ा दें ।

[प्रकरण युद्ध का है । पितर हैं रक्षा करने वाले राज्याधिकारी । इन अधिकारियों को युद्ध निमित्त दान देना, या निज पुत्र देना, अथवा युद्ध को "राष्ट्ररक्षायज्ञ" समझ कर आहुतिरूप में धन और सन्तान अर्पित करना

"पापकर्म" है । क्योंकि जीवन मिला है कर्मफल भोग कर मोक्ष प्राप्त करने के लिये, न कि युद्ध में जीवन की बलि प्रदान करने के लिये । इस प्रदान में अधिकारी पितृवर्ग तेरे नाम को तो उद्घोषित करेंगे ही, ताकि तू यशस्वी हो सके । धनक्षय तथा पुत्रक्षय से तुझे शोक और सन्ताप तो होगा, परन्तु राज्याधिकारी नानाविध ओषधियों द्वारा तेरे शोकसन्ताप को कम करने में यत्नवान् भी होंगे । भारतीय तत्त्ववेत्ताओं का कथन है कि देवता के निमित्त पशु को मार कर तन्निमित्त यज्ञ में मांसाहुति देना भी पापकर्म है । इस के लिये भी प्रायश्चित्त का विधान होता है, चाहे दैवत-कृपा से पशुयज्ञ करने वाले को फल मिल भी जाय । इसलिये राष्ट्रनिमित्त किये गए युद्ध में हिंसा भी पापकर्म ही है] ।

देवैनसात् पित्र्यान्नामग्राहात् संदेश्यादभिनिष्कृतात् ।
मुञ्चन्तु त्वा वीरुधो वीर्येण ब्रह्मण ऋग्भिः पयस ऋषीणाम् ॥१२॥

(देवैनसात्) देवों अर्थात् इन्द्रियों द्वारा किये पाप से, (पित्र्यात्) माता-पिता द्वारा प्राप्त शारीरिक रोग से, (नामग्राहात्) निरपराधी का नाम लेकर उस पर दोषारोपणजन्य पाप से, (संदेश्यात्) देशहित की दृष्टि से किये गये सामूहिक पाप से, (अभिनिष्कृतात्) निष्कृति अर्थात् वैरनिर्यातन के रूप में किये गए पाप से (त्वा) तुझे (वीरुधः) ओषधियां (वीर्येण) निज शक्ति द्वारा (मुञ्चन्तु) मुक्त करें । तथा (ब्रह्मण) ब्रह्मोपासना द्वारा (ऋग्भिः) ऋचाओं के स्वाध्याय द्वारा, (ऋषीणाम्) ऋषियों के (पयस) दुग्ध सदृश सदुपदेशों द्वारा [विद्वज्जन] तुझे पापों से मुक्त करें ।

[ब्रह्मण=ब्रह्मणा [पदपाठे], पयस=पयसा [पदपाठे] । देव= इन्द्रियां] ।

यथा वातश्च्यावयति भूम्या रेणुमन्तरिक्षाच्चाभ्रम् ।
एवा मत्सर्वं दुर्भूतं ब्रह्मनुत्तमपायति ॥१३॥

(यथा) जैसे (वातः) झंझा वायु (भूम्याः रेणुम्) भूमि से धूल को, (च) और (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष से (अभ्रम्) मेघ को (च्यावयति) च्युत कर देती है, (एवा) इसी प्रकार (ब्रह्मनुत्तम्) ब्रह्मोपासना द्वारा

धकेला गया (सर्वम् दुर्भूतम्) सब दुरित (यत्) मुझ से (अपायति) पृथक् हो जाता है। [दुरितम्=दुष्फल पाप]।

अप क्राम नानदती विनद्धा गर्दभीव ।
कर्तॄन् नक्षस्वेतो नुत्ता ब्रह्मणा वीर्यावता ॥१४॥

[हे शत्रु सेना!] (विनद्धा) बन्धन से छुटी हुई (नानदती) रेंकती हुई (गर्दभी इव) गदही की तरह (नानदती) बार-बार चिल्लाती हुई तू (अप क्राम) हट जा, और (वीर्यावता) शक्ति वाले (ब्रह्मणा) वेदवेत्ता हमारे प्रधानमन्त्री[1] द्वारा (नुत्ता) धकेली गई तू (इतः) यहां से (कर्तॄन्) निज रचयिताओं के प्रति (नक्षस्व) गति कर चली जा।

[ब्रह्मणा=अथवा शक्तिशाली ब्रह्मास्त्र द्वारा धकेली गई]।

अयं पन्थाः कृत्येति त्वा नयामोऽभिप्रहितां प्रति त्वा प्र हिण्मः ।
तेनाभि याहि भञ्जत्यनस्वतीव वाहिनी विश्वरूपा कुरूटिनी ॥१५॥

(कृत्ये) हे परकीय हिंस्रसेना! (अयम् पन्थाः) यह मार्ग है, (इति) इस द्वारा (त्वा) तुझे (नयामः[2]) हम ले चलते हैं, (अभि प्रहिताम्) हमारी ओर भेजी हुई (त्वा) तुझे (प्रति) वापिस (प्रहिण्मः) हम भेज देते हैं। (तेन) उस मार्ग द्वारा (अभि याहि) निज देश की ओर चली जा (भञ्जती) हमारी सेना द्वारा भग्न हुई; (अनस्वती) रथों वाली, तथा (विश्वरूपा) युद्ध सम्बन्धी समग्ररूपों अर्थात् सामग्री आदि वाली, और (कुरूटिनी) बुरी तरह से लूट ली गई (वाहिनी[3] इव) बड़ी सेना की तरह।

१. वैदिक शासन व्यवस्थानुसार राजा तो क्षत्रिय होना चाहिये, परन्तु प्रधान-मन्त्री ब्राह्मण।

२. स्वकीय सेना, परकीय सेना को धकेलती हुई, उसे निज राष्ट्र तक पहुंचा दे, उसका विनाश न करे।

३. वाहिनी यद्यपि महाकाया और शक्तिमती होती है, तो भी उसे निज नीति तथा प्रबल शस्त्रास्त्रों के बल पर वापिस लौटा देना चाहिये, और परास्त करना चाहिये। और उसे लूट भी लेना चाहिये।

[वाहिनी=सेना जिस में कि ८१ हाथी हों, ८१ रथ, २४३ अश्व, तथा ४०५ पदाति हों (आप्टे)। कुरूटिनी=कु+रुटि लुटि स्तेये (भ्वादिः)। स्तेय का अभिप्राय यहां लूटना है। प्रबल सेना, परकीय सेना का माल चुराती नहीं, अपितु लूट लिया करती है]।

पराक् ते ज्योतिरपथं ते अर्वागन्यत्रास्मदयना कृणुष्व ।
परेणेहि नवतिं नाव्याऽ३अति दुर्गाः स्रोत्या मा क्षणिष्ठाः परेहि ॥१६॥

[हे परकीय सेना!] (पराक्) परे चले जाना (ते) तेरे लिये (ज्योतिः) ज्योति है, जीवन है, (अर्वाक्) इधर अर्थात् हमारी ओर आना (ते) तेरे लिये (अपथम्) कोई मार्ग नहीं, (अस्मद्) हमसे (अन्यत्र) अन्य स्थान में (अयना) निज आना-जाना (कृणुष्व) कर। (नाव्याः) नौकाओं द्वारा पार करने योग्य, (दुर्गाः) दुर्गम अर्थात् दुःस्तर, (नवतिम्) ९० (स्रोत्याः) प्रवहणशील नदियों को (अति) अतिक्रान्त करके (परेण इहि) परे चली जा, (मा क्षणिष्ठाः) ताकि तू हिंसित न हो, (परेहि) परे चली जा।

[अयना=अयनानि, अय गतौ। क्षणिष्ठाः=अक्षणिष्ठाः, क्षणु हिंसायाम् (तनादिः)। अथवा "मा क्षणिष्ठाः" क्षण भर भी यहां न ठहर। नवतिम्=अथवा "स्तुत्याः" अर्थात् बड़ी; नु (णु स्तुतौ)]।

वात इव वृक्षान् नि मृणीहि पादय मा गामश्वं पुरुषमुच्छिष एषाम् ।
कर्तॄन् निवृत्येतः कृत्येऽप्रजास्त्वाय बोधय ॥१७॥

(कृत्ये) छेदन-भेदन में कुशल हे हमारी सेना! (वातः इव) प्रचण्ड वायु जैसे (वृक्षान्) वृक्षों को वैसे तू परकीय सेना को (निमृणीहि) तोड़-फोड़ और (पादय) गिरा दे, भूशायी कर दे; (एषाम्) इन की (गाम्, अश्वम्, पुरुषम्) किसी भी गौ, अश्व और पुरुष को (मा उच्छिषः) शेष बचा न रख। (इतः निवृत्य) यहां से निवृत्त होकर (कर्तॄन्) शत्रुसेना के रचयिताओं को (अप्रजास्त्वाय) प्रजाहीन हो जाने की (बोधय) सूचना दे।

[कृत्या=कृती छेदने, छेदन-भेदन में कुशल सेना। मृणीहि=मृण हिंसायाम्। बोधय अप्रजास्त्वाय=शत्रुपक्ष को हे हमारी सेना! सूचित कर दे कि उन के अधिकारी शासक प्रजा से रहित कर दिये जायेंगे, अर्थात् उन से राज्य छीन लिया जायेगा। मन्त्र १६ में शत्रुसेना को युद्धस्थल से चले

जाने का आदेश दिया है, परन्तु उसके न जाने पर, निज सेना को आदेश दिया है, उसके सर्वोच्छेद का]।

यां ते बर्हिषि यां श्मशाने क्षेत्रे कृत्यां वलगं वा निचख्नुः।
अग्नौ वा त्वा गार्हपत्येऽभिचेरुः पाकं सन्तं धीरतरा अनागसम् ॥१८

(ते) तेरे (बर्हिषि) जलों में (याम्) जिस (कृत्याम्) हिंस्रकर्म को (श्मशाने) तेरी श्मशान भूमि में, तथा (क्षेत्रे) तेरे खेतों में (याम्) जिस हिंस्रकर्म को [शत्रुजनों ने किया है], (वा) अथवा (वलगम्) वलय में गति करने वाले विस्फोटकों को (नि चख्नुः) तेरी भूमि में नीचे गाड़ा है, (वा) या (गार्हपत्ये अग्नौ) तेरी गार्हपत्य अग्नि के स्थल में [गाड़ा है], या (धीरतराः) तुझ से अधिक बुद्धिमानों अर्थात् शत्रु के अधिक चालाक जनों ने, (पाकम्, अनागसम्) आचार-विचार में पवित्र तथा पापरहित (त्वा) तुझ को (अभि चेरुः) लक्ष्य कर के हिंस्रकर्म किया है, उस सब को [कर्तॄन् बोधय (मन्त्र १७)] इन हिंस्रकर्मों के करने वाले शत्रु अधिकारियों को बोधित करा।

[बर्हिषि; बर्हिः उदकनाम (निघं० १।१२)। मन्त्र में शान्तिप्रिय राजा या प्रधानमन्त्री के सम्बन्ध में शत्रुप्रयुक्त हिंस्रकर्मों का वर्णन हुआ है]।

उपाहृतमनुबुद्धं निखातं वैरं त्सार्यन्वविदाम कर्त्रम्।
तदेतु यत आभृतं तत्राश्व इव वि वर्ततां हन्तु कृत्याकृतः प्रजाम्॥१९॥

(उपाहृतम्) उपहार रूप में दिया गया, (अनुबुद्धम्[1]) तत्पश्चात् जान लिया गया; या (वैरम्) वैर भावना से (त्सारि[2]) गुप्तरूप में (निखातम्) गाड़ा गया (कर्त्रम्) काट-छांट करने वाला विस्फोटक (अनु अविदाम[1]) जिसे कि हम ने जान-पहचान लिया है, (तत्) वह (एतु) चला जाए, अर्थात् भेज दिया जाय (यतः) जहां से (आभृतम्=आहृतम्) लाया गया था, (तत्र) वहां (अश्वः इव) अश्व की तरह वह (निवर्तताम्) करवटें बदले, और (कृत्या कृतः) हिंस्र विस्फोटक के निर्माता की (प्रजाम्) प्रजा का (हन्तु) हनन करे।

---

१. उपहार के, तथा निखात के, स्वरूपों को हम ने जान लिया है।

२. त्सारि=त्सर छद्मगतौ (भ्वादिः); प्रच्छन्नरूप, गुप्तरूप।

[यह निखात विस्फोटक "वलग" है (मन्त्र १८), जो कि वलय गति में चक्कर काटता हुआ घूमता है, जैसे कि अश्व करवटें बदलता है]।

स्वायसा असयः सन्ति नो गृहे विद्मा त कृत्ये यतिधा परूंषि।
उत्तिष्ठैव परेहीतोऽज्ञाते किमिहेच्छसि ॥२०॥

(स्वायसाः) उत्तम लोहे से बनी (असयः) तलवारें (नः) हम में से प्रत्येक के (गृहे) घर में (सन्ति) हैं, (कृत्ये) हे हिंस्र सेना! (विद्म) हम जानते हैं (यतिधा) जितने कि (ते) तेरे (परूंषि) जोड़ हैं। (उत्तिष्ठ एव इत) तू यहां से उत्थान ही कर, (परा इहि) परे चली जा, (अज्ञाते) तेरी शक्ति को हम तृण समान भी नहीं जानते, ऐसी हे परकीय सेना! (इह) यहां (किम्) क्या (इच्छसि) तू चाहती है।

[परूंषि=जोड़। सेना के चार जोड़ होते हैं, जिनके मेल से चतुरङ्गिणी सेना बनती है, हाथी, घोड़े, रथ और पदाति। मन्त्र में कहा है कि तेरे जोड़ों को हम जानते हैं कि वे जितने हैं, उन के लिये तो हमारी तलवारें ही पर्याप्त हैं। तू यहां छावनी डाले हुए है, यहां से उठ जा, यही तेरे लिये उचित है। तेरी शक्ति इतनी अल्प है कि उसे हम तृण समान भी नहीं जानते। तेरी इच्छा पूरी नहीं हो सकती, तू यहां से चली ही जा]।

ग्रीवास्ते कृत्ये पादौ चापि कर्त्स्यामि निर्द्रव।
इन्द्राग्नी अस्मान् रक्षतां यौ प्रजानां प्रजावती ॥२१॥

(कृत्ये) हे हिंस्र सेना! (ते) तेरी (ग्रीवाः) गर्दनों को, (च) और (पादौ अपि) प्रत्येक सैनिक के दो-दो पैरों को भी (कर्त्स्यामि) मैं सेनाध्यक्ष काट दूंगा, (निर्द्रव) तू निकल भाग। (इन्द्राग्नी) हमारा सम्राट् और प्रधानमन्त्री (अस्मान्) हमारी (रक्षताम्) रक्षा करते हैं, (यौ) जो दो कि (प्रजानाम्) हमारी विविध प्रजाओं के (प्रजापती=प्रजापति) प्रजापति हैं।

[इन्द्राग्नी; इन्द्र=सम्राट्। "इन्द्रश्च सम्राट्" (यजु० ८।३७); इन्द्र के सहयोग से अग्नि है "ज्ञान प्रकाश" से प्रकाशित अग्रणी, अर्थात् प्रधान मन्त्री। "इन्द्राग्नी" पद द्वारा वैद्युतास्त्रों (मन्त्र २३) तथा आग्नेयास्त्रों की सत्ता को भी सूचित किया है। प्रजावती=प्रजापति (पैप्पलाद शाखा)]।

सोमो राजाऽधिपा मृडिता च भूतस्य नः पतयो मृडयन्तु ॥२२॥

(सोमः) चन्द्रमा की तरह शीतल अर्थात् सौम्य स्वभाव वाला (नः राजा) हमारा राजा है, जोकि (अधिपाः) हमारा रक्षक है, (च मृडिता) और सुख प्रदाता है, तथा (भूतस्य) पंचभूतों [पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश] के (पतयः) पति, अर्थात् जिन्होंने वैज्ञानिक ढंग द्वारा इन्हें अपने वश में कर लिया हैं वे (नः) हमें (मृडयन्तु) सुखी करें।

[अभिप्राय यह है कि हमारा राजा शन्ति प्रिय है,और हम उस के राज्य में सुखी हैं। यदि कोई परकीय शक्ति हम पर आक्रमण करेगी तो हमारे वैज्ञानिक, हमारी रक्षा कर के हमें सुखी करेंगे। न हम युद्धप्रिय हैं, न किसी राष्ट्र पर आक्रमण करने के अभिलाषी हैं]।

भवाशर्वावस्यतां पापकृते कृत्याकृते। दुष्कृते विद्युतं देवहेतिम् ॥२३॥

(भवाशर्वौ) भव और शर्व (पापकृते) पापकर्म करने वाले, (दुष्कृते) दुष्कर्मी, (कृत्याकृते) हिंस्रसेना के रचयिता के लिये (देवहेतिम्) देवों के अस्त्र (विद्युतम्) विद्युत् को (अस्यताम्) फैंके।

[भव=नागरिक प्रजा का अध्यक्ष। शर्वः=सैनिक प्रजा का अध्यक्ष; शृणातीति शर्वः; शृ हिंसायाम् (क्र्यादिः)। जब आक्रमण करने वाली सेना के साथ युद्ध उपस्थित हो जाय तब भव और शर्व परस्पर सहमति से उस पर वैद्युतास्त्र प्रहार करें। सेना की रचना युद्धार्थ, पापकर्म है और दुष्कर्म है। देवहेतिः=देवाः विजिगीषवः सैनिकाः [दिवु क्रीडाविजिगीषा...... "दिवादिः", भूतस्य पतयो वा (मन्त्र २२)] तेषां हेतिः, अस्त्रम्। विद्युत् =वैद्युतास्त्र (मन्त्र २१)। निज प्रजा में विप्लव-विद्रोह की सम्भावना में, या स्वरक्षा में सेना का निर्माण न पापकर्म है, न दुष्कर्म]।

यद्येयथ द्विपदी चतुष्पदी कृत्याकृता संभृता विश्वरूपा।
सेतोऽष्टापदी भूत्वा पुनः परेहि दुच्छुने ॥२४॥

[हे परकीय सेना] (यदि एयथ) यदि तू आई है (द्विपदी) दो अङ्गों वाली, (कृत्याकृता) हिंस्रसेना के रचयिता द्वारा (संभृता) युद्ध के संभारों द्वारा सम्यक् परिपुष्ट हुई या (विश्वरूपा) समग्ररूपों वाली अर्थात् (चतुष्पदी) चार अङ्गों वाली चतुरङ्गिणी सेना के रूप में आई है; (सा) वह तू

(इतः) यहां से (अष्टापदी भूत्वा) आठ अङ्गों वाली होकर (पुनः) तू फिर (परा इहि) परे चली जा, (दुच्छुने) हे सुख को दुःख बनाने वाली या दुष्ट-कुतियारूप सेना!।

[मन्त्र में सेना के दो स्वरूप निर्दिष्ट किये हैं, द्विपदी अर्थात् पदाति और अश्वारोहियों वाली, तथा चतुष्पदी अर्थात् चार अङ्गों वाली चतुरङ्गिणी सेना। चार अङ्ग हैं पदाति, रथी, अश्वारोही तथा हाथी। यह ही चतुरङ्गिणी सेना का विश्वरूप है। स्वराष्ट्र रक्षक सेनाध्यक्ष, परकीय चतुरङ्गिणी सेना के प्रति कहता है कि तू जो हमारे राष्ट्र में आई है, यहां से परे चली जा, और स्वराष्ट्र रक्षक सेनाध्यक्ष निज प्रबल चतुरङ्गिणी सेना द्वारा परकीय सेना को खदेड़ कर उस का पीछा करता हुआ निज राष्ट्र से उसे निकाल देता है। इस निकालने में दोनों सेनाओं के रूप में यह अष्टापदी सेना हो जाती है। दुच्छुने! "दु+शुनी" (सम्बुद्धौ), अथवा "दुः+शुनम्" (सुख नाम, निघं० ३।६)। द्विपदी, चतुष्पदी में, पाद का अभिप्राय है अंग]।

अभ्यक्ताक्ता स्वरंकृता सर्वं भरन्ती दुरितं परेहि।
जानीहि कृत्ये कर्तारं दुहितेव पितरं स्वम् ॥२५॥

(स्वरंकृता) उत्तम प्रकार से अलंकृत हुई भी [हे परकीया चतुरङ्गिणी सेना] तू (अभ्यक्ता) [रक्त से] लिपी हुई, और (अक्ता) जल द्वारा सिंचित हुई, (सर्वम्, दुरितम्) तथा युद्ध के सब दुष्परिणामों को (भरन्ती) धारण करती हुई (परा इहि) हमारे राष्ट्र से परे चली जा। (कृत्ये) हे हिंस्रसेना! (कर्तारं जानीहि) तू निजकर्त्ता को आश्रय जान, (इव) जैसे कि (दुहिता) पुत्री (स्वम् पितरम्) अपने पिता को आश्रयरूप में जानती है।

[परकीय चतुरङ्गिणी सेना के दो तरीके हैं, लौट जाने में। एक यह कि निज राष्ट्र रक्षक-सेनाध्यक्ष द्वारा खदेड़ी गई, विना युद्ध किये, वह वापिस लौट जाय। दूसरा यह कि वह युद्ध में घायल हो कर पराजित हुई अपने राष्ट्र में चली जाय। पहिले तरीके का वर्णन मन्त्र २४ में हुआ है, और दूसरे का मन्त्र २५ में अक्ता (मन्त्र ९)]।

परेहि कृत्ये मा तिष्ठो विद्धस्येव पदं नय।
मृगः स मृगयुस्त्वं न त्वा निकर्तुमर्हति ॥२६॥

(कृत्ये) हे हिंस्रसेना ! (परा इहि) परे चली जा, (मा तिष्ठः) यहां न ठहर, (विद्धस्य) विद्ध हुए [मृग] के (इव) सदृश (पदम्) मार्ग को (नय) पकड़। (सः) वह परकीय सेनापति (मृगः) मृग है, (त्वम्) और तू हमारा सेनापति (मृगयुः) मृग का शिकारी है। वह परकीय सेनापति (त्वा) तुझे (निकर्तुम्) नीचा करने की (न अर्हति) योग्यता नहीं रखता।

[निकर्तुम्; निकारः=Killing, Humitiation (आप्टे), अर्थात् हनन करना, अपमान करना]।

उत हन्ति पूर्वासिनं प्रत्यादायापर इष्वा ।
उत पूर्वस्य निघ्नतो नि हन्त्यपरः प्रति ॥२७॥

(उत) तथा (पूर्वासिनम्) प्रथम-प्रहार करने वाले को (प्रति आदाय) प्रतीकाररूप में पकड़ कर, (अपरः) दूसरा [स्वराष्ट्र रक्षक सेनापति (इष्वा) इषु द्वारा (हन्ति) मार डालता है। (उत) तथा (पूर्वस्य निघ्नतः) अर्थात् पहिले हत्या करने वाले को, (प्रति) प्रतीकार रूप में, (अपरः) स्वराष्ट्र रक्षक सेनापति (नि हन्ति) नितरां मार डालता हैं।

[मन्त्र में शत्रु के हनन में दो स्थितियों का वर्णन किया है। (१) यदि वह पूर्व प्रहार करे; (२) तथा यदि वह पूर्व हनन करे। प्रथम स्थिति में शत्रु द्वारा प्रथम प्रहार करना ही उस का अपराध है, दूसरी स्थिति में उस द्वारा किया जाने वाला वास्तविक हनन, महा-अपराध है। दोनों स्थितियों में वह मृत्यु-दण्ड के योग्य है। पूर्व प्रहार में यद्यपि कोई व्यक्ति मारा नहीं गया, तो भी प्रहारकर्त्ता की भावना में तो किये जाने वाला प्रहार, मारने के लिये ही तो है। पूर्वासिनम्=पूर्व+असु (प्रक्षेपे), प्रथम अस्त्र फैंकने वाले को]।

एतद्धि शृणु मे वचोऽथेहि यत एयथ ।
यस्त्वा चकार तं प्रति ॥२८॥

[हे शत्रुसेना !] (एतद्) इस (मे) मेरे (वचः) वचन को (हि) निश्चय से (शृणु) तू सुन, (अथ) और (इहि) चली जा (यतः) जहां से (एयथ) तू आई है, (तम् प्रति) उस की ओर [चली जा] (यः) जिसने (त्वा) तेरी (चकार) रचना की है।

अनागोहत्या वै भीमा कृत्ये मा नो गामश्वं पुरुषं वधीः ।
यत्रयत्रासि निहिता ततस्त्वोत्थापयामसि पर्णाल्लघीयसी भव ॥२९॥

(अनागोहत्या) निरपराधों की हत्या (वै) निश्चय से (भीमा) भयप्रद है, (कृत्ये) हे हिंस्रसेना ! (नः) हमारी (गाम्, अश्वम्, पुरुषम्) गौओं, अश्वों और पुरुषों का (वधीः मा) वध न कर। (यत्र यत्र) हमारे राष्ट्र में जहां-जहां (निहिता असि) तू स्थित है (ततः) वहां-वहां से (त्वा) तुझे (उत्थापयामसि) हम उठा देते हैं, (पर्णात्) पत्ते से भी (लघीयसी) लघु (भव) तू हो जा।

[अनागोहत्या=अन् (नञ् नुट्)+आगः (अपराध, पाप, हत्या)। अभिप्राय यह कि हम ने, हे परकीय सेना ! तेरे राष्ट्र के प्रति कोई अपराध नहीं किया, तो भी तू निरपराधियों की हिंसा के लिये हमारे राष्ट्र में आ बैठी है, तू यहां से उठ जा, नहीं तो हम बल प्रयोग द्वारा यहां से तुझे उठा देंगे। हमारी शक्ति के मुकाबले में तू पत्ते से भी हल्की है, तुच्छ है। इस लिये तू शनैः शनैः वापिस होती जा और तेरी छावनियां हमारे राष्ट्र में हल्की होती जांय। "पर्णाल्लघीयसी भव" का अभिप्राय "न त्वाऽहं तृणं मन्ये" की उक्ति के सदृश भी है]।

यदि स्थ तमसावृता जालेनाभिहिता इव ।
सर्वाः संलुप्येतः कृत्याः पुनः कर्त्रे प्र हिण्मसि ॥३०॥

(यदि स्थ) यदि तुम हो (तमसा) तामसिक मनोवृत्तियों से (आवृताः) घिरे हुए, या (जालेन) जाल द्वारा (अभिहिताः इव) बन्धे हुए के सदृश, तो (कृत्याः) हे हिंस्र सेनाओं ! (सर्वाः) तो तुम सब का (संलुप्य) सम्यक् विलोप कर के या तुम सब को लूट करके, (पुनः) फिर (कर्त्रे) तुम्हारे रचयिता के प्रति (प्रहिण्मसि) हम प्रेषित करते हैं, भेज देते हैं।

[संलुप्य; लुप्=विलोप, विनाश; तथा लूट लेना। संलुप्=To loot; Booty (आप्टे)। देखो "कुरूटिनी" (मन्त्र १५)। तमसा=तामसिक मनोवृत्तियों के कारण कर्तव्याकर्तव्य विवेक से शून्य हो। इस लिये

निश्चय करने में अशक्त हो कि इन स्थानों से हटें या न हटें । जालेन= अथवा निज राष्ट्राधिकारियों के आज्ञारूपी जाल में बन्धे से हो कर तुम हस्तगत स्थानों को छोड़ना नहीं चाहते । "तमसा" का यह भी अभिप्राय सम्भव है कि तुम "तामसास्त्र" द्वारा तमस से घिरे हुए हो (अथर्व० मन्त्र ३।२।५), यथा—

अमीषां चित्तानि प्रतिमोहयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि ।
अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैर्ग्राह्यामित्रांस्तमसा विध्या शत्रून् ॥

मन्त्र में "अप्वा" अस्त्र का वर्णन है जो कि शत्रुओं को "तमसा" तमस् द्वारा घेर लेता है । अप्वा=अप+वा (गतौ) या वी (गतौ) ।

कृत्याकृतौ वलगिनोऽभिनिष्कारिणः प्रजाम् ।
मृणीहि कृत्ये मोच्छिषोऽमून् कृत्याकृतौ जहि ॥३१॥

(कृत्ये) हे हमारी हिंस्र सेना ! (कृत्याकृतः) परकीय हिंस्र सेनाओं के रचयिता की, (वलगिनः) वलव में गति करने वाले विस्फोटकों के स्वामी की, (अभिनिष्कारिणः) हमें नष्ट करने वाले या अपमानित करने वाले की (प्रजाम्) प्रजा को (मृणीहि) मार डाल, और (अमून्) उन (कृत्या-कृतः) हिंस्रसेनाओं-के-रचयिताओं का (जहि) हनन कर (मा उच्छिषः) उन में से किसी को शेष न रहने दे ।

[शत्रु सेनाओं को बार-बार हट जाने को प्रेरित करने पर भी जब वे हस्तगत स्थानों को छोड़ जाने में सहमत नहीं हुईं, तब निज सेनाओं को आज्ञा दी कि शत्रु सेनाओं के रचयिताओं के राष्ट्र में प्रवेश कर उन की प्रजा का, और रचयिताओं का वह हनन करे] ।

यथा सूर्यो मुच्यते तमसस्परि रात्रिं जहात्युषसश्च केतून् ।
एवाहं सर्वं दुर्भूतं कर्त्रं कृत्याकृता कृतं हस्तीव रजो दुरितं जहामि ॥३२॥

(यथा) जैसे (सूर्यः) सूर्य (तमसः परि मुच्यते) तमस् अर्थात् अन्धकार से मुक्त हो जाता है, छूट जाता है, और (रात्रिम्, च उषसः) रात्री को, तथा उषा के (केतून्) लाल झण्डों का (जहाति) परित्याग करता है, तथा (इव) जैसे (हस्ती) हाथी (रजः जहाति) देहलग्न मृत्कणों को (जहाति) झाड़ देता है (एवाहम्) ऐसे मैं (कृत्याकृता कृतम्) हिंस्र सेना के रचयिता

द्वारा रचे गए, (दुर्भूतम्) दुःस्थितिकारक तथा (दुरितम्) दुष्परिणामी (सर्वम्) सब (कर्त्रम्) काटने अर्थात् विनाश के साधनभूत युद्ध का (जहामि) परित्याग कर देता हूं ।

[केतून्—झण्डों को । उषा लालिमा लिये होती है । यह लालिमा उसके विजय सूचक लाल झण्डे हैं । कर्त्रम्=कृती छेदने, यथा "कतरो" अर्थात् कैंची । कैंची वस्त्र काटने के लिये होती है । अतः युद्ध को "कर्त्रम्" कहा है, क्योंकि युद्ध में मनुष्यादि प्राणी काटे जाते हैं । दुर्भूतम्=दुष्कृतम्, तथा दुष्टत्वम् आपन्नम् (अथर्व० ३।७।७; ८।१।१२ सायण) ।

मन्त्र में सुला देने वाली दीर्घकालीन कालीरात्रि द्वारा युद्ध को, तथा अल्पकालस्थायी उषा के विजय सूचक लाल झण्डों से प्राप्त संमान द्वारा अल्पकालस्थायी विजय लाभ को रूपित किया है । तथा जैसे सूर्य रात्रि पर विजय पा कर, रात्रि के अन्धकार से छूट कर, अल्पकालस्थायी उषा का भी परित्याग कर, दिन के निर्मल प्रकाश में प्रकाशित हो जाता है, वैसे विजयी राजा भी प्राप्त हुए युद्ध पर विजय पा कर, युद्ध से मुक्त हो कर, जब अल्पकालिक युद्ध के लोभ का भी परित्याग कर देता है, तो वह फिर निज शुभ्र कीर्ति से कीर्तिमान् हो जाता है । तथा भविष्यत् में सैन्य रचना से होने वाले दुष्परिणामों तथा दुःस्थितिसम्पादक युद्धों को इस प्रकार त्याग देता है, जैसे कि हाथी निजदेहलग्न मृत्कणों को झाड़ फैंकता है, ये भावनाएं मन्त्रान्तर्निहित प्रतीत होती हैं] ।

काण्ड १० । सूक्त १ । सम्पूर्ण

—ः०ः—

सूक्त २

विषय-प्रवेश

"अस्मिन् सूक्ते पुरुषस्य अर्थात् मनुष्यस्य माहात्म्यं वर्ण्यते। तच्च तद्भिन्नभिन्नावयववान् को देवोऽकरोद् इत्यादि प्रश्नरूपेण तत्प्रश्नानाम् उत्तर-रूपेण च" (सायण)। अर्थात् पुरुष के भिन्न-भिन्न अवयवों को किस देव ने रचा है, इत्यादि प्रश्नों और उन के उत्तरों के रूप में मनुष्य का माहात्म्य इस सूक्त में दर्शाया है।

याज्ञिक सांप्रदायिक इस सूक्त का विनियोग पुरुषमेध में करते हैं, और स्नात तथा अलंकृत पुरुषपशु का अनुमन्त्रण इस सूत्र द्वारा करते हैं। इस कारण सायणाचार्य ने इन्हें "यज्ञलम्पटाः" कहा है। लम्पट का अर्थ है लोभी तथा कुकर्मी। इस से ज्ञात होता है कि यज्ञकर्मों के विषयों में याज्ञिय सम्प्रदाइयों के विनियोगों के सम्बन्ध में सायणाचार्य भिन्न विचार भी रखते हैं।

(१) मन्त्र १-८ में पुरुष अर्थात् मनुष्य के भिन्न-भिन्न अवयवों के रचयिता के सम्बन्ध में प्रश्न तथा अवान्तर रूप में उत्तर भी दिये हैं।

(२) मन्त्र ९,१० में उग्र-पुरुष के असामर्थ्य का वर्णन दर्शाया है।

(३) मन्त्र ११ में "आपः" पद द्वारा शरीरस्थ "रक्त" का वर्णन हुआ है।

(४) मन्त्र १२-१५, १७ में पुरुष में रूप, प्रज्ञा, चरित्र; प्राणादि वायु; यज्ञ भावना, सत्य, अमृत, मृत्यु, अमृतत्व; शरीररूपी वस्त्र; तथा रेतस् किस ने दिये, ये प्रश्न हैं।

(५) जल के विस्तार, दिन, उषा तथा सायंकाल सम्बन्धी; भूमि के आच्छादन, दिव्, पर्वतों सम्बन्धी; पर्जन्य, सोम, यज्ञ, श्रद्धा सम्बन्धी प्रश्न हैं (मन्त्र १६, १८, १९)।

(६) मन्त्र २०-२३ में श्रोत्रिय, परमेष्ठी, अग्नि, संवत्सर; देवाः, दैवजनीः विशः, नक्षत्र तथा क्षत्र का वर्णन है।

(७) मन्त्र २५ में भूमि, द्यौः, अन्तरिक्ष के व्यवस्थापक ब्रह्म का वर्णन है।

(८) मन्त्र २६,२७ में अथर्वा; मूर्धा और हृदय के संसीवन; मस्तिष्क तथा देव कोश का वर्णन है।

(९) मन्त्र २८-३० में "ब्रह्मपुरुष का वर्णन" और ब्रह्म को पुरुष कहने की उपपत्ति दर्शाई है।

(१०) मन्त्र २९,३० में ब्रह्म की पुरी के ज्ञान के परिणाम दर्शाए हैं।

(११) मन्त्र ३१ में "अष्टाचक्रा-नव द्वारा अयोध्या" तथा "स्वर्गरूप-कोश" का वर्णन हुआ है।

(१२) मन्त्र ३२ में तीन अरों वाले तथा तीन बन्धनों वाले हृदय कोश का, तथा उस में स्थित "आत्मन्वत् यक्ष" का वर्णन हुआ है।

(१३) मन्त्र ३३ में ब्रह्मपुरी में ब्रह्म के प्रवेश का वर्णन है।

—:o:—

मन्त्र १-३३। नारायणः। पार्ष्णिसूक्तम्; पौरुषम्; ब्रह्मप्रकाशनम्। ३१, ३२ साक्षात्परब्रह्मप्रकाशिन्यौ। आनुष्टुभम्; १-४,७,८ त्रिष्टुप्; ६, ११ जगती; २८ भुरिग् बृहती।

केन॒ पार्ष्णी॒ आभृ॑ते॒ पूरु॑षस्य॒ केन॑ मां॒सं संभृ॑तं॒ केन॑ गुल्फौ॑।
केना॒ङ्गुली॒: पेश॑नी॒: केन॒ खानि॒ केनो॑च्छ्ल॒ङ्खौ म॑ध्य॒तः क॒:
प्रति॒ष्ठाम्॑ ॥१॥

(केन) किस ने (पूरुषस्य) पुरुष की (पार्ष्णी) दो एड़ियां (आभृते) पुष्ट की हैं, या जोड़ी हैं; (केन) किस ने (मांसम्, संभृतम्) मांस मढ़ा है, या संगृहीत किया है; (केन) किस ने (गुल्फौ) दो गिट्टे या पैरों और टांगों के मध्यवर्ती जोड़ [Ankles] जोड़े हैं। (केन) किस ने (पेशनीः) सुन्दर अवयवों वाली (अङ्गुलीः) अङ्गुलियां; (केन) किस ने (खानि) इन्द्रियों के गढ़े; (केन) किस ने (उच्छ्लङ्खौ) उछलने के लिये दो तलुवे, (कः) किस ने (मध्यतः) शरीर का मध्यवर्ती (प्रतिष्ठाम्) आधारभूत धड़ जोड़ा है।[1]

१. काण्ड १०।२ अथर्ववेद का केन सुक्त है, जैसे कि "केन० उपनिषद्"।

[आभृते=आ+भृ (भृञ् धारणपोषणयोः)+क्त; अथवा आहृते (हृग्रहोर्भः छन्दसि)। पेशनीः="पेशः रूपनाम" (निघं० ३।७), तथा पिश अवयवे (तुदादिः)। खानि=खनु अवदारणे (भ्वादिः), तथा "पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः (कठ० उप० २।४।१)। खानि में "खनु", तथा व्यतृणत् में "तृद" लगभग समानार्थक हैं। उच्छ्लङ्खा=उत्+शल (गतौ, भ्वादिः)+खम् (अवकाश), प्रपदों और पार्ष्णियों के मध्यवर्ती अवकाश, जो कि उछलने में सहायक होता है। प्रतिष्ठा=गर्दन, दो बाहुमूलों तथा कटिभागों की स्थिति का आधार, धड़।

कस्मान्नु गुल्फावधरावकृण्वन्नष्ठीवन्तावुत्तरौ पूरुषस्य ।
जङ्घे निर्ऋत्य न्यदधुः क्वस्विज्जानुनोः सन्धी क उ तच्चिकेत ॥२

(कस्मात्) किस लिये (पूरुषस्य) पुरुष के (गुल्फौ) गिट्टों या पैरों और टांगों के जोड़ों को (अकृण्वन्) उन्होंने (अधरौ) नीचे की ओर किया है, और (अष्ठीवन्तौ) हड्डियों वाले घुटनों को (उत्तरौ) ऊपर की ओर किया है। (जङ्घे) जङ्घाओं को (निर्ऋत्य) अलग-अलग करके (न्यदधुः) नीचे की ओर [किस लिये] स्थापित किया है। (क्वस्वित्) कहां (जानुनोः) दो घुटनों के (सन्धी) दो जोड़ स्थापित किये हैं, (कः उ) कौन वस्तुतः (तत् चिकेत) उसे सम्यक् रूप में जानता है ? तथा (तत् कः चिकेत) उसे प्रजापति ही सम्यक् रूप में जानता है। यह उत्तर भी सूचित कर दिया है।

[कः="प्रजापतिः", तथा "कौन"। "अकृण्वन्" में बहुवचन द्वारा कर्त्ताओं का बहुत्व दर्शाया है। इस द्वारा जीवात्माएं, उन के कर्मयोग, प्रजापति, तथा अन्य दिव्य शक्तियों को सूचित किया है]।

चतुष्टयं युज्यते संहितान्तं जानुभ्यामूर्ध्वं शिथिरं कबन्धम् ।
श्रोणी यदूरू क उ तज्जजान याभ्यां कुसिन्धं सुदृढं बभूव ॥३॥

(जानुभ्याम्, ऊर्ध्वम्) दो घुटनों से ऊपर की ओर (चतुष्टयम्) चार अवयवों वाला, तथा (संहितान्तम्) प्रान्तों में सन्धियों वाला (शिथिरम्) शिथिल अर्थात् लचकीला और नर्म (कबन्धम्) सिर के साथ बन्धन वाला शरीर (युज्यते) जोड़ों द्वारा जड़ा हुआ है। (श्रोणी) दो कटियां और (यद्) जो (ऊरू) दो जङ्घाएं आदि हैं उन्हें (क, उ) किस ने (जजान)

पैदा किया है (याभ्याम्) जिन द्वारा कि (कुसिन्धम्) शरीर (सुदृढम्) सुदृढ़ (बभूव) हुआ है।

[चतुष्टयम्=चार मुख्य अवयव हैं, (१) फेफड़े, (२) हृदय, (३) पेट, (४) आन्तें। संहितान्तम्=शरीर के चार प्रान्त भाग हैं, दो वे जहां बाहुओं के दो मूल जुड़े हुए हैं, और दो वे जहां दो श्रोणियां जुड़ी हुई हैं। कबन्धम्=इस शब्द का प्रसिद्ध अर्थ है "सिर से रहित धड़"। परन्तु मन्त्र में इस का अर्थ है "सिर सहित धड़"। क="सिर" के साथ बन्धा हुआ, लगा हुआ, धड़। यथा "कन्धरा" है ग्रीवा, कं शिरः धारयतीति। इसी प्रकार कुसिन्ध का प्रसिद्ध अर्थ है, धड़, अर्थात् "कुत्सित-गति वाला, बुरी हालत वाला"[1]। कु (कुत्सित)+षिधु (गत्याम्)। परन्तु मन्त्र में इस का अर्थ है "पृथिवी पर गति करने वाला, चलने वाला शरीर"। कु=कुत्सित, तथा पृथिवी। "ऊरू" शब्द का अर्थ है धड़ के निचले भाग में लगे पादों और जङ्घाओं समेत दो पट्ट [Thighs], इस प्रकार मन्त्र में समग्र अवयवों सहित शरीर का वर्णन हुआ है।

कति देवाः कतमे त आसन् य उरो ग्रीवाश्चिक्युः पूरुषस्य ।
कति स्तनौ व्यदधुः कः कफोडौ कति स्कन्धान् कति पृष्टीरचिन्वन् ।४

(कति) कितने और (कतमे) कौन से (ते) वे (देवाः आसन्) देव थे (ये) जिन्होंने (पूरुषस्य) पुरुष की (उरः) छाती को (ग्रीवाः) और गर्दन के अवयवों को (चिक्युः) चिना था। (कति) कितनों ने (स्तनौ व्यदधुः) दो स्तनों का विधान या निर्माण किया, (कः) किस ने (कफोडौ) दो कपोलों को, (कति) कितनों ने (स्कन्धान्) कन्धों की अस्थियों को, (पृष्टीः) पीठ की अस्थियों तथा पसलियों को (अचिन्वन्) चिना था।

[कति और कतमे, में बहुवचन हैं। सम्भवतः मन्त्र में "देवाः" पद द्वारा या तो दिव्य शक्तियां अभिप्रेत हैं, या रचना में भाग लेने वाली अस्थियां आदि। कः=यह पद एक वचन में है, जो कि अकेले परमेश्वर का बोधक है। कः=कौन, तथा कः=जगत् का कर्त्ता परमेश्वर। करोतीति कः; कृ+डः (औणादिकः "डः" प्रत्ययः, बाहुलकात्)। चिक्युः, अचि-

१. सिर के विना धड़ किसी काम का नहीं।

न्वन्—द्वारा, मकान को चिनने वालों के सदृश, परमेश्वर को कारीगर दर्शाया है] ।

को अस्य बाहू समभरद् वीर्यं करवादिति ।
अंसौ को अस्य तद् देवः कुसिन्धे अध्या दधौ ॥५॥

(कः) किस ने (अस्य) इस पुरुष की (बाहू) बाहुओं को (समभरत्) बनाया या उन के लिये संभारों को एकत्रित किया, (वीर्यम्, करवात्, इति) ताकि वीरता के कर्म किये जांय । (कः) किस (तत् देवः) प्रसिद्ध देव ने (अस्य) इस पुरुष के (कुसिन्धे अधि) शरीर पर (अंसौ) दो कन्धों का (आदधौ) आधान किया ।

["कः" को देव कहा है, और उसे "तत्" द्वारा जगत् का कर्त्ता निर्दिष्ट किया है अतः यह परमेश्वर है । गीता के अनुसार "ओ३म्, तत्, सत्" परमेश्वर के निर्देशक हैं । "ओ३म् तत् सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः" (१७।२३) । तथा "तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः । तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः" (यजु० ३२।१) में "तत्, ताः, सः" द्वारा ब्रह्म का ही निर्देश हुआ है । कुसिन्धे (मन्त्र २)] ।

कः सप्त खानि वि ततर्द शीर्षणि कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम् ।
येषां पुरुत्रा विजयस्य मह्मनि चतुष्पादो द्विपदो यन्ति यामम् ॥६॥

(कः) किस ने (शीर्षणि) सिर में (सप्त) सात (खानि) गढ़े [इन्द्रियां] (विततर्द) काटे हैं, (कर्णौ इमौ) ये दो कान, (नासिके) दो नाक-छिद्र, (चक्षणी) दो आंखें, (मुखम्) और मुख । (येषाम्) जिन इन्द्रियों की (विजयस्य मह्मनि) विजय[1] की महिमा पर (चतुष्पादः, द्विपदः) चौपाए और दोपाए (पुरुत्रा) विविध स्थानों में (यामम् यन्ति) मार्गों पर जाते हैं ।

---

१. इन्द्रियों द्वारा दर्शाये मार्गों पर चौपाए तथा दोपाए चलते हैं, जैसे कि राजा द्वारा दर्शाये मार्गों पर प्रजाएं चलती हैं । इसलिये इन्द्रियों ने मानो इन प्राणियों पर विजय पाया हुआ है ।

हन्वोर्हि जिह्वामदधात् पुरूचीमधा महीमधि शिश्राय वाचम् ।
स आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तरपो वसानः क उ तच्चिकेत ॥७॥

(हन्वोः) किस ने दो जबाड़ों में (पुरूचीम्) लम्बी या बहुगतिका (जिह्वाम्, अदधात्) जिह्वा को स्थापित किया है, (अधा) तत्पश्चात् (महीम्, वाचम्) महती वाणी को (अधि शिश्राय) उस पर आश्रित किया है । (सः) वह (अपः वसानः) प्रकृति की ओढ़नी ओढ़े हुआ (भुवनेषु अन्त) भुवनों के भीतर (आ वरीवर्ति) बार-बार आता है, (कः उ तत् चिकेत) कौन उसे सम्यक्तया जानता है ।

[मन्त्र में परमेश्वर का वर्णन है जोकि प्रलयों के पश्चात् भुवनों के भीतर, प्रत्येक सृष्टि में वार-वार आता है । "अपः" का अर्थ है "व्यापक प्रकृति", आप्लृ व्याप्तौ । यह प्रकृति, परमेश्वर का वस्त्र है, जिस से ढका हुआ वह भुवनों में विचरता है । "अपः" का अर्थ "कर्म" भी होता है । परमेश्वर मे कर्म हैं,—रचना, स्थिति, कर्मफल प्रदान, प्रलय आदि । इनको ओढ़नी ओढ़े हुए परमेश्वर भुवनों में विचरता है] ।

मस्तिष्कमस्य यतमो ललाटं ककाटिकां प्रथमो यः कपालम् ।
चित्वा चित्यं हन्वोः पूरुषस्य दिवं रुरोह कतमः स देवः ॥८॥

(यतमः) जिन देवों में (यः प्रथमः देवः) जो प्रथम देव, (अस्य पूरुषस्य) इस पुरुष के (मस्तिष्कम्) मस्तिष्क को (ललाटम्) माथे को, (ककाटिकाम्) सिर के पश्चाद् भाग को, (कपालम्) खोपड़ी को, तथा (हन्वोः) दो जबाड़ों के (चित्यम्) चयन को (चित्वा) चिन कर, (दिवम् रुरोह) द्युलोक पर आरोहण किये हुए है (सः) वह (कतमः) कौन है ?

[यतमः, कतमः—में "तमप्" प्रत्यय है, जोकि "बहुतों में से एक" का सूचक है । जीव, प्रकृति, तथा अन्य नाना दिव्यशक्तियां, पुरुष के अवयवों के निर्माण में सहायक होती हैं, उन में सर्वप्रथम अर्थात् सब से पहिली या सर्वश्रेष्ठ शक्ति हैं, परमेश्वर-देव । "अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता आदि मन्त्र (यजु० १४।२०) में १२ देवताओं का कथन हुआ है । इन सब देवताओं में प्रथम देव परमेश्वर है । यह उत्तर "कतमः स देवः" में भी

समझा जा सकता है। अर्थात् "वह अत्यन्त सुखस्वरूप देव"। कम् सुखनाम (निघं० ३।६)]।

प्रियाप्रियाणि बहुला स्वप्नं संबाधतन्द्र्यः ।
आनन्दानुग्रो नन्दांश्च कस्माद् वहति पूरुषः ॥९॥

(बहुला=बहुलानि) बहुत अर्थात् नानाविध (प्रियाप्रियाणि) प्रिय और अप्रिय वस्तुओं को, (स्वप्नम्) बुरे-भले स्वप्नों को, (संबाधतन्द्र्यः) बाधाओं और आलस्य को, (आनन्दान्, नन्दान् च,) आध्यात्मिक सुखों और सांसारिक सुखों को, (उग्रः पुरुषः) शक्तिशाली पुरुष) (कस्मात्) किस हेतु से (वहति) प्राप्त करता या ढोता है।

[वहति=ढोना, जैसे कि पशु भार को ढोता है। प्रापणे, प्राप्त करता है। प्रश्न यह है कि पुरुष है उग्र अर्थात् शक्तिसम्पन्न, तो भी वह अवाञ्छित तथा अनभीष्ट वस्तुओं को किस हेतु से प्राप्त करता है? उत्तर है "कस्मात्" अर्थात् प्रजापति से। कः वै प्रजापतिः (ऐत० ३।२१)। यद्यपि 'स्मात्" के योग में "कः" किम्-सर्वनाम प्रतीत होता है, तो भी वैदिक प्रथानुसार "कः" असर्वनाम भी समझा जा सकता है। यथा "कस्मै देवाय हविषा विधेम" (यजु० २४।१२) में "कस्मै" का अर्थ प्रजापतये किया जाता है। (यजु० २५।१२, महीधर) अभिप्राय यह है कि पुरुष उग्र होता हुआ भी, निजकर्म फल के कारण, कर्मफल दाता परमेश्वर से इन्हें भोग रहा है] सूक्त २ में प्रायः "कः, केन, कस्मात्" आदि प्रयोगों द्वारा प्रश्न और उत्तर दोनों जानने चाहिये। इसी भाव को दर्शाने के लिये मन्त्र (२०-२५) में प्रश्नों के उत्तर में ब्रह्म का कथन हुआ है]।

आर्तिरवर्तिर्निर्ऋतिः कुतो नु पुरुषेऽमतिः ।
राद्धिः समृद्धिरव्यृद्धिर्मतिरुदितयः कुतः ॥१०॥

(आर्तिः) शारीरिक और मानसिक पीड़ा, (अवर्तिः) वृत्ति अर्थात् आजीविका का अभाव, (निर्ऋतिः) कृच्छ्रापत्ति, (अमतिः) अज्ञान तथा मूढ़ता (पुरुषे) पुरुष में (कुतः नु) कहां से होते हैं। (राद्धिः) सिद्धि, (समृद्धिः) सफलता, (अव्यृद्धिः) कभी ऋद्धि, कभी ऋद्धि का विगत हो जाना, कभी इस का भी अभाव हो जाना, (मतिः) ज्ञान, मनन, (उदितयः) उन्नतियां (कुतः) कहां से तथा किस कारण से होती हैं।

[अभिप्राय मन्त्र ९ के सदृश। "कस्मात्" (९) और "कुतः" लगभग समानार्थक हैं]।

कोऽअस्मिन्नापो व्यदधात् विषूवृतः पुरूवृतः सिन्धुसृत्याय जाताः ।
तीव्रा अरुणा लोहिनीस्ताम्रधूम्रा ऊर्ध्वा अवाचीः पुरुषे तिरश्चीः॥११

(कः) किस ने (अस्मिन् पुरुषे) इस पुरुष में (आपः) जल या द्रव तत्त्व (व्यदधात्) विधि पूर्वक स्थापित किये हैं, जो कि (विषूवृतः पुरूवृतः) शरीर में व्याप्त हैं, तथा परिमाण में बहुत हैं, जो (सिन्धुसृत्याय) हृदयरूपी समुद्र से तथा उस में सरण करने के लिये (जाताः) उत्पन्न हुए हैं। जो (तीव्राः) स्वाद में तीव्र, (अरुणाः) फीके लाल अर्थात् अल्पलाल, (लोहिनीः) लाल, (ताम्रधूम्राः) ताम्बे के धूम अर्थात् वाष्पसदृश नीले हैं, (ऊर्ध्वाः) जो ऊर्ध्व की ओर गति करते, (अवाचीः) नीचे की ओर गति करते, (तिरश्चीः) पार्श्वों की ओर गति करते हैं।

[आपः=रक्तरूपी जल जो शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग में व्याप्त है, आप्लृ व्याप्तौ। विषूवृतः=विष्लृ व्याप्तौ+वृतु वर्तने। सिन्धु सृत्याय=सिन्धु का अभिप्राय है हृदय-समुद्र, जिस से रक्त स्यन्दन करता है, तथा जिस की ओर रक्त स्यन्दन करता है। मलिन रक्त हृदय के वाम कोष्ठ में स्यन्दन करता है, और शुद्ध रक्त हृदय से शरीर की ओर स्यन्दन करता है। अरुणाः=अनीमिक अवस्था में रक्त कम लाल होता है, कम आभा वाला होता है, अरुणाः=आरोचनाः निरुक्त ५।४।२१)। लोहिनीः अधिक लाल जिस में कि लोहे की मात्रा पर्याप्त होती है। ताम्रधूम्राः=ताम्बा लाल होता है, परन्तु आग पर रखने से इससे जो धूम्र निकलता है वह नीला होता है। Veins अर्थात् सिराओं का खून नीला होता है, और Arteries अर्थात् धमनियों का खून लाला होता है। रक्त "ऊर्ध्वं" अर्थात् सिर की ओर, "अवाचीः" नीचे शरीर की ओर, तथा "तिरश्चीः" पार्श्वों की ओर गति करता है। कः=प्रश्नार्थक तथा प्रजापत्यर्थक। प्रश्न—"कः" किस ने आपः स्थापित किये हैं, उत्तर—"कः" प्रजापति ने स्थापित किये हैं]।

को अस्मिन् रूपमदधात् को मह्मानं च नाम च ।
गातुं को अस्मिन् कः केतुं कश्चरित्राणि पूरुषे ॥१२॥

(कः) किस ने (अस्मिन् पूरुषे) इस पुरुष में (रूपम्) रूप को (अद-

धात्) स्थापित किया, (कः) किस ने (महानम् च) महत्त्व को, (नाम च) और नाम को। (कः) किसने (अस्मिन्) इस में (गातुम्) गति को या गान को, (कः) किस ने (केतुम्) प्रज्ञा को तथा (कः) किसने (चरित्राणि) अच्छे और बुरे चरित्रों को (पूरुषे) इस पुरुष में स्थापित किया है।

[नाम="पुरुष" यह संज्ञा; या प्रसिद्धि। कः=द्व्यर्थक (मन्त्र ११)]।

को अस्मिन् प्राणमवयत् को अपानं व्यानमु ।
समानमस्मिन् को देवोऽधि शिश्राय पूरुषे ॥१३॥

किसने इस पुरुष में प्राण, अपान, व्यान का तान्ता ताना है। किस देव ने इस में समान को आश्रित किया है।

[मन्त्र में ४ प्राणों का वर्णन हुआ है, उदान का वर्णन नहीं हुआ। आवयत्=वेञ तन्तु संताने]।

को अस्मिन् यज्ञमदधादेको देवोऽधि पूरुषे ।
को अस्मिन्त्सत्यं कोऽनृतं कुतो मृत्युः कुतोऽमृतम् ॥१४॥

(कः एकः देवः) किस एक देव ने (अस्मिन् पूरुषे) इस पुरुष में (यज्ञम्) यज्ञ भावना (अदधात्) स्थापित की है। (कः) किस ने (अस्मिन्) इसमें (सत्यम्) सत्य को और (अनृतम्) असत्य को [स्थापित किया है] (कुतः) किस से (मृत्युः) मृत्यु और (कुतः) किस से (अमृतम्) जन्म-मरण से राहित्य अर्थात् मोक्ष [प्राप्त होता है] कः=द्व्यर्थक (मन्त्र ११)]।

["एकः देवः" से स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्रश्नकर्त्ता को एकदेव का परिज्ञान है। वही एक देव यज्ञ आदि को पुरुष में, उस के कर्मानुसार, स्थापित करता है। यज्ञ=देवपूजा, संगतिकरण तथा दान की भावना। सत्य और असत्य की, तथा मृत्यु और मोक्ष की स्थिति भी, पुरुष के कर्मों तथा संस्कारों के अनुसार उसे एकदेव के न्याय नियमों तथा कर्मव्यवस्था के अनुसार प्राप्त हो रही है। कः=द्व्यर्थक, (मन्त्र ११)]।

को अस्मै वासः पर्यदधात् को अस्यायुरकल्पयत् ।
बलं को अस्मै प्रायच्छत् को अस्याकल्पयज्जवम् ॥१५॥

(कः) किसने (अस्मै) इस जीवात्मा के लिये, (वासः) शरीररूपी

वस्त्र (परि अदधात्) इस के चारों ओर स्थापित किया है, (कः) किस ने (अस्य) इस की (आयुः) आयु (अकल्पयत्) रची है। (कः) किस ने (अस्मै) इसे (बलम्) बल (प्रायच्छत्) प्रदान किया है, (कः) किसने (अस्य) इस के (जवम्) वेग को (अकल्पयत्) निर्धारित या समर्थित किया है।

[कः=प्रश्नार्थक तथा उत्तरार्थक है। मनुष्य के शरीर का वेग भी निर्धारित है। मनुष्य अश्व के, मोटर के, या रेलगाड़ी के वेग वाला नहीं हो सकता]।

केनापो अन्वतनुत केनाहरकरोद् रुचे ।
उषसं केनान्वैन्द्ध केन सायंभवं ददे ॥१६॥

(केन) किस कारण (आपः) सामुद्रिक जलों को (अनु अतनुत) लगातार फैलाया है, (केन) किस कारण (रुचे) दीप्ति के लिये (अहः) दिन को (अकरोत्) रचा है। (केन) किस कारण (उषसम्) उषा को (अनु ऐन्द्ध) लगातार प्रदीप्त किया है, (केन) किस कारण (सायंभवम्) सायं काल का होना (ददे) प्रदान किया है।

[मन्त्र के द्वितीय पाद में दिन की रचना का कारण कह दिया है कि "रुचे" दीप्ति के लिये। इसी प्रकार अवशिष्ट रचनाओं के प्रयोजनों का ऊहापोह स्वयं करना चाहिये। सम्भवतः सामुद्रिक जलों को फैलाया है सामुद्रिक जीवों के जीवनार्थ तथा वर्षा के लिये। उषा तथा सायंकाल हैं, दोनों कालों में ध्यान या सन्ध्या के लिये। केन=केन हेतुना, कारणेन। अथवा "दीप्ति के लिये दिन को रचा है" ताकि प्राणी काम कर सकें]।

को अस्मिन् रेतो न्यदधात् तन्तुरा तायतामिति ।
मेधां को अस्मिन्नध्यौहत् को बाणं को नृतो दधौ ॥१७॥

(कः अस्मिन्) किस ने इस पुरुष में (रेतः) वीर्य (न्यदधात्) स्थापित किया है (तन्तुः) ताकि सन्तान-तन्तु का (आ तायताम् इति) विस्तार किया जाय। (कः अस्मिन्) किस ने इस पुरुष में (मेधाम् अधि औहत्) मेधा प्राप्त कराई है, (कः) किसने (बाणम्) वाणी प्राप्त कराई है, (कः) किस ने (नृतः) नाचना (दधौ) धारण कराया है। [कः प्रश्नार्थक तथा

उत्तरार्थक] वाणम्="नृतः" के सन्निधान के कारण "वाणम्" गाने की वाणी अर्थात् गाना भी किया जाता है। नृतः=नृत+क्विप्+द्वितीया बहुववचन]।

केनमां भूमिमौर्णोत् केन पर्यभवद् दिवम्।
केनाभि मह्ना पर्वतान् केन कर्माणि पूरुषः ॥१८॥

(केन मह्ना) किस महिमा द्वारा (भूमिम्) भूमि को (और्णोत्) आच्छादित किया है, (केन) किस महिमा द्वारा (दिवम्) द्युलोक को (परि अभवत्) सब ओर से घेरे हुए हैं। (केन) किस महिमा द्वारा (पूरुषः) उस पुरुष ने (पर्वतान्) पर्वतों, मेघों पर (अभि-अभवत्) प्रभुत्व प्राप्त किया है, (केन) किस महिमा द्वारा (कर्माणि) जगत् के नानाविध कर्मों तथा सर्जन धारण और प्रलय रूपी कर्मों पर (परि अभवत्) विजय पाई हुई है।

[मन्त्र में "पूरुषः" द्वारा परमेश्वर-पुरुष प्रतीत होता है। प्रकरण की दृष्टि से भी परमेश्वर- पुरुष का ही ग्रहण उचित है। यजुर्वेद अध्याय ३१ को "पुरुष सूक्त" कहते हैं। इस में पुरुष पद द्वारा परमेश्वर पुरुष का ही वर्णन है। योग में भी परमेश्वर को "पुरुष विशेषः" कहा है (योग १।२४)। तथा (अथर्व० १०।२।२८) में भी "पुरुष" द्वारा ब्रह्म पुरुष का ही कथन हुआ है। "पुरुष" शब्द का अर्थ है "पुरि शेते"। जीवात्मा शरीर-पुर् में शयन करता है इसलिये वह पुरुष है। ब्रह्म जगत्-पुर् में शयन करता है इस लिये वह भी पुरुष[1] है। मन्त्र में परमेश्वर पुरुष की महिमा अर्थात् बड़प्पन का वर्णन हुआ है "महि वृद्धौ" (भ्वादिः)। ब्रह्म ने ही भूमि को वायु द्वारा आच्छादित किया है, उस ने ही निज व्याप्ति द्वारा द्युलोक को घेरा हुआ है, उस ने ही निज सर्वशक्तिमत्ता से मेघों, पर्वतों पर प्रभुत्व पाया हुआ है, और वही जीवात्माओं पर कृपा दृष्टि के कारण सृष्टि की रचना आदि कर्मों, तथा जगत् के कर्मों पर विजय पाए हुए है। पर्वतान्=मेघनाम (निघं० १।१०)]।

---

१. गीता में भी ईश्वर को उत्तमपुरुष तथा पुरुषोत्तम कहा है।

केन पर्जन्यमन्वेति केन सोमं विचक्षणम्।
केन यज्ञं च श्रद्धां च केनास्मिन् निहितं मनः ॥१९॥

(केन) किस महिमा द्वारा (पर्जन्यम्) मेघ में (अन्विति) वह अन्वित है, (केन) किस महिमा द्वारा (विचक्षणम् सोमम्) वह द्रष्टा-चन्द्रमा में अन्वित है। (केन) किस महिमा द्वारा (यज्ञम् च श्रद्धाम् च) उपासक के ध्यान-यज्ञ और श्रद्धा में वह अन्वित होता है, (केन) किस महिमा द्वारा उस ने (अस्मिन्) इस पुरुष में (मनः) मन (निहितम्) रखा है, स्थापित किया है।

[पर्जन्य में वह अन्वित है ताकि वर्षा द्वारा पेयजल प्रदान करे, और कृषिकार्य हो सके। चन्द्रमा में वह इसलिये अन्वित है ताकि उसे भासित कर सके, रात्रिकाल को प्रकाशित करने के लिये। उपासना यज्ञ तथा उपासक की श्रद्धा में अन्वित है, उसके आध्यात्मिक जीवन में सहायता दे सके। जैसे कि कहा है कि—

"प्रणिधानात् भक्तिविशेषात् आवर्जित ईश्वरस्तमनुगृह्णाति अभिध्यान-मात्रेण,
तदभिध्यानादपि योगिन आसन्नतमः समाधिलाभः फलं च भवति"
(ये० १।२३)।

प्रणिधान नामक भक्तिविशेष द्वारा अभिमुखी किया गया ईश्वर उपासक पर अनुग्रह करता है, केवल स्वीय इच्छामात्र से ही। इस इच्छा से भी योगी को शीघ्र समाधिलाभ तथा उसका फल प्राप्त हो जाता है।

पुरुष में मन इस लिये स्थापित किया है कि वह निज कार्य मनन पूर्वक करे, पशुवत् विना सोचे-विचारे काम न करे, तथा श्रवण मनन, निदिध्यासन द्वारा परमेश्वरोपासना कर मोक्ष प्राप्त कर सके]।

केन श्रोत्रियमाप्नोति केनेमं परमेष्ठिनम्।
केनेममग्निं पूरुषः केन संवत्सरं ममे ॥२०॥

(केन) किस कारण [ब्रह्म] (श्रोत्रियम्) वेदाध्ययन करने वाले को, (केन) और किस कारण (परमेष्ठिनम्) परब्रह्म में स्थित हुए को (आप्नोति) प्राप्त होता है। (केन) किस कारण (पूरुषः) ब्रह्म पुरुष

(इमम्, अग्निम्) इस ज्ञानाग्निमय व्यक्ति को प्राप्त होता है। (केन) किस कारण वह (संवत्सरम्) संवत्सर को (ममे) मापता या उस का निर्माण करता है।

[श्रोत्रिय आदि शब्दों के अर्थों में ही प्राप्ति के कारण दर्शा दिये हैं। श्रोत्रिय वेदाध्ययन करता है, इसलिए वह पवित्राचरण वाला है, और वेदज्ञ है। श्रोत्रियः=श्रोत्रं वेदः, तदध्येता; तथा "श्रोत्रियंश्छन्दोधीते" (अष्टा० ५।२।८४)। परमेष्ठिनम्=यतः वह परमेश्वर में निष्ठावान्, उस में स्थिति पाया हुआ, तथा उसके प्रति समर्पित है। अग्निम्—ज्ञानाग्नि सम्पन्न को इसलिये प्राप्त होता है, यतः ज्ञानाग्नि द्वारा उसके कर्म, तथा कर्मवासनाएं दग्धबीज हो गई हैं, "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन" (गीता)।

संवत्सरम्—संवत्सर का वह इसलिये निर्माण करता है, यतः संवत्सर की ऋतुएं मनुष्य जीवन के वास में हेतु हैं, तथा संवत्सर द्वारा मनुष्यों के व्यवहारों का सम्पादन होता है, अतः उपकार भावना से परमेश्वर संवत्सर का निर्माण करता है। संवत्सरः="सम्यक् वसन्त्यत्र सः संवत्सरः" (उणा० ३।७२; म० दयानन्द)]।

ब्रह्म श्रोत्रियमाप्नोति ब्रह्मेमं परमेष्ठिनम्।
ब्रह्मेमम॒ग्निं पूरुषो ब्रह्म संवत्सरं ममे ॥२१॥

(ब्रह्म श्रोत्रियमाप्नोति) ब्रह्म श्रोत्रिय को प्राप्त होता है, (ब्रह्म इमम् परमेष्ठिनम्) ब्रह्म इस परमेष्ठी को प्राप्त होता है। (ब्रह्म पूरुषः) ब्रह्म पुरुष (इमम् अग्निम्) इस ज्ञानाग्निमय व्यक्ति को प्राप्त होता है, (ब्रह्म) ब्रह्म ने (संवत्सरम्, ममे) संवत्सर को मापा या उस का निर्माण किया है।

[मन्त्र में, मन्त्र २० के विचारों को परिपुष्ट किया है]।

केन देवाँ अनु क्षियति केन दैवजनीर्विशः।
केनेदमन्यन्नक्षत्रं केन सत् क्षत्रमुच्यते ॥२२॥

(केन) किस कारण [ब्रह्म] (देवान् अनु क्षियति) देवों में निरन्तर अर्थात् सदा निवास करता है, (केन) किस कारण (दैवजनीः) देवों द्वारा उत्पादित (विशः) प्रजाओं अर्थात् सन्तानों में निरन्तर निवास करता है।

(केन) किस कारण (अन्यत्) देवों और दैवजनी प्रजाओं से भिन्न (इदम्) इस (नक्षत्रम्=नक्ष+त्रम्) अभ्यागतों के पालक में वह सदा निवास करता है, (केन) किस कारण [ब्रह्म] (सत्) वास्तविक (क्षत्रम्=क्षत्+त्रम्) क्षतों से त्राता (उच्यते) कहा जाता है।

[मन्त्र में देव आदि पद हेतुगर्भित हैं, अर्थात् इन के यौगिक अर्थों में हेतु निहित है। परमेश्वर देवों में निरन्तर निवास करता है, चूंकि वे देव हैं, दिव्य गुण कर्मों वाले हैं। वे सदा प्रत्येक कार्य में "ओ३म् क्रतो स्मर" (यजु० ४०।१५) के अनुसार परमेश्वर का सदा स्मरण करते हैं, इसलिये परमेश्वर उन के हृदयों में सदा निवास करता है।

वह "दैवजनीः" प्रजाओं अर्थात् देवरूप माता-पिता द्वारा जनित सन्तानों में भी सदा निवास करता है। दिव्य गुणकर्मों वाले माता-पिता की सन्तानें भी देवकोटि की होंगी, यह सम्भावना है। नक्षत्रम्=नक्ष (गतौ) तथा नक्षति गतिकर्मा, निघं० २।१४)+त्रैङ् (पालने); अर्थात् अभ्यागतों, अतिथियों आदि की पालना करने वाला सद्गृहस्थी इन्हें ब्रह्मरूप जान कर इन की सेवा तथा पालना करता है (अथर्व० ९।६(१)।१), अतः इसे सदा ब्रह्म का ध्यान रहता है, मानो ब्रह्म ऐसे सद्गृहस्थ के हृदय में सदा निवास करता है।

सत् क्षत्रम्=ब्रह्म ही एक वास्तविक, क्षतों से त्राण करने वाला है, अतः वह सच्चा[1] क्षत्र है।

---

१. अथवा देवान्=ब्राह्मण। दैवजनीः विशः=दिव्यजन्मों वाले वैश्य। नक्षत्रम्=जो कि क्षत्रिय नहीं, अर्थात् शूद्र। सत् क्षत्रम्=सच्चे क्षत्रिय। चार वर्णों के व्यक्ति भी यदि अपने-अपने नियत कर्त्तव्यों का पालन धर्मानुसार करते हैं तो परमेश्वर उन्हें प्राप्त हो जाता है। अर्थात् देव वस्तुतः दिव्यगुणी हों, सच्चे ब्राह्मण हों, ब्रह्मोपासक तथा वेदज्ञ हों। वैश्य देश-देशान्तरों में प्रवेश कर व्यापार द्वारा प्रजा का पालन करें। शूद्र सेवा कर्म में शीघ्रकारी हों, निरालस हों। क्षत्रिय क्षतों से त्राण में व्यापृत होकर "सत्" क्षत्र कहलाने योग्य हों। शूद्र=आशु, शु वा द्रवति=शीघ्रगतिक, शीघ्रकारी। "आशु, शु, इति क्षिप्रनामनी भवतः" (निरुक्त ६।१।१)।

ब्रह्म देवाँ अनु क्षियति ब्रह्म दैवजनीर्विशः ।
ब्रह्मेदमन्यन्नक्षत्रं ब्रह्म सत् क्षत्रमुच्यते ॥२३॥

(ब्रह्म देवान् अनुक्षियति) ब्रह्म देवकोटि के मनुष्यों में निरन्तर निवास करता है, (ब्रह्म दैवजनीः विशः) ब्रह्म "देवों से जनित सन्तानों में" निरन्तर निवास करता है। (ब्रह्म इदम् अन्यत्) देवों और दैवजनी विशों से भिन्न (इदम्) इस (नक्षत्रम्=नक्ष+त्रम्) अभ्यागतों तथा अतिथियों के पालक में ब्रह्म निरन्तर निवास करता है, (ब्रह्म सत् क्षत्रम् उच्यते) ब्रह्म वास्तविक "क्षत्र" अर्थात् क्षतों से त्राण करने वाला कहा जाता है।

[मन्त्र २२ में देव आदि में ब्रह्म के निरन्तर निवास करने के कारणों अर्थात् हेतुओं का कथन किया है और मन्त्र २३ में निरन्तर निवास को ही सम्पुष्ट किया है]।

केनेयं भूमिर्विहिता केन द्यौरुत्तरा हिता ।
केनेदमूर्ध्वं तिर्यक् चान्तरिक्षं व्यचो हितम् ॥२४॥

(केन) किस ने (भूमिः) भूमि को (विहिता) अलग कर नीचे की ओर रखा है, (केन) किस ने (द्यौः) द्युलोक को (उत्तरा हिता) ऊपर की ओर रखा है। (केन) किस ने (इदम्) इस (व्यचः) विस्तृत (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को (ऊर्ध्वम्) ऊर्ध्व में और (तिर्यक्) पार्श्वों में (हितम्) स्थापित किया है।

[विहिता=विहृत्य, पृथक् कृत्वा, हिता स्थापिता। अथवा "विधिपूर्वकं स्थापिता"]।

ब्रह्मणा भूमिर्विहिता ब्रह्म द्यौरुत्तरा हिता ।
ब्रह्मेदमूर्ध्वं तिर्यक् चान्तरिक्षं व्यचो हितम् ॥२५॥

(ब्रह्मणा) ब्रह्म ने (भूमिः) भूमि (विहिता) विहित की है; [ब्रह्म ने] (ब्रह्म द्यौः) बृहत् द्युलोक को (उत्तरा हिता) ऊपर की ओर रखा है। [ब्रह्म ने] (इदम्) इस (व्यचः) विस्तृत (ब्रह्म अन्तरिक्षम्) बृहद् अन्तरिक्ष को (ऊर्ध्वम्) ऊर्ध्व में, और (तिर्यक्) पार्श्वों में (हितम्) स्थापित किया है।

[विहिता=अर्थ (मन्त्र २४) के अनुसार। ब्रह्म=यह नियत नपुंसक लिङ्ग में विशेषणरूप पद है। भूमि की अपेक्षा द्युलोक तथा अन्तरिक्ष ब्रह्म हैं, परिमाणों में बृहत् हैं। "बृंहति वर्धते तद् ब्रह्म, ईश्वरो वेदः तत्त्वं तपो वा" (उणा० ४।१४७, म० दयानन्द)। इसी प्रकार "मम योनिर्महद् ब्रह्म"[1] (गीता १४।३) में ब्रह्म द्वारा महती-प्रकृति का ग्रहण किया है। तथा निघण्टु में "ब्रह्म=उदक" (१।१२); अन्न (२।७); धन (२।१०)। इस प्रकार ब्रह्म के अर्थ नाना हैं। इसलिये मन्त्र में ब्रह्म पद विशेषणरूप में प्रयुक्त हुआ है। अथवा ब्रह्म=ब्रह्मणा, विभक्ति विपरिणाम द्वारा]।

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत् ।
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत् पवमानोऽधि शीर्षतः ॥२६॥

(अस्य) इस मानुष पुरुष के (मूर्धानम्) मूर्धा को, (च) और (यत्) जो (हृदयम्) हृदय है उसे (संसीव्य) परस्पर में सीकर, जोड़ कर, (पवमानः) पवित्र करने वाले, (ऊर्ध्वः) सांसारिक लेपों से उपर उठे हुए, (अथर्वा) अचल, कूटस्थ परमेश्वर[2] ने (शीर्षतः अधि) सिर में स्थित (मस्तिष्कात्) मस्तिष्क से (प्रैरयत्) शरीर में प्रेरणाएं दी हैं।

[परमेश्वर ने मूर्धा और हृदय को परस्पर जोड़ा है। इस का अभिप्राय यह है कि विचारों और भावनाओं में परस्पर समन्वय और सामञ्जस्य होना चाहिये। परमेश्वर "ऊर्ध्वः" है। यथा "त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादो ऽस्येहाभवत्पुनः" (त० ३१।४)। शीर्षतः=सप्तम्यर्थे तसिल्, तसिल् सार्वविभक्तिकः।

तद् वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः ।
तत् प्राणो अभि रक्षति शिरो अन्नमथो मनः ॥२७॥

(वै) निश्चय से (तत्) वह (शिरः) सिर अर्थात् मस्तिष्क (अथर्वणः)

---

१. यथा "मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत" ॥ १४।३॥

२. मन्त्र में "अथर्वा" पद परमेश्वरार्थक प्रतीत होता है। अथर्ववेद में जितना विस्तृत और स्पष्ट वर्णन परमेश्वर का है, उतना अन्य किसी वेद में नहीं मिलता। सम्भवतः अथर्वा के वर्णन के कारण इस वेद का नाम "अथर्ववेद" हो।

अचल, कूटस्थ परमेश्वर का है, (देवकोशः) इन्द्रियों का खजाना है, (समुब्जितः) सिर की खोपड़ी में रखा हुआ है। (तत्) उस (शिरः) सिर अर्थात् मस्तिष्क की (अभि रक्षति) रक्षा करता है (प्राणः) प्राण, (अन्नम्) अन्न (अथो) और (मनः) मन।

[मस्तिष्क में स्थित सहस्रारचक्र में, परमेश्वर का स्पष्ट साक्षात्कार होता है, अतः मस्तिष्क को अथर्वा कहा है। मस्तिष्क में ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के घर हैं, अतः यह देवकोश है। खोपडी रूपी कोश के भीतर यह देवकोश रहता है, इसलिये इसे समुब्जितः कहा है, यथा "कोशे कोशः समुब्जितः" (अथर्व० ६।३।२०)। मस्तिष्क बहुमूल्यवान् रत्न है, रत्नों को कोश अर्थात् पेटी में रख कर, पेटी को कमरे रूपी कोश में रखा जाता है। मस्तिष्क की रक्षा होती है प्राणायाम द्वारा, सात्विक अन्न द्वारा, तथा मनन अर्थात् विचार द्वारा, अथवा प्राणमयकोश द्वारा, अन्नमयकोश द्वारा, तथा मनोमयकोश द्वारा]।

ऊर्ध्वो नु सृष्टा३स्तिर्यङ् नु सृष्टा३ः सर्वा दिशः पुरुष आ बभूवाँ३न्।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥२८॥

(ऊर्ध्वः) ऊर्ध्व की ओर (सृष्टा ३ः) सृष्ट[1] हुआ, (तिर्यङ्=तिर्यक्) पार्श्वों तथा नीचे की ओर भी (सृष्टा ३ः) सृष्ट हुआ (पुरुषः) ब्रह्म-पुरुष (सर्वाः दिशः) शरीर की सब दिशाओं में (आबभूवां ३ न्) सर्वत्र सत्तावान् हुआ है, स्थित हुआ है। (यः) जो (ब्रह्मणः पुरम्[2]) ब्रह्म की इस पुरी को (वेद) जानता है, (यस्याः) जिस के सम्बन्ध से [ब्रह्म] (पुरुषः उच्यते) "पुरुष" नाम से कहा जाता है।

---

१. जब पुरुष अर्थात् जीवात्मा यह जान लेता है कि "ब्रह्म-पुरुष" उस के ऊर्ध्व अर्थात् मस्तिष्क में, नीचे के भागों तथा पार्श्वों में व्याप्त है तब मानो इन भागों में उस के लिये ब्रह्म "सृष्ट" हो गया है, उस के ये भाग या अवयव ब्राह्मी सत्ता सम्पन्न हो गए हैं। इसलिये वह तदनुरूप सोचने तथा कार्य करने लगता है, और उसे मन्त्र २९ में कथित फलों की प्राप्ति होने लगती है।

२. ब्रह्माण्ड को भी ब्रह्म की पुरी समझा जा सकता है। इस पुरी में निवास करने से भी ब्रह्म "पुरुष" कहलाता है।

[शरीर के ऊर्ध्व, पार्श्वों, तथा नीचे की सब दिशाओं में ब्रह्म व्याप्त है। शरीर, ब्रह्म की पुरी है, इस पुरी में शयन या वास करने से ब्रह्म को पुरुष कहते हैं, "पुरिशेते इति पुरुषः" अथवा "पुरिवसति (वस्=उस्, उष्) इति पुरुषः"। मन्त्र में जीवात्मा का वर्णन नहीं, जीवात्मा शरीर के परिमाण वाला नहीं होता। मन्त्र का सम्बन्ध अगले मन्त्रों के साथ है, यथा —

यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम्।
तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः ॥२९॥

(अमृतेन) अमृत द्वारा (आवृताम्) आवृत हुई, घिरी हुई, (ब्रह्मणः) ब्रह्म की (ताम्, पुरम्) उस पुरी को (यः) जो (वेद) जानता है, (तस्मै) उस के लिये (ब्रह्म च ब्राह्माः च) ब्रह्म और ब्रह्मोत्पादित शक्तियां, (चक्षुः) चक्षु आदि इन्द्रियां (प्राणम्) प्राण आदि पांच वायु, (प्रजाम्) तथा उत्तम जन्म (ददुः) देती हैं।

[मन्त्र में शरीर को ब्रह्मपुरी कहा है। यह अमृत ब्रह्म द्वारा आवृत है, सर्वव्यापक अमृत-ब्रह्म द्वारा सब ओर घिरी हुई है। "ब्राह्म" हैं ब्रह्मोत्पादित शारीरिक अङ्ग-प्रत्यङ्ग और शारीरिक विविध शक्तियां। जो व्यक्ति अपने आप को अन्दर बाहिर अमृत ब्रह्म द्वारा आवृत हुआ जान लेता है वह पापकर्म में प्रवृत्त नहीं होता और स्वयं भी अमृत होने की ओर पग बढ़ाता है। परिणाम में उस की इन्द्रियां, अन्तर्मुखी होकर उस की प्राण शक्तियों को बढ़ातीं, और उसे नई प्रजाति प्रदान करती हैं, द्विजन्मा रूप में उसे नया आध्यात्मिक जीवन प्रदान करती हैं]।

न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥३०॥

(वै) निश्चय से (तम्) उसे, (जरसः पुरा) जरावस्था से पूर्व, (न चक्षुः न प्राणः) न दृष्टि और न प्राण (जहाति) त्यागता है (यः) जोकि [शरीर को] (ब्रह्मणः पुरम्) ब्रह्म की पुरी रूप में जान लेता है, (यस्याः) जिस के सम्बन्ध से ब्रह्म (पुरुषः उच्यते) पुरुष कहा जाता है।

[जो निज शरीर को ब्रह्म-की-पुरी जानता है अर्थात् यह जानता है

कि इस पुरी का राजा ब्रह्म है, वह निज राजा द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चलने लगता है, जिस से कि उस की शारीरिक आदि शक्तियों का अपव्यय नियत काल से पूर्व, नहीं होने पाता। पुरुषः=पुरिशेते वसति वा इति, जोकि शरीर पुरी में शयन करता या वसता है]।

अ॒ष्टाच॑क्रा नव॑द्वारा दे॒वानां॒ पूर॑यो॒ध्या ।
तस्यां॑ हिर॒ण्ययः॒ कोशः॑ स्व॒र्गो ज्योति॒षावृ॑तः ॥३१॥

(अष्टाचक्रा) आठ चक्रों वाली, (नवद्वारा) नौ द्वारों वाली, (देवानाम्, पूः) इन्द्रिय-देवों की पुरी (अयोध्या) अयोध्या है। (तस्याम्) उस पुरी में (हिरण्ययः) सुवर्ण सदृश चमकीला (कोशः) कोश है, (स्वर्गः) जिसे कि स्वर्ग कहते हैं, (ज्योतिषा आवृतः) जो कि ब्राह्मीज्योति द्वारा घिरा हुआ है।

[अष्टाचक्रा=सुषुम्णा नाडी और मस्तिष्क में आठ चक्र हैं, यथा "मूलाधारचक्र, स्वाधिष्ठानचक्र, मणिपूरचक्र, अनाहतचक्र, विशुद्ध चक्र, आज्ञाचक्र, सहस्रारचक्र। आठवां चक्र सम्भवतः ब्रह्मरन्ध्र है, जोकि आज्ञा-चक्र और सहस्रारचक्र के मध्यवर्ती है। अथवा आठवां चक्र सम्भवतः "कुण्डलिनी" है। इन का विस्तृत विवरण "पातञ्जल योग प्रदीप" (आर्य साहित्य मण्डल, अजमेर) में द्रष्टव्य है।

नवद्वारा=दो आंखों के छिद्र, दो नासिकारन्ध्र, दो कर्णछिद्र, १ लिंग का, और १ गुदा का छिद्र—ये ९ द्वार हैं। अयोध्या=परमेश्वर प्रदर्शित मार्गों पर चलने से रोग, तथा काम क्रोध आदि शत्रुओं द्वारा शरीर पुरी पराजित नहीं होती, और न रोग आदि इस पुरी के साथ युद्ध करने की शक्ति ही रखते हैं। हृदय को हिरण्यय कोश कहा है जोकि ब्राह्मीज्योति द्वारा आवृत है, यह हृदय स्वर्ग है, जहां कि ब्रह्म के सन्निधान द्वारा सुख-विशेष की प्राप्ति होती है]।

तस्मि॑न् हिर॒ण्यये॒ कोशे॒ त्र्य॑रे॒ त्रिप्र॑तिष्ठिते ।
तस्मि॒न् यद् य॒क्षमा॒त्मन्व॒त् तद् वै ब्र॑ह्म॒विदो॑ विदुः ॥३२॥

(तस्मिन् हिरण्यये) उस सुवर्ण सदृश चमकीले, (त्र्यरे) तीन अरों वाले, (त्रिप्रतिष्ठिते) तथा तीन बन्धनों द्वारा स्थित कोश में अर्थात् (तस्मिन्)

ऐसे उस (कोशे) कोश में (यक्षम्)[1] पूज्य ब्रह्म (आत्मन्वत्) जोकि जीवात्मा वाला है, जीवात्मा का साथी है (तद्) उसे (वै) निश्चय से (ब्रह्मविदः) ब्रह्मवेत्ता (विदुः) जानते हैं।

[हिरण्ययकोश है हृदय (मन्त्र ३१)। त्र्यरे=अरे [Spokes] चक्र के घटकावयव होते हैं जो कि चक्र की नाभि तथा परिधि के बीच लगे रहते हैं। इसी प्रकार हृदय के घटक तीन गुण, अर्थात् सत्त्वगुण, रजोगुण, तथा तमोगुण, तीन अरों द्वारा अभिप्रेत प्रतीत होते हैं। हृदय भावनाओं का स्थान माना जाता है (मन्त्र २६)। भावनाएं भी तीन प्रकार की होती हैं, सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक। सुप्रतिष्ठिते=हृदय, शरीर में सुदृढरूप में प्रतिष्ठित है, स्थित है। यह तीन प्रकार के बन्धनों द्वारा सुदृढरूप में स्थित है। इस के तीन प्रकार के बन्धन हैं। एक प्रकार का बन्धन हृदय को फेफड़ों के साथ जोड़ता है, फैफड़ों में गन्दा-रक्त शुद्ध होता है। दूसरे प्रकार के बन्धन में वे नाड़ियां हैं जो कि शरीर के गन्दे-रक्त को हृदय में लाती हैं। तथा तीसरे प्रकार के बन्धन में वे नाड़ियां हैं, जिन द्वारा शुद्ध-रक्त शरीर में प्रवाहित होता है। गन्दा-रक्त[2] नील वर्ण का या काला होता है, और शुद्ध-रक्त[2] लाल वर्ण का होता है। इस प्रकार त्रिविध बन्धनों द्वारा हृदय बन्धा हुआ है। यक्षम्=यक्ष पूजायाम् (चुरादिः) ब्रह्म पूजनीय है, तभी इन्हें "सयुजा सखायौ" कहा है (अथर्व० ९।१४।२०)। अर्थात् साथ रहने वाले दो सखा, मित्र। हृदय सुवर्णसदृश चमकीला है [हिरण्यये कोशे, मन्त्र ३२], सम्भवतः लालरक्त के कारण या ब्राह्मप्रकाश के कारण, अथवा "विशोका वा ज्योतिष्मती" (योग १।३६) के कारण]।

प्र॒भ्राज॑मानां॒ हरि॑णीं॒ यश॑सा सं॒परी॑वृताम् ।
पुरं॑ हिर॒ण्ययीं॒ ब्रह्मा वि॑वे॒शाप॑राजिताम् ॥३३॥

(प्रभ्राजमानाम्) प्रदीप्यमान, (हरिणीम्) मनोहारिणी[3] या

१. केनोपनिषद् में "यक्ष" द्वारा ब्रह्म का वर्णन हुआ है (१५।२)।

२. गन्दा-रक्त दाएं ओर के दो प्रकोष्ठकों में होता है, और शुद्ध-रक्त बाएं ओर के दो प्रकोष्ठकों में। हृदय के चार प्रकोष्ठक होते हैं।

३. हिरण्ययी होने से मनोहारिणी।

क्लेश[1] हारिणी, (यशसा) यशस्वी ब्रह्म द्वारा (संपरीवृताम्) सम्यक् प्रकार से सब ओर आवृत अर्थात् घिरी हुई (मन्त्र ३१), (हिरण्ययीम्) सुवर्ण सदृश चमकीली, (अपराजिताम्) रोग, काम-क्रोधादि द्वारा अजेया (पुरम्) पुरी में, (ब्रह्म) ब्रह्म (आ विवेश) प्रविष्ट हो गया है।

काण्ड १० । सूक्त २ । सम्पूर्ण

—:०:—

१. इस में ब्रह्म के दर्शन हो जाने पर क्लेश हारिणी।

सूक्त ३

विषय प्रवेश

(१) सूक्त में "वरण" का वर्णन हुआ है। इस के दो अर्थ सूक्त में सङ्गत होते हैं। (१) शत्रुनिवारक सेनाध्यक्ष, (२) रोगनिवारक वरण-वनस्पति (८)। मन्त्रों में "अवारयन्त (३), "अवीवरन् (५), "वारयिष्यते" (४,६,८) द्वारा "वरण" का अर्थ "निवारक" ही प्रतीत होता है।

(२) सूक्त ३ में "मणि" द्वारा सेनाध्यक्षरूपी राज्यरत्न का निर्देश हुआ है (१,२,३,६)। "जातौ जातौ यदुत्कृष्टं तद् रत्नमभिधीयते" (मल्लिनाथ) द्वारा सेना में उत्कृष्ट सेनाध्यक्ष को मणि अर्थात् रत्न कहा है। मणि और रत्न समानार्थक हैं। "वरण" औषध भी वनस्पतियों में श्रेष्ठ है, अतः मणि है, रत्न है।

(३) मन्त्र १-७ में "वरण" द्वारा सेनाध्यक्ष तथा वरण-औषध का युगपत् वर्णन हुआ है। शेष मन्त्रों में किन्हीं में मुख्यरूप में वरण-औषध का, तथा किन्हीं में मुख्यरूप में सेनाध्यक्ष का वर्णन हुआ है।

(४) मन्त्र ९ से २५ तक में, प्रायः वरण द्वारा सेनाध्यक्ष का वर्णन सङ्गत होता है।

(५) प्रजापति और परमेष्ठी में स्वरूप भेद (२४)।

(६) वरण-राजा का उरस् [छाती] में निवेश (११)।

(७) कृत्या द्वारा परकीय सेना का वर्णन (४)। सूक्त ३ में "कृत्या" के वर्णन द्वारा, सूक्त ३ का सम्बन्ध कृत्या-सूक्त १ के साथ दर्शाया है।

—:०:—

मन्त्र १-२५। अथर्वा। मन्त्रोक्तवरणदेवत्यम्, उत वानस्पत्यम् चान्द्रमस्यम्। आनुष्टुभम्। २, ३, ६ भुरिक् त्रिष्टुभ्; ८, १३, १४ पथ्यापंक्ति; ११, १६ भुरिक्; १५, १७-२५ षट्पदा जगती।

सूक्त में "वरण" मणि का वर्णन है। वरण का अर्थ है "निवारण करने

वाला" । अतः रोगनिवारक, "वरण औषध", तथा "शत्रुनिवारक" सेनाध्यक्ष । इन दोनों का कई मन्त्रों में पृथक्-पृथक् तथा कईयों में दोनों का मिश्रित वर्णन भी हुआ है। अर्थात् सूक्त में "राष्ट्र के शत्रुओं" तथा "रोगरूपी शत्रुओं" के निवारण का वर्णन हुआ है।

अयं मे वरणो मणिः सपत्नक्षयणो वृषा ।
तेना रभस्व त्वं शत्रून् प्र मृणीहि दुरस्यतः ॥१॥

(मे) मेरा (अयम्, वरणः) यह शत्रुनिवारक [सेनाध्यक्ष] (मणिः) श्रेष्ठमणिरूप है, (सपत्नक्षयणः) शत्रुओं का क्षय करने वाला, (वृषा) और सुखों की वर्षा करने वाला है। (तेन) उस द्वारा (त्वम्) तू (शत्रून्, आरभस्व) शत्रुओं को पकड़ और (दुरस्यतः) दुःखदायी अस्त्रों के फैंकने वालों को (प्र मृणीहि) पूर्णतया मार।

[राजा, युद्ध की उपस्थिति में सेना के सर्वोच्चाधिकारी को आदेश देता है। तथा वैद्य रुग्णावस्था में रोगी के प्रति कहता है कि यह मुझ द्वारा प्रदत्त "वरण" नामक ओषधि श्रेष्ठमणिरूप है, इस द्वारा तू रोग-शत्रु का क्षय कर, यह तेरे लिए सुखप्रद है, इस द्वारा रोग या रोगोत्पादक कारणों का तू हनन कर, जो रोग या रोग-कारण तुझ पर प्रहार करते हैं। दुरस्यतः=दुर्+असु (क्षेपणे), (दिवादिः)+शतृ+द्वितीया बहुवचन]।

प्रैणाञ्छृणीहि प्र मृणा रभस्व मणिस्ते अस्तु पुर एता पुरस्तात् ।
अवारयन्त वरणेन देवा अभ्याचारमसुराणां श्वःश्वः ॥२॥

(एनान्) इन शत्रुओं की (प्र शृणीहि) तू पूर्णतया हिंसा कर, (प्र मृण) पूर्णतया इन्हें मार डाल, (आ रभस्व) इन्हें पकड़ ले, (ते) तेरा (मणिः) श्रेष्ठमणिरूप सेनाध्यक्ष (पुरस्तात्) शत्रु के सामने (पुरः एता) सेना से आगे-आगे (अस्तु) चले। (देवाः) विजिगीषु-सैनिक (वरणेन) शत्रुनिवारक इस सेनाध्यक्ष द्वारा (श्वः श्वः) आए दिन या प्रतिदिन होने वाले (असुराणाम्) असुरों के (अभ्याचारम्) अत्याचार को (अवारयन्त) निवारित करते रहे हैं।

[राजा की उक्ति सेना के सर्वोच्चाधिकारी के प्रति है, तथा वैद्य की उक्ति रोगी के प्रति है। छृणीहि शृणीहि, शृ हिंसायाम् (क्र्यादिः) मणि-शब्द=यथा चन्द्रमणिः, राज्यरत्न, चरणकमल, पद्मभूषण आदि की तरह

वस्तु की श्रेष्ठता का सूचक है। अवारयन्त तथा वरणः में एक ही धातु है, जिस का अर्थ है निवारण करना। देवाः=दिवु क्रीडा, विजिगीषा आदि (दिवादिः), तथा दिव्यगुणी वैद्यगण। असुराणाम्=प्राणवान् शक्तिमान् शत्रुसैनिक, तथा प्रबल रोग या रोगोत्पादक कारण। श्वः श्वः =इस द्वारा यह दर्शाया है कि सेनाध्यक्ष शत्रुनिवारण में परीक्षित है, तथा वरण-औषध रोग निवारण में परीक्षित है। श्वः श्वः=ह्यः ह्यः=गतेषु दिवसेषु। श्वः= टुओश्वि गतिवृद्ध्योः (भ्वादिः) गत्यर्थ में "गतेषु दिवसेषु" अर्थ उपपन्न हो सकता है। अवारयन्त में भूतकाल प्रतीत होता है, और श्वः श्वः में भविष्यत् काल। अतः श्वः श्वः=ह्यः ह्यः=हीनः कालः]।

अथवा "अवारयन्त", भूतकाल में निवारित करते रहे हैं, तथा "श्वः श्वः" भविष्यत् काल में भी निवारित करते रहेंगें]।

अयं मणिर्वरणो विश्वभेषजः सहस्राक्षो हरितो हिरण्ययः ।
स ते शत्रूनधरान् पादयाति पूर्वस्तान् दभ्नुहि ये त्वा द्विषन्ति ॥३॥

(अयम्) यह (वरणः) (मणिः) श्रेष्ठ औषध, तथा श्रेष्ठ सेनापति है, (विश्वभेषजः) सब रोगों के लिये औषधरूप है, तथा सब शत्रुओं के बिगड़े मस्तिष्कों की औषध है, (सहस्राक्षः) हजारों रोगों का क्षय करने वाली है, तथा हजारों योद्धाओं का क्षय करने वाला है, (हरितः) रोगहारी है, तथा शत्रुसंहारी है, (हिरण्ययः) हितकर और रमणीय है, तथा राष्ट्र के लिये हितकर अतः रमणीय है। (सः) वह (ते) हे रोगिन्! तेरे (शत्रून्) शत्रुरूप रोगों को (अधरान् पादयाति) नीचे गिरा देगा, तथा राष्ट्र के शत्रुओं को नीचे गिरा देगा, (पूर्वः) हे रोगिन्! तू प्रथम ही (तान्) उन रोगों का (दभ्नुहि) विनाश कर दे (ये) जोकि (त्वा) तेरे साथ (द्विषन्ति) द्वेष करते हैं, तुझे हानि पहुंचाते हैं, तथा हे सेनाध्यक्ष! तू प्रथम हो कर, उन्हें दबा दे या विनष्ट कर दे, जोकि तेरे अर्थात् तेरे राष्ट्र के साथ (द्विषन्ति) द्वेषभावना रखते हैं।

[मन्त्र में रोगरूपी शत्रु का मुख्यरूप में वर्णन है, और द्वेषी-राज्य का गौणरूप में। मन्त्र में उक्ति राजा की, तथा वैद्य की है। सहस्राक्षः=सहस्रा+क्षः (क्षय करने वाला)। हिरण्ययः=हिरण्यम् हितरमणं भवतीति वा हृदयरमणं भवतीति वा (निरुक्त २।३।१०)। रोग और शत्रु को, उस के उग्ररूप होने से पहिले ही कुचल देना चाहिये]।

अयं ते कृत्यां वितता पौरुषेयादयं भयात् ।
अयं त्वा सर्वस्मात् पापाद् वरणो वारयिष्यते ॥४॥

(अयम्) यह (वरणः) शत्रुनिवारक-सेनाध्यक्ष (ते) तेरे [विरोध में] (विततामु) विस्तृत (कृत्याम्) विनाशिनी सेना को (वारयिष्यते) निवारित करेगा, (अयम्) यह (पौरुषेयात्, भयात्) सैनिक पुरुषों से होने वाले भय से [तेरी रक्षा करेगा]। (अयम्) यह (सर्वस्मात् पापात्) शत्रु द्वारा किये जाने वाले सब पापकृत्यों से (त्वा) तुझे (वारयिष्यते) निवारित करेगा, तुझे सुरक्षित करेगा।

[मुख्यरूप में सेनाध्यक्ष के कर्तव्यों का वर्णन हुआ है। राजा की उक्ति सैनिक सर्वोच्चाधिकारी के प्रति है। मन्त्र में कृत्या का वर्णन हुआ है। इस द्वारा सूक्त का समन्वय पूर्व सूक्त १ के साथ दर्शाया है। सूक्त ३ गौणरूप में रोगरूपी कृत्या का भी वर्णन अभिप्रेत है। रोगरूपी कृत्या का वर्णन पूर्व सूक्त १ में नहीं हुआ। जनपद-ध्वंसी रोगों को "विततामु कृत्याम्" द्वारा निर्दिष्ट किया है। और "पौरुषेयाद् वधात्" द्वारा माता-पिता से प्राप्त होने वाले रोगों को निर्दिष्ट किया है (८)। "पापात्" द्वारा दर्शाया है कि रोग पापजन्य हैं। इस प्रकार "वरण-ओषधि का भी सम्बन्ध मन्त्र में है। मन्त्र में युद्ध को भी पापकर्म कहा है]।

वरणो वारयाता अयं देवो वनस्पतिः ।
यक्ष्मो यो अस्मिन्नाविष्टस्तमु देवा अवीवरन् ॥५॥

(अयम्) यह (देवः) दिव्यगुणों वाला (वरणः वनस्पतिः) वरण-नामक वनस्पति (वारयातै) तुझे [यक्ष्म रोग से] निवारित करे। (यः) जो (यक्ष्मः) यक्ष्म रोग (अस्मिन्) इस रोगी में (आविष्टः) प्रविष्ट हो गया था (तम्) उसे (देवाः) दिव्यगुणी वैद्यों ने (अवीवरन्) निवारित कर दिया है। इस प्रकार मन्त्र में औषध और वैद्य दोनों का वर्णन है।

[मन्त्र में मुख्यरूप से यक्ष्मरोग तथा वरण-ओषधि का वर्णन है। वरण नामक सेनाध्यक्ष का भी वर्णन गौणरूप में हुआ है। सेनाध्यक्ष पक्ष में यक्ष्म रोग है पराधीनता। और वनस्पति है वनों का भी स्वामी सेनाध्यक्ष, ताकि वह राष्ट्र के वनों में छिपे शत्रुओं को पकड़ सके। "अस्मिन्" का अभिप्राय है इस स्वकीय-राष्ट्र में। देवः=विजिगीषुसेनाध्यक्ष। देवाः=विजिगीषु निज सैनिक। [वनस्पतिः=वनानां धाताः पालयिता वा।

स्वप्नं सुप्त्वा यदि पश्यासि पापं मृगः सृतिं यति धावादजुष्टाम् ।
परिक्षवाच्छकुनेः पापवादादयं मणिर्वरणो वारयिष्यते ॥६॥

(स्वप्नम् सुप्त्वा) सोने से उठ कर (यदि) यदि (पापम्, पश्यासि) पाप अर्थात् बुरा दृश्य तू देखे कि (यति=यदि) यदि (मृगः) छिद्रान्वेषी शत्रुगुप्तचर (अजुष्टाम्) अप्रिय या उस द्वारा असेवित (सृतिम्) मार्ग में (धावात्) दौड़-धूप कर रहा है, या मृगरूपी शत्रु दौड़-धूप कर रहा है, तो उस दृश्य से; (परिक्षवात्) यदि सब ओर शोर-शराबा हो रहा है, उससे (शकुनेः) या शक्तिशाली शत्रु के (पापवादात्) पापमय कथनों से (अयं, वरणः, मणिः) यह शत्रुनिवारक श्रेष्ठ सेनाध्यक्ष (वारयिष्यते) उस सब का निवारण कर देगा।

[मन्त्र में वरणनामक सेनाध्यक्ष का मुख्यरूप में वर्णन है। "स्वप्नं-सुप्त्वा" में "क्त्वा" प्रत्यय द्वारा यह अर्थ होता है कि "सोकर उठने पर" अर्थात् जागने पर, न कि स्वप्नावस्था में। राजा या सेना का सर्वोच्चाधिकारी जागने पर यदि मन्त्रोक्त दृश्यों को देखता है तो उन के निवारण के लिये वह यत्नवान् होता है। "मृग" का अभिप्राय है "छिद्रान्वेषी गुप्तचर" "मृग अन्वेषणे" (चुरादिः), अथवा 'मृगः स मृगयुस्त्वम्' (अथर्व० १०।१।२६) अर्थात् शत्रु का सेनाध्यक्ष "मृग" है, और तू निज सेनाध्यक्ष 'मृगयु' है, मृग का शिकारी है। पापमय दृश्य निम्नलिखित मन्त्र में दर्शाए हैं, (१) शत्रुपक्ष के गुप्तचरों का राष्ट्र में घुस कर राष्ट्र के मार्गों में दौड़-धूप करना, (२) उन द्वारा राष्ट्र या राजधानी में सब ओर शोर मचाना। परिक्षव= परि (सब ओर)+क्षव (टक्षु शब्दे. अदादिः)। (३) पापवादात्= पापकथन, अर्थात् राजा या सेनाधिकारी की निन्दा और अपमानजनक शब्दों का कथन करना। मन्त्र में यत्किञ्चित् वरण-औषध का भी निर्देश किया है। "परिक्षव" का अर्थ है "सब ओर हो रही "छींकें", तथा "पापवादात्" का अर्थ है कण्ठ की बुरी आवाज, खांसना। ये अवस्थाएं जुकाम में हो जाती हैं। वरण-ओषधि के सेवन से ये अवस्थाएं निवारित हो सकती हैं। पैप्पलाद शाखा में "यति" के स्थान में "यदि" पाठ है]।

अरात्यास्त्वा निर्ऋत्या अभिचारादथो भयात् ।
मृत्योरोजीयसो वधाद् वरणो वारयिष्यते ॥७॥

(अरात्यः) अदानभावना अर्थात् कञ्जूसी से, (निर्ऋत्याः) कृच्छ्रापत्ति से, (अभिचारात्) शत्रु द्वारा किये गये घातक तथा दुःखप्रद कर्मों के प्रभाव से, (अथो) तथा (भयात्) अन्य प्रकार के भयों से, और (मृत्योः) मृत्यु सम्बन्धी (ओजीयसः) प्रबल (वधात्) वध के साधनों से (वरणः) वरण ओषधि (वारयिष्यते) तुझे सुरक्षित करेगी।

[मानसिक रोगों, मानसिक तथा शारीरिक कष्टों, भयावेश, तथा मृत्युकारी यक्ष्म, रक्ताल्पता, शरीर का पीलापन आदि रोगों से मुक्ति, वरण ओषधि द्वारा सम्भव है]।

यन्मे माता यन्मे पिता भ्रातरो यच्च मे स्वा यदेनश्चकृमा वयम्।
ततो नो वारयिष्यतेऽयं देवो वनस्पतिः ॥८॥

(यत् एनः) जो पाप (मे माता) मेरी माता ने, (यत् मे पिता) जो मेरे पिता ने, (यत् च) और जो (मे) मेरे (स्वाः भ्रातरः) अपने भाइयों ने, (यद्) जो (वयम्) हम सब ने मिल कर पाप (चकृम) किये हैं, (ततः) उन से (नः) हमें (अयम्) यह (देवः) दिव्यगुणों वाली (वनस्पतिः) वरण-वनस्पति (वारयिष्यते) निवारित कर देगी।

[वरण-ओषधि पापकर्मों के दुष्परिणामों अर्थात् शारीरिक, ऐन्द्रियिक और मानसिक हमारे रोगों को निवारित करे। वनस्पति का अर्थ "वनों का अधिपति" वरण-सेनाध्यक्ष करने पर अभिप्राय यह होगा कि वह हमें राष्ट्रिय-पापकर्मों के करने से भविष्य में, निवारित करता रहे]।

वरणेन प्रव्यथिता भ्रातृव्या मे सबन्धवः।
असूर्तं रजो अप्यगुस्ते यन्त्वधमं तमः ॥९॥

(वरणेन) शत्रुनिवारक सेनाध्यक्ष द्वारा (प्रव्यथिताः) उग्र व्यथा को प्राप्त हुई (मे) मेरे (भ्रातृव्याः) भाई की सन्तानें, (सबन्धवः) बन्धुओं सहित, (असूर्तम्) हम द्वारा अप्रेरित, अशासित (रजः) प्रदेशों में (अपि अगुः) चली गई हैं, छिप गई हैं। (ते) वे (अधमम् तमः) अधम तम अर्थात् अन्धकार को (यन्तु) प्राप्त हों।

[मन्त्र में सेनाध्यक्ष का वर्णन है। असुर और देव दोनों भाई हैं। "द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च" (बृहदा० उप० १।३।१)। असुर निज भोग प्रवृत्ति के कारण दूषित हो गए। परिणामतः उन की सन्तानें भी दुष्प्रवृत्तियों वाली हो गईं। ये सन्तानें हैं, भ्रातृव्य अर्थात् भाई के पुत्र आदि। इन के अन्य सम्बन्धी भी, अर्थात् इन के साथ जिन अन्यों ने वैवाहिक सम्बन्ध किये हैं वे हैं "सबन्धवः"। वे भी दूषितप्रकृति के सम्भावित हैं, "यतः समानशीलव्यसनेषु सख्यम्"। ऐसे व्यक्तियों को सेनाध्यक्ष उग्र व्यथाओं में डाले, ऐसा वैदिकविधान मन्त्र द्वारा द्योतित होता है। तथा उन्हें तमः प्रधान स्थानों में बन्द करदे, यह वेदोक्त दण्ड[1] है। असूर्तम्=अ+सू (प्रेरणे, तुदादिः)+क्त; रकारस्यागमः, अर्थात् हम शासकों द्वारा अप्रेरित, अशासित प्रदेश। रजः="लोका रजांस्युच्यन्ते" (निरुक्त ४।३।१९)। अप्यगुः=अपि+अगुः]।

अरिष्टोऽहमरिष्टगुरायुष्मान्त्सर्वपूरुषः।
तं माऽयं वरणो मणिः परि पातु दिशोदिशः ॥१०॥

(अहम्) मैं [राजा] (अरिष्टः) हिंसा से बच गया हूं, (अरिष्टगुः) मेरी राष्ट्रभूमि हिंसारहित हो गई है, (सर्वपूरुषः) मैं सब पुरुषों समेत (आयुष्मान्) सुरक्षित हो गया हूं। (अयम्, वरणः, मणिः) यह श्रेष्ठ, शत्रु-निवारक सेनाध्यक्ष (तम्, मा) उस मुझ को (दिशः दिशः) प्रत्येक दिशा से (परिपातु) सब प्रकार से सुरक्षित करे।

[अरिष्टगुः="गौः पृथिवीनाम" (निघं० १।१), अथवा युद्ध के न होने से मेरे राष्ट्र की गोसम्पत् बच गई है]।

अयं मे वरण उरसि राजा देवो वनस्पतिः।
स मे शत्रून् वि बाधतामिन्द्रो दस्यूनिवासुरान् ॥११॥

(अयम्) यह (वरणः) शत्रुनिवारक सेनाध्यक्ष (मे) मेरे (उरसि) हृदय में [बस गया है], (वनस्पतिः देवः) वनों की रक्षा करने वाला यह देव (राजा) वस्तुतः राष्ट्र का राजा है। (सः) वह (मे शत्रून्) मेरे शत्रुओं को (वि बाधताम्) विशेषरूप में विलोडित करे (इव) जैसे कि (इन्द्रः) सम्राट् (दस्यून्, असुरान्) दस्युओं और असुरों को विलोडित करता है।

[बाधताम्=बाधृ विलोडने (भ्वादिः। विलोडन=कम्पाना। इन्द्रः=सम्राट् (यजु० ८।३७)। दस्यून्=दसु उपक्षये (दिवादिः), क्षय करने वाले अत्याचारी डाकू आदि। असुरान् (मन्त्र १०)]।

---

[1] अपराधियों की अनुपस्थिति में भी यह दण्ड है।

इमं बिभर्मि वरणमायुष्मान्छतशारदः ।
स मे राष्ट्रं च क्षत्रं च पशूनोजश्च मे दधत् ॥१२॥

(इमम्) इस (वरणम्) शत्रुनिवारक सेनाध्यक्ष का (दधत्) धारणपोषण करता हुआ मैं राजा (आयुष्मान्) दीर्घ आयु वाला, (शतशारदः) सौ वर्षों का (बिभर्मि) हो गया हूं। (सः) वह सेनाध्यक्ष (मे) मेरे (राष्ट्रम् च) राष्ट्र का, (क्षत्रम् च) और क्षात्रशक्ति तथा धन सम्पत् का, (मे पशून्, ओजः च) मेरे पशुओं और ओज का (दधत्) धारण-पोषण करता है।

[क्षत्रं धननाम (निघं० २।१०)]।

यथा वातो वनस्पतीन् वृक्षान् भनक्त्योजसा ।
एवा सपत्नान् मे भङ्ग्धि पूर्वान् जाताँ उतापरान् वरणस्त्वाऽभि रक्षतु ॥१३॥

(यथा) जैसे (वातः) प्रबल वायु (ओजसा) ओज द्वारा (वनस्पतीन्) वन के बड़े-बड़े (वृक्षान्) वृक्षों को (भनक्ति) भग्न करती है, तोड़ देती है, (एवा) इसी प्रकार [हे सेना के सर्वोच्चाधिकारिन् !] तू (पूर्वान् जातान्) पूर्व काल के, (उत) और (अपरान्) उन से भिन्न अवर काल के, (मे) मेरे (सपत्नान्) शत्रुओं को (भङ्ग्धि) तोड़-फोड़ दे। हे राजन् ! (त्वा) तुझे (वरणः) शत्रुनिवारक सेनाध्यक्ष (अभिरक्षतु) सब ओर से सुरक्षित करे।

[राष्ट्र के शत्रु जब बहुसंख्या में हो जांय, तब उन के पूर्ण संहार के लिये राजा, सेना के सर्वोच्चाधिकारी को आज्ञा दे। यह अधिकारी तब स्वयं अग्रसर हो कर, शत्रु सेनाओं के साथ युद्ध करने में व्यापृत हो जाता है। ऐसी अवस्था में, जब कि समग्रसेना युद्ध में व्यापृत हो, कहीं प्रजा बलवा न करदे, इसलिये सर्वोच्चाधिकारी सुपरीक्षित वरण को राजा और राजधानी की सुरक्षा के लिये नियुक्त करता है, और राजा को आश्वासन देता है कि वरण तुम्हारी रक्षा सब ओर से करेगा।

यथा वातश्चाग्निश्च वृक्षान् प्सातो वनस्पतीन् ।
एवा सपत्नान् मे प्साहि पूर्वान् जाताँ उतापरान् वरणस्त्वाऽभि रक्षतु ॥१४॥

(यथा) जिस प्रकार (वातः च अग्निः च) प्रबल वायु और अग्नि (वनस्पतीन् वृक्षान्) वन के पति अर्थात् बड़े-बड़े वृक्षों का (प्सातः) भक्षण करते हैं, उन्हें विनष्ट करते हैं, (एवा) इसी प्रकार [हे सेना के सर्वोच्चाधिकारिन् !] तू (पूर्वान् जातान्) पूर्वकाल के, (उत) और (अपरान्) उन से भिन्न अवरकाल के (मे) मेरे (सपत्नान्) शत्रुओं को (भङ्ग्धि) तोड़-फोड़ दे। हे राजन् ! (त्वा) तुझे (वरणः) शत्रुनिवारक-सेनाध्यक्ष (अभि रक्षतु) सब ओर से सुरक्षित करे।

[वायु के प्रबल प्रवाह में वनाग्नि के अधिक प्रचण्ड हो जाने से मानो वायु और अग्नि दोनों वनों का भक्षण करते हैं। अभिप्राय पूर्ववत् (१३)। प्सातः प्सा भक्षणे (अदादिः)]।

यथा वातेन प्रक्षीणा वृक्षाः शेरे न्यर्पिताः ।
एवा सपत्नांस्त्वं मम प्र क्षिणीहि न्यर्पय पूर्वान् जाताँ उतापरान् वरणस्त्वाऽभि रक्षतु ॥१५॥

(यथा) जिस प्रकार (वातेन) प्रबल वायु द्वारा (प्रक्षीणाः) अत्यन्त निर्बल हुए (वृक्षाः) वृक्ष (शेरे=शेरते) भूशायी हो जाते हैं, और [भूमि के प्रति] (न्यर्पिताः) नितरां समर्पित हो जाते हैं, (एवा) इसी प्रकार [हे सेना के सर्वोच्चाधिकारिन् !] (त्वम्) तू (पूर्वान् जातान्) पूर्वकाल के (उत) और (अपरान्) उन से भिन्न अवर काल के (मम सपत्नान्) मेरे शत्रुओं को (प्रक्षिणीहि) अत्यन्त निर्बल कर; (न्यर्पय) और [मेरे प्रति] उन्हें नितरां अर्पित कर। हे राजन् ! (त्वा) तुझे (वरणः) शत्रुनिवारक सेनाध्यक्ष (अभि रक्षतु) सब ओर से सुरक्षित करे। [अभिप्राय पूर्ववत् (१३)। प्रबल वायु के चलने पर वृक्ष क्षीण होकर भूशायी हो जाते हैं]।

तांस्त्वं प्र च्छिन्द्धि वरण पुरा दिष्टात् पुरायुषः ।
य एनं पशुषु दिप्सन्ति ये चास्य राष्ट्रदिप्सवः ॥१६॥

(वरण) हे शत्रुनिवारक-सेनाध्यक्ष! (त्वम्) तू (तान्) उन्हें (दिष्टात् पुरा) राजा द्वारा निर्देश पाने से पहिले ही (प्रच्छिन्द्धि) छिन्न-भिन्न कर दे (पुरा आयुषः) चाहे वे अल्प आयु के ही हों, (ये) जोकि (एनम्) इस

राजा को (पशुषु) पशुओं की प्राप्ति के निमित्त (दिप्सन्ति) मारना चाहते हैं, या इसके साथ दम्भ अर्थात् छल-कपट करना चाहते हैं, (ये च) और जो (अस्य) इस राजा के (राष्ट्रदिप्सवः) राष्ट्रच्युति के निमित्त उसे मारना चाहते हैं या उसके साथ दम्भ अर्थात् छल-कपट करना चाहते हैं।

[दिप्सवः, "दम्नोति वधकर्मा" (निघं० २।१९); तथा दम्भु दम्भने (स्वादिः), दम्भनम्=छल-कपट। सेना का सर्वोच्चाधिकारी, युद्धनिमित्त प्रस्थान करते समय, राजा और राष्ट्र की रक्षा के लिये निर्देश देता है। पुरायुषः="छोटी आयु का शत्रु है, इस का विचार न करते हुए, दिप्सु के वध करने का निर्देश हुआ है]।

यथा सूर्योऽअतिभाति यथाऽस्मिन् तेज आहितम्।
एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु
तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा ॥१७॥

(यथा) जैसे (सूर्यः अतिभाति) सूर्य खूब चमकता तथा दूर-दूर तक चमकता है, (यथा) जैसे (अस्मिन्) इस सूर्य में (तेजः) तेज (आहितम्) स्थित है। (एवा) इसी प्रकार (वरणः मणिः) श्रेष्ठ तथा शत्रुनिवारक सेनाध्यक्षरूपी राज्यरत्न (मे) मुझ [राजा] में (कीर्त्तिम्) कीर्ति को और (भूतिम्) वैभव को (नियच्छतु) नियत करे, स्थापित करे, (तेजसा) तेज से (मा) मुझे (समुक्षतु) सम्यक्-सींचे, (यशसा) यश से (मा) मुझे (समनक्तु) सम्यक्-कान्तिमान् करे।

[समुक्षतु=सम्+उक्ष (सेचने, भ्वादिः)। समनक्तु=सम्+अञ्जू कान्तौ (रुधादिः)]।

यथा यशश्चन्द्रमस्यादित्ये च नृचक्षसि।
एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु
तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा ॥१८॥

(यथा) जैसे (यशः) यश (चन्द्रमसि, आदित्ये च नृचक्षसि) मनुष्यों पर दृष्टि रखने वाले चन्द्रमा और आदित्य में है। (एवा) इसी प्रकार (वरणः मणिः) श्रेष्ठ तथा शत्रुनिवारक सेनाध्यक्षरूपी राज्यरत्न (मे) मुझ राजा में (कीर्त्तिम्) कीर्त्ति को, और (भूतिम्) वैभव को (नि यच्छतु) नियत करे, स्थापित करे, (तेजसा) तेज से (मा) मुझे (समुक्षतु) सम्यक् सींचे, (यशसा) यश से (मा) मुझे (समनक्तु) सम्यक्-कान्तिमान् करे।

["नृचक्षसि" का अन्वय चन्द्रमा और आदित्य दोनों के साथ है। आदित्य दिन के समय, और चन्द्रमा रात्रि के समय "नृचक्षाः" है। मन्त्र में राजा भी यश की प्राप्ति का इच्छुक है। राजा भी चन्द्रमा[1] और आदित्य[1] के दृष्टान्त द्वारा "नृचक्षाः" होने के यश का अभिलाषी है। वह भी चाहता है कि प्रजाजनों पर उस की सदा दृष्टि रहे, प्रजाजनों के सुख-दुःख तथा समुन्नति उस की दृष्टि में सदा रहें]।

यथा यशः पृथिव्यां यथाऽस्मिन् जातवेदसि।
एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु
तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा ॥१९॥

(यथा) जिस प्रकार (पृथिव्यां यशः) पृथिवी में यश है, (यथा) जिस प्रकार (अस्मिन् जातवेदसि) इस यज्ञिय-जातवेदा-अग्नि में यश है। (एवा) इसी प्रकार (वरणः मणिः) श्रेष्ठ शत्रुनिवारक-सेनाध्यक्षरूपी राज्यरत्न (मे) मुझ में (कीर्तिम् भूतिम्) कीर्ति और वैभव को (नियच्छतु) नियत करे, स्थापित करे, (तेजसा) तेज से (मा) मुझे (समुक्षतु) सम्यक सींचे, (यशसा) यश से (मा) (समनक्तु) सम्यक्-कीर्तिमान् करे।

[राजा "पृथिवी के और जातवेदाः के 'यश के सदृश, यश प्राप्त करना चाहता है। "पृथिवी धेनुस्तस्या अग्निर्वत्सः। सा मेऽग्निना वत्सेनेषमूर्जं कामं दुहाम्" (अथर्व० ४।३९।२) में "पृथिवी और अग्नि" से इष् अर्थात् अभीष्ट अन्न, ऊर्ज अर्थात् बल-प्राण, तथा रसीले दुग्ध तथा अन्नरस, और अन्य काम अर्थात् काम्यपदार्थों की प्राप्ति का वर्णन हुआ है। व्याख्येय मन्त्र १९ में राजा, प्रजाओं के लिये, इन वस्तुओं की प्राप्ति का यश चाहता है। ये वस्तुएं तभी प्राप्त हो सकती हैं, जब कि राज्य में शान्ति हो, तदर्थ राजा सेनाध्यक्ष की सहायता का आकांक्षी है। अन्नादि की प्राप्ति पृथिवी से होती है, परन्तु इस निमित्त जातवेदाः अग्नि का भी सहयोग चाहिये।

१. चन्द्रमा शीतल है, और आदित्य तीक्ष्ण। राजा भी इन दोनों दृष्टियों द्वारा शासन करना चाहता है।

यथा "अग्नौ प्रास्ताहुतिस्तावदादित्यमुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टिः "वृष्टेरन्नम्" ततः प्रजाः" । अग्नि अर्थात् जातवेदाः भी अन्नोत्पादन में सहायक होती है] ।

यथा यशः कन्यायां यथास्मिन्त्संभृते रथे ।
एवा मे वरुणो मणिः कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु
तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा ॥२०॥

(यथा) जैसा (यशः) (कन्यायाम्) कन्या में है, (यथा) जैसा यश (अस्मिन् रथे) इस रथ में (संभृतम्) हार आदि संभारों द्वारा एकत्रित हुआ है । (एवा) इसी प्रकार (मे) मुझ में (वरणः मणिः) श्रेष्ठरत्नरूप शत्रुनिवारक-सेनाध्यक्ष (कीर्तिम्, भूतिम्) कीर्ति और वैभव (नियच्छतु) नियत करे, स्थापित करे, (तेजसा) तेज द्वारा (मा) मुझे (समुक्षतु) सम्यक्-सींचे, (यशसा) यश से (मा) मुझे (समनक्तु) सम्यक्-कान्तिमान् करे ।

[मन्त्र में विवाह-योग्य कन्या का, तथा विवाह के पश्चात् कन्या ने जिस रथ द्वारा पति की ओर जाना है, उस की सजावट का वर्णन हुआ है । कन्या के सम्बन्ध में कहा है कि "कन्या कमनीया भवति, "कनतेर्वा स्यात् कान्तिकर्मणः" (निरुक्त ४।२।१४) । अर्थात् कन्या को लोग चाहते हैं, या कन्या विवाह काल में कान्ति से सम्पन्न होती है । राजा भी इस यश को प्राप्त करना चाहता है । वह चाहता है कि सब प्रजाएं मुझे चाहें, यथा "विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु" (अथर्व० ४।८।६।८७।१) अर्थात् सब प्रजाएं तुझे चाहें । तथा राजा ऐसे रथ[1] के सदृश राज्यश्री द्वारा सुशोभित भी होना चाहता है] ।

यथा यशः सोमपीथे मधुपर्के यथा यशः ।
एवा मे वरुणो मणिः कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु
तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा ॥२१॥

(यथा) जैसा (यशः) यश (सोमपीथे) सोम के पान में है, (यथा) जैसा (यशः) यश (मधुपर्के) मधुपर्क में है । (एवा) इसी प्रकार (मे) मुझ में (वरुणः मणिः) श्रेष्ठरत्नरूप शत्रुनिवारक-सेनाध्यक्ष (कीर्तिम्, भूतिम्)

1. कन्या का रथ, (अथर्व० १४।१।६१; २।१०,१२,३०) ।

कीर्ति और वैभव (नियच्छतु) नियत करे, स्थापित करे । (तेजसा) तेज द्वारा (मा) मुझे (समुक्षतु) सम्यक्-सींचे, (यशसा) यश से (मा) मुझे (समनक्तु) सम्यक्-कान्तिमान् करे ।

[सोम ओषधि के रस के पान के आश्चर्ययुक्त गुणों का वर्णन वेदों में हुआ है, संक्षेप में यह शरीर में बल प्रदान करता, इन्द्रियों में स्फूर्ति, तथा मन की मननशक्ति को बढ़ाता है । मधुपर्क में ३ पदार्थ होते हैं मधु, दधि और घृत । ये आयुष्कर और स्वास्थ्यवर्धक तथा मीठे होते हैं । राजा इन्हें प्रजा के लिये प्राप्त कर प्रजा में यशस्वी होने का अभिलाषी है । सेनाध्यक्ष द्वारा राज्य में शान्तवातावरण होने से ये वस्तुएं प्राप्त हो सकती हैं । मधुपर्क विवाह के समय वर को दिया जाता है । मन्त्र २० में कन्या और उस के संभृत-रथ का वर्णन हुआ है, और मन्त्र २१ में मधुपर्क का । अतः इन दो मन्त्रों में पारस्परिक समन्वय दर्शाया है । मधुपर्क द्वारा विवाह की सूचना दे कर, भविष्य में होने वाली सन्तानों की सात्विक पुष्टि के लिये, "सोमपीथे" द्वारा एक निर्देश भी किया है । "सोमपीथे" द्वारा मातृदुग्ध को सोम सदृश पुष्टिकारक सूचित किया है । वैदिक साहित्य में सोम[1] पद दुग्ध के लिये भी प्रयुक्त होता है] ।

यथा यशोऽग्निहोत्रे वषट्कारे यथा यशः ।
एवा म वरुणो मणिः कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु
तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा ॥२२॥

(यथा) जैसा (यशः) यश (अग्निहोत्रे) अग्निहोत्र में है, (यथा) जैसा (वषट्कारे) वषट् के उच्चारण में है । (एवा) इसी प्रकार (मे) मुझ में (वरणः, मणिः) श्रेष्ठ तथा रत्नरूप शत्रुनिवारक-सेनाध्यक्ष (कीर्तिम्) कीर्ति को (भूतिम्) वैभव को (नियच्छतु) नियत करे, स्थापित करे, (तेजसा) तेज द्वारा (मा) मुझे (समुक्षतु) सम्यक् सींचे, (यशसा) यश द्वारा (मा) मुझे (समनक्तु) सम्यक्-कान्तिमान् करे ।

[मन्त्र में अग्निहोत्र तथा याज्यामन्त्रों द्वारा सम्पाद्य यज्ञ का वर्णन हुआ है । "वषट्" शब्द के उच्चारण पूर्वक आहुति प्रदान, याज्यामन्त्र की

1. "अनूपे गोमान् गोभिरक्षाः सोमो दुग्धाभिरक्षाः" (ऋ० ९।१०७।९) ।

समाप्ति पर किया जाता है। अग्निहोत्र में आहुति-प्रदान, "स्वाहा" शब्द के उच्चारण पूर्वक होता है। स्वाहा+सु (उत्तम पूर्वक)+आ (पूर्णतया) +हा (त्याग); "ओहाक् त्यागे" (जुहोत्यादिः)। "वषट्" शब्द भी त्यागार्थक है। वह (प्रापणे)+असु (भुवि)+शतृ=व+स्+अत्=वसत्= वषट्। "ह-और-अ" का लोप, तथा स्-को-ष्, वर्ण विकार द्वारा। अतः वषट् का अर्थ "वह" (प्रापणे) के सदृश ही है।

[राजा भी राष्ट्रयज्ञ रचाता हुआ, त्यागभावना का अभिलाषी हो कर, यश का भागी होना चाहता है। तथा राज्य में अग्निहोत्र तथा यज्ञों का प्रचार-विस्तार चाहता हुआ, इस यश का भी भागी होना चाहता है]।

यथा यशो यजमाने यथाऽस्मिन् यज्ञ आहितम्।
एवा मे वरुणो मणिः कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु
तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा ॥२३॥

(यथा) जैसा (यशः) यश (यजमाने) यजमान में तथा (यथा) जैसा (अस्मिन् यज्ञे) इस यज्ञ में (आहितम्) निहित है, स्थापित है। (एवा) इसी प्रकार (मे) मुझ में (वरणः मणिः) श्रेष्ठ तथा रत्नरूप शत्रुनिवारक-सेनाध्यक्ष (कीर्तिम्) कीर्ति को, (भूतिम्) वैभव को (नियच्छतु) नियत करे, स्थापित करे, (तेजसा) तेज से (मा) मुझे (समुक्षतु) सम्यक्-सींचे, (यशसा) यश द्वारा (मा) मुझे (समनक्तु) सम्यक्-कान्तिमान् करे।

[यजमान का अर्थ है यज्ञ करने वाला, अर्थात् देवपूजा, सत्संगति, तथा दान करने वाला। यज्ञ का भी अर्थ है वह कर्म, जिस में कि देवों की पूजा हो, सत्संगति हो, तथा दान दिया जाय। राजा भी यजमान बन कर, राष्ट्र यज्ञ को रचाने का संकल्प कर के, राष्ट्र के देवों की पूजा, उनके सत्संग, तथा उन्हें दान देने का अभिलाषी है]।

यथा यशः प्रजापतौ यथाऽस्मिन् परमेष्ठिनि।
एवा मे वरुणो मणिः कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु
तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा ॥२४॥

(यथा) जैसा (यशः) यश (प्रजापतौ) प्रजापति में, तथा (यथा) जैसा (अस्मिन्) इस (परमेष्ठिनि) परमेष्ठी में है। (एवा) इसी प्रकार (मे) मुझ में (वरणः मणिः) श्रेष्ठ रत्नरूपी शत्रुनिवारक-सेनाध्यक्ष (कीर्तिम्) कीर्ति को और (भूतिम्) वैभव को (नियच्छतु) नियत करे, स्थापित करे, (तेजसा) तेज से (मा) मुझे (समुक्षतु) सम्यक्-सींचे, (यशसा) यश द्वारा (मा) मुझे (समनक्तु) सम्यक्-कान्तिमान् करे।

[मन्त्र में प्रजापति और परमेष्ठी - इन दो स्वरूपों का कथन किया है। "प्रजापति" द्वारा ब्रह्मरूप का, तथा "परमेष्ठी" द्वारा जगत्स्रष्टृत्वरूप परमेश्वर का। इसीलिये "परमेष्ठिनि" का निर्देश "अस्मिन्" पद द्वारा किया है, जो कि संमुख तथा समीपस्थ है। परमेष्ठी के स्वरूप के सम्बन्ध में कहा है कि "ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम्" (अथर्व० १०।७।१७), अर्थात् जो तत्त्ववेत्ता, पुरुष अर्थात् शरीर-पुरी में शयन करने वाले या वसने वाले जीवात्मा में ब्रह्म को स्थित हुआ जानते हैं, वे ब्रह्म के परमेष्ठी स्वरूप को जानते हैं। परमेष्ठी का अर्थ है "परम-स्थान में स्थित। परमेश्वर की स्थिति के दो स्थान हैं "प्रकृति और प्राकृतिक पदार्थ" तथा जीवात्मा। प्रकृति और प्राकृतिक पदार्थ "अवर" हैं, और जीवात्मा "परम" है। इस "परम" में स्थित को समीपस्थ जान कर इसे "अस्मिन्" पद द्वारा निर्दिष्ट किया है। तथा "परमेष्ठी" के लिये देखो (अथर्व० १०।२।२०।२१)। वहां प्रकरणानुरूप "परमेष्ठी"[1] का अर्थ जीवात्मा किया है। (अथर्व० १०।२।२०,२१) के २१ वें मन्त्र में "ब्रह्म-और-परमेष्ठी" इन दो का वर्णन हुआ है, और व्याख्येय मन्त्र में "प्रजापति-और-परमेष्ठी" का वर्णन हुआ है। अतः व्याख्येय मन्त्र में प्रजापति द्वारा ब्रह्म का ग्रहण सुसंगत प्रतीत होता है]।

"प्रजापति" का यश है कि वह सब प्रजाओं का पति होता हुआ, प्रलय-काल में निर्लिप्त हुआ, शयन सा कर रहा होता है, और वही सर्जन काल में प्रबुद्ध सा हुआ परमेष्ठीरूप हो जाता है। जैसे कि शयन कर रहा धन-पति, शयनावस्था में भी निजधन का पति होता है, और प्रबुद्ध हो जाने पर निजधन द्वारा व्यापारादि कर्म करता है। राजा भी शासन में दो स्वरूपों का यश चाहता है। अप्रबुद्धावस्था[2] में भी वह शासक होने का यश चाहता है, और प्रबुद्धावस्था में भी। इन दोनों अवस्थाओं में उसके शासकत्व की सुरक्षा "वरणमणि" करता है]।

---

१. वैदिक पदों के यौगिकार्थ की दृष्टि से, प्रकरणानुरूप, भिन्न-भिन्न अर्थ भी उपादेय हैं।
२. देखो मन्त्र (६)।

यथा देवेष्वमृतं यथैषु सत्यमाहितम् ।
एवा मे वरुणो मणिः कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु
तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा ॥२९॥

(यथा) जैसे (देवेषु) दिव्यगुणी व्यक्तियों में (अमृतम्) अमर-परमेश्वर या अमृतत्व अर्थात् मोक्ष, और (यथा) जैसे (एषु) इन में (सत्यम्) सत्यभाषण आदि व्यवहार (आहितम्) निहित होता है। (एवा) इसी प्रकार (मे) मुझ में (वरणः मणिः) श्रेष्ठरत्नरूपी शत्रुनिवारक-सेनाध्यक्ष (कीर्तिम्) कीर्ति को, और (भूतिम्) वैभव को (नि यच्छतु) नियत करे स्थापित करे (तेजसा) तेज से (मा) मुझे (समुक्षतु) सम्यक्-सींचे, (यशसा) यश द्वारा (मा) मुझे (समनक्तु) सम्यक्-कान्तिमान् करे।

[अमृतम्=न मरने वाला अमर-परमेश्वर, अ+मृ (मरणे)+क्तः (कर्तरि)। अथवा अ+मृ+क्त (भावे), अर्थात् अमृतत्व, मोक्ष। मन्त्र में देवों में "यशः" का वर्णन नहीं किया, जैसे कि पूर्व के मन्त्रों में हुआ है। सम्भवतः मन्त्र में यह दर्शाया है कि "देवों" में अमृत और सत्य की स्थिति ही उन का "यशः" है।

काण्ड १० । सूक्त ३ । सम्पूर्ण

—:०:—

सूक्त ४

विषय प्रवेश

(१) "अस्मिन् सूक्ते नानाः सर्पाः, तेषां च विषाणि, तत्प्रतीकाराश्च कविता वाग्विषयः। सर्पविषभैषज्ये च मन्त्राः। सर्पविषहारिकाश्च काश्चिदोषधयः" (सायण)। अर्थात् इस सूक्त में नाना सर्पों, उन के विषों, और उनके प्रतीकार का वर्णन कविता में किया है। सर्पविषचिकित्सा तथा सर्पविष का हरण करने वाली कतिपय ओषधियों का भी वर्णन हुआ है।

(२) विद्युत्, मिट्टी आदि दिव्य पदार्थों, जल चिकित्सा, तथा विष का विष द्वारा विनाश का प्रयोग (मन्त्र १); दर्भ और तरूणक का प्रयोग (मन्त्र २), श्वेत पुनर्नवा की तथा श्वेत सर्षप की जड़ों का प्रयोग (मन्त्र ३)।

(३) सर्प के नाश के लिये "न्योले" का प्रयोग (मन्त्र ४); पैद्व [न्योले] का उपयोग और उस की पहिचान (मन्त्र ६, ७,१०,११)। सांप को दण्ड द्वारा तथा विच्छु को हथौड़े द्वारा मारना (मन्त्र ९)।

(४) कैरातिका कुमारिका सर्पिणी द्वारा खोदी गई भेषज सम्भवतः सर्पविषनाशक है (मन्त्र १४)।

(५) युवा भिषक्=सम्भवतः युवावस्था[1] का न्योला (मन्त्र १५), कविता में।

(६) वर्षर्तु में सर्पाभिव्यक्ति (मन्त्र १६, १७)।

(७) नदी के बहते-प्रवाह में जा कर, जल चिकित्सा द्वारा सर्प विष का निराकरण, (मन्त्र १९, २०)।

(८) ओषधियां दो प्रकार की, (१) विषनाशक; (२) तथा स्वास्थ्य-वर्धक (मन्त्र २१)।

---

१. बूढ़ा न्योला सर्पयुद्ध में असमर्थ हो जाता है।

(९) विष के नाना प्रकार (मन्त्र २२)।

(१०) अग्निप्रधान प्रदेशों, ओषधियों तथा जलों में उत्पन्न सर्प (मन्त्र २३)।

(११) घृतकुमारी की जड़ विषनाशक, तथा सर्प को व्यथादायिनी (मन्त्र २४)।

(१२) तौदी या घृतकुमारी की जड़, तथा अग्नि और सोम, शरीर-प्रविष्ट सर्पविष के प्रतिबन्धक, तथा निवारक हैं (मन्त्र २४, २५)। विष द्वारा सर्पविष का विनाश (२५)।

—:०:—

मन्त्र संख्या १-२६। गरुत्मान-तक्षक देवता। अनुष्टुप्; १ पथ्यापंक्तिः; २ त्रिपदा यवमध्या गायत्री; ३, ४ पथ्याबृहती; ८ उष्णिग्गर्भा परा-त्रिष्टुप्; १२ भुरिग् गायत्री; १६ त्रिपदा प्रतिष्ठागायत्री; २१ ककुम्मती; २३ त्र्यवसाना षट्पदाबृहतीगर्भा ककुम्मती भुरिक्त्रिष्टुप्।

इन्द्रस्य प्रथमो रथो देवानामपरो रथो वरुणस्य तृतीय इत्।
अहीनामपमा रथं स्थाणुमारदथार्षत् ॥१॥

(इन्द्रस्य) विद्युत् की (रथः) गति [सर्पविष चिकित्सा में] (प्रथमः) प्रथम कोटि की है और (देवानाम्) अन्य दिव्यपदार्थों [मिट्टी का लेप, दष्टस्थान का जलाना आदि] की (रथः) गति (अपरः) द्वितीय कोटि की है, (वरुणस्य) जल की [रथः] गति (तृतीयः इत्) तीसरी कोटि की है, (अहीनाम्) सांपों की (रथः) गति (अपमा) अपमानित[1] सी है। विष (स्थाणुम्) एक नियत स्थान में (आरत्) आ गया है, (अथ) और (अर्षत्=अरिषत्) विनष्ट हो गया है।

[निरुक्त में वायु या इन्द्र को अन्तरिक्ष स्थानी देवता माना है (अध्या० १०, पाद १), "इन्द्र" है विद्युत् जो कि मेघ में चमकता है। सर्प के विष के प्रभाव को नष्ट करने में विद्युत्-धारा का प्रयोग करना सर्वोत्तम उपाय है। "वरुण" है जल का देवता। यथा "वरुणोऽपामधिपतिः" (अथर्व० ५।२४।४),

१. प्रथम वर्णित ३ उपायों की अपेक्षया कम लाभप्रद है।

इस द्वारा जलचिकित्सा सूचित की है। "देवानाम्" द्वारा मिट्टी का प्रलेप आदि दैवी चिकित्सा निर्दिष्ट की है। "अहीनाम्" द्वारा "विषस्य विषमौषधम्" के सिद्धान्त को सूचित किया है, अर्थात् विष के प्रयोग द्वारा विष का विनाश। यह सिद्धान्त होम्योपेथिक के सिद्धान्त सदृश है।

"रथः" का अर्थ रथ अभिप्रेत नहीं, अपितु रथ की गति अभिप्रेत है। यथा "रथः रंहतेर्वा स्यात्, रंहतेः गतिकर्मणः" में रथ शब्द गत्यर्थप्रधान है। (निरु० ९।२।११), तथा "रथयति गतिकर्मा" (निरु० २।१४) में भी रथ पद सर्वाधिक गतिमान् है, इत्यादि]।

दर्भः शोचिस्तरूणकमश्वस्य वारः परुषस्य वारः।
रथस्य बन्धुरम् ॥२॥

(दर्भः) दर्भ नामक ओषधि, (शोचिः) धधकता अङ्गारा, (तरूणकम्) और तरूणक ओषधि (अश्वस्य[1]) अघाश्वनामक सर्प के विष को (वारः) निवारित करती है, (परुषस्य) उग्र सर्प के उग्र विष (मन्त्र ३) को (वारः) निवारित करती है। (रथस्य) विष की गति को (बन्धुरम्) बांध देती हैं, फैलने नहीं देती।

अव श्वेत पदा जहि पूर्वेण चापरेण च।
उदप्लुतमिव दार्वहीनामरसं विषं वारुग्रम् ॥३॥

(श्वेत) हे श्वेत! (पूर्वेण च) पूर्व के (अपरेण च) ओर अपर के (पदा) पैर द्वारा (अव जहि) विष को मार डाल। (उदप्लुतम्) जल पर प्लुतियां करती हुई, तैरती हुई (दारु इव) लकड़ी की तरह (अहीनाम्) सांपों का (विषम्) विष (अरसम्) रस रहित हो गया है, (उग्रम्) उग्र विष (वाः) साधारण उदक हो गया है।

["श्वेत" पद द्वारा श्वेत पुनर्नवा" तथा "श्वेत सर्षप" का ग्रहण सम्भाव्य है। मन्त्र में इन दो ओषधियों में समान पद "श्वेत" द्वारा इन दो को

१. "अघाश्व" नामक सर्प का निर्देश आधे नाम द्वारा किया है, जैसे देवदत्त को देव या दत्त द्वारा भी पुकारा जाता है। अघाश्व (मन्त्र १०)। यह अतिविष वाला सर्प है जो कि अश्व का भी घातक है "आहन्ति अश्वमिति, अघाश्वः"। तथा "अघं हन्तर्निर्ह्रसितोपसर्ग आहन्तीति" (निरुक्त ६।३।१२; अनवायम् ४३, तथा किमीदिने ४४ पदों की व्याख्या में)।

सूचित किया है। (देखो विषाधिकार में तथा सर्पदष्ट चिकित्सा में श्वेत पुनर्नवा का योग, चक्रदत्त)। पुनर्नवा योग में "श्वेत पुनर्नवा" की जड़ के चूर्ण को तण्डुल जल के साथ पीने का विधान चक्रदत्त में हुआ है; तथा शिरीष अर्थात् सिरसा के फूलों के रस के साथ श्वेत सर्षप (श्वेत सरसों) के चूर्ण के पान, नस्य, तथा अञ्जन का भी विधान हुआ है।

व्याख्येय मन्त्र में "पदा" द्वारा "श्वेत" की जड़ सूचित की है। वृक्षों और ओषधियों को "पादप" कहते हैं। पादप का अर्थ है पादों अर्थात् जड़ों द्वारा जल को पीने वाले। अतः मन्त्रस्थ "पदा" द्वारा जड़ का ही ग्रहण सम्भावित है। "पदा" के विशेषण हैं "पूर्वेण च, अपरेण च"। अतः "श्वेत" ओषधियों की पूर्व दिशोन्मुख तथा पश्चिम दिशोन्मुख जड़ों का ग्रहण करना चाहिये, उत्तर दिशास्थ तथा दक्षिणदिशास्थ जड़ों का ग्रहण नहीं करना चाहिये। सूर्य पूर्व में उदय होता और पश्चिम में अस्त होता है। दोनों अवस्थाओं में सूर्य की लाल किरणों का प्रभाव, पूर्व दिशास्थ तथा पश्चिम दिशास्थ जड़ों पर विशेष रूप से पड़ कर इन में विशिष्ट गुणों का आधान करता है। उदयकालीन तथा अस्तंगामी सूर्य की किरणों में रोगनाशादि की विशेष शक्ति होती है, देखो (अथर्व० का० २।३२।१)।

"श्वेत" का सम्बोधन कविता की दृष्टि से है। इस सूक्त में विषयों का वर्णन बहुधा कवितारूप में हुआ है। इसलिये सायणाचार्य ने भी इस सूक्त को "कविवाग्विषयः" कहा है (अथर्व० १०।४।१-२६) सम्बन्धी विनियोग]।

अरंघुषो निमज्योन्मज्य पुनरब्रवीत्।
उदप्लुतमिव दार्वहीनामरसं विषं वारुग्रम् ॥४॥

(अरंघुषः) बहुत-घोष करने वाला [न्योला ?] (निमज्य) डुबकी लगा कर, तथा (उन्मज्य) ऊपर उठ कर, (पुनः) बार-बार मानो (अब्रवीत्) कहता है कि [मेरे होते] "(उदप्लुतम्) उदक पर प्लुतियां लगाते हुए, तैरते हुए (दारु इव) काष्ठ के सदृश, (अहीनाम् विषम्) सांपों का विष (अरसम्) रसरहित है, (उग्रम्) उग्रविष (वाः) साधारण जलरूप है।"

[रसयुक्त हरा-काष्ठ भारी होता है, वह जल पर तैर नहीं सकता। "अरस" अर्थात् रसरहित सूखा-काष्ठ जल पर तैरता है। न्योले के सामने

सांपों का विष भी मानो रसरहित हो गया है, सूख गया है, साधारण जल हो गया है। न्योले के सम्बन्ध में "अब्रवीत्" का प्रयोग कविता में है]।

पैद्वो हन्ति कसर्णीलं पैद्वः श्वित्रमुतासितम्।
पैद्वो रथर्व्याः शिरः सं बिभेद पृदाक्वाः ॥५॥

(पैद्वः) पैद्व (कसर्णीलम्) कसर्णील सांप का (हन्ति) हनन करता है, (पैद्वः) पैद्व (श्वित्रम्) श्वेतकुष्ठ सदृशवर्ण वाले सांप का, तथा (उत-असितम्) अश्वेत अर्थात् कृष्णवर्ण वाले सांप का [हनन] करता है। (पैद्वः) पैद्व (रथर्व्याः शिरः) रथर्वी सांपिन के सिर को, तथा (पृदाक्वाः) पृदाकुनी के सिर को (सं बिभेद) सम्यक् तोड़ता है, कुचलता है।

[पैद्व सम्भवतः न्योला है (मन्त्र ४)। रथर्वी=रथ की तरह शीघ्र गतिवाली, हिंसा शीला (रथ+अर्व हिंसायाम्)। पृदाकूः=महासर्पिणी]।

पैद्व प्रेहि प्रथमोऽनु त्वा वयमेमसि।
अहीन् व्यस्यतात् पथो येन स्मा वयमेमसि ॥६॥

(पैद्व) हे पैद्व ! तू (प्रथमः) पहिले (प्रेहि) आगे-आगे चल, (त्वा अनु) तेरे पीछे (वयम्) हम (एमसि) आते हैं। तू (अहीन्) सांपों को (पथः) मार्ग से (व्यस्यतात्) पृथक् हटाता जा (येन) जिस मार्ग द्वारा (वयम्) हम (एमसि स्म) आते हैं।

[जिन स्थानों में सांपों का बाहुल्य हो वहां जाना पड़े तो न्योले को अपने साथ ले जाने का विधान हुआ है। वहां न्योले को छोड़ देने पर सांप भाग जाते हैं, और मार्ग भय रहित हो जाता है। स्म=वाक्यालंकारे]।

इदं पैद्वो अजायतेदमस्य परायणम्।
इमान्यर्वतः पदाऽहिघ्न्यो वाजिनीवतः ॥७॥

(इदम्) इस भूस्थल में (पैद्वः अजायत) पैद्व पैदा होता है, (इदम्) यह [जलाशय] (अस्य) इस का (परायणम्) दूसरा आने जाने का स्थान है। (इमानि) ये (पदा=पदानि) पैर हैं (अर्वतः) शीघ्रगामी, (वाजिनीवतः) शक्तिशाली, (अहिघ्न्यः) सांप के हनन कर्त्ता पैद्व के।

[इदम्=यह; तथा उदक (इदम् उदकनाम, निघं० १।१२)। मन्त्र में पैद्व की पहचान के लक्षण दर्शाए हैं, (१) वह भूस्थल पर भी रहता है,

(२) जलाशय विहारी भी है, (३) शीघ्रगामी है, (४) शक्तिशाली है, (५) सांपों को मार सकता है। "सायणाचार्य ने विनियोग में कहा है कि केशवाचार्य के अनुसार पैद्व कीट है, जिसे कि पीस कर नस्यरूप में नासिका में दिया जाता है, सर्प के विष की चिकित्सा में। यह अर्थ मन्त्रोक्त लक्षणों के प्रतिकूल है]।

संयतं न विष्परद् व्यात्तं न संयमत्।
अस्मिन् क्षेत्रे द्वावही स्त्री च पुमांश्च तावुभावरसा ॥८॥

सांप (संयतम्) बन्द मुख को (न विष्परत्) न खोले, (व्यात्तम्) खुले मुख को (न संयमत्) न बन्द करे। (अस्मिन्) इस (क्षेत्रे) खेत में (द्वौ अही) दो सांप हैं (स्त्री च, पुमान् च) मादा और नर। (तौ उभौ) वे दोनों (अरसा=अरसौ) रसरहित हैं, विष रहित हैं।

[स्परत्=स्पृ प्रीतिचलनयोरित्यन्ये (स्वादिः), "चलन" अर्थ में मुख के खुलने की भावना है। अथवा "स्फर स्फुरणे इत्येके (तुदादिः)। स्फरत् =स्परत्, वर्ण विकारः। (१) सांप मुख खोल कर जब बन्द करता है तब विष का संचार करता है, तथा बन्द मुख को जब खोलता है वह भी विष का संचार करने के लिये होता है। दोनों अवस्थाओं को न होने देना चाहिये। यह सावधानी मन्त्र में दर्शाई है। (२) खेतों में प्रायः नर और मादा दोनों सांप होते हैं। (३) खेतों के सांप प्रायः अरस होते हैं, विषैले नहीं होते]।

अरसास इहाहयो ये अन्ति ये च दूरके।
घनेन हन्मि वृश्चिकमहिं दण्डेनागतम् ॥९॥

(इह) इस निवास स्थान में (ये) जो (अहयः) सांप (अन्ति) समीप में हैं (ये च) और जो (दूरके) दूर में हैं (अरसासः) वे विषरस से रहित हैं। तो भी (आगतम्, अहिम्) आए हुए सांप को (दण्डेन) दण्ड द्वारा, (वृश्चिकम्) और बिच्छु को (घनेन) हथौड़े द्वारा, (हन्मि) मैं मार डालता हूं।

[सांप चाहे हमारे निवास स्थान के समीप में हों, या दूर में, चाहे विष-रहित भी हों तो भी उन्हें मार डालना चाहिये, तथा बिच्छुओं को भी मार डालना चाहिये]।

अघाश्वस्येदं भेषजमुभयोः स्वजस्य च।
इन्द्रो मेऽहिमघायन्तमहिं पैद्वो अरन्धयत् ॥१०॥

(अघाश्वस्य) अश्वघाती सांप की, (च) और (स्वजस्य) स्वज सांप की, (उभयोः) इन दोनों की, (इदम्) यह (भेषजम्) औषध है, चिकित्सा है। यथा—(इन्द्रः) विद्युत् ने [मन्त्र १] (मे) मेरे निवास स्थान के [मन्त्र ९, इह] या मेरी रक्षा के लिये, (अघायन्तम्) मारना-चाहते हुए (अहिम्) सांप को (अरन्धयत्) रोंध डाला है, (पैद्वः) पैद्व [न्योले] ने (अहिम्) सांप को (अरन्धयत्) रोंध डाला है।

[अघाश्व और स्वज—इन दोनों की दो औषध हैं, (१) विद्युत् अर्थात् विद्युत् का प्रयोग, तथा (२) पैद्व]।

पैद्वस्य मन्महे वयं स्थिरस्य स्थिरधाम्नः।
इमे पश्चा पृदाकवः प्रदीध्यत आसते ॥११॥

(स्थिरस्य) स्थिरता से लड़ने वाले, (स्थिर धाम्नः) तथा स्थिर तेज वाले (पैद्वस्य) पैद्व के [बल को] (वयम् मन्महे) हम मानते हैं। (इमे पृदाकवः) ये पृदाकु-सांप (प्रदीध्यतः) विष के कारण प्रदीप्त हुए (पश्चा) पीछे (आसते) बैठे रहते हैं।

[पैद्व, पृदाकुओं के साथ युद्ध में स्थिरता पूर्वक लड़ता है, और इस का युद्ध सम्बन्धी तेज अर्थात् शौर्य निर्बल नहीं पड़ता। इस की सत्ता में पृदाकु, विषैले होते हुए भी, पीछे हट कर बैठे रहते हैं। प्रदीध्यतः=प्र+दीधीङ् दीप्ति देवनयोः (अदादिः); अर्थात् विषाग्नि से प्रदीप्त। आसते=आस उपवेशने (अदादिः)]।

नष्टासवो नष्टविषा हता इन्द्रेण वज्रिणा।
जघानेन्द्रो जघ्निमा वयम् ॥१२॥

(वज्रिणा) वज्रधारी (इन्द्रेण) इन्द्र द्वारा (हताः) मारे गये सांप (नष्टासवः) नष्ट प्राण और (नष्टविषाः) नष्ट विष वाले हो गए हैं। (इन्द्रः) इन्द्र ने (जघान) [सांप] मार डाले हैं, (वयम्) हम ने भी (जघ्निमा) मार डाले हैं। [इन्द्र का अर्थ यद्यपि विद्युत् है। परन्तु लक्षणया विद्युत् के प्रयोक्ता को इन्द्र कहा है, और विद्युत् को वज्र कहा है]।

हुतास्तिरश्चिराजयो निपिष्टासः पृदाकवः ।
दर्विं करिक्रतं श्वित्रं दर्भेष्वसितं जहि ॥१३॥

(तिरश्चिराजयः) टेढ़ी धारियों वाले सर्प (हताः) मार दिये हैं (पृदाकवः) पृदाकु-सर्प (निपिष्टासः) पीस दिये हैं। (दर्विम्) कड़छीसदृश फण (करिक्रतम्) फैलाने वाले को, (श्वित्रम्) सुफेदकुष्ठ सदृश वर्ण वाले को, (दर्भेषु) दर्भ-घासों में रहने वाले (असितम्) काले सांप को (जहि) तू मार डाल।

[जहि=वज्री इन्द्र को या पैद्व को कहा है कि तू मार डाल]।

कैरातिका कुमारिका सका खनति भेषजम् ।
हिरण्ययीभिरभ्रिभिर्गिरीणामुप सानुषु ॥१४॥

(सका कुमारिका) वह कुमारावस्था की (कैरातिका) कैरात जाति की सर्पिणी (भेषजम्) निज औषध को (खनति) खोदती है, (हिरण्ययीभिः) हिरण्यसदृश दान्तरूपी (अभ्रिभिः) कुद्दालियों द्वारा, (गिरीणाम्) पर्वतों की (सानुषु) चोटियों में।

[अभिप्राय यह है कि कैरात नामक सर्पिणी पर्वतों की चोटियों में पैदा होने वाली ओषधियों को अपने छोटे-छोटे दान्तों द्वारा खोद निकलती हैं। वह औषध सम्भवतः सर्पविष के विनाश के लिये उपयुक्त हो। कैरात= सर्प (अथर्व० ५।१३।५)। सका=सा+अकच् (स्वार्थे)। हिरण्ययीभिः= "हिरण्यं हितरमणं भवतीति वा" (निरुक्त २।३।१०)। कैरातिका के दान्त उस के लिये हितकर हैं, और दीखने में रमणीय हैं। पशु-पक्षी निज स्वाभाविक बुद्धि द्वारा निज ओषधियों को जानते और प्राप्त कर लेते हैं—इस के लिये देखो (अथर्व० २।२७।२; ५।१४।१; ८।७।२३, २५)]।

आयमगन् युवा भिषक् पृश्निहापराजितः ।
स वै स्वजस्य जम्भन उभयोर्वृश्चिकस्य च ॥१५॥

(अयम्) यह (आ अगन्) आ गया है (युवा भिषक्) नौजवान वैद्य, चिकित्सक, (पृश्निहा) पृश्नि सांप का हनन करने वाला, (अपराजितः) जो कि सर्प युद्ध में पराजित नहीं होता। (सः वै) वह निश्चय से (स्वजस्य) स्वज नामक सर्प का (च) और (वृश्चिकस्य) बिच्छू का, (उभयोः) इन दोनों का (जम्भनः) दबाने वाला है, विनाशक तथा भक्षक है।

[मन्त्र में पैद्व [न्योले] को कविता में "युवा भिषक्" कहा है। जम्भनः =जमु अदने, जभी गात्रविनामे (भ्वादिः), जभि नाशने (चुरादिः)। पृश्निः=धब्बेदार, चित्रित सांप। "पृश्निः प्राश्नुत एनं वर्णः" (निरुक्त० २।४।१४)।

इन्द्रो मेऽहिमरन्धयन्मित्रश्च वरुणश्च ।
वातापर्जन्योभा ॥१६॥

(इन्द्रः) विद्युत् ने (मित्रः च) और सूर्य ने (वरुणः च) और जल ने, (वातापर्जन्या) वात और मेघ (उभा) इन दोनों ने, (मे) मेरे निवास-स्थान से या मेरी सुरक्षा के लिये (अहिम्) सांप को (अरन्धयत्) रोंध डाला है।

[इन्द्रः=विद्युत् (मन्त्र १)। मित्रः=सूर्य; मिद् स्नेहने (भ्वादिः, चुरादिः, दिवादिः) अर्थात् वर्षाकारी श्रावण-भाद्रपद का सूर्य। वरुणः= जल" वरुणोऽपामधिपतिः" (अथर्व० ५।२४।४)। तथा "मित्रावरुणा वृष्ट्याधिपती (५।२४।५)। वातापर्जन्यौ=मानसून वायु और मेघ। मन्त्र में इन्द्रादि के सहयोग द्वारा वर्षाकाल को सूचित किया है। वर्षाकाल में सांपों का अधिक संचार होता है। अतः इस काल में प्रकट हुए सांपों को दण्ड आदि द्वारा मार देना सुलभ होता है। वातापर्जन्य=पर्जन्य सहयोगी वात, मानसून ही सम्भव है।

विशेष वक्तव्य=वातापर्जन्या, मित्रावरुणा, अग्नीषोमा आदि वैदिक प्रयोगों में पूर्वपद तथा उत्तरपद दोनों द्विवचनान्त प्रतीत होते हैं,—यह वैदिक प्रथा है। अष्टाध्यायी में लौकिकसंस्कृत की प्रथानुसार "आनङ्" और "ईत्" का विधान किया है (अष्टा० ६।३।२६; ६।३।२७)]।

इन्द्रो मेऽहिमरन्धयत् पृदाकुं च पृदाक्वम् ।
स्वजं तिरश्चिराजिं कसर्णीलं दशोनसिम् ॥१७॥

(इन्द्रः) इन्द्र ने (मे) मेरे [निवास स्थान से या मेरी सुरक्षा के लिये] (अहिम्) सांप को (अरन्धयत्) रोंध डाला है, (पृदाकुम् च) और पृदाकु-

नर को (च पृदाक्वम्) और पृदाकू-मादा को, (स्वजम्) स्वज को, (तिरश्चिराजिम्) तिरश्चिराजि को, (दशोनसिम्) तथा दशोनसि को रौंध डाला है।

[इन्द्रः=सम्भवतः विद्युत्-प्रयोक्ता। अरन्धयत्=राध हिंसासंराध्योः (दिवादिः); रध्यतिर्वशगमने (निरुक्त ६।६।३२)। दशोनसिम्=दशन अर्थात् दन्त के सदृश+नसिम्। नासिका वाले सांप को, अर्थात् जिस की नाक पर दशन अर्थात् दान्त के सदृश कठोर विन्दु सा हो, उसे। पैप्पलाद-शाखा में "इन्द्रः" के स्थान में "पैद्वः" [न्योला] पाठ है]।

इन्द्रो जघान प्रथमं जनितारमहे तव।
तेषामु तृह्यमाणानां कः स्वित् तेषामसद् रसः ॥१८॥

(अहे) हे सांप ! (तव जनितारम्) तेरे जन्म दाता माता-पिता को (इन्द्रः) इन्द्र ने (प्रथमम्) पहिले ही (जघान) मार दिया है, (तेषाम् उ तृह्यमाणानाम्) उन के हिंसित अर्थात् मृत हो जाने पर, (तेषाम्) उनका (रसः) विषरस (कः स्विद्) कौन सा (असत्) विद्यमान रह सकता है।

["अहे" ! में एकवचन जाति की दृष्टि से है, जात्येकवचन है, क्योंकि मन्त्र के उत्तरार्ध में "तेषाम्" तथा "तृह्यमाणानाम्" में बहुवचन है। अभिप्राय यह कि सर्पों के उत्पादकों को पूर्णरूप से मार देने पर सांपों का सर्वथा अभाव किया जा सकता है। जब सांप न रहें तो उन का विषरस कहां रह सकता है। वेद की आज्ञा या निर्देश सर्पजाति के सर्वथा विनाश के लिये है। "जघान" में लिट् लकार वर्तमानार्थक है। यथा "छन्दसि लुङ्-लङ्लिटः" (अष्टा० ३।४।६) द्वारा छन्द (वेद) में लुङ्, लङ् और लिट् विकल्पेन सब कालों में प्रयुक्त होते हैं]।

सं हि शीर्षाण्यग्रभं पौञ्जिष्ठ इव कर्वरम्।
सिन्धोर्मध्यं परेत्य व्यनिजमहेर्विषम् ॥१९॥

(शीर्षाणि) सांपों के सिरों को (हि) निश्चय से (सम् अग्रभम्) सम्यक्तया अर्थात् दृढ़तापूर्वक मैंने पकड़ लिया है, (इव) जैसे कि (पौञ्जिष्ठः) पौञ्जिष्ठ (कर्वरम्) कर्वर को दृढ़तापूर्वक ग्रहण करता है। और (सिन्धोः) स्यन्दन करने वाली नदी के (मध्यम्) मध्य में (परेत्य) जाकर (अहेः) सांप के (विषम्) विष को (व्यनिजम्) मैंने धो डाला है।

[सांप को पकड़ना हो तो उस के सिर को दृढ़तापूर्वक पकड़ना चाहिये, पूंछ से पकड़ने पर वह पीछे की ओर उछल कर काट सकता है। सांप के काटने पर नदी के प्रवाह में जा कर जलचिकित्सा विधि द्वारा विष को दूर करना चाहिये। प्रवाह में इसलिए कि जल में जो विष मिल गया है वह नदी के प्रवाह में बह जाय, ताकि उसका शरीर के साथ पुनः सम्पर्क न हो।

कर्वरम्=कर् (कर्म)+वरम् (श्रेष्ठ) अर्थात् श्रेष्ठकर्म। "कर्वरम् कर्मनाम" (निघं० २।१)। "कर्वराणि यज्ञादिकर्माणि" (सायण, अथर्व० ७।३।१)। पौञ्जिष्ठः=पुञ्जिष्ठ एव पौञ्जिष्ठः, स्वार्थे अण्। पुञ्जिष्ठः=पुञ्ज में रहने वाला। आश्रमवासियों के समूह में रहने वाला वानप्रस्थी। वह जैसे श्रेष्ठकर्मों यज्ञादि का दृढ़तापूर्वक ग्रहण करता है, वैसे दृढ़तापूर्वक सर्प के सिर को पकड़े रहना चाहिये। व्यनिजम्=वि+अट्+णिजिर् शौचपोषणयोः (जुहोत्यादिः), तथा णिजि शुद्धौ (अदादिः)]।

अहीनां सर्वेषां विषं परा वहन्तु सिन्धवः।
हतास्तिरश्चिराजयो निपिष्टासः पृदाकवः ॥२०॥

(सर्वेषाम्, अहीनाम्, विषम्) सब सांपों के विष को (सिन्धवः) स्यन्दनशील अर्थात् बहती हुई नदियां (परा वहन्तु) परे बहा ले जायें। (तिरश्चिराजयः) टेढ़ी धारियों वाले सर्प (हताः) मार दिये हैं, (पृदाकवः) महाकाय सर्प (निपिष्टासः) पीस दिये हैं।

[सिन्धु की प्रवाहित धारा में जल चिकित्सा (१९) की भावना को, "परा वहन्तु" द्वारा स्पष्ट किया है]।

ओषधीनामहं वृण उर्वरीरिव साधुया।
नयाम्यर्वतीरिवाहे निरैतु ते विषम् ॥२१॥

(अहम्) मैं (साधुया) ठीक ढंग से (ओषधीनाम्) ओषधियों में से (उर्वरीः) उर्वरा ओषधियों का (वृणे) चुनाव करता हूं, और (अर्वतीः) विषनाशक ओषधियों को (नयामि) प्राप्त करता हूं, (अहे) हे सांप ! (ते) तेरा (विषम्) विष (निरैतु) निकल जाय।

[मन्त्र में "इव" पद पादपूरणार्थक है। यथा "इवोऽपि दृश्यते, सुविदुरिव, सुविज्ञायेते इव" (निरुक्त १।३।११)। ओषधियां दो प्रकार की होती हैं, (१) "उर्वरीः" अर्थात् उत्पादिका संवर्धन शीला; (२) तथा

रोगनाशिका। संवर्धनशीला का अभिप्राय है। स्वास्थ्य का संवर्धन करने वाली, बढ़ाने वाली। तथा "अर्वतीः" का अभिप्राय है रोगनाशिका, प्रकरणानुसार विषनाशिका। अर्वतीः=अर्व हिंसायाम् (भ्वादिः)। अर्वतीः ओषधियों द्वारा विष का नाश कर, उर्वरीः ओषधियों द्वारा स्वास्थ्य संवर्धन का निर्देश मन्त्र में हुआ है। नयामि (णीञ् प्रापणे, भ्वादिः)]।

यदुग्नौ सूर्यें विषं पृ॑थि॒व्यामोष॑धीषु यत् ।
का॒न्दावि॒षं क॒नक्न॑कं नि॒रैत्वैतु ते विषम् ॥२२॥

(यत्) जो (अग्नौ सूर्ये) अग्नि और सूर्य में (विषम्) विष है, (यत्) जो (पृथिव्याम् ओषधीषु) पृथिवी में और [विषैली] ओषधियों में है। (कान्दाविषम्) जो कन्दों में विष, (कनक्नकम्) तथा जो अतितीक्ष्ण (ते) तेरा (विषम्) विष है, वह (निर् ऐतु) [तेरे शरीर से] बाहर निकल आए, (आ एतु) अवश्य बाहर आ जाय।

[अग्नि में विष है "जलाना"। सूर्य में विष है "sun stroke" आदि। पृथिवी में विष है संखिया, पारद आदि। इसी प्रकार कई ओषधियां और कई कन्द भी विषैले होते हैं। विषाक्त मनुष्य के प्रति कहा है कि तेरे शरीर में जो भी विष प्रविष्ट हुआ है वह बाहर निकल आएगा, अवश्य निकल आएगा। कनक्नकम्=कनी (दीप्तौ, भ्वादिः)+यङ्लुक्+कम् (कृ, करोति)=अति दीप्ति अर्थात् जलन पैदा करने वाला विष। "कनिक्नकम्" पाठ भी मिलता है]।

ये अ॒ग्निजा ओ॑षधि॒जा अही॑नां॒ ये अ॑प्सु॒जा वि॒द्युत॑ आ ब॒भूवुः ।
येषां॑ जा॒तानि॑ बहु॒धा म॒हान्ति॒ तेभ्यः॑ स॒र्पेभ्यो॒ नम॑सा विधेम ॥२३॥

(अहीनाम्) सांपों में (ये) जो (अग्निजाः) अग्निप्रधान प्रदेशों में उत्पन्न हैं, (ओषधिजाः) ओषधिप्रधान प्रदेशों [वृक्षों, ओषधियों, वनों] में उत्पन्न हैं, (ये) जो (अप्सुजा विद्युतः) जलों में पैदा हुई बिजुलियों के सदृश अतितीक्ष्ण स्वभाव वाले (आ बभूवुः) हुए हैं। (येषाम्) जिन की (जातानि) जातियां (बहुधा) बहुत प्रकार की (महान्ति) और बड़ी हैं, (तेभ्यः सर्पेभ्यः) उन सर्पों के लिये (नमसा विधेम) हम दूरतः नमस्कार करते हैं, अथवा वज्र द्वारा सत्कार करते हैं। अप्सुजाः=अथवा जलोत्पन्न, तथा विद्युतः अर्थात् विद्युत् के सदृश विषवज्र का प्रहार करने वाले सांप। नमसा="नमः वज्रनाम" (निघं० २।२०)]।

तौदी॒ नामा॑सि क॒न्या॑ घृ॒ताची॒ नाम॒ वा अ॑सि ।
अ॒ध॒स्प॒देन॑ ते प॒दमा द॑दे विष॒दूष॑णम् ॥२४॥

(तौदी) तू व्यथाकारिणी (नाम असि) प्रसिद्ध है, (कन्या, घृताची) कन्या या घृतकुमारी (नाम वै असि) नाम से तू प्रसिद्ध है। (अधस्पदेन) भूमि के नीचे पहुंचे हुए पद अर्थात् जड़ से (ते) तेरी (पदम्) जड़ को (आ ददे) मैं लेता हूं, जो कि (विषदूषणम्) विष को दूषित करती है, दूर करती है।

[तौदी=तुद व्यथने (तुदादिः), सर्प को व्यथा देने वाली घीकुवार (घृतकुमारी)। पदम्=जड़ (मन्त्र ३)।

अङ्गा॑दङ्गा॒त् प्र च्या॑वय॒ हृद॑यं॒ परि॑ वर्जय ।
अधा॑ वि॒षस्य॒ यत् तेजो॑ऽवा॒चीनं॒ तदे॑तु ते ॥२५॥

हे तौदी! तू (अङ्गात् अङ्गात्) प्रत्येक अङ्ग से (प्र च्यावय) विष को च्युत कर दे, (हृदयम्) हृदय को (परिवर्जय) विष के प्रभाव से सर्वथा वर्जित कर दे। (अधा) तत्पश्चात् (विषस्य) विष का (यत्) जो (तेजः) उग्रपन है (ते) हे विषाक्त! तेरा (तत्) वह विष (अवाचीनम्, एतु) अधोगत हो जाय, तेरे पैरों द्वारा निकल जाय।

आ॒रे अ॑भूद् वि॒षम॑रौद् वि॒षे वि॒षम॑प्रा॒गपि॑ ।
अ॒ग्निर्वि॒षमहे॒र्निर॑धा॒त् सोमो॒ निर॑णयीत् ।
दं॒ष्टार॒मन्व॑गाद् वि॒षमहि॑रमृत ॥२६॥

(आरे) दूर (अभूत्) हो गया है (विषम्) विष; (अरौत्) और रुक गया है, (अपि) तथा (विषे) विष में (विषम्) विष (अप्राक्) सम्पृक्त हो गया है (अग्निः) अग्नि ने (अहेः विषम्) सांप के विष को (निर् अधात्) [शरीर से] निकाल दिया है, (सोमः) सोम (निर् अनयीत्) इसे निकाल लाया है। (विषम्) विष ने (दंष्टारम्) काटने वाले का (अनु अगात्) अनुगमन किया है, (अहिः) सांप (अमृत) मर गया है।

[अरौत्=अट्+रुध् (आवरणे, रुधादिः)। अप्राक्=अद्+पृची (सम्पर्के, अदादिः)। "विष में विष सम्पृक्त हो गया है"=सर्प के विष में उसका विनाशक विष मिला दिया है। विनाशक=Antidote=counter-

doison. होम्योपैथिक-चिकित्सा में विष के विनाशक नाना विषों का वर्णन हुआ है। लोकोक्ति भी है "विषस्य विषमौषधम्"।

अग्निः=सर्पकटे स्थान को अग्नि द्वारा या धधकते अङ्गारे द्वारा सेक देना चाहिये; परन्तु तत्काल, जब तक कि विष अभी त्वचा पर ही हो "त्वक्स्थे प्रदेहसेकादि" (विषाधिकारः, श्लोक १२, चक्रदत्त)। सोमः=सोमरस का पान, तथा सोम अर्थात् जल चिकित्सा, यथा "अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा। अग्निं च विश्वशम्भुवम्॥ (अथर्व० १।६।२), अर्थात् जलों में सब भेषज हैं, और जलों में अग्नि है जो कि सब रोगों को शान्त करती है।

अन्वगात्=अर्थात् जैसे सांप मार दिया है वैसे उस का विष भी समाप्त कर दिया है, मानो सांप का अनुगमन, उस के विष ने किया है]।

काण्ड १०। सूक्त ४। सम्पूर्ण

—:०:—

सूक्त ५

विषय प्रवेश

(मन्त्र १-५०)। यह महासूक्त है। विषय है "सार्वभौम शासन" अर्थात् समग्र पृथिवी का शासन। इस शासन में कई तत्सम्बन्धी अवान्तर विषय हैं। इन अवान्तर विषयों का वर्णन अवान्तर सूक्तों द्वारा हुआ है। अवान्तर सूक्तों को "पर्यायसूक्त" कहते हैं। इन्हें ५ (१), ५ (२), ५।३, तथा ५।४ द्वारा दर्शाया है। अवान्तर विषय निम्नलिखित हैं। यथा—

[५(१)]

(१) ५ (१) पर्याय में मन्त्र १-२४ हैं। इस में इन्द्र सम्राट् का वर्णन (मन्त्र १-८); आपः द्वारा प्रजा का वर्णन (मन्त्र ६, ७); प्रजाशासन तथा शत्रु पर विजय के लिये इन्द्र के सहयोगी ब्राह्मणों (१), क्षत्रियों (२) वैश्यों (३), का जल तथा ओषधि विभाग के अधिकारी सोम (५, ४) का तथा सब भूत-भौतिकशक्तियों की उपस्थिति (६) का वर्णन हुआ है।

(२) मन्त्र ८ से १४ में प्रजाजनों को सम्बोधित कर उन्हें कहा है कि तुम शासन कार्य में—इन्द्र अर्थात् सम्राट् के, सोम अर्थात् जल विभाग तथा ओषधि विभाग के अधिकारी के, वरुण अर्थात् माण्डलिक राजा के, मित्र अर्थात् मित्रवर्धक विदेशनीति के अधिकारी के, वरुण अर्थात् राष्ट्रीय गुप्तचर विभाग के अधिकारी के, यम अर्थात् नियन्ता न्यायाधिकारी के, पितरों अर्थात् सभा और समिति के सदस्यों के, तथा सविता अर्थात् सर्वोत्पादक परमेश्वर और समग्र पृथिवी के प्रेरक सार्वभौम शासक के भागरूप हो, अङ्गरूप हो। इस प्रकार शासन में प्रजाओं के पूर्ण सहयोग का निर्देश किया है।

(३) मन्त्र १५-२१ में राज्य के द्वेषी को, अथवा द्विष्ट आसुरीभाव को शासक-अधिकारी परमेश्वर के प्रति समर्पित करें। अथवा राज्याधिकारी उस द्वेषी का विनाश करें, तथा राज्याधिकारी निज द्विष्ट आसुरी भावों और विचारों, तथा कर्मों का विनाश करें—ये भावनाएं प्रतीत होती हैं।

(४) प्रत्येक राज्याधिकारी जब निज आसुरी भावों, विचारों तथा कर्मों का विनाश करता हुआ शासन करता है, तो वह अनुभव करने लगता है कि मैंने लगातार कई वर्षों तक कोई अनृतभाषण नहीं किया। मन्त्र २२ में इसे "त्रैहायण" व्रत के रूप में वर्णित किया है। वेदानुसार संख्या तीन का महत्त्व है। यथा जीव-ब्रह्म-प्रकृति; जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय; ओ३म् के अ-उ-म् अक्षर, तीन, शान्तिशब्द का उच्चारण तीन बार; लोक तीन; काल तीन; इत्यादि।

(५) अनृत-त्याग के "त्रैहायण-व्रत" का परिणाम होता है परमेश्वर की सहायता द्वारा शारीरिक रस-रक्त आदि जलों का पवित्र हो जाना और जीवनों से "रिप्र" अर्थात् पाप का अपगत हो जाना (मन्त्र २४), तथा नीरोगता और स्वास्थ्य (मन्त्र २३)। यह "त्रैहायणव्रत" राष्ट्र के सभी अधिकारी करते हैं।

[५(२)]

(६) मृत्युदण्डरूप में। त्रिलोकी तथा दिशाओं और आशाओं से शत्रु का [सम्भवतः शत्रु सेनाधिपति का] बहिष्कार (मन्त्र २५-२९)।

(७) वैदिक-संस्कृति से शत्रु का सामाजिक बहिष्कार (मन्त्र ३०,३१)।

(८) शत्रु को ओषधिग्रहण, जल सेवन, तथा कृषिकर्म से वञ्चित कर देना (मन्त्र ३२-३५)।

(९) शत्रुसेनाओं पर विजय पा कर शत्रु राजा को राज्यच्युत कर देना (मन्त्र ३६)।

[५(३)]

(१०) सार्वभौमशासक का ब्राह्मणवर्चस को प्राप्त करना, और तदनुरूप प्रजा का शासन करना (मन्त्र ३७-४१)।

(११) ब्राह्मणवर्चस=(१) शान्ति (मन्त्र ३७); (२) ज्ञान ज्योतिः (३८); (३) पंचज्ञानेन्द्रियों, मन और विद्या को ऋषिकोटि का बनाना (३९); (४) ब्रह्म की ओर आवर्तन (४०); (५) तदर्थ ब्राह्मणों की शरण में आना (४१)।

[५(४)]

(१२) जो शासक ब्राह्मणवर्चस को प्राप्त नहीं, और ब्राह्मणवर्चस के अनुसार प्रजाशासन नहीं करते, उन की खोज कर, उन्हें सार्वभौमशासक के समक्ष उपस्थित कर, उचित दण्ड दिलाने का वर्णन (मन्त्र ४२-५०)।

५ (१)

(मन्त्र १-२४)। सिन्धुद्वीपः। आपः, चन्द्रमाः। अनुष्टुप्; १-५ त्रिपदा पुरोभिकृतिककुम्मतीगर्भापंक्तिः; ६ चतुष्पदा जगतीगर्भाजगती; ७-१४ त्र्यवसाना पंचपदाविपरीतपादलक्ष्मा बृहती (११,१४ पथ्यापंक्तिः); १५-२१ चतुरवसाना दशपदा त्रैष्टुब्गर्भातिधृतिः (१९, २० कृतिः); २४ त्रिपदा विराड् गायत्री।

इन्द्रस्यौज स्थेन्द्रस्य सह स्थेन्द्रस्य बलं स्थेन्द्रस्य वीर्यं स्थेन्द्रस्य नृम्णं स्थ। जिष्णवे योगाय ब्रह्मयोगैर्वो युनज्मि ॥१॥

हे आपः! (मन्त्र ६) हे प्राप्त तथा राष्ट्र में व्याप्त प्रजाओ! तुम (इन्द्रस्य) सम्राट् के (ओजः) ओज (स्थ) हो, (इन्द्रस्य) सम्राट् की (सहः) सहनशक्ति तथा शत्रुपराभव करने वाली शक्ति (स्थ) हो, (इन्द्रस्य) सम्राट् के (बलम्) सैनिक बलरूप (स्थ) हो, (इन्द्रस्य) सम्राट् के (नृम्णम्) धनरूप हो। (जिष्णवे) विजय सम्बन्धी (योगाय) पारस्परिक सहयोग के लिये (वः) हे प्रजाओ! तुम्हें (ब्रह्मयोगैः) ब्राह्मणों के सहयोगों के साथ (युनज्मि) मैं युक्त करता हूं, सम्बद्ध करता हूं।

[इन्द्रस्य="इन्द्रश्च सम्राट् वरुणश्च राजा" (यजु० ८।३७), द्वारा इन्द्र है सम्राट् अर्थात् संयुक्त राष्ट्रों का अधिपति शासक, और वरुण है माण्डलिक राजा, निज-निज राष्ट्र के राजा, शासक]।

ओजः=उब्ज आर्जवे (तुदादिः), "उब्जति कोमलो भवति, इति ओजः" (उणा० ४।१९३, म० दयानन्द)। ओजः=राष्ट्रिय-ओज; जिस के होते शत्रु-राष्ट्र को आक्रमण करने का साहस नहीं होता। ओजः का प्रतिनिधि सिंह है। बलम्="बलं भरं भवति, बिभर्तेः" (निरुक्त ३।२।१०), जोकि शरीर का भरण-पोषण करता है। बल का प्रतिनिधि है हाथी। तथा बलम्=सैनिकबल, यथा "अपर्याप्तं तदस्माकं बलं, भीष्माभिरक्षितम्" (गीता १।१०)।

नृम्णम्="नृम्णं धननाम" (निघं० २।१०), जिस के लिये नरों का मन

झुका¹ रहता है । वीर्यम्=वीरता ब्रह्मयोगैः=नागरिक जीवन के कष्टों पर विजय पाने के लिये, और जीवन को सुखमय बनाने के लिये ब्राह्मण-वृत्ति के शासकों का सहयोग प्रजा के साथ चाहिये । ब्राह्मण=ब्रह्मोपासक, आस्तिक, ब्रह्मविद्याविज्ञ, विद्वान्, परोपकारी और त्यागी शासक । आपः=आप्ताः, राष्ट्र में व्याप्त प्रजाएं, आप्लृ व्याप्तौ । मन्त्र १-२४ में सम्राट् की उक्ति प्रजाओं के प्रति] ।

इन्द्रस्यौजः स्थेन्द्रस्य सह स्थेन्द्रस्य बलं स्थेन्द्रस्य वीर्यं१ स्थेन्द्रस्य नृम्णं स्थ । जिष्णवे योगाय क्षत्रयोगैर्वो युनज्मि ॥२॥

(इन्द्रस्य ……) पूर्ववत् (मन्त्र १) । (जिष्णवे) विजय सम्बन्धी (योगाय) पारस्परिक सहयोग के लिये (वः) हे प्रजाओ ! तुम्हें (क्षत्रयोगैः) क्षतों-से-त्राण करने वाले-क्षात्रबल अर्थात् सेना के सहयोगों के साथ (युनज्मि) मैं युक्त करता हूं, सम्बद्ध करता हूं ।

[नागरिक सुखीजीवन के लिये, और नागरिक कष्टों पर विजय के लिये, प्रजा के साथ, ब्राह्मणों का सहयोग चाहिये, और शत्रुराष्ट्र द्वारा या अन्तरीय-कलह द्वारा सम्भाव्य क्षत-विक्षतों पर विजय पाने के लिये, क्षात्र-बल का सहयोग, प्रजा के साथ चाहिये । क्षत्र=क्षत्+त्र(त्रैङ् पालने, भ्वादिः)] ।

इन्द्रस्यौज स्थेन्द्रस्य सह स्थेन्द्रस्य बलं स्थेन्द्रस्य वीर्य१ स्थेन्द्रस्य नृम्णं स्थ । जिष्णवे योगायेन्द्रयोगैर्वो युनज्मि ॥३॥

(इन्द्रस्य……) मन्त्र १ । (जिष्णवे) आर्थिक विजय सम्बन्धी (योगाय) पारस्परिक सहयोग के लिये (इन्द्रयोगैः) वणिक् अर्थात् वाणिज्य में दक्ष वैश्यों के सहयोगों के साथ (वः) हे प्रजाओ ! तुम्हें (युनज्मि) मैं युक्त करता हूं, सम्बद्ध करता हूं ।

[इन्द्रयोगैः=इन्द्र अर्थात् वणिक्; यथा "इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि" अथर्व० ३।१५।१)] ।

---

¹ नृ+मा (णम्=नम=नमन होना, झुक जाना ।

इन्द्रस्यौज स्थेन्द्रस्य सह स्थेन्द्रस्य बलं स्थेन्द्रस्य वीर्यं१ स्थेन्द्रस्य नृम्णं स्थ । जिष्णवे योगाय सोमयोगैर्वो युनज्मि ॥४॥

(इन्द्रस्य……) मन्त्र १ । (जिष्णवे) ओषधिविजय-सम्बन्धी (योगाय) पारस्परिक सहयोग के लिये, (सोमयोगैः) ओषधियों (मन्त्र ३२), और वीरुधों ("सोमो वीरुधामधिपतिः" अथर्व० ५।२४।७) के नियन्ता सोमाधिकारी के सहयोगों के साथ (वः) हे प्रजाओं ! तुम्हें (युनज्मि) मैं युक्त करता हूं, सम्बद्ध करता हूं । [ओषधियों में मुख्य ओषधि सोम है । राष्ट्र में सोमादि ओषधियों के अधिष्ठाता अधिकारी को मन्त्र में "सोम" कहा है] ।

इन्द्रस्यौज स्थेन्द्रस्य सह स्थेन्द्रस्य बलं स्थेन्द्रस्य वीर्यं१ स्थेन्द्रस्य नृम्णं स्थ । जिष्णवे योगायाप्सुयोगैर्वो युनज्मि ॥५॥

(इन्द्रस्य ……) मन्त्र १ । (जिष्णवे) ओषधिविजय सम्बन्धी (योगाय) पारस्परिक सहयोग के लिये (मन्त्र ४ का अन्वय), (अप्सु) जलों सम्बन्धी नियन्ता के अधिकारी के सहयोगों के साथ (वः) हे प्रजाओ ! तुम्हें (युनज्मि) मैं युक्त करता हूं, सम्बद्ध करता हूं ।

[ओषधियों अर्थात् ओषधियों, वीरुधों, वृक्ष-वनस्पतियों, तथा कृष्यन्न व्रीहि-यव का, और जल का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है । अतः सोमनामक अधिकारी ही [मन्त्र ४] राष्ट्रिय-जलविभाग का अधिकारी प्रतीत होता है । इस लिये पूर्वोक्त चार मन्त्रों में जैसे ब्रह्म, क्षत्र, इन्द्र, सोम के नाम दिये हैं, मन्त्र ५ में ऐसा कोई नाम नहीं दिया । अतः मन्त्र वर्णनानुसार मन्त्र ५ में सोमाधिकारी का ही कथन हुआ है] ।

इन्द्रस्यौज स्थेन्द्रस्य सह स्थेन्द्रस्य बलं स्थेन्द्रस्य वीर्यं१ स्थेन्द्रस्य नृम्णं स्थ । जिष्णवे योगाय विश्वानि मा भूतान्युप तिष्ठन्तु युक्ता म आपः स्थ ॥६॥

(इन्द्रस्य……) मन्त्र १ । (जिष्णवे) शत्रुविजय सम्बन्धी (योगाय) पारस्परिक सहयोग के लिये, (विश्वानि) सब (भूतानि) भूत-और भौतिक शक्तियां (मा) मुझे (उपतिष्ठन्तु) उपस्थित हो जांय, (मे) मेरे लिये

(आपः) हे साम्राज्यव्यापी प्रजाओ! तुम (युक्ता) परस्पर जुते हुए से, अर्थात् एकमत हुए (स्थ) हो जाओ।

[इन्द्र अर्थात् सम्राट्, साम्राज्य की सुरक्षा के निमित्त आह्वान पर, साम्राज्य की सभी भूत-भौतिक शक्तियों पर निजाधिकार चाहता है, और प्रजाओं का ऐकमत्य चाहता है]।

अग्नेर्भाग स्थ । अपां शुक्रमापो देवीर्वर्चो अस्मासु धत्त ।
प्रजापतेर्वो धाम्नाऽस्मै लोकाय सादये ॥७॥

(आपः देवीः) हे दिव्य प्रजाओ! तुम (अग्नेः) अग्नि के (भागः) भागरूप, अङ्गरूप (स्थ) हो, (अपाम् शुक्रम्) प्रजाओं की शक्ति और सामर्थ्य, (वर्चः) तथा दीप्ति (अस्मासु) हम अधिकारियों में (धत्त) स्थापित करो, हमें प्रदान करो। (प्रजापतेः धाम्ना) प्रजापति के नाम तथा स्थान द्वारा (वः) हे प्रजाओ! तुम्हें (अस्मै लोकाय) इस पृथिवी लोक के लिये (सादये) मैं इन्द्र अर्थात् सम्राट् दृढ़-स्थापित करता हूं।

[अग्नेः=अग्नि पद द्वारा, आधिभौतिक दृष्टि में, ब्राह्मण का भी निर्देश वैदिक साहित्य में होता है। यह अग्नि अग्रणी है, राज्य का अग्रगामी नेता है, प्रधानमन्त्रीरूप है। कठोपनिषद् में कहा है कि "वैश्वानरः प्रविशत्यग्नि ब्राह्मणो गृहान्" (अ० १, वल्ली १, खण्ड ७), अर्थात् ब्राह्मण वैश्वानरः अग्निरूप में घरों में प्रवेश करता है। ब्राह्मण वैश्वानर है, सब नर नारियों का हितचिन्तक है, और वह ज्ञानाग्निमय है]।

सम्राट् कहता है कि हे प्रजाओ! तुम अग्नि के शासन में भागरूप हो, तुम्हारे सहयोग द्वारा अग्नि, शासन में सफल होगा, अन्यथा नहीं। "अस्मासु" द्वारा राज्य के सभी शासक, प्रजाओं का सहयोग चाहते हैं। सम्राट् कहता है कि प्रजाओं का पालक परमेश्वर जैसे प्रजापति नाम वाला है, और प्रजापति के स्थान अर्थात् पद को प्राप्त करता है, उस नाम वाला तथा उस स्थान अर्थात् पद को प्राप्त मैं, तुम सब का पालन करता हुआ, इस पृथिवी लोक में तुम्हें सुदृढ़रूप में स्थापित करता हूं। इसी प्रकार की भावनाएं आगामी मन्त्रों में भी जाननी चाहियें। धाम्ना="धामानि त्रयाणि भवन्ति नामानि, स्थानानि, जन्मानि" (निरुक्त० ९।३।२८)]।

इन्द्रस्य भाग स्थ । अपां शुक्रमापो देवीर्वर्चो अस्मासु धत्त ।
प्रजापतेर्वो धाम्नाऽस्मै लोकाय सादये ॥८॥

(आपः देवीः) हे दिव्य प्रजाओ! तुम (इन्द्रस्य) वाणिज्य विभाग के अधिकारी के (भागः) भागरूप, अङ्गरूप (स्थ) हो, (अपाम् शुक्रम्) प्रजाओं की शक्ति और सामर्थ्य, (वर्चः) तथा दीप्ति (अस्मासु) हम अधिकारियों में (धत्त) स्थापित करो, हमें प्रदान करो। (प्रजापतेः धाम्ना) प्रजापति के नाम तथा स्थान द्वारा (वः) हे प्रजाओ! तुम्हें (अस्मै लोकाय) इस पृथिवीलोक के लिये (सादये) मैं इन्द्र अर्थात् सम्राट् दृढ़-स्थापित करता हूं। [इन्द्रस्य=वणिजः (मन्त्र ३)। मन्त्र भावना के लिये देखो मन्त्र (७)]।

सोमस्य भाग स्थ । अपां शुक्रमापो देवीर्वर्चो अस्मासु धत्त ।
प्रजापतेर्वो धाम्नाऽस्मै लोकाय सादये ॥९॥

(आपः देवीः) हे दिव्य प्रजाओ! तुम (सोमस्य) ओषधि विभाग के अधिकारी के (भागः) भागरूप, अङ्गरूप हो (स्थ) हो, (अपाम् शुक्रम्) प्रजाओं की शक्ति और सामर्थ्य, (वर्चः) तथा दीप्ति (अस्मासु) हम अधिकारियों में (धत्त) स्थापित करो, हमें प्रदान करो। (प्रजापतेः धाम्ना) प्रजापति के नाम तथा स्थान द्वारा (वः) हे प्रजाओ! (अस्मै लोकाय) इस पृथिवी लोक के लिये (सादये) मैं इन्द्र अर्थात् सम्राट् दृढ़-स्थापित करता हूं। [सोम (मन्त्र ४)]।

वरुणस्य भाग स्थ । अपां शुक्रमापो देवीर्वर्चो अस्मासु धत्त ।
प्रजापतेर्वो धाम्नाऽस्मै लोकाय सादये ॥१०॥

(आपः देवीः) हे दिव्य प्रजाओ! तुम (वरुणस्य) माण्डलिक राजा के (भागः) भागरूप, अङ्गरूप (स्थ) हो। (अपां शुक्रम्) प्रजाओं की शक्ति और सामर्थ्य, (वर्चः) तथा दीप्ति (अस्मासु) हम अधिकारियों में (धत्त) स्थापित करो, हमें प्रदान करो। (प्रजापतेः धाम्ना) प्रजापति के नाम तथा स्थान द्वारा (वः) हे प्रजाओ! तुम्हें (अस्मै लोकाय) इस पृथिवी लोक के लिये (सादये) मैं इन्द्र अर्थात् सम्राट् दृढ़-स्थापित करता हूं।

[वरुणस्य=वरुण है माण्डलिक राजा यथा "इन्द्रश्च सम्राट् वरुणश्च राजा" (यजु० ८।३७)। यह वरुण, निज माण्डलिक प्रजा द्वारा "वरा" हुआ, स्वीकृत किया हुआ, चुना हुआ होता है, और इन्द्र अर्थात् सम्राट् के साम्राज्य का अङ्गरूप होता है। इसलिये सम्राट् प्रजाओं को कहता है कि तुम वरुण के शासन के भी भागरूप हो, अङ्गरूप हो। मन्त्र भावना के लिये देखो मन्त्र (७)]।

मित्रावरुणयो र्भाग स्थ। अपां शुक्रमापो देवीर्वर्चो अस्मासु धत्त। प्रजापतेर्वो धाम्नाऽस्मै लोकाय सादये ॥११॥

(आपः देवीः) हे दिव्य प्रजाओ! तुम (मित्रावरुणयोः) मित्र और वरुण के (भागः) भागरूप, अङ्गरूप (स्थ) हो। (अपाम् शुक्रम्) प्रजाओं की शक्ति और सामर्थ्य, (वर्चः) तथा दीप्ति (अस्मासु) हम अधिकारियों में (धत्त) स्थापित करो, हमें प्रदान करो। (प्रजापतेः धाम्ना) प्रजापति के नाम तथा स्थान द्वारा (वः) हे प्रजाओ! तुम्हें (अस्मै लोकाय) इस पृथिवीलोक के लिये (सादये) मैं इन्द्र अर्थात् सम्राट् दृढ़-स्थापित करता हूं।

[मित्रावरुणयोः=मित्र है वह अधिकारी जो कि विदेशनीति के साथ सम्बन्ध रखता है, और भिन्न-भिन्न राष्ट्रों के साथ मैत्री स्थापित करता है। यथा "मित्रेणाग्ने मित्रधा यतस्व" (अथर्व० २।६।४), अर्थात् हे अग्नि! [मन्त्र ७] "मित्र अधिकारी" द्वारा मित्रों का धारण करने वाला तू, एतदर्थ यत्न करता रह। इसी प्रकार एतदर्थ राजा को भी कहा है "मित्रवर्धन"! (अथर्व० ४।८।२) तथा "मित्रवर्धनः" (अथर्व० ४।८।६)। इस से प्रतीत होता है कि "मित्रराष्ट्रों" को बढ़ाते रहना, यह वैदिक विदेशनीति है, जिसका कि अधिकारी विदेशमन्त्री "मित्र" नामक है। वरुणः—मित्र कार्य सम्बन्धी दूसरा अधिकारी वरुण है, जिस का काम है प्रजा को अवाञ्छित कार्यों से रोके रखना, निवारित करते रहना। इस के अधिकार में राष्ट्रिय गुप्तचर [स्पशाः] रहते हैं (अथर्व० ४।१६।४)। यद्यपि सूक्त ४।१६।४ में वरुण द्वारा परमेश्वर का, और उसके नियमों का, "स्पशः" द्वारा वर्णन हुआ है, तो भी सूक्त में राष्ट्रियप्रबन्ध की भी सूचना वरुण और स्पशः द्वारा अभिप्रेत है। इस दृष्टि से मित्र-वरुण का सहचार (मन्त्र ११) में दर्शाया है। मन्त्रभावना के लिये देखो (मन्त्र ७)]।

यमस्य भाग स्थ। अपां शुक्रमापो देवीर्वर्चो अस्मासु धत्त। प्रजापतेर्वो धाम्नाऽस्मै लोकाय सादये ॥१२॥

(आपः देवीः) हे दिव्य प्रजाओ! तुम (यमस्य) नियन्ता न्यायाधिकारी के (भागः) भागरूप, अङ्गरूप (स्थ) हो। (अपाम् शुक्रम्) प्रजाओं की शक्ति और सामर्थ्य (वर्चः) तथा दीप्ति (अस्मासु) हम अधिकारियों में (धत्त) स्थापित करो, हमें प्रदान करो। (प्रजापतेः धाम्ना) प्रजापति के नाम स्थान द्वारा (वः) हे प्रजाओ! तुम्हें (अस्मै लोकाय) इस पृथिवी लोक के लिये (सादये) मैं इन्द्र अर्थात् सम्राट् दृढ़ स्थापित करता हूं।

पितृणां भाग स्थ। अपां शुक्रमापो देवीर्वर्चो अस्मासु धत्त। प्रजापतेर्वो धाम्नाऽस्मै लोकाय सादये ॥१३॥

(आपः देवीः) हे दिव्य प्रजाओ! तुम (पितृणाम्) सभा और समिति के सदस्यों के (भागः) भागरूप, अङ्गरूप (स्थ) हो। (अपाम् शुक्रम्) प्रजाओं की शक्ति और सामर्थ्य, (वर्चः) तथा दीप्ति (अस्मासु) हम अधिकारियों में (धत्त) स्थापित करो। (प्रजापतेः धाम्ना) प्रजापति के नाम तथा स्थान द्वारा (वः) हे प्रजाओ! तुम्हें (अस्मै लोकाय) इस पृथिवीलोक के लिये (सादये) मैं इन्द्र अर्थात् सम्राट् दृढ़-स्थापित करता हूं।

[पितृणाम्=सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने। येना सं गच्छा उप मा स शिक्षाच्चारुवदानि पितरः संगतेषु ॥ (अथर्व० ७।१२।१) में सभा और समिति के सदस्यों को "पितरः" कहा है]।

देवस्य सवितुर्भाग स्थ। अपां शुक्रमापो देवीर्वर्चो अस्मासु धत्त। प्रजापतेर्वो धाम्नाऽस्मै लोकाय सादये ॥१४॥

(आपः देवीः) हे दिव्य प्रजाओ! तुम (देवस्य सवितुः) सर्वोत्पादक परमेश्वर देव के (भागः) भागरूप, अङ्गरूप (स्थ) हो। (अपां शुक्रम्) प्रजाओं की शक्ति और सामार्थ्य, (वर्चः) तथा दीप्ति (अस्मासु) हम अधिकारियों में (धत्त) स्थापित करो, हमें प्रदान करो। (प्रजापतेः धाम्ना)

प्रजापति के नाम तथा स्थान द्वारा (अस्मै लोकाय) इस पृथिवीलोक के लिये (सादये) मैं इन्द्र अर्थात् सम्राट् (वः) हे प्रजाओ ! तुम्हें दृढ़ स्थापित करता हूं।

[परमेश्वर ब्रह्माण्ड का शासक होता हुआ पृथिवी का भी शासक है। परन्तु पृथिवीस्थ मनुष्यवर्ग में व्यवस्था के लिये मानुषराजवर्ग भी आवश्यक है। प्रजातन्त्रराज्य में वस्तुतः शासक प्रजाएं होती हैं। अतः ये प्रजाएं ही निजशासन में पारमेश्वरीय शासन के भागरूप या अङ्गरूप होती हैं। प्रजाएं राज्याधिकारियों को चुन कर राज्यव्यवस्था कायम करती हैं, और राज्याधिकारियों को पारमेश्वरीय शासन में अङ्गरूप बनाती हैं। राज्याधिकारियों में मुख्याधिकारी राजा होता है। समग्र पृथिवी के शासन में यह "इन्द्रेन्द्र" होता है, इन्द्रों का भी इन्द्र होता है, सम्राटों का भी सम्राट् होता है। इस के सम्बन्ध में वेद में निम्नलिखित मन्त्र द्वारा निम्नलिखित भावनाएं प्रकट की है। यथा "इन्द्रेन्द्र मनुष्या३ः परेहि संह्यज्ञास्थाः वरुणैः संविदानः। स त्वायमह्वत स्वे सधस्थे स देवान् यक्षत् स उ कल्पयाद् विशः॥ (अथर्व० ३।४।६)। अर्थात् हे इन्द्रेन्द्र! हे मनुष्य! तू भूमण्डल के परे तक के प्रदेशों तक भी जाया-आया कर। वरुणों अर्थात् प्रजा निर्वाचित माण्डलिक राजाओं द्वारा सम्यक्तया जानकारी को प्राप्त हुआ तू उनके साथ शासन में ऐकमत्य को प्राप्त हो। उस परमेश्वर ने "सधस्थ" अर्थात् निजगद्दी में साथ बैठने के लिये तेरा आह्वान किया है, तू परमेश्वर के साथ राजगद्दी पर बैठ कर, परमेश्वर का प्रतिनिधि बन कर पृथिवी का शासन कर, और विश्वास कर कि ऐसे तेरे शासन में परमेश्वर, राज्यशासन में तेरे सहायक दिव्य राजवर्ग को शासन-यज्ञ के योग्य बना देगा, और तेरी प्रजाओं को सामर्थ्य सम्पन्न कर देगा।

राजा लोग यदि यह समझ लें कि शासन की गद्दी पर परमेश्वर भी स्थित है, और हम उसके प्रतिनिधि होकर शासन-व्यवस्था के लिये उसके साथ बैठे हुए हैं तो पृथिवी का शासन स्वर्गीयशासन हो जाय। मन्त्र में "वरुणैः" में बहुवचन है, अतः ये मनुष्य हैं, माना गया वरुण-देवता नहीं। मनुष्या३ः में आह्वान में "टि" को प्लुत है। यक्षत्=यज्+सिप्+लेट् लकार]।

यो व आपोऽपां भागो३ऽप्स्व१न्तर्यजुष्यो देवयजनः।
इदं तमतिसृजामि तं माभ्यवनिक्षि ।
तेन तमभ्यतिसृजामो यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।
तं वधेयं तं स्तृषीयानेन ब्रह्मणाऽनेन कर्मणाऽनया मेन्या ॥१९॥

(आपः) हे आप्त प्रजाओ! (वः) तुम्हारा (यः) जो (अपाम्) प्रजाओं सम्बन्धी (भागः) सेवनीय या भजनीय है, जो कि (अप्सु अन्तः) जो तुम्हारे हृदयान्तर्वर्ती जलों में विद्यमान है, (यजुष्यः) यजनीय तथा (देवयजनः) देवों अर्थात् साध्यों और ऋषियों द्वारा यजनीय है, (तम्) उस के प्रति (इदम्) इस शरीर या मन को (अतिसृजामि) मैं सम्राट् भेंट करता हूं, समर्पित करता हूं, [हे परमेश्वर!] (तम्, मा) उस मुझ सम्राट् को, (अभि अवनिक्षि) अभिमुख होकर, शुचि पवित्र कर। (तेन) उस शुचि, पवित्र सम्राट् की आज्ञा द्वारा (तम्) उस शत्रु-राजा को, (अभि) अभिमुख होकर, (अतिसृजामः) हम सैनिक विनष्ट करते हैं (यः) जो कि (अस्मान् द्वेष्टि) हमारे साथ द्वेष करता है, और (यम्) जिस के साथ, प्रतिक्रिया में, (वयम्, द्विष्मः) हम द्वेष करते हैं। अथवा (तम्) उस शत्रु-राजा का (वधेयम्) मैं सम्राट् स्वयं वध करूं, (तम्) उस का (स्तृषीय) विनाश करूं, (अनेन ब्रह्मणा) इस मन्त्रोक्त विधि द्वारा, (अनेन कर्मणा) इस [द्वन्द्वयुद्धरूपी] कर्म द्वारा, या (अनया मेन्या) इस वज्र द्वारा।

[सम्राट्, निज, शरीर या मन को सेवनीय या भजनीय परमेश्वर के प्रति समर्पित कर, मन की पवित्रता की याचना करता है। ऐसे सम्राट् की आज्ञा द्वारा सैनिक, शत्रुराजा का विनाश करते हैं। अथवा सम्राट् स्वयं उस का विनाश करता है। भागः="भगः=+स्वार्थेऽण्"=भगरूप, परमेश्वर]।

देवयजनः=देवाः साध्या ऋषयश्च ये (यजु० ३१।९)। अतिसृजामि =अतिसर्जन (Giving, Granting (आप्टे)। अभि=आभिमुख्ये (निरुक्त० १।१।३)। अतिसृजामः=अतिसर्जन (Killing, आप्टे)। स्तृषीय=स्तृणाति वधकर्मा (निघं० २।१९)। मेन्या=मेनिः वज्रनाम (निघं० २।२०)।

अप्सु अन्तः; आपः=हृदयसमुद्र और नाड़ियों में प्रवाहित रक्त (अथर्व० १०।२।११) । यजनः (औणादिकः युच् कर्मणि) । अवनिक्षि= अव+णिजिर् शौचपोषणयोः] ।

यो व॑ आपो॒ऽपामू॒र्मिर॒प्स्व१॒॑न्तर्य॑जु॒ष्यो॑ देव॒यज॑नः ।
इ॒दं तमति॑ सृजामि॒ तं माभ्यव॑निक्षि ।
तेन॒ तम॒भ्यति॑सृजामो॒ यो॒३॒॑स्मान् द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः ।
तं व॑धेयं॒ तं स्तृ॑षीया॒नेन॒ ब्रह्म॑णा॒ऽनेन॒ कर्म॑णा॒ऽनया॑ मे॒न्या ॥१६॥

(आपः) हे आप्त प्रजाओ ! (वः) तुम्हारा (यः) जो (अपाम्) प्रजाओं सम्बन्धी (ऊर्मिः) लहर है, जोकि (अप्सु अन्तः) तुम्हारे हृदयान्तवर्ती जलों में विद्यमान है, (यजुष्यः) यजनीय तथा (देवयजनः) देवों अर्थात् साध्यों और ऋषियों द्वारा यजनीय है, (तम्) उस के प्रति (इदम्) इस शरीर या मन को (अति सृजामि) मैं सम्राट् भेंट करता हूं, समर्पित करता हूं, [हे परमेश्वर] (तम् मा) उस मुझ को, (अभि अवनिक्षि) अभिमुख होकर, शुचि कर, पवित्र कर । (तेन) उस शुचि, पवित्र सम्राट् की आज्ञा द्वारा (तम्) उस शत्रुराजा का, (अभि) अभिमुख होकर, (अतिसृजामः) हम सैनिक विनाश करते हैं, वध करते हैं, (यः) जो कि (अस्मान् द्वेष्टि) हमारे साथ द्वेष करता है, और (यम्) जिस के साथ प्रतिक्रिया में, (वयम्, द्विष्मः) हम द्वेष करते हैं । अथवा (तम्) उस शत्रुराजा का (वधेयम्) मैं सम्राट् स्वयं वध करूं, (तम्) उस का (स्तृषीय) विनाश करूं, (अनेन ब्रह्मणा) इस मन्त्रोक्त विधि द्वारा, (अनेन कर्मणा) इस [द्वन्द्वयुद्धरूपी], कर्म द्वारा, या (अनया मेन्या) इस वज्र द्वारा ।

[मन्त्र में "ऊर्मि" द्वारा लहर के रूप में परमेश्वर का वर्णन हुआ है । लहरें समुद्र में उठा करती हैं । इस से हृदय को समुद्र कहा है । इस हृदय-समुद्र में परमेश्वर की स्तुतिरूप में स्तुति-लहरें उठती हैं । इन लहरों में परमेश्वर स्तवनीयरूप में प्रकट हो रहा होता है । अतः वह "ऊर्मि" है । इस सम्बन्ध में यजुर्वेद का मन्त्र विशेष महत्त्व का है । यथा—

एता अर्षन्ति हृद्यात्समुद्राच्छतव्रजा रिपुणा नावचक्षे ।
घृतस्य धारा अभिचाकशीमि हिरण्ययो वेतसो मध्य आसाम् ॥
॥१७।९३॥

(एताः) ये स्तुतिवाणियां (शतव्रजाः) सैकड़ों वेगों वाली हुई, (हृद्यात् समुद्रात्) हृदयरूपी समुद्र से (अर्षन्ति) उठती हैं, (रिपुणा) जो कि स्तुतियों के रिपु द्वारा (न अवचक्षे) अवख्याति को प्राप्त नहीं होतीं । (घृतस्य) प्रकाश की (धाराः) धाराओं को (अभिचाकशीमि) मैं संमुख देख रहा हूं, (आसाम्) इन धाराओं के (मध्ये) बीच में (हिरण्ययः) हिरण्यवर्णी, (वेतसः) संसारपट का बुनने वाला परमेश्वर प्रकट हो रहा है, घृतस्य=घृ क्षरणदीप्त्योः (जुहोत्यादिः) मन्त्र में "दीप्ति" अर्थ अभिप्रेत है । वेतसः=वेञ् तन्तुसन्ताने, वयति तन्तून् संतनोतीति (उणा० ३।११८) । ये प्रकाशमयी धाराएं भी ऊर्मिरूप हैं, जो कि स्तुति मन्त्रों के जप में प्रकट हो रही होती हैं] ।

यो व॑ आपो॒ऽपां व॒त्सो॒३॒॑प्स्व१॒॑न्तर्य॑जु॒ष्यो॑ देव॒यज॑नः ।
इ॒दं तमति॑ सृजामि॒ तं माभ्यव॑निक्षि ।
तेन॒ तम॒भ्यति॑सृजामो॒ यो॒३॒॑स्मान् द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः ।
तं व॑धेयं॒ तं स्तृ॑षीया॒नेन॒ ब्रह्म॑णा॒ऽनेन॒ कर्म॑णा॒ऽनया॑ मे॒न्या ॥१७॥

(आपः) हे आप्त प्रजाओ ! (वः) तुम्हारा (यः) जो (अपाम्) प्रजाओं सम्बन्धी (वत्सः) पुत्ररूप है, पुत्रसदृश स्नेहपात्र है, जोकि तुम्हारे (अप्सु अन्तः) हृदयान्तवर्ती जलों में विद्यमान है, (यजुष्यः) यजनीय तथा (देवयजनः) देवों अर्थात् साध्यों और ऋषियों द्वारा यजनीय है, (तम्) उस के प्रति (इदम्) इस शरीर या मन को (अतिसृजामि) मैं सम्राट् भेंट करता हूं, समर्पित करता हूं, [हे परमेश्वर !] (तम्, मा) उस मुझ को, (अभि) अभिमुख होकर, (अवनिक्षि) शुचि, पवित्र कर । (तेन) उस शुचि, पवित्र सम्राट् की आज्ञा द्वारा (तम्) उस शत्रु-राजा को, (अभि) अभिमुख हो कर, (अतिसृजामः) हम सैनिक विनष्ट करते हैं, (यः) जोकि (अस्मान् द्वेष्टि) हमारे साथ द्वेष करता है, और (यम्) जिस के साथ प्रतिक्रिया में, (वयम्, द्विष्मः) हम द्वेष करते हैं । अथवा (तम्) उस शत्रु-राजा का (वधेयम्) मैं सम्राट् स्वयं वध करूं, (तम्) उस का (स्तृषीय) विनाश करूं (अनेन ब्रह्मणा) इस मन्त्रोक्त विधि द्वारा, (अनेन कर्मणा) इस [द्वन्द्वयुद्धरूपी] कर्म द्वारा या (अनया मेन्या) इस वज्र द्वारा ।

[मन्त्र में परमेश्वर को वत्स कहा है। अथर्ववेद में परमेश्वर को "ऋषीणां पुत्रः" कहा है। यथा "अग्नावग्निश्चरति प्रविष्ट ऋषीणां पुत्रो अभिशस्तिपा उ" (अथर्व० ४।३९।९), अर्थात् अग्नि में प्रविष्ट हुआ अग्नि विचरता है, वह ऋषियों का पुत्र है, और हिंसा करने वाले पाप से रक्षा करता है। परमेश्वर ऋषियों का पुत्र है, ऋषि लोग योगसमाधि द्वारा इसे पैदा करते हैं, प्रकट करते हैं, तथा इस से पुत्रवत् स्नेह करते हैं, जैसे माता-पिता उत्पन्न पुत्र से स्नेह करते हैं]।

यो व आपोऽपां वृषभोऽप्स्वन्तर्यजुष्यो देवयजनः।
इदं तमति सृजामि तं माभ्यवनिक्षि।
तेन तमभ्यतिसृजामो योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।
तं वधेयं तं स्तृषीयानेन ब्रह्मणाऽनेन कर्मणाऽनया मेन्या ॥१८॥

(आपः) हे आप्त प्रजाओ! (वः) तुम्हारा (यः) जो (अपाम्) प्रजाओं सम्बन्धी (वृषभः) सुखवर्षी या आनन्दरसवर्षी है, जो कि तुम्हारे (अप्सु अन्तः) हृदयान्तर्वर्ती जलों में विद्यमान है, (यजुष्यः) यजनीय तथा (देवयजनः) देवों अर्थात् साध्यों और ऋषियों द्वारा यजनीय है, (तम्) उसके प्रति (इदम्) इस शरीर या मन को (अतिसृजामि) मैं सम्राट् भेंट करता हूं, समर्पित करता हूं, [हे परमेश्वर !] (तम्, मा) उस मुझ को, (अभि) अभिमुख होकर, (अवनिक्षि) शुचि, पवित्र कर। (तेन) उस शुचि, पवित्र सम्राट् की आज्ञा द्वारा (तम्) उस शत्रु-राजा को, (अभि) अभिमुख होकर, (अतिसृजामः) हम सैनिक विनष्ट करते हैं (यः) जो कि (अस्मान् द्वेष्टि) हमारे साथ द्वेष करता है, और (यम्) जिस के साथ प्रतिक्रिया में, (वयम्, द्विष्मः) हम द्वेष करते हैं। अथवा (तम्) उस शत्रु-राजा का (वधेयम्) मैं सम्राट् वध करूं, (तम्, स्तृषीय) उसका विनाश करूं (अनेन ब्रह्मणा) इस मन्त्रोक्त विधि द्वारा, (अनेन कर्मणा) इस [द्वन्द्व-युद्धरूपी कर्म द्वारा, या (अनया मेन्या) इस वज्र द्वारा।

यो व आपोऽपां हिरण्यगर्भोऽप्स्वन्तर्यजुष्यो देवयजनः।
इदं तमति सृजामि तं माभ्यवनिक्षि।
तेन तमभ्यतिसृजामो योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।
तं वधेयं तं स्तृषीयानेन ब्रह्मणाऽनेन कर्मणाऽनया मेन्या ॥१९॥

(आपः) हे आप्त प्रजाओ! (वः) तुम्हारा (यः) जो (अपाम्) प्रजाओं सम्बन्धी (हिरण्यगर्भः) हिरण्यगर्भ नामक परमेश्वर है, जो कि तुम्हारे (अप्सु अन्तः) हृदयान्तर्वर्ती जलों में विद्यमान है, (यजुष्यः) यजनीय तथा (देवयजनः) देवों अर्थात् साध्यों और ऋषियों द्वारा यजनीय है, (तम्) उस के प्रति (इदम्) इस शरीर या मन को (अभि) अभिमुख होकर, (अव-निक्षि) शुचि, पवित्र कर। (तेन) उस शुचि, पवित्र सम्राट् की आज्ञा द्वारा (तम्) उस शत्रुराजा को, (अभि) अभिमुख होकर, (अतिसृजामः) हम सैनिक विनष्ट करते हैं (यः) जो कि (अस्मान् द्वेष्टि) हमारे साथ द्वेष करता है, और (यम्) जिस के साथ, प्रतिक्रिया में, (वयम् द्विष्मः) हम द्वेष करते हैं। अथवा (तम्) उस शत्रु-राजा का (वधेयम्) मैं सम्राट् स्वयं वध करूं, (तम्, स्तृषीय) उस का विनाश करूं, (अनेन ब्रह्मणा) इस मन्त्रोक्तविधि द्वारा, (अनेन कर्मणा) इस (द्वन्द्वयुद्धरूपी) कर्म द्वारा या (अनया मेन्या) इस वज्र द्वारा।

[मन्त्र में "हिरण्यगर्भ" को यजनीय कहा है, जो कि प्रजापति परमेश्वर है यथा "हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे" (यजु० १३।४)। अतः प्रतीत होता है कि मन्त्र १५-१८ में जो भजनीय तथा यजनीय नाम "भागः, ऊर्मिः, वत्सः, वृषभः" पठित हैं वे भी परमेश्वर के ही गुणकर्मों के सूचक हैं]।

यो व आपोऽपामश्मा पृश्निर्दिव्योऽप्स्वन्तर्यजुष्यो देवयजनः।
इदं तमति सृजामि तं माभ्यवनिक्षि।
तेन तमभ्यतिसृजामो योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।
तं वधेयं तं स्तृषीयानेन ब्रह्मणाऽनेन कर्मणाऽनया मेन्या ॥२०॥

(आपः) हे आप्त प्रजाओ! (वः) तुम्हारा (यः) जो (अपाम्) प्रजाओं सम्बन्धी (अश्मा) व्यापक या मेघवत् सुखवर्षी, (पृश्निः) आदित्यवर्णी, (दिव्यः) दिव्य परमेश्वर है, जो कि तुम्हारे (अप्सु अन्तः) हृदयान्तर्वर्ती जलों में विद्यमान है, (यजुष्यः) यजनीय तथा (देवयजनः) देवों अर्थात् साध्यों और ऋषियों द्वारा यजनीय है, (तम्) उस परमेश्वर के प्रति (इदम्) इस शरीर या मन को (अतिसृजामि) मैं सम्राट् भेंट करता हूं, समर्पित करता हूं। [हे परमेश्वर !] (तम्, मा) उस मुझ को, (अभि) अभिमुख हो कर (अवनिक्षि) शुचि, पवित्र कर। (तेन) उस शुचि, पवित्र

सम्राट् की आज्ञा द्वारा (तम्) उस शत्रु-राजा को (अभि) अभिमुख होकर (अतिसृजामः) हम सैनिक विनष्ट करते हैं (यः) जो कि (अस्मान् द्वेष्टि) हमारे साथ द्वेष करता है। और (यम्) जिस के साथ, प्रतिक्रिया में, (वयम्, द्विष्मः) हम द्वेष करते हैं। अथवा (तम्) उस शत्रु-राजा को (वधेयम्) मैं सम्राट् स्वयं वध करूं, (तम्, स्तृषीय) उस का विनाश करूं (अनेन ब्रह्मणा) इस मन्त्रोक्त विधि द्वारा, (अनेन कर्मणा) इस [द्वन्द्वयुद्ध रूपी] कर्म द्वारा या (अनया मेन्या) इस वज्र द्वारा।

[अश्मा=अशूङ् व्याप्तौ तथा अश्मा मेघनाम (निघं० १।१०)। पृश्निः="आदित्यो भवति, प्राश्नुत एनं वर्णः" (निरुक्त २।४।१४) आपः (जल) तथा अश्मा (मेघ) के वर्णन द्वारा वज्र वैद्युतास्त्र प्रतीत होता है]।

ये वं आपोऽ पामुग्नयोऽप्स्व१न्तर्यजुष्या देवयजनाः।
इदं तानतिसृजामि तान् माऽभ्यवनिक्षि।
तैस्तमभ्यतिसृजामो यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।
तं वधेयं तं स्तृषीयानेन ब्रह्मणाऽनेन कर्मणाऽनया मेन्या॥२१॥

(आपः) हे आप्त प्रजाओ! (वः) तुम्हारी (ये) जो (अपाम्) प्रजाओं सम्बन्धी (अग्नयः) अग्नियां हैं, जोकि (अप्सु अन्तः) तुम प्रजाओं के हृदयान्तर्वर्ती जलों में विद्यमान हैं, (यजुष्याः) जोकि यजन अर्थात् संगम योग्य हैं, प्रापणीय हैं, (देवयजनाः) देवों के संगम द्वारा प्रापणीय हैं, (तान्) उन्हें और (इदम्) इस शरीर या मन को [हे परमेश्वर!] (अतिसृजामि) मैं सम्राट् तेरे प्रति भेंट करता हूं, समर्पित करता हूं, (तान्) उन्हें, (मा) और मुझे, (अभि) अभिमुख होकर (अवनिक्षि) शुचि, पवित्र कर। (तैः) सम्राट्निष्ठ उन अग्नियों द्वारा (तम् अभि) उस शत्रु को, उस के अभिमुख होकर (अति सृजामः) हम प्रजाएं विनष्ट करती हैं (यः) जो कि (अस्मान् द्वेष्टि) हम प्रजाओं के साथ द्वेष करता है, और (यम्) जिस के साथ (वयम् द्विष्मः) हम प्रजाएं द्वेष करती हैं। तथा (तम्) उस शत्रु का (वधेयम्) मैं सम्राट् भी वध करूं, (तम् स्तृषीय) उस का विनाश करूं, (अनेन ब्रह्मणा) इस ब्रह्म की सहायता या कृपा द्वारा, (अनेन कर्मणा) इस स्तुति-उपासनारूप कर्म द्वारा, (अनया मेन्या) इस ज्ञानरूपी वज्र द्वारा। मन्त्रोक्त शत्रु हैं राजसिक और तामसिक मन।

[मन्त्र में अग्नियों का वर्णन है। ये अग्नियां मानसिक हैं, और दो प्रकार की हैं, अशिव (घोर), तथा शिव [अथर्व० १६।१।११-१३)। उन शिव अग्नियों को तथा शरीर या मन को परमेश्वर के प्रति समर्पित कर, परमेश्वर से इन्हें सशक्त बनाने के लिये शक्ति की प्रार्थना करनी चाहिये, ताकि हम अशिव [घोर] अग्नि वाले द्वेषी मन का वध कर सकें। काम, क्रोध, लोभ, परहिंसाभावनाएं आदि अशिव [घोर] अग्नियां हैं। परोपकार भावना, त्याग, तपस्या, देशभक्ति के उग्र विचार आदि शिव अग्नियां हैं। "सृजामि तथा सृजामः" में एक वचन के प्रयोग द्वारा प्रकरणप्राप्त इन्द्र अर्थात् सम्राट् की उक्ति जाननी चाहिये, और बहुवचन के प्रयोग द्वारा प्रजाओं की। अभ्यवनिक्षि=मेरी अग्नियों और मुझ को शुचि करदे, हमारे मलों को धो डाल। घोरता मल है। निक्षि=णिजिर् शौच पोषणयोः]।

यदर्वाचीनं त्रैहायणादनृतं किं चोदिम।
आपो मा तस्मात्सर्वस्माद्दुरितात्पान्त्वंहसः॥२२॥

(त्रैहायणात्[1]) तीन वर्षों से (अर्वाचीनम्) अब तक, (यत् किंच) जो कोई (अनृतम्, ऊदिम) अनृत भाषण हम ने किया है, (तस्मात्, दुरितात्) उस दुष्परिणामी, तथा (सर्वस्मात्) सब दुष्परिणामी (अंहसः) पापों से (मा) मुझे (आपः[2]) व्यापक-परमेश्वर (पान्तु) सुरक्षित करें।

[मन्त्र में कितनी सर्वोच्च आध्यात्मिक तथा सदाचार की भावना प्रकट हुई है। वैदिक आदर्शों वाले इन्द्र अर्थात् सम्राट् तथा उस के साम्राज्य की प्रजाएं यह कहती हैं कि तीन वर्षों के समय में हम में से किसी ने अनृत-भाषण नहीं किया। यदि कोई अनृतभाषण हो गया हो, जिस का कि हम में से किसी को स्मरण नहीं, तो उस दुष्परिणामी सब प्रकार के अनृतभाषण-रूपी पाप से सर्वव्यापक परमेश्वर हमें सुरक्षित करे। मन्त्र में "आपः" पद न तो प्रजाओं का वाचक है, न जल का, न शारीरिक रस-रक्त-वीर्य का, और न प्राणों का। अपितु सर्वव्यापक और हृदयान्तर्वर्ती परमेश्वर का वाचक है। आपः शब्द परमेश्वरार्थ वाचक भी है। यथा—

१. हायन (ह+अयन)=सायन (स+अयन) सकार की विकृति हकार में, अतः सायन अर्थात् उत्तरायण और दक्षिणायन से निर्मित हायन=वर्ष।

२. तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः" (यजु० ३२।१) में, आपः=प्रजापतिः, ब्रह्म।

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥ (यजु० ३२।१)

वैदिक इन्द्र अर्थात् सम्राट् कितना आस्तिक, धार्मिक और परमेश्वर-परायण है इस के साक्षी (मन्त्र १५--२१) हैं। राजा के अनुसार ही तो प्रजा होती है। इसीलिये मन्त्र २२ के अनुसार प्रजा भी सत्यपरायण है] ।

समुद्रं वः प्र हिणोमि स्वां योनिमपीतन ।
अरिष्टाः सर्वहायसो मा च नः किं चनाममत् ॥२३॥

हे आपः (वः) तुम्हें मैं (समुद्रम्) हृदय-समुद्र की ओर (प्रहिणोमि) प्रेरित करता हूं, (स्वाम्) निज (योनिम्) गृह में (अपीतन) विलीन हो जाओ, (सर्वहायसः) सब प्रकार से गतियों वाले सप्तप्राण (अरिष्टाः) हिंसित न हों, (च) और (नः) हमें (किं चन) कोई भी [रोग] (मा) न (आममत्) रुग्ण करे।

[त्रैहायण-अनृतभाषण त्याग के मन्त्र (२२) के पश्चात् मन्त्र (२३) पठित है। इन दोनों मन्त्रों के भावों में कार्यकारण भाव है। त्रैहायणव्रत कारण है और मन्त्र में कथित भावनाएं कार्यरूप हैं। मन्त्र (२३) में "आपः" द्वारा ५ ज्ञानेन्द्रियां, मन और विद्या—ये सात प्राण अभिप्रेत हैं। "सप्तापः स्वपतो लोकमीयुः" (यजु० ३४।५५) में "सप्त-आपः" की व्याख्या में निरुक्त में कहा है कि "षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तमी" (१२।४।३७) । इन सात प्राणों को "योगाभ्यास" से हृदय में विलीन करना होता है। यथा "हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिरुध्य । ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि" (श्वेताश्व० उप० अध्याय २, खण्ड ८), अर्थात् "मन सहित इन्द्रियों को हृदय में रोक कर, ब्रह्मरूपी नौका द्वारा, विद्वान्, भयप्रद सब स्रोतों को तैर जाय। ये स्रोत हैं विषयप्रवाही इन्द्रियां और मन।

ये सात प्राण "सर्वहायसः" हैं, शारीरिक तथा मानसिक सब प्रकार की गतियों के कारण हैं। इन की गतियों के निरोध से मनुष्य हिंसित नहीं होते, और न रोगग्रस्त होते हैं। प्रहिणोमि=प्र+हि गतौ (स्वादिः)। योनिः गृहनाम (निघं० ३।४)। सर्वहायसः=सर्व+हा (ओहाङ् गतौ)+युगागम+असुन्। सर्वहायाः=सर्व गतिः (सायण, अथर्व० ८।२।७)। आममत्=अम रोगे (चुरादिः)]।

अरिप्रा आपो अप रिप्रमस्मत् ।
प्रास्मदेनो दुरितं सुप्रतीकाः प्र दुःष्वप्न्यं प्र मलं वहन्तु ॥२४॥

(आपः) शारीरिक जल (अथर्व० १०।२।११) "रस-रक्त" आदि, तथा सप्त प्राण (मन्त्र २३) (अरिप्राः) पापरहित हो गए हैं, अतः (अस्मत्) हम से (रिप्रम्) पाप (अप) अपगत हो गया है। (सुप्रतीकाः) मुख को उत्तम बना देने वाले वे निष्पाप "आपः" (अस्मत्) हमसे (दुरितम्) दुष्परिणामी (एनः) पाप को (प्र वहन्तु) प्रवाहित करदें, और (दुःष्वप्न्यम्) बुरे स्वप्नों के परिणामरूप (मलम्) चैत्त मल को (प्र प्र वहन्तु) प्रवाहित करदें।

[रिप्र का अर्थ है पाप। "रपो रिप्रमिति पापनामनी" (निरुक्त ४।३।२१)। शारीरिक रस-रक्त, और पांचज्ञानेन्द्रियों, मन और विद्या के निष्पाप और पवित्र हो जाने पर मनुष्य पवित्र हो जाता है, और उसका चेहरा चमक जाता है, तथा स्वप्न सात्त्विक हो कर बुरे चैत्त मल से विहीन हो जाते हैं।

विशेष वक्तव्य—(१) मन्त्र १-२४ में स्थान-स्थान पर "आपः" शब्द का प्रयोग हुआ है, जिस का प्रसिद्ध अर्थ जल हैं। मन्त्रों में "जल अर्थ" द्वारा मन्त्रों के अर्थ युक्तियुक्त तथा बुद्धिग्राह्य नहीं रहते। वैदिक साहित्य में "आपः" शब्द नाना अर्थों में प्रयुक्त होता है। (१) आपः अर्थात् व्यापक ब्रह्म, [आप्लृ व्याप्तौ] (यजु० ३१।१)। (२) आपः=५ ज्ञानेन्द्रियां, मन और विद्या (यजु० ३४।५५)। (३) आपः=रक्त, रुधिर (अथर्व० १०।२।११)। (४) आपः अन्तरिक्षनाम (निघं० १।३)। (५) आपः पदनाम (निघं० ५।३), इत्यादि। अतः इन मन्त्रों की व्याख्या में "आपः" का अर्थ मन्त्राभिप्रायानुसार किया गया हैं, जोकि बुद्धिग्राह्य है।

मन्त्र १५-२१ में आध्यात्मिक तत्त्वों का वर्णन भी अभिप्रेत है। "यजुष्यः, देवयजनः" द्वारा परमेश्वर का, "अवनिक्षि" द्वारा शरीर या मन की शुचिता, पवित्रता का, "द्वेष्टि" द्वारा राजसिक और तामसिक मनरूपी शत्रुराजा का (मन्त्र १९); "ब्रह्मणा" द्वारा परब्रह्म का (मन्त्र २१), "कर्मणा" द्वारा स्तुति-उपासना रूप कर्म का (मन्त्र २१); "मेन्या" द्वारा

ज्ञान-वज्र का (मन्त्र २१), वर्णन भी अभिप्रेत है। इसी प्रकार "भाग:" [सेवनीय, भजनीय], ऊर्मि:, वत्स:, वृषभ:, हिरण्यगर्भ:, पृश्नि: तथा दिव्य अश्मा, तथा पापों को भस्म करने वाली यजुष्या: अग्नियां, त्रैहायण-अनृत भाषण न करना, दुरित अंहस्, रिप्रका अपगमन"—आदि का वर्णन भी आध्यात्मिक भावनाओं का सूचक है। राजसिक-तामसिक-मन भी शारीरिक जीवन में राजा है, परन्तु है शत्रुरूप राजा। इस का विनाश करना चाहिये, और सात्त्विक मन का उपार्जन करना चाहिये। तभी प्रजाएं "अरिप्रा:" हो सकती हैं। यथा—"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो:"। राजसिक-तामसिक-मन बन्ध का कारण है अत: शत्रु है, और सात्त्विकमन मोक्ष का कारण है, अत: मित्र है।

—:०:—

[५(२)]

(क्रमिक मन्त्र २५-३६)। कौशिक:। विष्णुक्रम:। मन्त्रोक्ता:। २५-३५ त्र्यवसाना: षट्पदा यथाक्षरं शक्वर्यतिशक्वरी; ३६ पञ्चपदातिशाक्वरातिजागतगर्भाष्टि:।

विष्णो: क्रमोऽसि सपत्नहा पृथिवीसंशितोऽग्नितेजा:। पृथिवीमनु वि क्रमेऽहं पृथिव्यास्तं निर्भजामो योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्म:। स मा जीवीत् तं प्राणो जहातु ॥२५॥

(विष्णो:) विष्णु के (क्रम:)[1] पराक्रम वाला (असि) तू है, (सपत्नहा) सपत्न का हनन करने वाला है, (पृथिवीसंशित:) पृथिवी में तेज अर्थात् उग्र, (अग्नितेजा:) तथा अग्निसदृश तेजस्वी तू है। (अहम्) मैं (पृथिवीम् अनु) पृथिवी में (विक्रमे) विक्रम अर्थात् पराक्रम करता हूं, (पृथिव्या:) पृथिवी से (तम्) उसे (निर्भजाम:) हम भागरहित करते हैं (य:) जोकि (अस्मान् द्वेष्टि) हमारे साथ द्वेष करता है, (यम्) जिस के

1. क्रम:=क्रम+अच् (अर्श आदिभ्योऽच्, अष्टा० ५।२।१२७)। अत: क्रम=पराक्रम वाला। अथवा हे मेरे पराक्रम! तू विष्णु के पराक्रम के सदृश या तद्रूप है।

साथ (वयम् द्विष्म:) हम द्वेष करते हैं। (स:) वह (मा) न (जीवीत्) जीवित रहे, (तम्) उसे (प्राण:) प्राण (जहातु) छोड़ जाय।

[विष्णु द्वारा व्यापक-परमेश्वर का ग्रहण है, सूर्य का नहीं। क्योंकि सूर्य का वर्णन मन्त्र (३७) में हुआ है। मन्त्र में सार्वभौम-शासक स्वयं अपने आप को सम्बोधित करता हुआ कहता है कि तू विष्णु के पराक्रम वाला है, अर्थात् जैसे परमेश्वर का पराक्रम पृथिवी पर है, वह निज पराक्रम द्वारा समग्र पृथिवी का शासन न्यायपूर्वक करता है, वैसे तू भी समग्रपृथिवी के प्रजाजनों पर न्यायपूर्वक शासन कर और जो सार्वभौम नियमों के प्रतिकूल चलते हैं उन्हें सपत्न अर्थात् शत्रु जान कर उन की हत्या कर। पृथिवी में उग्ररूप हो कर कठोरता पूर्वक उन्हें अग्नि के समान दग्ध कर, जो कि पृथिवी पर मलिनाचरण वाले हैं।

इस "आत्मसंबोधन" के पश्चात् सार्वभौमशासक कहता है कि मैं समग्र पृथिवी में निजपराक्रम किये हुआ हूं। मैं और सार्वभौमप्रजा के अन्य शासक मिल कर, पृथिवी के भोगों से उसे भाग रहित कर देते हैं जोकि प्रजा और हम शासकों के साथ द्वेष करता है, और परिणामरूप में जिसके प्रति हम सब का भी द्वेष हो जाता है। उसे हम जीवित नहीं रहने देते, और उसे प्राण-दण्ड देते हैं। इस प्रकार जो व्यक्ति, राज्य के नियमों के विरुद्ध चलता है, जिन नियमों का निर्माण, प्रजा और शासकों की बहुसम्मति या सर्वसम्मति द्वारा हुआ है, उन का पालन, उग्ररूप में, करवाने का निर्देश मन्त्र में हुआ है। संशित=तेज या उग्र। यथा "सत्यं बृहदृतमुग्रम्" (अथर्व० १२।१) में, ऋतम् उग्रम्=उग्र नियम]।

विष्णो: क्रमोऽसि सपत्नहाऽन्तरिक्षसंशितो वायुतेजा:। अन्तरिक्षमनु वि क्रमेऽहमन्तरिक्षात् तं निर्भजामो योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्म:। स मा जीवीत् तं प्राणो जहातु ॥२६॥

(विष्णो:) विष्णु के (क्रम:) पराक्रम वाला (असि) तू है, (सपत्नहा) सपत्न का हनन करने वाला है, (अन्तरिक्षसंशित:) अन्तरिक्ष में तेज अर्थात् उग्र, (वायुतेजा:) तथा वायुसदृश तेजस्वी तू है। (अहम्) मैं (अन्तरिक्षम् अनु) अन्तरिक्ष में (विक्रमे) विक्रम अर्थात् पराक्रम करता हूं, (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष से (तम्) उसे (निर्भजाम:) हम भाग रहित करते हैं।

(यः) जोकि (अस्मान् द्वेष्टि) हमारे साथ द्वेष करता है (यम्) और प्रतीकाररूप में जिस के साथ (वयम् द्विष्मः) हम द्वेष करते हैं। (सः) वह (मा) न (जीवीत्) जीवित रहे, (तम्) उसे (प्राणः) प्राण (जहातु) छोड़ जाय।

[अन्तरिक्ष की देवता वायु है। सार्वभौम शासक, जोकि अन्तरिक्ष में भी उग्र होकर शासन करता है अपने-आप को वायु के सदृश तेजस्वी कहता है। वायु के दो काम हैं, गति और गन्धन (हिंसा)। वा गतिगन्धनयोः (अदादिः)। सार्वभौमशासक की गति अन्तरिक्ष में भी है, अन्तरिक्षगामी शत्रुओं की वह हिंसा करता, और उन्हें अन्तरिक्ष में संचार करने से भाग-रहित करता है। शत्रु विमानों द्वारा अन्तरिक्ष में संचार कर सकते हैं। शेष अभिप्राय (मन्त्र २५) के सदृश]।

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा द्यौसंशितः सूर्यतेजाः ।
दिवमनु विक्रमेऽहं दिवस्तं निर्भजामो योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः । स मा जीवीत्तं प्राणो जहातु ॥२७॥

(विष्णोः) विष्णु के (क्रमः) पराक्रम वाला (असि) तू है, (सपत्नहा) सपत्न का हनन करने वाला है, (द्यौसंशितः) द्युलोक में तेज अर्थात् उग्र रूप (सूर्यतेजाः) तथा सूर्य के सदृश तेजस्वी तू है। (अहम्) मैं (दिवम् अनु) द्युलोक में (विक्रमे) विक्रम अर्थात् पराक्रम वाला हूं, (दिवः) द्युलोक से (तम्) उसे (निर्भजामः) हम भागरहित करते हैं (यः) जो कि (अस्मान् द्वेष्टि) हमारे साथ द्वेष करता है, (यम्) जिस के साथ प्रतीकाररूप में हम द्वेष करते हैं। (सः) वह (मा) न (जीवीत्) जीवित रहे, (तम्) उसे (प्राणः) प्राण (जहातु) छोड़ जाय।

[सार्वभौम शासक अपने-आप को सूर्यसदृश तेजस्वी कहता है। सूर्य जैसे शत्रुरूप अन्धकार का विनाश करता, और शत्रुरूप मेघ को छिन्न-भिन्न करता है, वैसे सार्वभौम शासक भी द्युलोकस्थ शत्रुओं को विनष्ट करता है। द्युलोक में भी भिन्न-भिन्न नक्षत्रों और ताराओं के ग्रहों में मनुष्य आदि सदृश प्राणी रहते हैं—यह वैदिक मान्यता है। जैसे वर्तमान वैज्ञानिक युग में उत्क्षेपक-विमान, सूर्यलोक का भी अतिक्रमण कर के, उस से भी परे तक पहुंचे हैं, वैसे सार्वभौमशासक भी वहां पहुंच कर शत्रुओं का विनाश कर सकता है। शेष अभिप्राय (मन्त्र २५) के सदृश]।

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा दिक्संशितो मनस्तेजाः ।
दिशोऽनु विक्रमेऽहं दिग्भ्यस्तं निर्भजामो योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः । स मा जीवीत्तं प्राणो जहातु ॥२८॥

(विष्णोः) विष्णु के (क्रमः) पराक्रम वाला (असि) तू है, (सपत्नहा) सपत्न का हनन करने वाला है, (दिक्संशितः) दिशाओं में तेज अर्थात् उग्र रूप (मनस्तेजाः) तथा मन के सदृश तेजस्वी तू है। (अहम्) मैं (दिशः अनु) दिशाओं में (विक्रमे) विक्रम तथा पराक्रम वाला हूं, (दिग्भ्यः) दिशाओं से (तम्) उसे (निर्भजामः) हम भाग रहित करते हैं (यः) जोकि (अस्मान् द्वेष्टि) हमारे साथ द्वेष करता है, (यम्) और जिस के साथ प्रतीकार रूप में (वयम् द्विष्मः) हम द्वेष करते हैं। (सः) वह (मा) न (जीवीत्) जीवित रहे (तम्) उसे (प्राणः) प्राण (जहातु) छोड़ जाय।

[दिग्भ्यः, जब सूर्य, भूमध्यरेखा (Equator) पर मार्च और सितम्बर में होता है तब की पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण दिशाओं को दिग्भ्यः कहा है। इन दो कालों में न अधिक सर्दी होती है और न अधिक गर्मी। अतः कार्यों के निमित्त मन अधिक स्फूर्ति वाला हो जाता है। मन के सदृश स्फूर्ति या वेग वाला और कोई पदार्थ नहीं। क्षण में यह द्युलोक तथा उस से परे पहुंच जाता है। मन्त्र (२७) में द्युलोक तक विक्रम करने का निर्देश हुआ है। वहां तक पहुंचने के लिये अतिशीघ्र गति चाहिये। इस अतिशीघ्र गति में मन को दृष्टान्त रूप में मन्त्र में कहा है। इस प्रकार मन्त्र २७, २८ में परस्पर सम्बन्ध है। शेष अभिप्राय (मन्त्र २५) के सदृश]।

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहाशासंशितो वाततेजाः ।
आशा अनु विक्रमेऽहमाशाभ्यस्तं निर्भजामो योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः । स मा जीवीत्तं प्राणो जहातु ॥२९॥

(विष्णोः) विष्णु के (क्रमः) पराक्रम वाला (असि) तू है, (सपत्नहा) सपत्न का हनन करने वाला है, (आशासंशितः) अवान्तर दिशाओं अर्थात् दिगन्तरों में तेज अर्थात् उग्ररूप, (वाततेजाः) तथा वात के सदृश तेजस्वी तू है। (अहम्) मैं (आशाः अनु) अवान्तर दिशाओं अर्थात् दिगन्तरों में (विक्रमे) विक्रम अर्थात् पराक्रम करता हूं, (आशाभ्यः) अवान्तर दिशाओं

अर्थात् दिगन्तरों से (तम्) उसे (निर्भजामः) हम भागरहित करते हैं (यः) जोकि (अस्मान् द्वेष्टि) हमारे साथ द्वेष करता है, और (यम्) प्रतीकार रूप में जिसके साथ (वयम् द्विष्मः) हम द्वेष करते हैं। (सः) वह (मा) न (जीवीत्) जीवित रहे, (तम्) उसे (प्राणः) प्राण (जहातु) छोड़ जाय।

[मन्त्र (२८) में दिग्भ्यः द्वारा भूमध्यरेखा पर के सूर्य के होते जो पूर्वादि दिशाएं होती हैं उन का वर्णन हुआ है। और मन्त्र (२९) में अवान्तर दिशाओं का। भूमध्यरेखा से सूर्य, जब उत्तरायण की ओर गति करता है, तब भूमध्यरेखा और उत्तरायण की अन्तिम सीमा के मध्य में जो दिशाएं बनती हैं वे अवान्तर[1] दिशाएं हैं। इसी प्रकार भूमध्यरेखा से दक्षिणायन की अन्तिम सीमा की मध्यवर्ती दिशाएं भी अवान्तर दिशाएं हैं। मार्च मास से अगले मासों में गर्मी बढ़ती जाती है, और वायु झंझारूप में तीव्र गति वाली होती जाती है। इसे बात कहते हैं। इस बात के कारण कई वृक्ष भी धराशायी हो जाते हैं (अथर्व० १२।१।५१)। सार्वभौम शासन में तीव्रता या उग्रता का वर्णन वात द्वारा हुआ है। शेष अभिप्राय मन्त्र (२५) के सदृश]।

विशेष—२८-२९ मन्त्रों में सार्वभौमशासन के सपत्न का आर्थिक निर्भजन अर्थात् बहिष्कार वर्णित हुआ है।

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा ऋक्संशितः सामतेजाः।
ऋचोऽनु विक्रमेऽहमृग्भ्यस्तं निर्भजामो योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः। स मा जीवीत्तं प्राणो जहातु ॥३०॥

(विष्णोः) विष्णु के (क्रमः) पराक्रम वाला (असि) तू है, (सपत्नहा) सपत्न का हनन करने वाला है, (ऋक्संशितः) ऋचाओं द्वारा उग्र हुआ है, (सामतेजाः) तथा साम के तेज वाला तू है। (अहम्) मैं (ऋचः अनु) ऋचाओं में (विक्रमे) पराक्रम वाला हूं, (ऋग्भ्यः) ऋचाओं से (तम्) उसे (निर्भजामः) हम भाग रहित करते हैं (यः) जोकि (अस्मान्

१. अवान्तर दिशाएं सूर्य की दैनिक गति के साथ-साथ प्रतिदिन बदलती रहती हैं।

द्वेष्टि) हमारे साथ द्वेष करता है, और (यम्) जिस के साथ (वयम् द्विष्मः) हम द्वेष करते हैं। (सः) वह (मा) न (जीवीत्) जीवित रहे, (तम्) उसे (प्राणः) प्राण (जहातु) छोड़ जाय।

[सार्वभौम शासक कहता है कि मैं ऋचाओं के राजनैतिक उपदेशों द्वारा उग्र हुआ हूं, और साम के उपदेशों द्वारा साम अर्थात् शान्त स्वभाव वाला भी हूं। शासन में समयानुसार उग्रता तथा शान्ति का प्रयोग करना होता है। यथा "साम, दान, दण्ड, भेद" इन चार उपायों का अवलम्बन शासकों को करना होता है। इन उपायों में साम और दण्ड का भी कथन हुआ है। साम है शान्ति, और दण्ड है उग्रता।

ऋचाओं[1] से सपत्न के निर्भजन अर्थात् बहिष्कार का वर्णन हुआ है। अभिप्राय यह सपत्न को वैदिक-संस्कृति से वञ्चित कर देना चाहिये, वैदिक संस्कृति में निर्दिष्ट साम उपाय का अवलम्ब न सपत्न के लिये न हो कर ऋग्वेदीय उग्रता-उपाय का अवलम्बन करना चाहिये, जबकि सपत्न सार्वभौमशासन के प्रतिकूल आचरण करे। मन्त्र में "ऋक्" द्वारा ऋग्वेद को, और "साम" द्वारा सामवेद को भी सूचित किया है। शेष अभिप्राय (मन्त्र २५) के सदृश]।

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा यज्ञसंशितो ब्रह्मतेजाः।
यज्ञमनु विक्रमेऽहं यज्ञात् तं निर्भजामो योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः। स मा जीवीत्तं प्राणो जहातु ॥३१॥

(विष्णोः) विष्णु के (क्रमः) पराक्रम वाला (असि) तू है, (सपत्नहा) सपत्न का हनन करने वाला है, (यज्ञसंशितः) यज्ञ द्वारा उग्र हुआ है, (ब्रह्मतेजाः) तथा ब्रह्म के तेज वाला तू है। (अहम्) मैं (यज्ञम् अनु) यज्ञ में (विक्रमे) पराक्रम वाला हूं, (यज्ञात्) यज्ञ[2] से (तम्) उसे (निर्भजामः) हम भागरहित करते हैं (यः) जो कि (अस्मान् द्वेष्टि) हमारे साथ द्वेष

१. ऋचाओं से सपत्न के निर्भजन का यह अभिप्राय भी सम्भव है कि उसे वहां शामिल होने से वञ्चित कर देना चाहिये जहां ऋचाओं के आधार पर सामगान हो रहा हो। यह सपत्न का सामाजिक बहिष्कार है।

२. इस द्वारा यज्ञों में सपत्न को शामिल होने से भी वञ्चित करना सूचित होता है।

करता है, और (यम्) जिस के साथ (वयम् द्विष्मः) हम द्वेष करते हैं। (सः) वह (मा) न (जीवीत्) जीवित रहे, (तम्) उसे (प्राणः) प्राण (जहातु) छोड़ जाय।

[मन्त्र में यज्ञ और ब्रह्म दो का वर्णन हुआ है। वैदिकदृष्टि में यज्ञ ब्रह्मोद्देश्यक किया जाता है। यथा—"स यज्ञः तस्य यज्ञः स यज्ञस्य शिरस्कृतम्" (अथर्व० १३।७।१२। (४०), अर्थात् वह परमेश्वर यज्ञ है, यज्ञ उस का है, वह यज्ञ का सिर है। सिर के कट जाने पर शरीर निःसार हो जाता है, सिररूप परमेश्वर की भावना के विना यज्ञ भी निःसार है। यज्ञ द्वारा रोग और रोगोत्पादक जीवाणुओं का विनाश होता है, यह उग्रता है, और ब्रह्मोपासना द्वारा शान्ति प्राप्त होती है। इस द्वारा शान्तभावना को सूचित किया है, सार्वभौमशासक में ये दोनों गुण चाहियें। साथ ही यज्ञपद द्वारा यजुर्वेद को सूचित किया है, और ब्रह्मपद द्वारा अथर्ववेद को। अथर्ववेद को ब्रह्मवेद भी कहते हैं। शेष अभिप्राय (मन्त्र २५) के सदृश है]।

विशेष—३०,३१ मन्त्रों द्वारा, वैदिक-संस्कृति से सपत्न के निर्भंजन अर्थात् बहिष्कार का कथन हुआ है।

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहौषधीसंशितः सोमतेजाः।
ओषधीरनु वि क्रमेऽहमोषधीभ्यस्तं निर्भजामो योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः। स मा जीवीत्तं प्राणो जहातु ॥३२॥

(विष्णोः) विष्णु के (क्रमः) पराक्रम वाला (असि) तू है, (सपत्नहा) सपत्न का हनन करने वाला है, (ओषधीसंशितः) उग्र स्वभाव वाली ओषधियों में उग्र, (सोमतेजाः) और सोमसदृश तेज वाला तू है। (अहम्) मैं (ओषधीः अनु) ओषधियों में (विक्रमे) विक्रम अर्थात् पराक्रम वाला हूं, (ओषधीभ्यः) ओषधियों से (तम्) उसे (निर्भजामः) हम भाग रहित करते हैं (यः) जो कि (अस्मान् द्वेष्टि) हमारे साथ द्वेष करता है, और (यम्) जिस के साथ (वयम् द्विष्मः) हम द्वेष करते हैं। (सः) वह (मा) न (जीवीत्) जीवित रहे, और (तम्) उसे (प्राणः) प्राण (जहातु) छोड़ जाय।

[ओषधियां सौम्यस्वभाव वाली भी होती हैं, और उग्र स्वभाव वाली भी। मन्त्र में उग्रस्वभाव वाली ओषधियां अभिप्रेत हैं। सोम भी ओषधि है, जो कि ओषधियों में मुख्य ओषधि है। अतः सोम को ओषधियों का अधिपति अर्थात् स्वामी कहा है, यथा "सोमो वीरुधामधिपतिः" (अथर्व० ५।२४।७)। वीरुध् ओषधि है। सार्वभौमशासक सोमसदृश तेज वाला है, अतः वह अपने-आप को वीरुधों अर्थात् ओषधियों का स्वामी कहता है। स्वामी होने से वह सपत्न को ओषधि के ग्रहण से वञ्चित कर सकता है, भागरहित कर सकता है। सपत्न के रोगी हो जाने पर, ओषधि के न मिलने से, वह प्राणविहीन हो जाता है। शेष अभिप्राय (मन्त्र २५) के सदृश]।

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहाऽप्सुसंशितो वरुणतेजाः।
अपोऽनु वि क्रमेऽहमद्भ्यस्तं निर्भजामो योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः। स मा जीवीत् तं प्राणो जहातु ॥३३॥

(विष्णोः) विष्णु के (क्रमः) पराक्रम वाला (असि) तू है, (सपत्नहा) सपत्न का हनन करने वाला है, (अप्सुसंशितः) जलों में उग्र विद्युत् के सदृश उग्र है, (वरुणतेजाः) और जलों के अधिपति वरुण के तेज वाला तू है। (अहम्) मैं (अपः अनु) जलों में (विक्रमे) विक्रम अर्थात् पराक्रम वाला हूं, (अद्भ्यः) जलों से (तम्) उसे (निर्भजामः) हम भाग रहित करते हैं, वञ्चित करते हैं (यः) जो कि (अस्मान् द्वेष्टि) हमारे साथ द्वेष करता है, और (यम्) जिस के साथ (वयं द्विष्मः) हम द्वेष करते हैं। (सः) वह (मा) न (जीवीत्) जीवित रहे, (तम्) उसे (प्राणः) प्राण (जहातु) छोड़ जाय।

[वरुण को जलों का अधिपति कहा है। यथा "वरुणोऽपामधिपतिः" (अथर्व० ५।२४।४)। वरुण है मेघ, जोकि सूर्य पर आवरण डालता है। यह जलों का अधिपति है, स्वामी है। यह ही पृथिवी पर जलों की वर्षा करता है। सार्वभौमशासक अपने-आप को वरुणसदृश तेज वाला कह कर जलों का अधिपति कहता है, और पृथिवीस्थ जलों से सपत्न को भागरहित करता है, वञ्चित करता है, और सपत्न जलविहीन होकर प्राणों से विहीन हो जाता है। शेष अभिप्राय मन्त्र (५) के सदृश]।

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा कृषिसंशितोऽन्नतेजाः ।
कृषिमनु विक्रमेऽहं कृष्यास्तं निर्भजामो योऽ३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः । स मा जीवीत्तं प्राणो जहातु ॥३४॥

(विष्णोः) विष्णु के (क्रमः) पराक्रम वाला (असि) तू है, (सपत्नहा) सपत्न का हनन करने वाला है, (कृषिसंशितः) कृषिकर्म कराने में तेज अर्थात् उग्र है, (अन्नतेजाः) और अन्न के कारण तू तेजस्वी है। (अहम्) मैं (कृषिम् अनु) कृषिकर्म में (विक्रमे) विक्रम अर्थात् पराक्रम करता हूं, (कृष्याः) कृषिकर्म से (तम्) उसे (निर्भजामः) हम भागरहित करते हैं (यः) जो (अस्मान् द्वेष्टि) हमारे साथ द्वेष करता है, और (यम्) जिसके साथ (वयम्) हम (द्विष्मः) द्वेष करते हैं, (सः) वह (मा) न (जीवीत्) जीवित रहे (तम्) उसे (प्राणः) प्राण (जहातु) छोड़ जाय।

[सार्वभौमशासक पृथिवी में कृषिकर्म कराने में उग्रभावना वाला है। फलतः पृथिवी में अन्न का बाहुल्य हो जाता है। अन्न के बाहुल्य होने के कारण उस का तेज बढ़ता है, वह तेजस्वी हो जाता है। जिस राष्ट्र के पास अन्न नहीं, और उसे अन्य राष्ट्रों से अन्न मांगना पड़ता है वह भिखमंगा राष्ट्र निस्तेज होता है। इस लिये सार्वभौमशासक कृषिकर्म में अपने पराक्रम को दर्शाता है। वह सपत्न को कृषिकर्म करने से वञ्चित कर देता है, और उस के पास अन्नाभाव हो जाने पर क्षुधा से तड़पता हुआ वह मृत्यु का ग्रास बन जाता है। शेष अभिप्राय मन्त्र (२१) के सदृश]।

विशेष—३२-३४ मन्त्रों में ओषधि, जल, और अन्न का अभाव वर्णित हुआ है। इन में से प्रत्येक तथा सब से वञ्चित हो जाने के कारण सपत्न की मृत्यु हो जाती है। यह उस के लिये मृत्यु दण्ड है, अतः वह सार्वभौम-शासन का सपत्न है, शत्रु है।

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा प्राणसंशितः पुरुषतेजाः ।
प्राणमनु विक्रमेऽहं प्राणात् तं निर्भजामो योऽ३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः । स मा जीवीत्तं प्राणो जहातु ॥३५॥

(विष्णोः) विष्णु के (क्रमः) पराक्रम वाला (असि) तू है, (सपत्नहा) सपत्न का हनन करने वाला है, (प्राणसंशितः) प्राणप्रद वस्तुओं के संग्रह

में उग्रभावना वाला है, (पुरुषतेजाः[1]) सार्वभौम के पुरुषों के तेज वाला तू है। (अहम्) मैं (प्राणम् अनु) प्राणप्रद वस्तुओं के संग्रह में (विक्रमे) विक्रम अर्थात् पराक्रम करता हूं, (प्राणात्) प्राणप्रदवस्तुओं से (तम्) उसे (निर्भजामः) हम भाग रहित करते हैं, वञ्चित करते हैं (यः) जो कि (अस्मान् द्वेष्टि) हमारे साथ द्वेष करता है, और (यम्) जिस के साथ (वयम् द्विष्मः) हम द्वेष करते हैं। (सः) वह (मा) न (जीवीत्) जीवित रहे, (तम्) उसे (प्राणः) प्राण (जहातु) छोड़ जाय।

[मन्त्र के प्रथम और द्वितीय पाद में प्राण का अर्थ है प्राणप्रद वस्तुएं अर्थात् ओषधियां, जल, और अन्न (मन्त्र ३२-३४)। अन्न को तो प्राण कहते ही हैं, यथा "अन्नं वै प्राणिनां प्राणः", अर्थात् अन्न वास्तव में प्राणियों का प्राण है। मन्त्र में ओषधियां तथा जल भी प्राण अर्थात् प्राणप्रद अभिप्रेत हैं।

पुरुषतेजाः—सार्वभौमशासक निज प्रशस्तशासन के आधार पर कहता है कि शासन में सब पुरुष मेरे साथ हैं, इस लिये मैं पुरुषतेज वाला हूं, समग्र पुरुषों के साहाय्य के कारण तेजस्वी हूं। शेष अभिप्राय मन्त्र (२५) के सदृश]।

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमभ्यष्ठां विश्वाः पृतना अरातीः ।
इदमहमामुष्यायणस्यामुष्याः पुत्रस्य वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि ॥३६॥

(अस्माकम्) हमारी (जितम्)[1] विजय हुई है, (उद्भिन्नम्[2]) तोड़े-फोड़े किले आदि (अस्माकम्) हमारे हो गए हैं, (विश्वाः) सब (अरातीः) शत्रुरूप (पृतनाः) सेनाओं के (अभि) अभिमुख, संमुख (अस्थाम्) मैं खड़ा हूं, (इदम् अहम्) यह मैं (आमुष्यायणस्य[3]) उस गोत्र के और (अमुष्याः) उस माता[3] के (पुत्रस्य) पुत्र की (वर्चः) दीप्ति को (तेजः) तेज को,

१. अथवा शासन की "पुरुष-सेनाओं" के तेज वाला है।

१. जितम्=भावे क्तः। २. भिन्नम्=कर्मणि क्तः।

३. पुत्र का परिचय माता के नाम द्वारा भी वेदाभिमत है। आमुष्यायण द्वारा पुत्र के गोत्रनाम का कथन हुआ है।

(प्राणम्) प्राण को, (आयुः) आयु को (निवेष्टयामि[1]) घेरता हूं, लपेटता हूं, (इदम् एनम्) इस को (अधराञ्चम् पादयामि[2]) नीचे गिरा देता हूं।

[जितम्··· अर्थात् "जो हम ने जीता है वह हमारा हो गया है, जो दुर्ग आदि तोड़ा है हमारा हो गया है"। विश्वाः पृतनाः=सब सेनाएं। सार्वभौमशासक की विरोधिनी सब सेनाएं। वेदों के अनुसार माण्डलिक[3] राजाओं का चुनाव प्रजाएं करती हैं, माण्डलिक राजा सम्राटों[4] का चुनाव[5] करते हैं, और सम्राट् मिलकर सार्वभौमशासक का, जिसे कि एकराट्[6] कहते हैं, चुनाव करते हैं, अथवा सब प्रकार की प्रजाएं सार्वभौमशासक का चुनाव मिलकर करती हैं। यदि किसी कारण माण्डलिक राजाओं या सम्राटों की सेनाएं विद्रोह में, सार्वभौमशासक के साथ युद्ध के लिये तत्पर हो जायें तब सार्वभौमशासक उन्हें परास्त कर उन की सम्पत्तियों को स्वाधीन कर लेता है, और विजेतारूप में परास्त सेनाओं के अभिमुख विना किसी भय के खड़ा होकर अपनी विजय प्रदर्शित करता है। २५-३५ मन्त्रों में "सपत्न" व्यक्तिरूप है, जो कि "तम्, यः, यम्, द्वेष्टि" शब्दों द्वारा निर्दिष्ट हुआ है। मन्त्र ३६ में "सपत्न" सेनाओं के रूप में निर्दिष्ट किये हैं]।

—:o:—

१. वेष्ट वेष्टने (भ्वादिः)। २. गमयामि।

३. माण्डलिकराजा को वरुण कहते हैं (यजु० ८।३७), व्रियते इति वरुणः, प्रजाओं द्वारा उस का वरण (Election चुनाव) होता है इस लिये माण्डलिक राजा वरुण है।

४. वृणोति इति वरुणः, माण्डलिक राजा सम्राट् का चुनाव करते हैं। इसलिये भी इन्हें वरुण कहा जाता है।

५. सम्राट् अर्थात् संयुक्त माण्डलिक राज्यों का प्रतिनिधि। सम्+राट्। साम्राज्य=संयुक्त राष्ट्रशासन, (Federal government)।

६. अथर्व० (३।४।१), इसे जनराट् भी कहते हैं, (अथर्व० २०।२१।९)।

[५(३)]

(मन्त्र ३७-४१) । १-५ ब्रह्मा । मन्त्रोक्ता देवताः; ३७ विराट् बृहती; ३८ पुरोष्णिक्; ३९,४१ आर्षी गायत्री; ४० विराड् विषमागायत्री।

सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते दक्षिणामन्वावृतम्।
सा मे द्रविणं यच्छतु सा मे ब्राह्मणवर्चसम् ॥३७॥

(सूर्यस्य) सूर्य की (आवृतम्, अनु) गति के अनुरूप (आवर्ते) मैं सार्वभौमशासक गति करता हूं, चलता हूं। (दक्षिणाम्, अनु) अर्थात् दक्षिण दिशा की ओर (आवृतम् अनु, आवर्ते) सूर्य की गति के अनुरूप गति करता हूं, चलता हूं। (सा) वह आवृत् (मे) मुझे (द्रविणम्) बल या धन (यच्छतु) देवे, (सा) वह आवृत् (मे) मुझे (ब्राह्मणवर्चसम्) ब्राह्मणों की दीप्ति देवे।

[सूर्य दक्षिणायन की ओर जाता हुआ दक्षिण दिशा की ओर गति करता है। इस गति में वह उत्तरायण की तीक्ष्णगर्मी का परित्याग कर, शान्तप्रकृतिक हो जाता है। सार्वभौमशासक भी शासन में शान्ति चाहता है। इस भावना को वह ब्राह्मणवर्चस की प्राप्ति द्वारा भी सूचित करता है। ब्राह्मण शान्त प्रकृति के होते हैं, और क्षत्रिय उग्र प्रकृति के। शान्ति को ही मन्त्र में द्रविण कहा है, वास्तविक बल या धन कहा है। शासन का उद्देश्य भी यही होता है कि प्रजा में शान्ति का स्थापन। शान्तिसम्पन्न प्रजा हो उन्नति कर सकती है। दक्षिण दिशा की ओर जाता हुआ सूर्य मकर-राशि तक शान्त होता जाता है]।

दिशो ज्योतिष्मतीरभ्यावर्ते।
ता मे द्रविणं यच्छन्तु ता मे ब्राह्मणवर्चसम् ॥३८॥

(ज्योतिष्मतीः) ज्योति वाली (दिशः अभि) दिशाओं की ओर (आवर्ते) मैं सार्वभौमशासक आवर्तन करता हूं, आता हूं। (ताः) वे (मे) मुझे (द्रविणम्) बल या धन (यच्छन्तु) देवें, (ताः) वे (मे) मुझे (ब्राह्मणवर्चसम्) ब्राह्मणों की दीप्ति देवें।

[सूर्य मकरराशि के पश्चात् उत्तर की ओर प्रयाण आरम्भ करता है। इस प्रयाण में उत्तर की ओर उस की ज्योति बढ़ती जाती हैं। दक्षिण की ओर जाते हुए उस की ज्योति, उत्तर की ओर, दिन प्रतिदिन घटती जाती है। सार्वभौम शासक भी शासन कार्य में ज्योति का अभिलाषी है। यह ज्योति है ज्ञान ज्योति। यह ज्ञान ज्योति शासक के लिये वास्तविक बल या धन है। इस के निमित्त वह ब्राह्मणों की ज्योति चाहता है। ब्राह्मण ज्ञान-ज्योति वाले होते हैं, यह ब्राह्मणों की ज्योति है, ब्राह्मणवर्चस है]।

सप्त ऋषीनभ्यावर्ते ।
ते मे द्रविणं यच्छन्तु ते मे ब्राह्मणवर्चसम् ॥३९॥

(सप्त ऋषीन् अभि) सात ऋषियों की ओर (आवर्ते) मैं सार्वभौम-शासक आवर्तन करता हूं, आता हूं। (ते) वे (मे) मुझे (द्रविणम्) बल या धन (यच्छन्तु) देवें, (ते) वे (मे) मुझे (ब्राह्मणवर्चसम्) ब्राह्मणों की ज्योति देवें।

[मन्त्र में सप्तऋषि के दो अभिप्राय हैं। एक सप्तर्षिमण्डल द्युलोक में उत्तर दिशा में स्थित है, और दूसरा सप्तर्षि मनुष्य के शरीर में स्थित है। यथा "सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे" (यजु० ३४।५५)। ऋषि हैं "षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तमी" (निरुक्त १२।४।३८)।

सार्वभौम शासक शरीरस्थ ५ ज्ञानेन्द्रियों, मन तथा विद्या (ज्ञान) को चाहता है, जोकि ऋषि रूप हो कर उसे सन्मार्ग का दर्शन करा सकें। सर्वसाधारण मानुष शरीर में ये सात् ऋषिरूप न हो कर, असुररूप में रहते हैं, जिस से मनुष्य प्रायः सन्मार्गदर्शी नहीं होते। इन सात ऋषियों से सार्वभौमशासक सात्विकद्रविण चाहता है, और ब्राह्मणवर्चस चाहता है]।

ब्रह्माभ्यावर्ते ।
तन्मे द्रविणं यच्छतु तन्मे ब्राह्मणवर्चसम् ॥४०॥

(ब्रह्म अभि) ब्रह्म की ओर (आवर्ते) आता हूं। (तत्) वह ब्रह्म (मे) मुझे (द्रविणम्) आध्यात्मिक बल और धन (यच्छतु) दे, (तत्) वह (मे) मुझे (ब्राह्मणवर्चसम्) ब्राह्मण की दीप्ति दे।

[सार्वभौमशासक, निज सात को ऋषिकोटि का बनाने के लिये, ब्रह्म की ओर आवर्तन करता है, उस की ओर आता है]।

ब्राह्मणाँ अभ्यावर्ते ।
ते मे द्रविणं यच्छन्तु ते मे ब्राह्मणवर्चसम् ॥४१॥

(ब्राह्मणान् अभि) ब्राह्मणों की ओर (आवर्ते) मैं आवर्तन करता हूं, उन की शरण में आता हूं। (ते) वे (मे) मुझे (द्रविणम्) ब्रह्मज्ञानरूपी बल और धन (यच्छन्तु) देवें, (ते) वे (मे) मुझे (ब्राह्मणवर्चसम्) ब्राह्मणों की दीप्ति दें।

[सार्वभौमशासक ब्रह्म के ज्ञान और उस की प्राप्ति के लिये ब्राह्मणों की शरण में जाना चाहता है। ब्राह्मण हैं वेदज्ञ तथा ब्रह्मज्ञ व्यक्ति, न कि जन्मतः। ब्रह्म के दो अर्थ होते हैं, (१) वेद और विशेषतया ब्रह्मवेद (अथर्व वेद), तथा जगत् का स्वामी परमेश्वर। ३७-४१ के मन्त्रों में शासकों के लिये आदर्श उपस्थित किया है][1]।

—:०:—

[५(४)]

(मन्त्र ४२-५०)। १-९ विहव्यः। प्राजापत्या अनुष्टुप्; ४४ त्रिपदा गायत्रीगर्भानुष्टुप्; ५० त्रिष्टुप्।

यं वयं मृगयामहे तं वधै स्तृणवामहै ।
व्यात्ते परमेष्ठिनो ब्रह्मणापीपदाम तम् ॥४२॥

(वयम्) हम (यम् मृगयामहे) जिस के अन्वेषण अर्थात् जिस की खोज में हैं (तम्) उसे (वधैः) वधकारी आयुधों द्वारा (स्तृणवामहै) हम नष्ट करते हैं। (परमेष्ठिनः) परमोच्चस्थान में स्थित सार्वभौमशासक के (व्यात्ते) खुले मुख में, (ब्रह्मणा) ब्रह्म-अर्थात् परमेश्वर या वेद की आज्ञा द्वारा (तम्) उसे (अपीपदाम) हमने भेज दिया है, समर्पित कर दिया है।

[जो शासक ब्राह्मणवर्चस को प्राप्त नहीं, उस की खोज कर के, उसे विनष्ट करने की भावना मन्त्र में प्रतीत होती है। उसे सार्वभौमशासक के खुले मुख अर्थात् सर्वसाधारण में प्रसिद्ध किये नियमों के अनुसार दण्डित

१. मन्त्र ३७-४१; ब्राह्मणवर्चस=शासन में सत्यव्यवहार, प्रजारक्षा की भावना धनसंग्रह में निर्लोभवृत्ति, तथा वेदज्ञता और आस्तिकता।

करना चाहिये। "वधः वज्रनाम (निघं० २।२०)। स्तृणवामहै; "स्तृणाति" वधकर्मा (निघं० २।१९)]।

वैश्वानरस्य दंष्ट्राभ्यां हेतिस्तं समधादभि ।
इयं तं प्सात्वाहुतिः समिद् देवी सहीयसी ॥४३॥

(हेतिः) वज्ररूपी कठोर नियमव्यवस्था ने, (वैश्वानरस्य) सब नर नारियों के हितकारी सार्वभौमशासक के। (दंष्ट्राभ्याम्) दो दाढ़रूपी द्विविध नियमों के साथ, (तम्) उस शासक को (अभि) साक्षात् (समधात्) सम्बद्ध कर दिया है। (इयम्) यह (सहीयसी) बलशालिनी (देवी) दिव्य (समिद् आहुतिः) समिदाधानरूपी आहुति (तम्) उस शासक को (प्सातु) खा ले।

[हेतिः वज्रनाम (निघं० २।२०)। यह हेति दण्डसंविधान है। दंष्ट्राभ्याम्=दो दंष्ट्रा हैं कारागार और मृत्युदण्ड। मन्त्र में "हेति" को अग्नि भी कहा है, जिस के प्रति समिदाधान रूपी आहुति देनी है। यह आहुति देवी है,दिव्यरूपा है। सामान्य काष्ठरूपी नहीं। यह शासकरूपी आहुति है। तथा सहीयसी है, काष्ठरूपी आहुति की अपेक्षया बलशालिनी है। यह अन्य शासकों को भी सचेत करने वाली है। सहः बलनाम (निघं० २।९)। मन्त्र में प्रतीयमान अग्नि है सार्वभौम शासन में दण्डव्यवस्था को चलाने वाला "अग्रणी" प्रधानमन्त्री। प्सातु=प्सा भक्षणे (अदादिः)। प्राकृतिक अग्नि की दृष्टि से खाना है भस्मीभूत करना, और अग्नि अर्थात् अग्रणी प्रधानमन्त्री की दृष्टि से अर्थ होगा मृत्युदण्ड या यथोचित दण्ड देना]।

राज्ञो वरुणस्य बन्धोऽसि ।
सोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमन्ने प्राणे बधान ॥४४॥

(राज्ञः वरुणस्य) वरुण राजा का (बन्धः) बन्धन (असि) तू है। (सः) वह तू (आमुष्यायणम्) उस गोत्र के, (अमुष्याः) उस माता के, (अमुम् पुत्रम्) उस पुत्र को (अन्ने) अन्न में, (प्राणे[1]) और प्राण में (बधान) बान्ध, बन्दीकृत कर।

[1]. अन्ने प्राणे (विद्यमाने सति), इन दो के विद्यमान रहते। इन का अभाव न होते हुए।

[वरुण राजा माण्डलिक राजा है, यथा "इन्द्रश्च सम्राट्, वरुणश्च राजा" (यजु० ८।३७)। जो शासक सार्वभौमशासन या सम्राट् शासन के प्रति अपराधी हों,उसे माण्डलिक राजा के कारागार में बन्द करना चाहिये। मन्त्र में "बन्धोऽसि" द्वारा बन्धन को सम्बोधित किया है। बन्धन या बन्ध का अभिप्राय है "दण्डसंविधान"। परमेश्वररूपी वरुण-राजा और उस के पाशों अर्थात् बन्धनों का वर्णन (अथर्व० ४।१६।१-९) में हुआ है। परन्तु प्रकरणानुसार व्याख्येय मन्त्र में माण्डलिक राजा का वर्णन ही अभिप्रेत है]।

यत्ते अन्नं भुवस्पत आक्षियति पृथिवीमनु ।
तस्य नस्त्वं भुवस्पते संप्रयच्छ प्रजापते ॥४५॥

(भुवस्पते) हे भूपति! भूमि के पति! (ते) तेरा (यत् अन्नम्) जो अन्न (पृथिवीम् अनु) पृथिवी में (आ क्षियति) सब ओर निवास करता है, (तस्य) उस का [यथोचित विभाग] (नः) हम प्रजाओं को (संप्रयच्छ) सम्यक्तया प्रदान कर, (भुवस्पते, प्रजापते) हे भूमि के पति! हे प्रजाओं के पति!

[मन्त्र में सार्वभौमशासक के प्रति कथन हुआ है। यह सम्राट् भूमि या समग्र पृथिवी का शासक है। समग्र पृथिवी में जो अन्न पैदा होता है उस का स्वामी सार्वभौमशासक है,—यह वैदिक भावना प्रतीत होती है। यह शासक ही प्रजाजनों में "विभक्ता" के द्वारा (यजु०३०।४) अन्न का यथोचित विभाग करता है]।

अपो दिव्या अचायिषं रसेन समपृक्ष्महि ।
पयस्वानग्न आगमं तं मा सं सृज वर्चसा ॥४६॥

(दिव्या अपः) द्युलोक सम्बन्धी जल की (अयाचिषम्) मैंने याचना की थी, (रसेन) रस से (समपृक्ष्महि) हम संपृक्त हुए हैं। (अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्रिन् (पयस्वान्) प्रभूत दुग्धवाला (आगमम्) मैं तेरे पास आया हूं, (तम् मा) उस मुझ को (वर्चसा) दीप्ति अर्थात् ख्याति से (संसृज) संसृष्ट कर, मेरी प्रसिद्धि कर।

[दिव्य जल वर्षा द्वारा प्राप्त होते हैं । ये मीठे होते हैं, खारे नहीं होते । अतः कृषि के लिये उत्तम होते हैं । प्रधानमन्त्री से यह प्रार्थना की गई है । यज्ञ[1] विधि द्वारा प्रधानमन्त्री वर्षा कराकर प्रजा को यह जल प्रदान करता है । इस से ओषधियां रसवती होती हैं । गौएं इन्हें खा कर प्रभूत दुग्ध देती हैं—कृषक या भूमिपति प्रधानमन्त्री से कहता है कि मैं प्रभूत दुग्ध से सम्पन्न हुआ आया हूं, मुझे इस निमित्त तू यशस्वी कर । पयस्वान् =भूमार्थे मतुप् प्रत्यय । सात्विक जीवन के लिये दुग्ध और रसों की प्रशंसा वेद में हुई है । यथा "पयः पशूनां रसमोषधीनां बृहस्पतिः सविता मे नियच्छात् (अथर्व० १९।३१।५)" । दिव्याः=दिवि भवाः (अथवा दिव्याः=दिव्य गुण वाले, पार्थिव जल, नदी कुल्या[2] कूप आदि के जल) अग्निरग्रणीर्भवति (निरुक्त० ७।४।१५)] ।

स मोऽग्ने वर्चसा सृज सं प्रजया समायुषा ।
विद्युर्मे अस्य देवा इन्द्रो विद्यात् सह ऋषिभिः ॥४७॥

(अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्रिन् ! (मा) मेरा (वर्चसा) वर्चस् के साथ (सं सृज) संसर्ग कर, (प्रजया) सन्तान के साथ (सम्) संसर्ग कर, (आयुषा) स्वस्थ और दीर्घ आयु के साथ (सम्) संसर्ग कर । (मे) मेरे (अस्य) इस काम को (देवाः) सार्वभौम विद्वान् (विद्युः) जानें, (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् सम्राट् या सार्वभौमशासक, (ऋषिभिः सह) ऋषियों या ऋषिकोटि के अमात्यों सहित, [मेरे इस काम को] (विद्यात्) जाने ।

[मन्त्र ४६, ४७ का परस्पर सम्बन्ध है । वर्चसा (मन्त्र ४६) । अस्य मे=मेरे काम अर्थात् प्रभूत दुग्ध से सम्पन्न होना, और कृषि कर्म में समृद्धि । दूध और कृषिकर्म की समृद्धि होने पर सन्तानों का पालन-पोषण होता है, तथा इन के सेवन से आयु भी बढ़ती है] ।

---

१. देखो देवापि और शन्तनु के आख्यानसम्बन्धी ऋचा (ऋ० १०।९८।५), तथा निरुक्त २।३।११; समुद्र पद की व्याख्या में निरुक्त २।३।१०) ।

२. अथर्व० २०।१७।७; ११।३।१३) । कुल्या=नहर । कुल्या का निर्माण पृथिवी में कृषिकर्म के लिये होता है, इस का जल पृथिवी में ही विलीन हो जाता है, समुद्र तक नहीं पहुंचता । "कौ पृथिव्यां लीयते इति कुल्या" ।

यदग्ने अद्य मिथुना शपातो यद्वाचस्तृष्टं जनयन्त रेभाः ।
मन्योर्मनसः शरव्या३ जायते या तया विध्य हृदये यातुधानान् ॥४८॥

(अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्रिन् ! (अद्य) आज (मिथुना) विवाहित पति-पत्नी (यद्) जो (शपातः) एक-दूसरे को शाप देते हैं, तथा (रेभाः) परमेश्वर की स्तुति करने वाले (यत्) जो (वाचः) वाणी की (तृष्टम्) कटुता (जनयन्त) प्रकट करते हैं । (मन्योः) मन्यु के कारण (मनसः) मन से (या) जो (शरव्या) शरवत् तीक्ष्ण बींधने वाली वाणी (जायते) पैदा होती है (तया) उस द्वारा (यातुधानान्) यातनाओं अर्थात् पीड़ाओं के निधानों, प्रजापीड़कों को (हृदग्रे) उनके हृदयों में (विध्य) बींध ।

[अद्य=किसी भी दिन । शपातः=शप आक्रोशे (भ्वादिः, दिवादिः) । आक्रोशे=कुश आह्वाने रोदने च (भ्वादिः) परस्पर निन्दा, अपवदन, तिरस्कार, दोषारोपण आदि । अभिप्राय यह कि पती-पत्नी के पारस्परिक निन्दा आदि करने पर उन्हें परमेश्वर के स्तावक होते हुए भी कटु वाणी बोलने पर उन्हें, तथा प्रजापीड़कों को, अर्थात् इन सब के हृदयों को तीखी वाणी द्वारा बींध, इन्हें उग्रवाणी द्वारा फटकार ।

परा शृणीहि तपसा यातुधानान् पराग्ने रक्षो हरसा शृणीहि ।
पराऽर्चिषा मूरदेवाञ्छृणीहि पराऽसुतृपः शोशुचतः शृणीहि ॥४९॥

(अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्रिन् ! (तपसा) निज तापक शक्ति द्वारा (परा) पराङ्मुख हुए (यातुधानान्) यातनाओं के निधानों अर्थात् प्रजा को पीड़ित करने वालों को (शृणीहि) तू विशीर्ण कर, विनष्ट कर, (परा) पराङ्मुख हुए (रक्षः) राक्षस स्वभाव वाले को (हरसा) प्राणापहारक तेज द्वारा (शृणीहि) तू विशीर्ण कर, विनष्ट कर । (परा) पराङ्मुख हुए (मूरदेवान्) मूढ़ अर्थात् अज्ञानी, देवान् अर्थात् मदमस्तों को (अर्चिषा) निज दीप्ति द्वारा (शृणीहि) तू विशीर्ण कर, विनष्ट कर, (परा) पराङ्मुख हुए (शोशुचतः) अति उद्दीप्त उद्दण्ड हुओं, (असुतृपः) प्रजा के प्राणों द्वारा अपने को तृप्त करने वालों को (शृणीहि) विशीर्ण कर, विनष्ट कर ।

[मन्त्र ४८ के अनुसार यदि फटकार द्वारा सफलता नहीं मिलती तो यातुधान आदि का विनाश करना ही राज्य व्यवस्था के लिये श्रेयस्कर है ।

परा=राज्यव्यवस्था से पराङ्मुख हुए, उस की परवाह न कर, यथेच्छाचारी लोग] ।

अपामस्मै वज्रं प्र हरामि चतुर्भृष्टिं शीर्षभिद्याय विद्वान् ।
सो अस्याङ्गानि प्र शृणातु सर्वा तन्मे देवा अनु जानन्तु विश्वे ॥५०॥

(अस्मै) इस [रक्षः, मन्त्र ४९] के लिये, (चतुर्भृष्टिम्) चार धाराओं या चार कोनों वाले (अपाम् वज्रम्) जल सम्बन्धी वैद्युत् वज्र का, (शीर्षभिद्याय) इस के सिर का भेदन करने के लिये (विद्वान्) मैं [अग्रणी प्रधानमन्त्री] दण्ड विधान के सार्वभौम नियमों को जानता हुआ (प्रहरामि) प्रहार करता हूं। (सः) वह वज्र (अस्य) इस [रक्षः] के (सर्वा=सर्वाणि, अङ्गानि) सब अङ्गों को (प्रशृणातु) पूर्णतया नष्ट कर दे, (विश्वे देवाः) पृथिवी के सब दिव्य-सज्जन (मे) मेरे (तत्) उस शिरोभेदन आदि कार्य की (अनु जानन्तु) अनुज्ञा दें, स्वीकृति दें।

[ऐसे उग्र दण्ड के लिये पृथिवी के सब दिव्यजनों की अनुज्ञा अर्थात् स्वीकृति चाहिये। "अस्मै" सर्वनाम पद एकवचन में है जो कि पूर्व कथित की अपेक्षा करता है। अतः मन्त्र ४९ में कथित "रक्षः" अभिप्रेत प्रतीत होता है]।

विशेष निर्देश—मन्त्र ४९ में अग्नि द्वारा शवाग्नि जान कर और मन्त्र ५० में शिरोभेदन की व्यवस्था समझ कर, हिन्दुओं ने सम्भवतः जलते शव के शिरोभेदन की प्रथा चलाई हो।

—०—

सूक्त ६

विषयप्रवेश

(१) राष्ट्र के शत्रुभूत भाई के पुत्र को भी शिरः छेद का दण्ड (१)।

(२) फाल से उत्पन्न मणिः=कृष्यन्न; मठा तथा ओषधिरस—यह पूर्ण अन्न है (२)।

(३) फाल "खदिर" काष्ठ का होता है जिसे कि तखान घड़ता है (६, ३), अतिथि सेवा (४, ५)।

(४) बृहस्पतिः=सैन्याधिपतिः; अग्निः=प्रधानमन्त्री। दोनों फालमणि को बान्धें (६)। इस मणि को बान्ध कर बृहस्पति सब शत्रुराज्यों पर विजय प्राप्त करता है (१६)।

(५) इस मणि को "अग्निः" प्रधानमन्त्री (६); "इन्द्र" सम्राट् (७); "सोम" सेना का मार्ग दर्शक (८) भी धारण करता है।

(६) मन्त्र ६-८ तक बृहस्पति द्वारा मानुष बृहस्पति का वर्णन हुआ है। मन्त्र ९ से बृहस्पति द्वारा परमेश्वर का वर्णन अभिप्रेत है।

(७) मन्त्र १२ में कृषि है, शरीर-क्षेत्र में कर्म-बीजों का बोना। यह आध्यात्मिक कृषि है। इस कृषि के रक्षक हैं अश्विनौ अर्थात् नासत्यौ, नासिका से उत्पन्न श्वास-प्रश्वास, प्राण और अपान (१२)।

(८) मणि को सूर्य (९), चन्द्रमा (१०), राजा वरुण अर्थात् परमेश्वर (१५), देवताः (१६), ऋतुएं, मास, माससमूह, संवत्सर (१८), आपः (१४) भी धारण करते हैं। इससे ज्ञात होता है कि यह मणि खदिर या खदिर फाल से उत्पन्न स्थूल मणि नहीं, जिसे कि सूर्य आदि भी धारण करते हैं। सूर्य आदि सम्बन्धी मणियां क्या हैं इसे मन्त्रव्याख्या में देखो।

(९) परमेश्वर भी सृष्ट्युत्पादन के लिये मणि को बान्धता है, अतः यह मणि सृष्ट्युत्पादन में परमेश्वरीय कामतारूप है, न कि कोई प्राकृतिक मणि (९-१७)।

(१०) मणि को धाता अर्थात् सब का धारण-पोषण करने वाला

परमेश्वर भी भूत-भौतिक विविध पदार्थों की रचना के लिये बान्धता है (२१)। क्या परमेश्वर का कोई शरीर है जिस के अवयव पर स्थूल मणि बान्धी जा सके।

(११) यह मणि असुरों का क्षय करती है (२२-२८)।

(१२) परमेश्वर रूपी मणि, जब सिर पर आरूढ़ हो जाती है, तब मनुष्य सिर से पैरों तक श्रेष्ठ बन जाता है (३१,३२)।

—:०:—

मन्त्र १-३५। बृहस्पतिः। मन्त्रोक्त फालमणिदेवत्यम्, उत वानस्पत्यम्, ३ आपः। आनुष्टुभम्; १,४,२१ गायत्री; ५ षट्पदाजगती; ६ सप्तपदा विराट् शक्वरी; ७-१० त्र्यवसाना अष्टपदाष्टिः; (१० नवपदा धृतिः); ११, २०, २३-२७ पथ्या पङ्क्ति; १२-१७ त्र्यवसाना सप्तपदा शक्वरी; ३१ त्र्यवसाना षट्पदा जगती; ३५ पञ्चपदा त्र्यनुष्टुब्गर्भा जगती।

अरातीयतो भ्रातृव्यस्य दुर्हार्दो द्विषतः शिरः।
अपि वृश्चाम्योजसा ॥१॥

(अरातीयतः) अराति अर्थात् शत्रुसदृश व्यवहार करते हुए, (दुर्हार्दः) बुरी हार्दिक भावनाओं वाले, (द्विषतः) द्वेष करते हुए, (भ्रातृव्यस्य) सपत्नरूप भतीजे [भाई के पुत्र] के (शिरः) सिर को (अपि) भी (ओजसा) बल के साथ (वृश्चामि) मैं [राज्याधिकारी] काटता हूं।

[अरातीयतः=अ+रा (दाने, अदादिः)+ति+क्यच् (आचारे)+शतृ। जोकि मनुष्य समाज की उन्नति आदि के लिये दान नहीं देता, तथा यथोचित राज-कर नहीं देता वह वेद की दृष्टि से शत्रु है। भ्रातृव्यस्य= भ्रातुः, "व्यन् सपत्ने" (अष्टा० ४।१।१४५), भ्रातृशब्द से "व्यन्" प्रत्यय होता है "सपत्न" अर्थ में।

अष्टाध्यायी के अनुसार "भ्रातृव्य" के दो अर्थ होते हैं। (१) भाई का पुत्र, जो कि शत्रुरूप नहीं (भ्रातुर्व्यच्च ४।१।१४४)। (२) भाई का पुत्र जो कि शत्रुरूप है, न्यायव्यवस्था के प्रतिकूल चलता है। स्वरभेद, अर्थभेद का परिचायक है। मन्त्र में कहा है कि राजा निज भाई के पुत्र को, जो कि राष्ट्र का शत्रुरूप हो, शिरःछेद द्वारा मृत्युदण्ड दे। वैदिक न्यायव्यवस्था

उग्ररूप है। यह राष्ट्र के लिये श्रेयस्करी है। जैसे कि "सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति" (अथर्व० १२।१।१) में उग्र-ऋत अर्थात् उग्र-नियम को पृथिवी के धारण-पोषण में सहायक कहा है]।

वर्म मह्यमयं मणिः फालाज्जातः करिष्यति।
पूर्णो मन्थेन मागमद् रसेन सह वर्चसा ॥२॥

(फालात्) हल की धार अर्थात् फाल से (जातः) उत्पन्न हुआ (अयम् मणिः) यह श्रेष्ठ कृष्यन्न[1], (मह्यम्) मेरे लिये (वर्म) कवच का निर्माण (करिष्यति) करेगा। (मन्थेन) मठे द्वारा और (रसेन) रस द्वारा (पूर्णः) परिपूर्ण हुआ यह कृष्यन्न, (वर्चसा सह) वर्चस् अर्थात् शारीरिक कान्ति के साथ (मा) मुझे (आगमत्) प्राप्त हुआ है।

[कृष्यन्न मणि है, श्रेष्ठ रत्नरूप है। "जातौ जातौ यदुत्कृष्टं तद्रत्नमभिधीयते" (मल्लिनाथ)। वन्यान्न की अपेक्षया कृष्यन्न शक्तिप्रदान में श्रेष्ठ है, अतः मणिरूप है। यह अन्न मनुष्यों की रक्षा करता है, अतः कवच है। अन्न के बिना मृत्यु हो जाती है। परन्तु कृष्यन्न तब पूर्ण अन्न होता है जब कि मठे और दुग्धरस तथा ओषधिरसों का इस के साथ सहयोग हो, अन्यथा केवल कृष्यन्न अपूर्ण अन्न है। इन मिश्रित अन्नों के सेवन द्वारा वर्चस् प्राप्त होता है। "कृष्यन्न द्वारा गौ पशुओं का चारा तैयार होता है, गौओं से दूध और दूध से दधि और मठा (मन्थ) मिलता है। यथा "पयः पशूनां रसमोषधीनां बृहस्पतिः सविता मे प्रयच्छात्" (अथर्व० १९। ३१।५)]।

यत् त्वा शिक्वः पराऽवधीत् तक्षा हस्तेन वास्या।
आपस्त्वा तस्माज्जीवलाः पुनन्तु शुचयः शुचिम् ॥३॥

हे फाल! (शिक्वः) शिक्षित अर्थात् बढ़ई की विद्या के जानने वाले (तक्षा) तर्खान ने (हस्तेन) हाथ द्वारा तथा (वास्या) वासी द्वारा (यत्) जो (त्वा) तुझे (परा अवधीत्) छेदा है, छील कर तैयार किया है, (तस्मात्) उससे (जीवलाः) जीवनप्रद (शुचयः) शुचि (आपः) जल (त्वा) तुझे (पुनन्तु) पवित्र करें, और (शुचिम्) शुचि करें।

१. मन्त्र में कृष्यन्न का वर्णन है। देखो "कृषिमभिरक्षतः" (मन्त्र १२)।

[हल के फाल का सम्बोधन कविता में है। यथा "अथापि पौरुषविधिकैः कर्मभिः स्तूयन्ते"। यथा "होतुश्चित्पूर्वे हविरद्यमाशत" (ऋ० १०।९४।२) इति 'ग्रावस्तुतिरेव' (निरुक्त ७।२।७)। अर्थात् अचेतन पदार्थों की स्तुतियां पुरुषविधकर्मों द्वारा होती हैं, जैसे कि पत्थरों को कहा है कि तुम भक्षणीय हवि का प्राशन करो। पत्थरों पर सोम ओषधि को पीस कर, पेय सोमरस तैयार किया जाता है। शिक्वः; शिक्ष्=शिक्ष्+वः=शिक्वः। षकारस्य विलोपः। यथा पक्वः=पच्+वः। वास्या; वासी=Adze (आप्टे), वसूला, कुल्हाड़ी; Chisel (आप्टे), छैनी। काष्ठनिर्मित फाल तय्यार हो जाने पर उसे जल द्वारा धोकर साफ करने का विधान मन्त्र में हुआ है]।

हिरण्यस्रगयं मणिः श्रद्धां यज्ञं महो दधत्।
गृहे वसतु नोऽतिथिः ॥४॥

(अयम्) यह (मणिः) कृष्यन्न [मन्त्र २] रूपी रत्न, (हिरण्यस्रक्) जो कि हिरण्य का सर्जन करता है, और हम में (श्रद्धाम्, यज्ञम्, महः) अतिथिसेवा रूपी यज्ञ को, उनके प्रति श्रद्धा को तथा उत्सवों को (दधत्) स्थापित करता है वह (नः गृहे) हमारे घर में (वसतु) सदा वास करे, जैसे कि (अतिथिः) अतिथि (हिरण्यस्रक्) हिरण्य की माला द्वारा सत्कृत हुआ, और हम में निज उपदेशों द्वारा (श्रद्धाम्...) श्रद्धा, अतिथि, यज्ञ, तथा महत्त्व को (दधत्) स्थापित करता हुआ (नः गृहे वसतु) हमारे घर में वसे, निवास करे।

[कृष्यन्न के होने पर उस के विक्रय द्वारा हिरण्य का सर्जन होता है। कृष्यन्न यदि घर में हो तभी अतिथियों के प्रति श्रद्धा, अतिथि यज्ञ करना, तथा उत्सवों का होना सम्भव हो सकता है]।

तस्मै घृतं सुरां मध्वन्नमन्नं क्षदामहे।
स नः पितेव पुत्रेभ्यः श्रेयःश्रेयश्चिकित्सतु भूयोभूयः श्वःश्वो देवेभ्यो मणिरेत्य ॥५॥

(देवेभ्यः) देवों से (मणिः) कृष्यन्न (एत्य) आकर, प्राप्त करें, तदनन्तर (तस्मै) उस [घर में बसे] अतिथि के लिये [मन्त्र ४] (घृतम्) घी, (सुराम्) शुद्ध जल, (मधु) शहद, (अन्नमन्नम्) तथा नानाविध अन्न (क्षदामहे) हम प्रदान करते हैं। (सः) वह [घर में बसा अतिथि], (श्वः श्वः) प्रत्येक आने वाले दिन में (भूयो भूयः) बार-बार (नः) हमें (श्रेयः श्रेयः) उत्तमोत्तम शिक्षा देकर (चिकित्सतु) हमारे आध्यात्मिक रोगों की चिकित्सा करे, (पिता इव पुत्रेभ्यः) जैसे कि पिता पुत्रों के लिये शिक्षा देता है।

[चिकित्सतु=कित निवासे रोगापनयने च (भ्वादिः)। क्षदामहे, क्षद वैदिक धातु है। देवेभ्यः=देवयज्ञों के करने से वायु, सूर्य, जल आदि देवों से कृष्यन्न प्राप्त होता रहता है। "सुरा उदकनाम" (निघं० १।१२)। यह Distilled water वाष्पीकृत जल है, जोकि भारी नहीं होता]।

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्मणिं फालं घृतश्चुतमुग्रं खदिरमोजसे।
तमग्निः प्रत्यमुञ्चत सो अस्मै दुह आज्यं भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥६॥

(खदिरम्) खैरवृक्ष के काष्ठरूप या उस से[1] निर्मित (फालम्[2]) हल के फाल से उत्पन्न, (घृतश्चुतम्) घृतस्रावी, (उग्रम्) उग्ररूप (यम्) जिस (मणिम्) कृष्यन्न रूप रत्न को, (बृहस्पतिः) बृहत्सैन्य के अधिपति ने (ओजसे) ओज की प्राप्ति के लिये (अबध्नात्) बान्धा है, (तम्) उसे (अग्निः) अग्रणी प्रधानमन्त्री ने भी (प्रत्यमुञ्चत) धारण किया है। (सः) वह अग्रणी अर्थात् प्रधानमन्त्री (अस्मै) इस बृहस्पति के लिये, (भूयोभूयः) बार-बार या अधिकाधिक रूप में, (श्वः श्वः) आए दिन-प्रतिदिन (आज्यम्) घृत (दुहे) दोहता है, प्रदान करता है। (तेन) उस द्वारा हे बृहस्पति! (त्वम्) तू (द्विषतः) द्वेषी शत्रुओं का (जहि) हनन कर।

[खदिरम्=हल के फाल को तक्षा ने घड़ा है (मन्त्र ३)। सम्भवतः यह फाल खैर के काष्ठ से निर्मित किया गया है। खैर कारण है, और फाल कार्य। कार्य में कारण का उपचार हुआ है, यथा "अन्नं वै प्राणिनां

१. मन्त्र ३ के अनुसार तक्षा द्वारा निर्मित।

२. "फालाज्जातः" (मन्त्र २) के अनुसार।

प्राणः" । प्राण कार्य है, और अन्न कारण है । अतः प्राण को अन्न कहा है । इसी प्रकार फाल को खदिर कहा है ।

फालम् मणिम्=फाल से उत्पन्न कृष्यन्न को मणि अर्थात् रत्न कहा है । कृष्यन्न को "फालाज्जातः" द्वारा निर्दिष्ट किया है (मन्त्र २) । फाल और कृष्यन्न में भी कारण और कार्य भाव है । अथवा साधन और साध्य भाव है । मणि=anything best of its kind (आप्टे), अर्थात् एक-जाति के पदार्थों में सर्वश्रेष्ठ पदार्थ मणि कहाता है । अन्नों में कृष्यन्न श्रेष्ठ है अतः कृष्यन्न मणि है, रत्न है । कृष्यन्न से गौओं का चारा मिलता है, और गौओं से दूध और दूध से घृत मिलता है, अतः कृष्यन्न को "घृतश्चुत" कहा है । कृष्यन्न के सेवन द्वारा शरीर और मन में बल और उग्रता पैदा होते हैं । बृहस्पति जब कृष्यन्न के परिणाम "वीर्य" को निज शरीर में बान्धे रखता है, और विषयलम्पट होकर उसका विनाश नहीं करता तो वह ओज को प्राप्त करता है (ओजसे) । "अबध्नात्" द्वारा "मणि" का बान्धना सूत्र या धागे द्वारा अभिप्रेत नहीं । अपितु इसे शरीर में स्थिर रखना ही अभिप्रेत है । जैसे कि "देशबन्धः चित्तस्य धारणा" (योग ३।१) में चित्त को ध्येय में बान्धने का वर्णन हुआ है । ध्येय के साथ चित्त को सूत्र द्वारा नहीं बांधा जाता । "ध्येय में चित्त को स्थिर करना" यह अभिप्राय है बान्धने का ।

बृहस्पति के स्वरूपज्ञान में निम्नलिखित मन्त्र सहायक है । यथा—

बृहस्पते परि दीया रथेन रक्षोहाऽमित्राँ २ अपबाधमानः ।
प्रभञ्जन्त्सेनाः प्रमृणो युधा जयन्नस्माकमेध्यविता रथानाम्[1] ॥
(यजु० १७।३६) ।

अग्निः="अग्रणीर्भवति" (निरुक्त ७।४।१४) । प्रधानमन्त्री समग्र राष्ट्र का अग्रणी होता है । प्रधानमन्त्री भी कृष्यन्न के परिणाम "वीर्य" को निज शरीर में धारण किये रहता है । सर्वोच्च दो अधिकारियों के लिये ब्रह्मचर्य व्रत के पालन का निर्देश मन्त्र में हुआ है । ऐसी ही व्याख्या अगले मन्त्रों में भी जाननी चाहिये । मन्त्रोक्त मणिबन्धन जादू-टोना रूप नहीं] ।

---

१. मन्त्र में 'प्रभञ्जन् सेनाः" द्वारा शत्रु सेनाओं को भग्न करता हुआ, "अमित्रान् अपबाधमानः" द्वारा अमित्रों को पीड़ित करता हुआ, "युधा जयन्" युद्ध द्वारा विजय प्राप्त करता हुआ, इत्यादि वर्णनों द्वारा बृहस्पति राष्ट्र के सैन्य विभाग का अधिपति प्रतीत होता है ।

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्मणिं फालं घृतश्चुतमुग्रं खदिरमोजसे ।
तमिन्द्रः प्रत्यमुञ्चतौजसे वीर्याय कम् ।
सो अस्मै बलमिद् दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥७॥

(यम् अबध्नात्......ओजसे), अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र ६) । (तम्) उसे (इन्द्रः) सम्राट् ने भी (प्रत्यमुञ्चत) धारण किया है (कम्) सुखपूर्वक; (ओजसे) ओज की प्राप्ति के लिये, (वीर्याय) वीर्य की प्राप्ति के लिये या वीरता के कर्म के लिये । (सः) वह सम्राट् (अस्मै) इस बृहस्पति के लिये (भूयोभूयः) वार-वार या अधिकाधिक रूप में, (श्वः श्वः) आए दिन-प्रति-दिन (बलमिद्) सैन्यबल ही (दुहे) दोहता है, प्रदान करता है । (तेन) उस सैन्यबल द्वारा (त्वम्) हे बृहस्पति ! तू (द्विषतः) द्वेषी शत्रुओं का (जहि) हनन कर ।

[इन्द्रः=सम्राट् । यथा "इन्द्रश्च सम्राट्" (यजु० ८।३७) । सम्राट्=सम् (संयुक्त राज्यों का)+राट् (राजा) । मन्त्र ६ में बृहस्पति और अग्रणी का सहयोग दर्शाया है । मन्त्र ७ में बृहस्पति और सम्राट् के सहयोग का वर्णन हुआ है । बलम्=सैन्य (गीता अध्याय १, श्लोक ४)] ।

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्मणिं फालं घृतश्चुतमुग्रं खदिरमोजसे ।
तं सोमः प्रत्यमुञ्चत महे श्रोत्राय चक्षसे ।
सो अस्मै वर्च इद् दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥८॥

(यम् अबध्नात्......ओजसे) अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र ६) । (तम्) उसे (सोमः) सेनानायक ने भी (प्रत्यमुञ्चत) धारण किया है (महे श्रोत्राय चक्षसे) महती श्रवणशक्ति के लिये, तथा महती दृष्टि के लिये । (सः) वह (सोमः) सेनानायक (अस्मै) इस बृहस्पति के लिये (वर्चः) दीप्ति या कान्ति (इद्) ही (दुहे) दोहता है, प्रदान करता है, (भूयोभूयः) वार-वार या अधिकाधिक रूप में, (श्वः श्वः) आए दिन-प्रति-दिन (तेन) उस वर्चस् या सोम द्वारा (त्वम्) हे बृहस्पति ! तू (द्विषतः) द्वेषी शत्रुओं का (जहि) हनन कर ।

[सोमः=सेना का प्रेरक, सेनानायक, जो कि सेना के अग्रभाग में होकर, सेना को, मार्ग दर्शाता है । सोमः=षू प्रेरणे (तुदादिः) । यह महती श्रवणशक्ति से सम्पन्न होना चाहिये, ताकि शत्रुसेना के शोर को दूर होते

हुए भी सुन सके, तथा महती दृष्टि से भी सम्पन्न होना चाहिये, ताकि शत्रुसेना की स्थिति को दूर से ही देख सके। सोम और बृहस्पति सम्बन्धी मन्त्र, यथा—

इन्द्र आसां नेता बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञः पुर एतु सोमः।
देवसेनानामभिभञ्जतीनां मरुतो यन्त्वग्रम् ॥ (यजु० १७।४०)।

इन सेनाओं का नेता इन्द्र अर्थात् सम्राट् (यजु० ८।३७) है; बृहस्पति इन सेनाओं के दक्षिण पार्श्व में चलता है। "यज्ञ" अर्थात् शत्रुसेना के साथ संगम कराने वाला, भिड़ाने वाला सोम इन के पुरः आगे-आगे हो। देवों अर्थात् विजिगीषु सैनिकों की सेनाएं, जोकि शत्रु सेनाओं का भग्न करें, उन के आगे मारने में कुशल सैनिक हों।

यज्ञः=यज देवपूजा, संगतिकरण, और दान। मन्त्र में संगति अर्थात् संगम अर्थ अभिप्रेत है। देव=विजिगीषु, यथा "दिवु क्रीडाविजिगीषा" आदि (दिवादिः)। मरुतः="म्रियते मारयति वा सः मरुत् मनुष्यजातिः" (उणा० १।९४, महर्षि दयानन्द)। अभिप्राय यह कि (१) सम्राट् नागरिक प्रजा और सैन्य प्रजा का नेता है, मुखिया है। (२) इस की आज्ञा द्वारा बृहस्पति युद्ध के लिये प्रयाण करे, (३) सैनिक विजिगीषु होने चाहिये, (४) सेना के मुखभाग में, मारने में सिद्ध, सैनिक होने चाहियें, (५) इन सब के आगे-आगे सोम अर्थात् सेना का प्रेरक, सेनानायक चले, जो कि शत्रु सेना की स्थिति को ठीक तरह देख सके। सोम सहायक है, बृहस्पति का]।

मन्त्र ६-८ तक "बृहस्पति" द्वारा मानुष बृहस्पति का वर्णन हुआ है। मन्त्र ९ से बृहस्पति द्वारा परमेश्वर का वर्णन अभिप्रेत है। परमेश्वर "बृहत्" ब्रह्माण्ड का पति है, अतः बृहस्पति है। बृहस्पतिः=बृहतः [ब्रह्माण्डस्य] पतिः। इसी दृष्टि से सूर्य, चन्द्रमा आदि को, अन्नोत्पादन में बृहस्पति के सहायक रूप में वर्णित किया है (मन्त्र ९, १० आदि)। परमेश्वर जैसे समग्र ब्रह्माण्ड का उत्पादक है वैसे वह तेजः, आपः, और "अन्न" का भी उत्पादक है (छान्दोग्य उप० अध्याय ६, खण्ड २)।

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्मणिं फालं घृतश्चुतमुग्रं खदिरमोजसे।
तं सूर्यः प्रत्यमुञ्चत तेनेमा अजयद् दिशः।
सो अस्मै भूतिमिद् दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥९॥

(खदिरम्) खैर वृक्ष के काष्ठरूप, या उस काष्ठ से निर्मित (फालम्) हल के फाल द्वारा उत्पन्न, (घृतश्चुतम्) घृतस्रावी, (उग्रम्) उग्ररूप (यम्) जिस (मणिम्) कृष्यन्नरूप रत्न को (बृहस्पतिः) परमेश्वर ने (अबध्नात्) बान्धा है, उस के उत्पादन रूपी व्रत को धारण किया है, (ओजसे) ताकि प्रजाओं को ओज प्राप्त हो। (तम्) मणि=उस कृष्यन्न के उत्पन्न व्रत को (सूर्यः) सूर्य ने भी (प्रत्यमुञ्चत) धारण किया है, बान्धा है। (तेन) उस सूर्य ने (इमाः दिशः) इन दिशाओं पर (अजयत्) विजय पाई है। (सः) उस सूर्य ने (अस्मै) इस परमेश्वर के लिये (भूतिम्, इत्) विभूति को (दुहे) दोहा है, (भूयोभूयः) बार-बार या अधिकाधिक रूप में, (श्वः श्वः) आए दिन-प्रति-दिन। (तेन) उस सूर्य द्वारा (त्वम्) हे परमेश्वर! तू (द्विषतः) हमारे रोग-शत्रुओं का हनन कर।

["तेन" द्वारा भूति का निर्देश नहीं। "तेन" पद पुंलिङ्ग है, और भूति स्त्रीलिङ्ग है। अतः "तेन" द्वारा सूर्य का निर्देश हुआ है। "ओजसे" द्वारा कृष्यन्न के सेवन से प्राप्त ओज, प्रजाओं के लिये है, न कि परमेश्वर के लिये। फालम्=फालात्-जात कृष्यन्न (मन्त्र २)। दिशः=दिशाओं का ज्ञान सूर्य के उदय तथा अस्तंगत होने द्वारा होता है, अतः मानो सूर्य ने दिशाओं पर विजय पाई हुई है। भूतिम्=सूर्य विभूति-सम्पन्न है। परमेश्वर द्वारा सूर्य उत्पन्न हुआ। अतः कार्यरूपी सूर्य, निज कर्त्ता की विभूति का परिज्ञायक है।

सूर्य रोगनिवारक है। यथा "सं ते शीर्ष्णः कपालानि हृदयस्य च यो विधुः। उद्यन्नादित्य रश्मिभिः शीर्ष्णो रोगमनीनशोऽङ्गभेदमशीशमः" ॥ (अथर्व० ९।१३ (८) २२)। तथा "अनु सूर्यमुदयतां हृद्द्योतो हरिमा च ते" (अथर्व० १।२२।१)। मन्त्र में हृदय की जलन और शरीर के हरेपन के विनाश में सूर्य को कारण कहा है। तथा "उद्यन्नादित्यः क्रिमीन् हन्तु निम्लोचन् हन्तु रश्मिभिः। ये अन्तः क्रिमयो गवि" (अथर्व० २।३२।१)। उदित तथा अस्त होते हुए आदित्य की रश्मियां लाल होती हैं, इन लाल रश्मियों में रोगविनाश करने की अधिक शक्ति सम्भव प्रतीत होती है। क्रिमयः=विविध प्रकार के germs (रोग कीटाणु)। गवि=पृथिवी तथा रश्मियां। "गावः रश्मिनाम" निघं० १।५)।

वक्तव्य—याज्ञिक सम्प्रदायानुसार खदिर काष्ठ के फाल के विकाररूपी मणि को बान्धने का वर्णन है। यथा "खदिरकाष्ठफालविकार

मणिं शत्रुनाशाय सर्वकामावाप्तये च बध्नाति" (अथर्व० १०।६ के विनियोग में सायण)। पाश्चात्य आदि वैदिक विद्वान् इस मणि को "Amulet" अर्थात् जादू टोना रूप मानते हैं। क्या चन्द्रमा (मन्त्र १०), सविता (१३) आपः (१४), ऋतु आर्तव, संवत्सर (१८), अन्तर्देश, प्रदिशः (१९) आदि जड़ पदार्थ भी इस मणि को बान्धते हैं। अतः मणिबन्धन का अर्थ जो इस सूक्त के भाष्य में किया गया है, वही समुचित प्रतीत होता है]।

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्मणिं फालं घृतश्चुतमुग्रं खदिरमोजसे ।
तं बिभ्रच्चन्द्रमा मणिमसुराणां पुरोऽजयद् दानवानां हिरण्ययीः ।
सो अस्मै श्रियमिद् दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि॥१०॥

(खदिरम्) खैर-वृक्ष के काष्ठरूप, या उस काष्ठ से निर्मित (फालम्) हल-के-फाल द्वारा उत्पन्न, (घृतश्चुतम्) घृतस्रावी (उग्रम्) उग्र रूप (यम् मणिम्) जिस कृष्यन्न रूप मणि को (बृहस्पतिः) बृहद् ब्रह्माण्ड के पति परमेश्वर ने (अबध्नात्) बान्धा है, उस के उत्पादन व्रत को धारण किया है (ओजसे) प्रजाओं के ओज के लिये, (तम् मणिम्) उस कृष्यन्न के उत्पादन व्रत को (चन्द्रमाः) चन्द्रमा ने भी (बिभ्रत्) धारण किया है, और उसने (असुराणाम्, दानवानाम्) असुरों और दानवों की (हिरण्ययीः पुरः) हिरण्ययी पुरियों को (अजयत्) जीता है। (सः) उस चन्द्रमा ने (अस्मै) इस बृहस्पति के लिये (श्रियम्, इत्) शोभा को ही (दुहे) दोहा है, (भूयोभूयः) बार-बार या अधिकाधिक रूप में, (श्वः श्वः) आए दिन-प्रतिदिन, (तेन) उस चन्द्रमा द्वारा (त्वम्) हे परमेश्वर! तू (द्विषतः) हमारे रोगरूपी शत्रुओं का (जहि) हनन कर।

[चन्द्रमा द्वारा ओषधियों में रसों का संचार होता है, अतः चन्द्रमा ओषधि रूपी अन्नों का उत्पादक है। असुरों और दानवों की हिरण्ययी पुरियों द्वारा नक्षत्र अभिप्रेत हैं। नक्षत्र-असुर हैं, प्राण शक्तिवाले हैं, ये हमें प्राण देते हैं। असुरत्वम्=प्राणवत्वम् (निरुक्त० १०।३।३३; ऋ० ३।५५।१९)। तथा नक्षत्र दानव हैं, हमें प्रकाश देते हैं। दानवम्, दानकर्माणम् (निरुक्त० १०।१।९; ऋ० ५।३२।१)। नक्षत्र हिरण्ययी-पुरः हैं, ये हिरण्यवत् चमकते हैं। चन्द्रमा नक्षत्रों का अधिपति है। यथा "चन्द्रमा नक्षत्राणामधिपतिः" (अथर्व० ५।२४।१०)। चन्द्रमा के प्रकाश में नक्षत्र प्रकाश-

विहीन से हो जाते हैं। मानो चन्द्रमा ने असुरों और दानवों की हिरण्ययी पुरियों पर विजय पा ली है। चन्द्रमा निज श्री अर्थात् शोभा द्वारा, निज-कर्त्ता बृहस्पति में निष्ठ शोभा का परिचायक है। रात्रिकाल में चन्द्रमा की शोभा का भान होता है। बृहस्पति ने शोभायमान चन्द्रमा की रचना की है, अतः बृहस्पति भी शोभासम्पन्न है। जिस मनुष्य के मस्तिष्क में शोभा का निवास है वह ही शोभायमान चित्र चित्रित कर सकता है। "तेन" द्वारा चन्द्रमा का परामर्श हुआ है, श्री का नहीं। "श्री" स्त्रीलिङ्गी पद है, और "तेन" पुंलिङ्गी पद है। "जहि"=बृहस्पति परमेश्वर, चन्द्रमा द्वारा रोग-शत्रुओं का हनन करता है। यथा—

अपचितः प्र पतत सुपर्णो वसतेरिव।
सूर्यः कृणोतु भेषजं चन्द्रमा वोऽपोच्छतु॥
अथर्व० ६।८३।१; तथा ६।८३।२,३॥

अपचितः का अर्थ है गण्डमालाएं। गण्डमाला की गिल्टियां एक-दूसरे से "अप" अर्थात् अलग-अलग हुईं, गले में माला के फूलों की तरह चुनी हुई होती हैं। सूर्य तथा चन्द्रमा इन की भेषज है, औषध है। अपोच्छतु= अप+उछी विवासे, अपवासयतु, अपवर्जयतु।

अपचितः=अपाक् चीयमाना गलादारभ्य अधस्तात् प्रसृता गण्डमालाः (सायण)। इस प्रकार बृहस्पति-परमेश्वर की कृपा तथा अनुग्रह द्वारा चन्द्रमा भी रोग-शत्रुओं का हनन करता है।

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे ।
सो अस्मै वाजिनं दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥११॥

(बृहस्पतिः) बृहद्-ब्रह्माण्ड-के पति परमेश्वर ने (आशवे, वाताय) शीघ्रगति वाली वायु के निर्माण के लिये, (यम्, मणिम्) जिस मणि को (अबध्नात्) बान्धा। (सः) उस वायु ने (अस्मै) इस बृहस्पति के लिये (वाजिनम्) बल को (दुहे) दोहा, (भूयोभूयः) बार-बार या अधिकाधिक रूप में, (श्वः श्वः) आए दिन-प्रति-दिन, (तेन) उस वात द्वारा (त्वम्) हे परमेश्वर! तू (द्विषतः) रोग-शत्रुओं का (जहि) हनन कर[1]।

---

1. मन्त्र ११ से ३५ में खदिरम् और फालम् शब्दों का प्रयोग नहीं हुआ, केवल मन्त्र ३३ में "फालेन कृष्टे" शब्दों का प्रयोग हुआ है। इससे प्रतीत होता है कि इन

[वाताय=वातं निर्मातुम्; तुमुन्नर्थे चतुर्थी (अष्टा० २।३।१४)। अबध्नात्=बान्धा, वायु के निर्माण का निश्चय किया, ईक्षण किया। वात अर्थात् वायु आशु है, शीघ्रगति वाली है। इस ने निज शीघ्रता द्वारा बृहस्पति में शीघ्रगति का बल प्रदान किया, कार्यरूपी वायु ने निज कर्त्ता-परमेश्वर के शीघ्रकार्यकर्तृत्व को सूचित किया। इस शीघ्रता को यजुर्वेद में "मनसो जवीयः" (३१।४) द्वारा प्रदर्शित किया है। वाजिनम्=बलम्। यथा "वाजिनां वाजिनानि" (अथर्व० ३।१९।६)। वाजिनानि=बलानि (सायण)। परमेश्वर, वात द्वारा, रोगरूपी शत्रुओं का हनन करता है। यथा—

आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद् रपः।
त्वं हि विश्वभेषज देवानां दूत ईयसे ॥

अथर्व० ४।१३।३॥

वात को भेषज और विश्वभेषज कहा है। यह "रपः" पापरूपी रोगों को दूर करता, और इन्द्रिय-देवों के रोग-शत्रुओं का दूत है, उपतापी है। दूतः=टुदु उपतापे (स्वादिः)। अथवा दूङ् परितापे (दिवादिः)। प्राणापान की गति द्वारा इन्द्रियों और शरीर के मल दूर होते हैं, और ये पुष्ट होते हैं।

मन्त्रों में "मणि" द्वारा कृष्यन्न अभिप्रेत नहीं, अपि तु "मणि" द्वारा "उत्कृष्ट-तत्त्व" अर्थ ही अभिप्रेत है। अतः एतदनुसार ही इन मन्त्रों के अर्थ किये हैं।

१. भूत-भौतिक जगत् के निर्माण में मन्त्र ११ से १७ तक वात का वर्णन है। कारण यह कि "तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः, आकाशाद् वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधीभ्योऽन्नम्, अन्नाद् रेतः, रेतसः पुरुषः" (तै० उप०) के अनुसार सूक्ष्मतत्त्व से उत्तरोत्तर स्थूलतत्त्व की उत्पत्ति दर्शाई गई है। आकाश अति सूक्ष्म है; और कईयों के मत में नित्य है। इसलिये भूत-भौतिक जगत् में मूल कारण वायु या वात है। इसलिये वायु या वात की उत्पत्ति दर्शाई गई है। आकाश=आ+काशृ (दीप्तौ)। अतः प्रतीत होता है कि आकाश है प्रकाश का माध्यम। पश्चात् काल में आकाश को शब्द का माध्यम माना गया प्रतीत होता है। सम्भवतः आकाश पाश्चात्य वैज्ञानिकों का Ether है। ETHER=A subtle medium supposed to fill all space. Ether=Aithein (ग्रीक)=To shine, To light up, निइन्धी दीप्तौ।

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे।
तेनेमां मणिना कृषिमश्विनावभि रक्षतः।
स भिषग्भ्यां महो दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥१२॥

(बृहस्पतिः) परमेश्वर ने (आशवे, वाताय) शीघ्रगति वाली वायु के निर्माण के लिये, (यम्, मणिम्) जिस मणि को (अबध्नात्) बान्धा, (तेन मणिना) उस मणि द्वारा (अश्विना) दो अश्वी अर्थात् प्राण और अपान (इमाम्, कृषिम्) इस कृषि की (अभिरक्षतः) रक्षा करते हैं। (सः) उस वात अर्थात् वायु ने (भिषग्भ्याम्) वैद्यरूप दो अश्वियों के लिये (महः) महत्त्व (दुहे) दोहा है, (भूयोभूयः) बार-बार या अधिकाधिक रूप में, (श्वः श्वः) आए दिन-प्रतिदिन, (तेन) उस वात द्वारा (त्वम्) हे परमेश्वर! तू (द्विषतः) रोग-शत्रुओं का (जहि) हनन कर।

[मन्त्र ११,१२ का विषय एक है। कृषि द्वारा, शरीररूपी क्षेत्र में, कर्मरूपी कृषि का वर्णन हुआ है, जिस का परिपाक है सुख और दुःख। गीता में शरीर को क्षेत्र कहा है, और जीवात्मा को क्षेत्रज्ञ अर्थात् क्षेत्र का स्वामी। शरीर क्षेत्र में कर्म बीज बोए जाते हैं, बोने वाला क्षेत्रज्ञ जीवात्मा है। इस कृषि की रक्षा प्राणापान करते हैं। जिन्हें अश्विनौ कहा है। शरीर में व्याप्त होकर शरीर की रक्षा करते हैं, अश्विनौ=अशूङ् व्याप्तौ। ये दोनों वातरूप हैं, वायुरूप हैं। यह वायु ही प्राण और अपानरूप में परिणत हो रही है, नासिका द्वारा शरीर में प्रविष्ट होकर। इसलिये अश्वियों को "नासत्यौ" भी कहते हैं। "नासत्यौ=नासाप्रभवौ" (निरुक्त ६।३।१३; "पुरन्धिः" ५१)। ये दो अश्विनौ भिषग् हैं, वैद्यवत् चिकित्सा करते हैं, "अश्विनौ देवानां भिषजौ"। प्राण और अपान शरीरशुद्धि द्वारा और शरीरपुष्टि द्वारा, वैद्यवत्, चिकित्सक हैं। मन्त्र में कृषि द्वारा प्रकरणगत प्राकृतिक कृषि भी अभिप्रेत हो सकती है, जिस की रक्षा पृथिवी-द्यौः, तथा सूर्य-चन्द्रमा करते हैं। अश्विनौ=द्यावापृथिव्यावित्येके। सूर्याचन्द्रमसावित्येके। द्यौः वर्षा द्वारा रक्षा करती है, और पृथिवी भोज्योत्पादन द्वारा तथा सूर्य ज्योति द्वारा और चन्द्रमा रसप्रदान द्वारा कृषि की रक्षा करते हैं (निरुक्त १२।१।१)]।

यमबंध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे ।
तं बिभ्रंत् सविता मणिं तेनेदमंजयत् स्वः ।
सो अस्मै सूनृतां दुहे भूयोंभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जंहि ॥१३॥

(बृहस्पतिः) बृहत्-ब्रह्माण्ड के पति परमेश्वर ने (आशवे, वाताय) शीघ्रगति वाली वायु के निर्माण के लिये (यम्, मणिम्) जिस मणि को (अबध्नात्) बान्धा, (तम्, मणिम्) उस मणि को (सविता बिभ्रत्) प्रभातकालीन सूर्य ने भी बान्धा, (तेन) उस मणि द्वारा (इदम्, स्वः) इस "स्वः" को उसने (अजयत्) जीता, (सः) उस सविता अर्थात् प्रभात-कालीन सूर्य ने (अस्मै) इस बृहस्पति-परमेश्वर के लिये (सूनृताम्) मधुर तथा सत्यस्तुति वाणी का (दुहे) दोहन किया, बृहस्पति को प्रदान किया, (भूयोभूयः) बार-बार या अधिकाधिकरूप में, (श्वः श्वः) आए दिन-प्रतिदिन, (तेन) उस स्तुति-वाणी के समूह द्वारा (त्वम्) हे बृहस्पति-परमेश्वर ! तू (द्विषतः) शारीरिक-मानसिक-आध्यात्मिक रोगरूपी शत्रुओं का (जहि) हनन कर।

(मणिम्) यह मणि[1] है परमेश्वरीय-कामना, वात के निर्माणार्थ। इस निर्माण कार्यरूपी मणि को मानो सविता ने भी बान्धा, धारण किया, जिस द्वारा सविता दिन का निर्माण करता है[2]। सवितृ-काल के पश्चात् ही दिन का आविर्भाव होता है। निरुक्त में सविता के सम्बन्ध में कहा है कि "अधो-रामः सावित्रः इति पशुसमाम्नाये विज्ञायते (यजु० २९।५८), कस्मात्सामा-न्यादिति, अधस्तात्तद् वेलायां तमो भवति, एतस्मात् सामान्यात्; अधस्ताद् रामः, अधस्तात् कृष्णः" (१२।२।१४)। सविता के काल में भूमि पर तो अन्धकार होता है, परन्तु "स्वः" अर्थात् द्युलोक पर सविता के द्वारा प्रकाश होता है, मानो सविता ने "स्वः" पर निजसत्ता से विजय पा ली है।

१. मणि पद "मण शब्दे" द्वारा व्युत्पन्न है (उणा० ४।११९; महर्षि दयानन्द)। परमेश्वर के सम्बन्ध में यह "शब्द" वाक् रूप नहीं, अपितु मानसिक या आध्या-त्मिक है, जिसे कि उपनिषदों में "अकामयत" द्वारा कामना कहा है। कामना है इच्छा, संकल्प, निश्चय।

२. "सविता" प्रातःकाल का सूर्य है, जबकि द्युलोक में तो प्रकाश होता है, और भूमि पर अन्धकार। यह प्रातःकालीन सन्ध्याकाल है, जब कि मन्त्रों द्वारा परमेश्वर

यह सन्ध्या काल है जब कि "सूनृता" अर्थात् मधुर-और-सत्यवाणी रूप वेद-मन्त्रों द्वारा परमेश्वर की स्तुतियां उपासक करते हैं, मानो सविता ने इन स्तुतिवाणियों का दोहन बृहस्पति-परमेश्वर के लिये किया है। ये स्तुतियां बार-बार बहुमात्रा में प्रतिदिन होती हैं। परमेश्वर सच्चे उपासकों के शारीरिक आदि रोगों, मलों (इन रोगों, शत्रुओं) का, इन स्तुतियों के द्वारा हनन करता है।

यमबंध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे ।
तमापो बिभ्रतीर्मणिं सदा धावन्त्यक्षिताः ।
स आभ्योऽमृतमिद् दुहे भूयोंभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥१४॥

(बृहस्पतिः) बृहत् ब्रह्माण्ड के पति परमेश्वर ने (आशवे, वाताय) शीघ्रगतिवाली वायु के निर्माण के लिये, (यम्, मणिम्) जिस कामना-रूपी-मणी को (अबध्नात्) बान्धा, (तम् मणिम्) उस कामनारूपी मणि को (आपः) जल भी (बिभ्रतीः) मानो धारण करते हुए और (अक्षिताः) न क्षीण होते हुए (सदा) सदा (धावन्ति) गति करते हैं, दौड़ से रहे हैं। (सः) उस बृहस्पति ने (आभ्यः) इन जलों के लिये या इन जलों से (अमृ-तम् इत्) अमृतत्व को (दुहे) दोहा, (भूयोभूयः) बार-बार या अधिकाधिक रूप में (श्वः श्वः) आए दिन-प्रतिदिन, (तेन) उस जलतत्त्व या अमृतत्व द्वारा हे बृहस्पति-परमेश्वर ! (त्वम्) तू (द्विषतः) हमारे द्वेषी-शत्रुओं का (जहि) हनन कर।

[इन मन्त्रों में वायु के निर्माण का बार-बार वर्णन आता है। कारण यह है कि वैदिक वर्णनों में परमेश्वर द्वारा आकाश, आकाश से वायु, और वायु से अग्नि, आपः आदि तत्त्वों की उत्पत्ति पूर्वक, सृष्टि की रचना हुई है (तैत्तिरीय उपनिषद्)। आपः ने भी मानों पृथिवी, ओषधि, अन्न और प्राणियों के उत्पादन रूपी कामना का व्रत धारण किया, जैसे कि बृहस्पति ने वात के उत्पादन में कामनारूपी व्रत का धारण किया। परमेश्वर ने (आभ्यः) इन "जलों के लिये" अमृतत्त्व को दोहा। तभी मानों जल

की स्तुति जाती है। यह स्तुति शब्दमयी है, अतः मणि है। सवितृकाल में इस स्तुति के होने से सविता को "मणि बिभ्रत्" कहा है। सविता के सम्बन्ध में मणि शब्द उपचरित हुआ है।

"सदा" गति कर रहे हैं, विना क्षीण हुए। नदियों से समुद्र की ओर, और समुद्र से अन्तरिक्ष की ओर, तथा अन्तरिक्ष से वर्षा द्वारा पुनः नदियों की ओर गति कर रहे हैं। अतः मानों जल अमृत हैं। या "आभ्यः=इन जलों से" परमेश्वर ने हमारे लिये अमृतत्व दोहा। जलचिकित्सा द्वारा हमारी आयु बढ़ती, हम स्वस्थ और नीरोग होकर पूर्ण आयु भोग सकते हैं। यह ही मन्त्रोक्त "अमृतम्" का अभिप्राय है। आपः अमृत हैं, इसीलिए आपः को "अमृत" भी कहते हैं। यथा "अमृतम् उदकनाम" (निघं० १।१२)। जलों में भैषज्यगुण है जिन के सेवन से मनुष्य भी अमृत हो जाते हैं, पूर्ण आयु से पूर्व मरते नहीं। यथा "अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजम्" (अथर्व० १।४।४), अर्थात् जलों में अमृत है, जलों में भेषज है। "अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तः विश्वानि भेषजा" (१।६।२), अर्थात् जलों में सब भेषजों का निवास है। "आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे मम" (अथर्व० १।६।३), अर्थात् हे जलो ! तुम मेरी तनु के लिये रोगनिवारक औषध प्रदान करो; इत्यादि]।

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे ।
तं राजा वरुणो मणिं प्रत्यमुञ्चत शंभुवम् ।
सो अस्मै सत्यमिद् दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥१५॥

(बृहस्पतिः) बृहत् ब्रह्माण्ड के पति परमेश्वर ने (आशवे, वाताय) शीघ्रगतिवाली वायु के निर्माण के लिये (यम्, मणिम्) जिस मणि को (अबध्नात्) बान्धा, (तम्, मणिम्) उस मणि को (राजा वरुणः) राजा-वरुण ने भी (प्रत्यमुञ्चत) धारण किया, (शंभुवम्) जो मणि कि शान्ति को पैदा करती है। (सः) उस राजा वरुण ने (अस्मै) इस बृहस्पति के लिये (सत्यमिद्) सत्य को (दुहे) दोहा, (भूयोभूयः) बार-बार या अधिकाधिक रूप में, (श्वः श्वः) आए दिन प्रतिदिन, (तेन) उस सत्य द्वारा (त्वम्) हे बृहस्पति ! तू (द्विषतः) हमारे द्वेषी शत्रुओं का (जहि) हनन कर।

[मणिम्—मणि है बृहस्पति में जगदुत्पत्ति की कामना, इच्छा, संकल्प, निश्चय। राजा—वरुण भी परमेश्वर है। बृहस्पति है ब्रह्माण्ड का पति, अधिपति, शासक। राजा-वरुण है प्रजाओं का राजा, शासक। परमेश्वर के दोनों स्वरूप शासक हैं। गुण-कर्म के भेद से एक ही परमेश्वर के दो नाम हैं। पहिले जड़ जगत् पैदा हुआ, इसका शासक बृहस्पति हुआ। तत्पश्चात् प्राणि-

जगत् पैदा हुआ। परमेश्वर, राजा वरुण के रूप में, तत्पश्चात् प्राणियों का शासक भी बना। राजा वरुण का काम है प्राणियों पर राज्य करना, उनका शासन करना, तथा उन्हें अनृतमार्ग से सत्यमार्ग की ओर प्रेरित करना। यथा "ये ते पाशा वरुण सप्तसप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विषिता रुशन्तः। छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं यः सत्यवाद्यति तं सृजन्तु" (अथर्व० ४।१६।६) मन्त्र में वरुण अर्थात् पापकर्मों से निवारित करने वाले परमेश्वर के पाशों अर्थात् फन्दों का वर्णन हुआ है जो कि अनृतवादी को छिन्न-भिन्न करते और सत्य-वादी को उन पाशों से विमुक्त करते हैं। इस उद्देश्य के निमित्त वरुण राजा के स्पशों अर्थात् गुप्तचरों (४।१६।४) तथा "आस्तां जाल्म उदरं श्रंशयित्वा कोश इवाबन्धः परिकृत्यमानः" (४।१६।७) द्वारा अनृतवादी के उदर को फाड़ देने के दण्ड का भी विधान हुआ है। इस प्रकार राजा वरुण प्रजाओं के नैतिक जीवनों का अधिपति हो कर बृहस्पति के शासन में सहायक होता है। इस सम्बन्ध में शत्रु हैं अनृतभाषण, काम, क्रोध, लोभ आदि।

आधिदैविकार्थ में "वरुण राजा" है मेघ। यह अन्तरिक्ष पर आवरण डाल देता है, अतः वरुण है, अथवा "अन्तरिक्षस्थ वायु" वरुण है, जो कि अन्तरिक्ष को घेरे हुए है। "सत्यम्" है उदक, यथा "सत्यम् उदकनाम" (निघं० १।१२)। उदक द्वारा बृहस्पति शत्रुओं का हनन करता है। शत्रु हैं पिपासा, क्षुधा, सूखापन आदि। बृहस्पति ने मणि को बान्धा। इसका परिणाम हुआ "वात का निर्माण"। राजा वरुण ने मणि को बान्धा। इस का परिणाम हुआ "सत्य का दोहन"। और सत्य का परिणाम हुआ "शत्रुओं का हनन"]।

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे ।
तं देवा बिभ्रतो मणिं सर्वांल्लोकान् युधाऽजयन् ।
स एभ्यो जितिमिद् दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥१६॥

(बृहस्पतिः) बृहत् ब्रह्माण्ड के पति परमेश्वर ने (आशवे वाताय) शीघ्रगति वाली वायु के निर्माण के लिये (यम् मणिम्) जिस कामनारूपी मणि को (अबध्नात्) बान्धा, (तम् मणिम्) उस कामनारूपी मणि को (देवाः) विजिगीषुओं ने (बिभ्रतः) धारण करते हुए (युधा) युद्ध द्वारा (सर्वान् लोकान्) सब लोकों को (अजयन्) जीत लिया। (सः) उस बृहस्पति ने (एभ्यः) इन विजिगीषओं के लिये या इन विजिगीषुओं से,

(जितिम् इत्) विजय को (दुहे) दोहा, (भूयोभूयः) बार-बार या अधिकाधिक रूप में (श्वः श्वः), आए दिन प्रतिदिन (तेन) उस युद्ध द्वारा हे बृहस्पति! (त्वम्) तू (द्विषतः) हमारे द्वेषी शत्रुओं का (जहि) हनन कर।

[देवाः=विजिगीषु सेनाधिकारी वर्ग। "दिवु क्रीडाविजिगीषा" आदि (दिवादिः)। "देव" द्वारा विजिगीषु भी अभिप्रेत होते हैं, यथा "देवसेनानामभिभञ्जतीनाम्" में देव का अर्थ विजिगीषु है। उनकी सेनाओं को देवसेनाः कहा है। देखो मन्त्र ८ की व्याख्या। "सब लोक" का अभिप्राय है "सब पार्थिव देश"। द्विषतः=का अभिप्राय यह है कि परमेश्वर हमारे ऐहिक तथा पुराकृत कर्मों के अनुसार हमें जय या पराजय प्रदान करता है। परमेश्वर ही कर्मफलप्रदाता है। जय या पराजय भी कर्मफल ही है। अतः इनकी प्राप्ति भी परमेश्वराधीन ही है। मन्त्र में आधिदैविक दृष्टि में प्रकाश (देव) और अन्धकार (असुर), या सूर्य देव और मेघ असुर भी अभिप्रेत हैं। तथा आध्यात्मिक दृष्टि में देवासुर संग्राम भी अभिप्रेत है]।

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे।
तमिमं देवता मणिं प्रत्यमुञ्चन्त शंभुवम्।
स आभ्यो विश्वमिद् दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥१७॥

(बृहस्पतिः) बृहत् ब्रह्माण्ड के पति परमेश्वर ने (आशवे वाताय) शीघ्रगतिवाली वायु के निर्माण के लिये (यम्, मणिम्) जिस कामनारूपी मणि को (अबध्नात्) बान्धा, (तम्, मणिम्) उस कामनारूपी मणि को (शंभुवम्) जो कि शान्ति पैदा करने वाली है, (देवताः) विजिगीषु सेनाओं ने भी (प्रत्यमुञ्चन्त) धारण किया। (सः) उस बृहस्पति ने (आभ्यः) इन सेनाओं के लिये, या इन सेनाओं से (विश्वम् इत्) विश्व को (दुहे) दोहा, (भूयोभूयः) बार-बार या अधिकाधिक रूप में (तेन) उस दोहन द्वारा हे बृहस्पति! (त्वम्) तू (द्विषतः) हमारे द्वेषी शत्रुओं का (जहि) हनन कर।

[मन्त्र १६ में "देवाः" द्वारा विजिगीषु सेनाधिकारियों का वर्णन हुआ है। मन्त्र १७ में "देवताः" द्वारा सेनाएं अभिप्रेत हैं, यथा "देवसेनाः" अर्थात् देवों की सेनाएं"। सेनाधिकारी तथा सेनाएं, इन दोनों में जब विजिगीषा की उग्रभावना होती है, तभी युद्ध में विजय पाई जा सकती है।

"शंभुवम्" द्वारा युद्ध का उद्देश्य दर्शाया है "शान्ति", न कि परराष्ट्रलिप्सा। विश्वम्=सकल भूमण्डल, या सब अभीष्ट पदार्थ]।

ऋतवस्तमबध्नतार्तवास्तमबध्नत।
संवत्सरस्तं बद्ध्वा सर्वं भूतं वि रक्षति ॥१८॥

(ऋतवः) ऋतुओं ने (तम्) उस कामनारूपी मणि को मानो बान्धा, (आर्तवाः) ऋतुओं के अवयवों मासों या ऋतुओं के समूहों अयनकालों ने (तम्) उस कामनारूपी मणि को मानो (अबध्नत) बान्धा। (संवत्सरः) संवत्सर (तम्) उस कामनारूपी मणि को मानो (बद्ध्वा) बान्ध कर (सर्वम्) सब (भूतम्) उत्पन्न सौर-जगत् की (वि रक्षति) विशेष रक्षा करता है।[1]

[ऋतु आदि जड़-तत्त्वों में कामना कवितारूप में कथित है। ये मानो कामनापूर्वक विविध उत्पत्तियां कर रहे हैं। प्रत्येक मास, प्रतिऋतु तथा द्विविध अयनकालों में विविध उत्पत्तियां हो रही हैं। जड़तत्त्वों के सम्बन्ध में भी चेतनकार्यों का वर्णन वैदिक साहित्य में होता है। यथा "तत् तेज ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति"; "ता आप ऐक्षन्त बह्व्यः स्याम प्रजायेमहि" (छान्दोग्य उप० अध्याय ६, खण्ड २)। तथा "ध्यायतीव पृथिवी, ध्यायतीवान्तरिक्षं, ध्यायतीव द्यौः, ध्यायन्तीवापः, ध्यायन्तीव पर्वताः" (छान्दोग्य उप० अध्याय ७, खण्ड ६) में पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौः, आपः, पर्वताः के सम्बन्ध में "ध्यान" का वर्णन हुआ है। ईक्षण और ध्यान चेतन-धर्म हैं।]

अन्तर्देशा अबध्नत प्रदिशस्तमबध्नत।
प्रजापतिसृष्टो मणिर्द्विषतो मेऽधराँ अकः ॥१९॥[2]

(अन्तर्देशाः) देशों के भीतर निवास करने वाले प्रजाजनों ने (अबध्नत)

---

[1] ऋतुएं, आर्तव, संवत्सर न तो ये स्थूल तत्त्व हैं जिनके साथ कोई स्थूल मणि बान्धी जा सके, और न ये चेतन ही हैं कि ये स्वयं किसी स्थूल मणि को अपने साथ बान्ध सकें। इसलिये इस मन्त्र के जो अभिप्राय अर्थों में दर्शाए हैं वे ही उचित प्रतीत होते हैं।

[2] अन्तर्देशाः तथा प्रदिशः का अभिप्राय है अन्तर् देशों के निवासी, तथा दिशाओं या प्रदेशों में निवास करने वाली प्रजाएं।

बान्धा, (प्रदिशः) अवान्तर दिशाओं या भिन्न-भिन्न प्रदेशों में निवास करने वाले प्रजाजनों ने (तम्) उस मणि को (अबध्नत) बान्धा। (प्रजापतिसृष्टः) प्रजाओं के पति परमेश्वर द्वारा रची गई मणि ने (मे) मेरे (द्विषतः) द्वेषी शत्रुओं को मेरे (अधरान्) नीचे अर्थात् अधीन (अकः) कर दिया है।

[प्रदिशः=मुख्य चार दिशाओं की मध्यवर्ती दिशाएं, ऐशानी, आग्नेयी, नैर्ऋती, वायवी; अथवा भिन्न-भिन्न प्रदेशों के अर्थात् तन्निवासी प्रजाजन। प्रजापतिसृष्ट मणि है कामना, संकल्प, दृढ़निश्चय। प्रजापति ने मानुषी प्रजाओं में इस मणि की रचना की हुई है। इस मणि द्वारा मनुष्य निज आधिभौतिक तथा अध्यात्मद्वेषी शत्रुओं को अपने अधीन करते हैं। अधरान् =अधोरः, अधस्+रः (मत्वर्थीयः), (निरुक्त २।३।११)]।

अथर्वाणो अबध्नताथर्वणा अबध्नत।
तैर्मेदिनो अङ्गिरसो दस्यूनां बिभिदुः पुरस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥२०॥

(अथर्वाणः) स्थिरचित्तवृत्तियों वाले योगियों ने (अबध्नत) बान्धा, (आथर्वणाः) अथर्वा-योगियों के शिष्यों ने बान्धा। (तैः) उनके साथ (मेदिनः) स्नेह करने वाले (अङ्गिरसः[1]) प्राणायाम के अभ्यासियों ने [बान्धा], [उन सबने] (दस्यूनाम्) उपक्षयकारी चित्तविक्षेपरूप अन्तरायों के (पुरः) गढ़ों को (बिभिदुः) तोड़-फोड़ दिया। (तेन) उस स्थिरचित्तवृत्तिरूप मणि द्वारा (त्वम्) हे ध्यानी ! तू (द्विषतः) अन्तरायरूपी शत्रुओं का (जहि) हनन कर।

[अथर्वाणः="थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः" (निरुक्त ११।२।१९)। अङ्गिरसः="अङ्गानां हि रसः, प्राणो वा अङ्गानां रसः" (बृहदार० उप० ब्राह्मण ३। खण्ड १९)। मन्त्र में अङ्गिरसः द्वारा प्राणायामाभ्यासी शिष्य प्रतीत होते हैं। वे निज गुरुओं "अथर्वा योगियों के साथ स्नेहपूर्वक उन से योगविद्या को प्राप्त करते हैं। दस्यु=दसु उपक्षये। योगाभ्यास में उपक्षयकारियों अर्थात् बाधकों को "अन्तराय" कहते हैं। वे हैं "व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व, अनवस्थि-

१. "सोऽयास्य आङ्गिरसोऽङ्गानां हि रसः, प्राणो वा अङ्गानां रसः, प्राणो हि वा अङ्गानां रसः" (बृहदा० उप० १।३।१९)।

तत्वरूपी चित्तविक्षेप, ये अन्तराय हैं (योग १।३०)। इस प्रकार इन योगियों और योगाभ्यासियों ने जिस मणि को बान्धा वह दृढ़कामना, दृढ़ संकल्प, दृढ़निश्चयरूप ही सम्भव है। मेदिनः=ञिमिदा स्नेहने (भ्वादिः)]।

तं धाता प्रत्यमुञ्चत स भूतं व्यकल्पयत्।
तेन त्वं द्विषतो जहि ॥२१॥

(तम्) उस मणि को (धाता[1]) धारण-पोषण करने वाले परमेश्वर ने (प्रत्यमुञ्चत) धारण किया, (सः) उसने (भूतम्) भूत-भौतिक जगत् की (व्यकल्पयत्) विविधरूपों में रचना की। (तेन) उस मणि द्वारा (त्वम्) हे ध्यानी ! तू (द्विषतः) निज द्वेषी शत्रुओं का (जहि) हनन कर।

[मणि, प्रजापति द्वारा सृष्ट हुई है (मन्त्र १९)। यह प्रजापति, धाता है, सब का धारण-पोषण करता है। इस मणि को धारण करके धाता ने सृष्टि को रचा। यह मणि है सृष्टिरचना में धाता की कामना, इच्छा। यथा "सोऽकामयत" (बृहदा० उप० ब्राह्मण २, खण्ड ४-७)। धाता की कामना मात्र से ही भूत-भौतिक सृष्टि पैदा होती है। यह कामना ही संकल्प और दृढ़ निश्चय रूप है। धाता खदिर काष्ठ के फाल के विकाररूप मणि को धारण नहीं करता। याज्ञिक सम्प्रदाय मणि के सम्बन्ध में कहते हैं कि "खदिरकाष्ठफालविकारं मणिं शत्रुनाशाय सर्वकामाप्तये च बध्नाति" (सायण, सूक्त के विनियोग में)। ध्यानी के शत्रु हैं, अन्तराय (मन्त्र २०)]।

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम्।
स मायं मणिरागमद् रसेन सह वर्चसा ॥२२॥

(बृहस्पतिः) बृहत् ब्रह्माण्ड के पति परमेश्वर ने, (देवेभ्यः) देवों के

१. स धाता स विधर्ता स वायुर्नभ उच्छ्रितम् (३)। सोऽर्यमा स वरुणः स रुद्रः स महादेवः (४) सो अग्निः स उ सूर्यः स उ एव महायमः (५) [अथर्व० १३।४।३-५]।

उत्पादन के लिये, (असुरक्षितिम्) आसुरकर्मों का क्षय करने वाली (यम् मणिम्) जिस मणि को बान्धा, (सः) वह (अयम्) यह (मणिः) मणि (मा) मुझे (आगमत्) प्राप्त हुई है, (रसेन वर्चसा सह) रस और कान्ति के साथ।

[बृहस्पति ने सृष्ट्युत्पादनार्थ कामनारूपी मणि को अपने साथ बान्धा, निजस्वरूप में कामना को जागरित किया। कामना यह कि मैं देवों को उत्पन्न करूं, ताकि असुरों का क्षय हो। "देवेभ्यः" का अर्थ है "देवान् उत्पादयितुम्, मणिमबध्नात्", तुमुन्नर्थ में चतुर्थी है। सृष्ट्युत्पादन के दो प्रयोजन हैं, भोग और अपवर्ग। "भोगापवर्गार्थं दृश्यम्" (योग २।१८)। कर्मानुसारी भोग, साधन है अपवर्ग का, मोक्ष का। भोग द्वारा बुरे कर्मों का फल, दुःख और कष्ट, भोग लेने पर शनैः-शनैः बुरे कर्मों का विनाश होता रहता है, और व्यक्ति सत्कर्मों का चयन करता हुआ अपवर्ग का अधिकारी बनता जाता है। सृष्टि, परमेश्वर का अनुग्रहरूप है। यथा "अनुग्रहः सर्गः" (तत्त्वसमास, सांख्यसूत्र २७)। परमेश्वर का यह महान् अनुग्रह है कि वह सृष्टि में शनैः शनैः देवों को उत्पन्न करता हुआ मनुष्यों को अपवर्ग का पथिक बना कर उन्हें अपवर्ग प्रदान करे। मन्त्र में "रसेन" द्वारा भोग्य पदार्थ का वर्णन हुआ है। रस ओषधिरस है। यथा "पयः पशूनां रसमोषधीनां बृहस्पतिः सविता मे नियच्छात्" (अथर्व० १९।३१।५)]।

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम्।
स माऽयं मणिरागमत् सह गोभिरजाविभिरन्नेन प्रजया सह ॥२३॥

(बृहस्पतिः) बृहत्-ब्रह्माण्ड के पति परमेश्वर ने (देवेभ्यः) देवों के उत्पादन के लिये (असुरक्षितिम्) आसुरकर्मों का क्षय करने वाली (यम्, मणिम्) जिस कामनामयी मणि को (अबध्नात्) बान्धा, (सः) वह (अयम् मणिः) यह मणि (मा आगमत्) मुझे प्राप्त हुई है (गोभिः, अजाविभिः, अन्नेन, प्रजया सह) गौओं, बकरियों, भेड़ों, अन्न और प्रजा के साथ।

[भाव, मन्त्र २२ के सदृश। गौ आदि भोग्य हैं। "मा आगमत्" द्वारा अपवर्गोन्मुखी पथिक अनुभव करता है कि उन्नति के लिये, बृहस्पति ने मुझे भी कामनामयी मणि प्रदान की है। (व्याख्या मन्त्र २२)]।

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम्।
स माऽयं मणिरागमत् सह व्रीहियवाभ्यां महसा भूत्या सह ॥२४॥

(बृहस्पतिः) बृहत्-ब्रह्माण्ड के पति परमेश्वर ने (देवेभ्यः) देवों के उत्पादन[1] के लिये (असुरक्षितिम्) आसुरकर्मों का क्षय करने वाली (यम् मणिम्) जिस कामनामयी मणि को (अबध्नात्) बान्धा, (सः) वह (अयम् मणिः) यह मणि (मा आगमत्) मुझे प्राप्त हुई है, (व्रीहियवाभ्यां सह) धान और जौ के साथ, (महसा भूत्या सह) महत्ता और सम्पत्ति या विभूति के साथ। [व्याख्या मन्त्र २२, २३]।

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम्।
स माऽयं मणिरागमन्मधोर्घृतस्य धारया कीलालेन मणिः सह ॥२५॥

(बृहस्पतिः) बृहत्-ब्रह्माण्ड के पति परमेश्वर ने (देवेभ्यः) देवों के उत्पादन के लिये (असुरक्षितिम्) आसुरकर्मों का क्षय करने वाली (यम् मणिम्) जिस कामनामयी मणि को (अबध्नात्) बान्धा, (सः) वह (अयम् मणिः) यह कामनामयी मणि (मा) मुझे (आगमत्) प्राप्त हुई है, (मधोः घृतस्य धारया) शहद और घृत की धारा के साथ, (मणिः) वह मणि (कीलालेन सह) अन्न तथा अन्न के सारभूत अंश के साथ।

[कीलालेन=अन्नेन (अथर्व० ६।६९।१, सायण। कीलालम्=अन्नस्य सारभूतोंशः (अथर्व० ७।६५।५, सायण)। (व्याख्या मन्त्र २२,२३)]।

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम्।
स माऽयं मणिरागमदूर्जया पयसा सह द्रविणेन श्रिया सह ॥२६॥

(बृहस्पतिः) बृहत्-ब्रह्माण्ड के पति परमेश्वर ने, (देवेभ्यः) देवों के उत्पादन के लिये, (असुरक्षितिम्) आसुरकर्मों का क्षय करने वाली (यम्) जिस कामनामयी मणि को (अबध्नात्) बान्धा, (सः) वह (अयम्, मणिः) यह कामनामयी मणि (मा) मुझे (आगमत्) प्राप्त हुई है, (ऊर्जया) बल और प्राण शक्ति, (पयसा) और दूध के (सह) साथ, तथा (द्रविणेन) धन और (श्रिया) शोभा के (सह) साथ।

---

१. मन्त्र का यह अभिप्राय नहीं कि "बृहस्पति ने देवों को मणि बान्धी।"

[ऊर्जा =ऊर्ज बलप्राणनयोः (चुरादिः)। ऊर्जा और पयसा द्वारा यह अभिप्राय द्योतित किया है कि बल और प्राणशक्ति के लिये दूध उत्तम वस्तु है। इसी प्रकार धन साधन है शोभा का। (व्याख्या मन्त्र २२-२३ के अनुसार)]।

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम्।
स मा॒ऽयं म॒णिराग॑मत् तेजसा त्विष्या सह यशसा कीर्त्या सह॥२७॥

(बृहस्पतिः) बृहत्-ब्रह्माण्ड के पति परमेश्वर ने, (देवेभ्यः) देवों के उत्पादन के लिये, (असुरक्षितिम्) आसुरकर्मों का क्षय करने वाली (यम्) जिस कामनामयी मणि को (अबध्नात्) बान्धा, (सः) वह (अयम्, मणिः) यह मणि (मा) मुझे (आगमत्) प्राप्त हुई है (तेजसा त्विष्या) तेज और दीप्ति के (सह) साथ, तथा (यशसा कीर्त्या) यश और कीर्ति के (सह) साथ।

[तेज और त्विषि का परस्पर सम्बन्ध है, तथा यश और कीर्ति का भी परस्पर सम्बन्ध है। त्विषि=त्विष् दीप्तौ (भ्वादिः)। कीर्तिः=कीर्त्यते संशब्द्यते सा (उणा० ४।१२०)। महापुरुषों के सत्कार्यों का कथन या गान करना कीर्ति है। (व्याख्या मन्त्र २२, २३ के अनुसार)]।

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम्।
स मा॒ऽयं म॒णिराग॑मत् सर्वाभिर्भूतिभिः सह॥२८॥

(बृहस्पतिः) बृहत्-ब्रह्माण्ड के पति परमेश्वर ने, (देवेभ्यः) देवों की उत्पत्ति के लिये, (असुरक्षितिम्) आसुर-कर्मों का क्षय करने वाली (यम्) जिस कामनामयी मणि को (अबध्नात्) बान्धा, (सः) वह (अयम्, मणिः) यह मणि (मा) मुझे (आगमत्) प्राप्त हुई है, (सर्वाभिः) सब (भूतिभिः) सम्पत्तियों या विभूतियों के (सह) साथ।

[व्याख्या मन्त्र २२-२३ के अनुसार]।

तमिमं देवता मणिं मह्यं ददतु पुष्टये।
अभिभुं क्षत्रवर्धनं सपत्नदम्भनं मणिम्॥२९॥

(देवताः) देव (तम् इमम्) पूर्ववर्णित इस (मणिम्) मणि को (पुष्टये) पुष्टि के लिये (मह्यम्) मुझे (ददतु) देवें, जो कि (मणिम्) मणि (अभिभुम्) पराभव करने वाली है, (क्षत्रवर्धनम्) क्षतियों से त्राण करने की शक्ति की वृद्धि करती है, (सपत्नदम्भनम्) शत्रुओं को दबाने वाली या उन का विनाश करने वाली है।

[देवताः=प्रकरणानुसार, पूर्व के मन्त्रों में वर्णित "देवेभ्यः" का निर्देश "देवताः" द्वारा हुआ है, या इस का अभिप्राय है दिव्यगुणी महात्मा आदि। मन्त्र में "मणि" का अभिप्राय है, शुभकामना, तथा शुभ संकल्प। इस द्वारा आसुर विचार और कर्मरूपी शत्रुओं का पराभव तथा दमन होता, तथा क्षत्रशक्ति प्राप्त होती है। क्षत्रम्=क्षतात् त्राणम्]।

ब्रह्मणा तेजसा सह प्रति मुञ्चामि मे शिवम्।
असपत्नः सपत्नहा सपत्नान् मेऽधराँ अकः॥३०॥

(ब्रह्मणा तेजसा) ब्रह्म और उस के तेज के (सह) साथ-साथ (मे) मेरे लिये (शिवम्) शिवरूप, कल्याणरूप [शिव कामना तथा शिवसंकल्प-रूपी] मणि को (प्रति मुञ्चामि) मैं धारण करता हूं। [यह मणि] (असपत्नः) सपत्नों से रहित करती है, (सपत्नहा) सपत्नों का हनन करती है, इसने (सपत्नान्) सपत्नों को (मे) मेरे (अधरान्) नीचे (अकः) कर दिया है।

[मन्त्र में शिवकामना या शिवसंकल्परूपी मणि का फल दर्शाया है। (१) आसुर विचारों और आसुर कर्मों के क्षय के कारण मुझे ब्रह्म और उस का तेज प्राप्त हुआ है। (२) इसके साथ ही मेरे जीवन में मेरा कोई सपत्न [काम, क्रोध आदि] नहीं रहा। (३) यदि कोई सपत्न अवशिष्ट है तो यह मणि उस का हनन कर देगी। (४) वस्तुतः इस मणि ने मेरे सब सपत्नों को मेरे वश में कर दिया है]।

उत्तरं द्विषतो मामयं मणिः कृणोतु देवजाः।
यस्य लोका इमे त्रयः पयो दुग्धमुपासते।
स मा॒ऽयमधि रोहतु म॒णिः श्रैष्ठ्याय मूर्धतः॥३१॥

(देवजाः) देवों द्वारा प्रकटीकृत (अयम्, मणिः) यह परमेश्वररूप मणि (माम्) मुझ को (द्विषतः) द्वेषियों की अपेक्षया (उत्तरम्) अधिक उत्कृष्ट (कृणोतु) करदे। (यस्य) जिस परमेश्वर के (पयः दुग्धम्) जल

और दूध का, या दोहे दूध आदि का (इमे त्रयः लोकाः) ये तीनों लोक (उपासते) सेवन करते हैं। (सः अयम्) वह यह परमेश्वर-मणि (मा) मेरे (मूर्धतः) सिर पर (अधि रोहतु) आरोहण करे, (श्रैष्ठ्याय) मेरी श्रेष्ठता के लिये, ताकि मैं श्रेष्ठ बन जाऊं।

[देवजाः (मन्त्र २९); देवकोटि के सद्-गुरुओं की कृपा द्वारा परमेश्वर-देव प्रकट होता है। परमेश्वर प्रकट होकर व्यक्ति को, काम, क्रोध आदि द्विष्ट-कृत्यों पर विजयार्थ, उत्कृष्ट शक्ति प्रदान करता है। परमेश्वर द्वारा उत्पादित [दोहे दूध] आदि का सेवन तीनों लोकों के निवासी करते हैं। व्यक्ति चाहता है कि परमेश्वर-मणि मेरे सिर पर आरोहण करे। मणि आदि आभूषण सिर की शोभा को बढ़ाते हैं। सिर से ही सब विचार उठ कर नाना कर्म कराते हैं। परमेश्वर जब सिर पर आरोहण करता है तो विचार और कर्म सात्त्विक हो जाते हैं, और व्यक्ति श्रेष्ठ बन जाता है। मूर्धतः=सप्तम्यां तसिः]।

यं देवाः पितरो मनुष्या उपजीवन्ति सर्वदा।
स माऽयमधि रोहतु मणिः श्रैष्ठ्याय मूर्धतः ॥३२॥

(यम्) जिस परमेश्वरमणि के आश्रय (देवाः, पितरः, मनुष्याः) देव, पितर और मनुष्य (सर्वदा) सब कालों में (उपजीवन्ति) आजीविका प्राप्त करते हैं या जीवित होते हैं, (सः मणिः) वह परमेश्वरमणि (मा) मेरे (मूर्धतः) सिर पर (अधि रोहतु) आरोहण करे, (श्रैष्ठ्याय) मेरी श्रेष्ठता के लिये, ताकि मैं श्रेष्ठ बन जाऊं।

यथा बीजमुर्वरायां कृष्टे फालेन रोहति।
एवा मयि प्रजा पशवोऽन्नमन्नं वि रोहतु ॥३३॥

(फालेन) हल के फाल द्वारा (कृष्टे) जुत जाने पर, (उर्वरायाम्) उपजाऊ भूमि में, (बीजम्) बीज (यथा) जैसे (रोहति) प्ररोह करता है, प्रादुर्भूत होता है, (एवा) इसी प्रकार (मयि) मेरे निमित्त (प्रजाः, पशवः) प्रजाएं और पशु, (अन्नम्, अन्नम्) तथा नाना अन्न (वि रोहतु) विशेषतया प्रादुर्भूत हों।

[रोहति=रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे च (भ्वादिः)]।

यस्मै त्वा यज्ञवर्धन मणे प्रत्यमुचं शिवम्।
तं त्वं शतदक्षिण मणे श्रैष्ठ्याय जिन्वतात् ॥३४॥

(यज्ञवर्धन मणे) यज्ञ वर्धक हे मणि! (यस्मै) जिसे मैंने, (शिवम्, त्वा) शिवस्वरूप तुझ को, (प्रत्यमुञ्चम्) पहनाया है, (शतदक्षिण) हे सैकड़ों दक्षिणाओं वाली (मणे) मणि! (तम्) उसे (त्वम्) तू (श्रैष्ठ्याय) श्रेष्ठ हो जाने के लिये (जिन्वतात्) प्रीणित कर, उत्साहित कर।

[जिन्वतात्=जिवि प्रीणनार्थः (भ्वादिः), तृप्त करना, प्रसन्न करना। मन्त्र में अर्थ संगत होता है, "उत्साहित करना"। तृप्त मनुष्य नए कर्म करने में उत्साहित होता है, अतृप्त उत्साहविहीन रहता है। मन्त्र में मणि द्वारा सर्वश्रेष्ठ मणि, परमेश्वर प्रतीत होता है। मन्त्र ३१, ३२ और ३४ में "श्रैष्ठ्याय" पद समानरूप से पठित है। अतः इन तीन मन्त्रों में परमेश्वर को ही मणि कहा है। सद्गुरु, जिस अभ्यासी को यह शिवमणि पहनाता है उस की प्रसन्नता और प्रोत्साहन के लिये, सद्गुरु परमेश्वर से प्रार्थना करता है। परमेश्वर "यज्ञवर्धन" है, संसाररूपी यज्ञ की वृद्धि में लगा हुआ है, ताकि देवों के उत्पादन और असुरों के क्षय द्वारा योग्य व्यक्ति अपवर्ग पा सकें। परमेश्वर के इस उद्देश्य में जो महानुभाव सहायता प्रदान करते हैं वे दक्षिणा के पात्र होते हैं। इसलिये परमेश्वर को "शतदक्षिण" कहा है। परमेश्वर है यज्ञ का कर्ता "यजमान", और सहायता प्रदान करने वाले हैं इस यज्ञ में पुरोहित, ऋत्विक्। ये दक्षिणाओं के अधिकारी हैं, दक्षिणाएं हैं मन्त्र २२ से ३४ तक कथित रस आदि पदार्थ, तथा मन्त्र २८ में कथित "सब भूतियां"[1]]।

एतमिध्मं समाहितं जुषाणो अग्ने प्रति हर्य होमैः।
तस्मिन् विदेम सुमतिं स्वस्ति प्रजां चक्षुः पशून्त्समिद्धे जातवेदसि ब्रह्मणा ॥३५॥

(अग्ने) हे अग्नि! (समाहितम्) सम्यक्-आधान किये (एतम्,

१. अथवा "यज्ञवर्धन" हमारे यज्ञिय कर्मों को बढ़ाने वाले परमेश्वररूपी ऋत्विक्; "शतदक्षिण", तदर्थ हमारी सैकड़ों स्तुतिरूप दक्षिणाओं के अधिकारी परमेश्वर।

इध्मम्) इस इध्म का (जुषाणः) सेवन करती हुई तू (होमैः) आहुतियों द्वारा (प्रतिहर्य) कान्ति सम्पन्न हो, प्रदीप्त हो। (ब्रह्मणा) परमेश्वर की कृपा या वेदमन्त्र द्वारा (तस्मिन् जातवेदसि) उस जातवेदाः के (समिद्धे "सति") सम्यक्-प्रदीप्त हो जाने पर, (सुमतिम्, स्वस्ति, प्रजाम्, चक्षुः, पशून्) सुमति, कल्याण, प्रजा, स्वस्थ चक्षु आदि इन्द्रियों और पशुओं को (विदेम) हम प्राप्त करें।

[पूर्व के मन्त्रों में कथित कामनाओं के सफल हो जाने पर परमेश्वर के प्रसादनार्थ यज्ञ का विधान मन्त्र में हुआ है। यज्ञाग्नि की उद्दीप्ति द्वारा सुमति आदि पदार्थ प्राप्त होते हैं। यज्ञिय धूम द्वारा अन्तरिक्ष में स्थित जल, मेघरूप होकर, जब बरसते हैं, तब अन्न की उत्पत्ति पूर्वक, वर्णित अभिलाषाएं पूर्ण होती हैं। जातवेदाः अग्नि है, जो कि "जात" अर्थात् उत्पन्न प्रत्येक पदार्थ में विद्यमान है। "जातवेदाः=जातानि वेद। जातानि वैनं विदुः। जाते जाते विद्यते वा। जातवित्तो वा जातधनः। जातविद्यो वा जातप्रज्ञः" (निरुक्त ७।५।१९)। तथा "जातवेदस इति जातमिदं सर्वं सचराचरं स्थित्युत्पत्तिप्रलयन्यायेनाच्छाय यो विद्यते सः" (निरुक्त १३(१४)। ३(२)। ३४(४७)।

अग्नि द्वारा अग्निष्ठ परमेश्वराग्नि भी अभिप्रेत है। यथा "अग्नावग्निश्चरति प्रविष्टः" (अथर्व० ४।३९।९)। यज्ञियाग्नि की स्तुति और परिचर्या द्वारा, परमेश्वराग्नि की भी स्तुति और परिचर्या जाननी चाहिये। परमेश्वराग्नि के सम्बन्ध में इध्म है जीवात्मा "अयं त इध्म आत्मा जातवेदः" (आश्वलायन गृह्यसूत्र १।१०।१२) जीवात्मा[1] में परमेश्वराग्नि प्रज्वलित होती है, चमकती है। जातवेदाः की निरुक्तियां परमेश्वराग्नि में अधिक सुसंगत होती हैं, उस के समिद्ध हो जाने पर, प्रकट हो जाने पर, सुमति, स्वस्ति आदि सुलभ हो जाते हैं]।

काण्ड १० । सूक्त ६ । सम्पूर्ण

—:०:—

१. आध्यात्मिक अर्थ में अन्वय="अयम् आत्मा ते इध्मः", हे परमेश्वर! यह मेरी आत्मा तेरे लिये इध्म है, इस में तू प्रज्वलित हो, प्रदीप्त हो, प्रकट हो।

सूक्त ७

विषयप्रवेश

स्कम्भ[1] का वर्णन (मन्त्र १-४३)। स्कम्भ के अङ्गों की कल्पना, अङ्गों के विशिष्ट गुण (१)। स्कम्भ के अङ्गों द्वारा प्राकृतिक पदार्थों का संचालन (२,३)। अग्नि, वायु, भंवर, काल, अहोरात्र, आपः, मन, स्कम्भ प्राप्ति के लिये सचेष्ट (४-६, ३७)। प्रजापति का आधार, स्कम्भ (७)। स्कम्भ का मुख्य अङ्ग प्रकृति; पुराण (९, २५, २६)। ३३ देवताः (१३, २३, २७)। एकर्षिः, प्रथमजाः ऋषयः, ऋक्, साम, यजुः, मही [अथर्ववाणी] (१४)। समुद्र संस्थान तथा दिशाएं=रक्तनाड़ी-संस्थान, तथा ज्ञाननाड़ीसंस्थान (१५, १६, ३४)। स्कम्भ का वास्तविक स्वरूप (१७)। ब्रह्म के शिरः, चक्षुः मुख, जिह्वा, ऊधस् के वास्तविक अभिप्राय (१८, १९, ३३, ३४)। वेदोत्पत्ति स्कम्भ से (२०)। असच्छाखा, सच्छाखा प्रकृति (२१)। स्कम्भ=इन्द्र; और इन्द्र=स्कम्भ (२९, ३०)। सूर्य और उषा से पूर्व स्कम्भोपासना (३१)। सर्वाधार स्कम्भ (३५)। देवों द्वारा स्कम्भ के प्रति निज शक्तियों की भेंट (३९)। तमोगुण के निराकरण द्वारा पापों की निवृत्ति (४०)। हिरण्यय वेतस (४१)। संसार-पट का निर्माण (४२, ४३, ४४)।

—:०:—

मन्त्र १-४४। ऋषिः अथर्वा। स्कम्भाध्यात्मदेवत्यम्। त्रैष्टुभम्; १ विराड् जगती; २, ८ भुरिक्; ७, १३ पुरोष्णिक्; १०, १४, १६, १८, १९ उपरिष्टाद् बृहती; ११, १२, १५, २०, २२, ३९ उपरिष्टाज्ज्योतिर्जगती; १७ अयवसानाषट्पदाजगती; २१ बृहतीगर्भानुष्टुप्; २३-३० ३७, ४० अनुष्टुप्; ३१ मध्येज्योतिर्जगती; ३२, ३४, ३६ उपरिष्टाद् विराड् बृहती; ३३ पराविराडनुष्टुप्; ३५ चतुष्पदाजगती; ३८, ४२, ४३ त्रिष्टुप्; ४१ आर्षी त्रिपदा गायत्री; ४४ आर्च्यनुष्टुप्।

१. सबको अपने-अपने नियत स्थान में तथा व्यवस्था में बान्धनेवाला सर्वाधार ब्रह्म।

कस्मिन्नङ्गे तपो अस्याधि तिष्ठति कस्मिन्नङ्ग ऋतमस्याध्याहितम् ।
क्व व्रतं क्व श्रद्धाऽस्य तिष्ठति कस्मिन्नङ्गे सत्यमस्य प्रतिष्ठितम् ॥१॥

(अस्य) इस के (कस्मिन् अङ्गे) किस अङ्ग में (तपः) तप (अधि तिष्ठति) अधिष्ठित है, (अस्य) इस के (कस्मिन् अङ्गे) किस अङ्ग में (ऋतम्) यथार्थ नियम (अध्याहितम्) स्थापित है। (अस्य) इसके (क्व) किस अङ्ग में (व्रतम्) व्रत, (क्व) किस अङ्ग में (श्रद्धा) सत्यधारण की भावना (तिष्ठति) स्थित हैं, (अस्य) इस के (कस्मिन् अङ्गे) किस अङ्ग में (सत्यम्) सत्य (प्रतिष्ठितम्) स्थित है।

[यह स्कम्भ सूक्त है। स्कम्भ का अभिप्राय है सर्वाधार। स्कभि प्रतिबन्धे (भ्वादिः)। प्रतिबन्ध का अभिप्राय है "प्रत्येक को अपने-अपने नियत स्थान तथा नियत व्यवस्था में बान्धे रखना"। अतः बान्धने वाला परमेश्वर स्कम्भ है, सर्वाधार है।

परमेश्वर "अकाय" है (यजु० ४०।८), काया से रहित है। अतः इस के अङ्ग नहीं हैं। परन्तु वेदों और वैदिक साहित्य में परमेश्वर को पुरुष कहा है। यथा "पुरुषसूक्त" में (यजु० ३१)। तथा "पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते" (अथर्व० १०।२।१८)। "पुरुषविशेष ईश्वरः" (योग० १।२४)। तथा "पुरुषोत्तमः" (गीता)। मानुष-पुरुष और परमेश्वर-पुरुष दोनों पुरुषपद वाच्य हैं। इस साधर्म्य के कारण मानुष-पुरुष के अङ्गों का आरोप परमेश्वर-पुरुष में हुआ है। मानुष-पुरुष के भिन्न-भिन्न अङ्गों का सम्बन्ध भिन्न-भिन्न कार्यों के साथ है। नासिका द्वारा प्राणवायु प्रवाहित होती है। चक्षु से चक्षु की किरणें या ज्योति, हृदय से रक्त, गुर्दों तथा मूत्राशय से मूत्र, लिङ्ग से वीर्य प्रवाहित होता है। इसी प्रकार मस्तिष्क में ऋत, श्रद्धा, व्रतनिष्ठता, सत्य-विचार आदि की स्थिति है। अतः परमेश्वर-पुरुष में अङ्गों का आरोप कर, उस के किस-किस अङ्ग से क्या क्या कार्य हो रहा हैं, इस प्रकार के प्रश्न मन्त्रों में किये गए हैं। परन्तु उन अङ्गों का कथन इन मन्त्रों में नहीं हुआ जिन से कि ये कार्य हो रहे हैं। परमेश्वर के अङ्ग हैं नहीं, अतः उन का कथन भी नहीं हुआ। अथवा अङ्ग का अभिप्राय है भिन्न-भिन्न सामर्थ्य। यजुर्वेद (४०।१०-१३) में परमेश्वर पुरुष के मुखादि अङ्गों का कथन हुआ है परन्तु "व्यकल्पयन्" और "अकल्पयन्" (१०, १३) द्वारा यह केवल कल्पना मात्र ही है। अथवा ये अङ्ग हैं भिन्न-भिन्न सामर्थ्य, क्लृपू सामर्थ्ये (भ्वादिः)]।

कस्मादङ्गाद् दीप्यते अग्निरस्य कस्मादङ्गात् पवते मातरिश्वा ।
कस्मादङ्गाद् वि मिमीतेऽधि चन्द्रमा मह: स्कम्भस्य मिमानो अङ्गम् ॥२॥

(अस्य) इसके (कस्मात् अङ्गात्) किस अङ्ग या सामर्थ्य से (अग्निः दीप्यते) अग्नि प्रदीप्त होती है, (कस्मात् अङ्गात्) किस अङ्ग या सामर्थ्य से (मातरिश्वा) अन्तरिक्षस्थ वायु (पवते) गति करती है। (कस्मात् अङ्गात्) किस अङ्ग या सामर्थ्य से (चन्द्रमाः) चन्द्रमा (अधि विमिमीते) मापता है, (महः स्कम्भस्य) महा-स्कम्भ के (मिमानः अङ्गम्) अङ्ग या सामर्थ्य को मापता हुआ।

[चन्द्रमा पश्चिम दिशा से उदित होता है, और प्रतिरात्रि पूर्वदिशा की ओर क्रमशः बढ़ता जाता है, मानो वह क्रमशः आगे-आगे बढ़ता हुआ स्कम्भ की महत्ता को मापता है। "मातरिश्वा = मातरि अन्तरिक्षे श्वसिति, मातरि आश्वनितीति वा, वायुः" (निरुक्त ७।७।२६), मातरिश्वा वायु है, जो कि मातृरूप अन्तरिक्ष में श्वास-प्रश्वास की क्रिया कर रही है, या श्वास-प्रश्वास कराती है, अथवा मातृरूप अन्तरिक्ष में "आशु" शीघ्र, "अनिति" प्राणप्रदा हो रही है "अन् प्राणने" (अदादिः)। अथवा मातरिश्वा = मातरि + श्वा (श्वि = टुओश्वि गतिवृद्धयोः, भ्वादिः), जो अन्तरिक्ष में गति करती है, और प्रवृद्ध होती है वह, वायु। अन्तरिक्ष को माता कहा है, क्योंकि अन्तरिक्ष में मेघ आदि का निर्माण होता है]।

कस्मिन्नङ्गे तिष्ठति भूमिरस्य कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्यन्तरिक्षम् ।
कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्याहिता द्यौः कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्युत्तरं दिवः ॥३॥

(अस्य) इस के (कस्मिन् अङ्गे) किस अङ्ग या सामर्थ्य में (भूमिः तिष्ठति) भूमि स्थित है, (कस्मिन् अङ्गे) किस अङ्ग या सामर्थ्य में (अन्तरिक्षम् तिष्ठति) अन्तरिक्ष स्थित है। (कस्मिन् अङ्गे) किस अङ्ग या सामर्थ में (आहिता द्यौः) जड़ा हुआ द्युलोक (तिष्ठति) स्थित है, (कस्मिन् अङ्गे) किस अङ्ग या सामर्थ्य में (दिवः) द्युलोक से (उत्तरम्) ऊपर का भाग (तिष्ठति) स्थित है[1]।

---

१. भूमि आदि आकाश में निराधार कैसे स्थित हैं—अतः आश्चर्य में प्रश्न-कर्ता, निज मन में प्रश्न करता है।

[उत्तरम्=“येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा, येन स्वः स्तभितं येन नाकः। यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः, कस्मै देवाय हविषा विधेम” (यजु० ३२।६) में द्यौः, पृथिवी, स्वः, नाकः, अन्तरिक्षम्—ये ५ लोक कहे हैं। “दिवः उत्तरम्” में “उत्तरम्” द्वारा “स्वः और नाकः” प्रतीत होते हैं। नाकः में “साध्यदेव” वास करते हैं (यजु० ३१।१६)]।

क्व॑ प्रेप्स॑न् दीप्यत ऊ॒र्ध्वो अ॒ग्निः क्व॑ प्रेप्स॑न् पवते मा॒तरि॑श्वा।
यत्र॒ प्रेप्स॑न्तीरभि॒यन्त्या॒वृतः॑ स्क॒म्भं तं ब्रू॑हि कत॒मः स्वि॑दे॒व सः ॥४॥

(क्व) कहां (प्रेप्सन्) जाना चाहती हुई (अग्निः) अग्नि (ऊर्ध्वः) ऊपर उठी ज्वाला में (दीप्यते) प्रदीप्त होती है, जलती है, (क्व) कहां (प्रेप्सन्) जाना चाहती हुई (मातरिश्वा) वायु (पवते) बहती है। (यत्र) जहां (प्रेप्सन्तीः) जाना चाहते हुए (आवृतः) जलभंवर (अभि यन्ति) घूमते हुए जाते हैं, (तम्) उसे (स्कम्भम् ब्रूहि) [हे प्रश्न करने वाले!] तू स्कम्भ कह। (सः) वह (कतमः स्विद् एव) अतिशय सुखस्वरूप ही है, [उस में दुःख का लेश भी नहीं] वह आनन्दरूप है।

[मातरिश्वा, देखो मन्त्र (२)। कतमः स्विद्=अथवा “वह कौन सा ही है? उसे स्कम्भ कह”]।

क्वा॒र्धमा॒साः क्व॑ यन्ति॒ मासाः॑ संवत्स॒रेण॑ स॒ह सं॑विदा॒नाः।
यत्र॒ यन्त्यृ॒तवो॒ यत्रा॑र्त॒वाः स्क॒म्भं तं ब्रू॑हि कत॒मः स्वि॑दे॒व सः ॥५॥

(संवत्सरेण सह) संवत्सर के साथ (सं विदानाः) ऐकमत्य को प्राप्त हुए (अर्धमासाः) आधेमास (क्व) कहां, (मासाः) और मास (क्व) कहां (यन्ति) जा रहे हैं। (यत्र) जहां (ऋतवः) ऋतुएं,(यत्र) जहां (आर्तवाः) ऋतुसमूह (यन्ति) जा रहे हैं (स्कम्भम् तम् ब्रूहि, कतमः स्विद् एव सः) अर्थ देखो (मन्त्र ४)।

[आर्तवाः=ऋतु समूह अर्थात् उत्तरायण तथा दक्षिणायन के दो “मास-षट्क”। मासों का वर्णन मन्त्र के पूर्वार्ध में हो चुका है]।

क्व॑ प्रेप्स॑न्ती युव॒ती विरू॑पे अहोरा॒त्रे द्र॑वतः संवि॑दा॒ने।
यत्र॒ प्रेप्स॑न्तीरभि॒यन्त्यापः॑ स्क॒म्भं तं ब्रू॑हि कत॒मः स्वि॑दे॒व सः ॥६॥

(युवती) युवा (विरूपे) भिन्न-भिन्न रूपों वाले (अहोरात्रे) दिन-रात (सं विदाने) ऐकमत्य को प्राप्त हुए अर्थात् परस्पर मिले हुए (क्व) कहां (प्रेप्सन्तीः) जाने की इच्छा वाले (द्रवतः) गति कर रहे हैं, दौड़ रहे हैं। (यत्र) जहां (प्रेप्सन्तीः) जाना चाहते हुए (आपः) जल (अभियन्ति) जा रहे हैं (स्कम्भम् तम् ब्रूहि कतमः स्विद् एव सः) अर्थ देखो (मन्त्र ४)।

[दिन-रात सदा युवा हैं, सृष्टि के आरम्भ से गति कर रहे हैं, थकावट अनुभव नहीं करते, अतः सदा युवा हैं। इन में दिन तो शुक्ल है और रात्रि कृष्णवर्णा है, अतः ये विरूप हैं। आपः=नदियों, स्रोतों के जल, सामुद्रिक लहरों के जल, वाष्पीभूत और मेघीय तथा वर्षा के जल]।

यस्मि॑न्त्स्त॒ब्ध्वा प्र॒जाप॑तिर्लो॒कान्त्सर्वाँ॒ अधा॑रयत्।
स्क॒म्भं तं ब्रू॑हि कत॒मः स्वि॑दे॒व सः ॥७॥

(यस्मिन्) जिस में (स्तब्ध्वा) टिक कर (प्रजापतिः) प्रजाओं का पति, (सर्वान् लोकान्) सब लोकों को (अधारयत्) धारण कर रहा है (स्कम्भम्, तम्, ब्रूहि, कतमः स्विद्, एव, सः) अर्थ देखो (मन्त्र ४)।

[स्कम्भः, प्रजापतिः=स्कम्भ महाशक्ति है, सर्वोपरि शक्ति है (मन्त्र २)। यह समग्रजगत्, प्रकृति, और जीवात्माओं को अपने-अपने कार्यों में बद्ध किये हुए है, (स्कभि प्रतिबन्धे, भ्वादिः)। प्रजापति है वही स्कम्भ, जबकि वह सर्जन काल में प्रजोत्पन्न करता और उस का धारण करता है]।

यत् पर॒मम॑व॒मं यच्च॑ मध्य॒मं प्र॒जाप॑तिः ससृ॒जे वि॒श्वरू॑पम्।
किय॑ता स्क॒म्भः प्र वि॑वेश॒ तत्र॒ यन्न प्रावि॑श॒त् किय॒त् तद् ब॑भूव ॥८॥

(यत्) जो (परमम्) अति दूर, (अवमम्) नीचे, (यत् च) और जो (मध्यमम्) मध्यस्थान में (विश्वरूपम्) नानारूप [जगत्] (प्रजापतिः ससृजे) प्रजाओं के पति ने सृष्ट किया है, रचा है, (तत्र) उसमें (कियता) कितने परिमाण से (स्कम्भः प्रविवेश) स्कम्भ प्रविष्ट हुआ है, (यत् न) जितने में नहीं (प्राविशत्) प्रविष्ट हुआ (तद्) वह (कियत् बभूव) कितना है।

[यजुर्वेद में कहा है कि “पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि” (३१।३), अर्थात् सब भूत-भौतिक जगत्, उस चतुष्पात् पुरुष का एकपाद

मात्र है, त्रिपाद् रूप में वह निज द्योतमानरूप में विद्यमान रहता है, जिस का कि मरण धर्मा जगत् के साथ सम्बन्ध नहीं होता । यह अमृतरूप है] ।

कियता स्कुम्भः प्र विवेश भूतं कियद् भविष्यदुन्वाशयेऽस्य ।
एकं यदङ्गमकृणोत् सहस्रधा कियता स्कुम्भः प्र विवेश तत्र ॥९॥

(कियता) कितने अंश से (स्कम्भः, भूतम्, प्रविवेश) स्कम्भ ने "पूर्व-भूत" जगत् में प्रवेश किया, (अस्य) इस स्कम्भ का (कियत्) कितना अंश (भविष्यत्) भावी जगत् के लिये (अन्वाशये) शयन किये रहता है। (यद् एकम्, अङ्गम्) जिस एक अङ्ग [प्रकृति] को (सहस्रधा) हजारों प्रकार में [स्कम्भ ने] (अकृणोत्) विभक्त किया, (तत्र) उसमें (स्कम्भः) स्कम्भ (कियता) कितने अंश से (प्र विवेश) प्रविष्ट हुआ ।

[मन्त्र में पूर्वभूत जगत् तथा भावी जगत् का, तथा प्रलय में प्रकृति का वर्णन हुआ है । भावी जगत् के उत्पादन में स्कम्भ में भावी जगत् का वर्णन शयनावस्था में किया है । शयन किये व्यक्ति में जाग्रत्-अवस्था के निमित्त शक्ति, शयन किये रहती है, वह अभावरूप नहीं होती । इसी प्रकार भावी जगत् की उत्पत्ति के लिये स्कम्भ में शक्ति शयन किये होती है, अभावरूप नहीं होती । इस द्वारा जगत् की उत्पत्ति, निरन्तर अर्थात् एक के पश्चात् दूसरी (अनु), सदा चलती रहती है । यह सूचित किया है ।

प्रत्येक सृष्टि "यथापूर्वमकल्पयत्" (ऋ० १०।१९०।३) के सिद्धान्त के अनुसार होती रहती है । तथा जितने काल तक एक-सृष्टि रहती है, उतने ही काल तक उस की प्रलय भी रहती है । सृष्टिकाल को "ब्राह्मदिन" और उसके प्रलयकाल को "ब्राह्मीरात्री" कहते हैं । इस दिन और रात्री का काल समान होता है ।

"पादोऽस्य विश्वा भूतानि" (यजु० ३१।३) के अनुसार, प्रत्येक पूर्वभूत या भूतपूर्व जगत् में, तथा प्रत्येक भावी जगत् में, और प्रलयावस्था की प्रकृति में, परमेश्वर अर्थात् स्कम्भ, एकपाद् रूप में ही प्रविष्ट रहता है, यह अभिप्राय मन्त्र में प्रतीत होता है । प्रकृति को मन्त्र में "अङ्ग" कहा है । शयनावस्था में, तथा जाग्रत् अवस्था में, अङ्गों का संचालन जीवात्मा की स्थिति के कारण होता है, इसी प्रकार "अङ्गरूप प्रकृति" का संचालन भी स्कम्भात्मा के अनुसार होता है, यह अङ्गपद द्वारा प्रतिपादित किया है] ।

यत्र लोकांश्च कोशांश्चापो ब्रह्म जना विदुः ।
असच्च यत्र सच्चान्तः स्कुम्भं तं ब्रूहि कतुमः स्विदेव सः ॥१०॥

(आपः जनाः) आप्त जन (यत्र) जिस में (लोकान् च) लोकों को और (कोशान् च) कोशों को, (ब्रह्म) तथा अन्न को (विदुः) जानते हैं, (यत्र अन्तः) जिस के भीतर (असत् च) अनभिव्यक्तावस्था की प्रकृति को या सूक्ष्म जगत् को, (सत् च) और अभिव्यक्त स्थूल जगत् को [जानते हैं] (तम्) उसे तू (स्कम्भम्) स्कम्भ (ब्रूहि) कह, (कतमः स्विद् एव सः) अर्थ देखो (मन्त्र ४) ।

["आपः" प्रथमा विभक्ति में है, अतः "जनाः" का विशेषण है । "ब्रह्म अन्ननाम" (निघं० २।७) । लोकान्=पृथिव्यादि लोक । कोशान्=इन लोकों के आवरक, जैसे कि पृथिवी का आवरक है वायुमण्डल । ब्रह्म अथवा वेद, ब्रह्मवेद (अथर्ववेद), या ब्रह्माण्ड] ।

यत्र तपः पराक्रम्य व्रतं धारयत्युत्तरम् ।
ऋतं च यत्र श्रद्धा चापो ब्रह्म समाहिताः स्कुम्भं तं ब्रूहि कतुमः स्विदेव सः ॥११॥

(यत्र) जिसमें (तपः) तप (पराक्रम्य) पराक्रम करके (उत्तरम्) उत्कृष्ट (व्रतम्) व्रत को (धारयति) धारण करता है, (यत्र) जिसमें (ऋतम् च) नियम और (श्रद्धा) सत्य धारण करने की प्रवृत्ति, (आपः) जल [आप्त जन (मन्त्र १०) या व्याप्त प्रकृति] तथा (ब्रह्म) अन्न (समाहिताः) इकट्ठे होकर स्थित हैं (तम्) उसे (स्कम्भम्) स्कम्भ (ब्रूहि) तू कह (कतमः, स्विद्, एव सः) अर्थ देखो मन्त्र (४) ।

[अभिप्राय यह है कि "तपोमय जीवन के बिना उत्कृष्ट व्रतों का पालन नहीं हो सकता"] ।

यस्मिन् भूमिरुन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता ।
यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्यो वातुस्तिष्ठन्त्यार्पिताः स्कुम्भं तं ब्रूहि कतुमः स्विदेव सः ॥१२॥

(यस्मिन्) जिसमें (भूमिः, अन्तरिक्षम्) भूमि, अन्तरिक्ष (यस्मिन्-

अधि) जिस में (द्यौः) द्युलोक (आहिता) स्थित है (यत्र) जिसमें (अग्निः चन्द्रमाः, सूर्यः, वातः) अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, वायु (आर्पिताः) समर्पित हुए (तिष्ठन्ति) स्थित हैं (तम् स्कम्भम् ब्रूहि) उसे तू स्कम्भ कह (कतमः स्वित्, एव, सः) अर्थ देखो मन्त्र (४)।

[मानो भूमि आदि ने स्कम्भ के प्रति अपने-आप को समर्पित किया हुआ है, इस लिये उस के निर्देश में ये सब चल रहे हैं]।

यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा अङ्गे सर्वे समाहिताः ।
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥१३॥

(यस्य अङ्गे) जिस के अङ्ग में (सर्वे) सब (त्रयस्त्रिंशत् देवाः) ३३ देव (समाहिताः) इकट्ठे हो कर स्थित हैं (तम्) उसे (स्कम्भम् ब्रूहि) तू स्कम्भ कह (कतमः, स्वित् एव सः) अर्थ देखो मन्त्र (४)।

[३३ देवताओं के सम्बन्ध में कहा है कि इन्हें "एके" कोई ही ब्रह्मवेत्ता जानते हैं (अथर्व० ७।२७)। यजुर्वेद ७।१९ में कहा है कि "देवा दिवि एकादश स्थ, पृथिव्याम् एकादश स्थ, अप्सुक्षितः एकादश स्थ"। इस से ज्ञात होता है कि ३३ देवताओं में ११ तो द्युलोकस्थ हैं, ११ पृथिवीस्थ हैं, और ११ अप्सु अर्थात् अन्तरिक्ष में स्थित हैं। "आपः अन्तरिक्षनाम" (निघं० १।३)। बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा है कि "कतमे ते त्रयस्त्रिंशदिति, अष्टौ वसवः, एकादश रुद्राः, द्वादशादित्याः, ते एकत्रिंशत्, इन्द्रश्च प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंशौ इति" (अध्याय ३, ब्राह्मण ९, काण्डिका ३)। अर्थात् ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, १ इन्द्र, १ प्रजापति—ये ३३ देव हैं। सम्भवतः रुद्र से विद्युत्, और प्रजापति से मेघ अभिप्रेत हो। क्योंकि ३३ देवों को प्रकृतिजन्य कहा है (अङ्गे गात्रा) (अथर्व० ७।२७)]।

यत्र ऋषयः प्रथमजा ऋचः साम यजुर्मही ।
एकर्षिर्यस्मिन्नार्पितः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥१४॥

(यत्र) जिस में (प्रथमजाः ऋषयः) प्रथमोत्पन्न ऋषि, तथा (ऋचः, साम, यजुः, मही) ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, और मही अर्थात् महती अथर्ववेद वाणी [समाहिताः] (मन्त्र १३) समाहित हैं, सम्यक्रूप में स्थित रहते हैं,

तथा (यस्मिन्) जिस में (एकर्षिः) प्रधान[1]—ऋषि अर्थात् अथर्वा (आर्पितः) समर्पित है, (तम्) उसे (स्कम्भम्) स्कम्भ (ब्रूहि) तू कह, (कतमः, स्वित्, एव, सः) अर्थ देखो (मन्त्र ४)।

[ऋषयः=सम्भवतः चार ऋषि, जिन के द्वारा चार वेद प्रकट हुए। ये चार मानस पुरुष थे। समग्र ७ वें सूत्र का द्रष्टा ऋषि है "अथर्वा", अतः सम्भवतः एकर्षि द्वारा "अथर्वा" ऋषि ही अभिप्रेत हो। अथर्ववेद "अथर्वा" द्वारा प्रकट हुआ हो, अतः अथर्वा[2] को एकर्षि कहा है]।

यत्रामृतं च मृत्युश्च पुरुषेऽधि समाहिते ।
समुद्रो यस्य नाड्यः पुरुषेऽधि समाहिताः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥१५॥

(यत्र पुरुषे, अधि) जिस परमेश्वर-पुरुष में (अमृतम्, च) मोक्ष और (मृत्युः च) जन्म-मरण की व्यवस्था (समाहिते) स्थित है, (समुद्रः) [नदियों समेत] समुद्र (यस्य) जिस का (नाड्यः) नाडीसंस्थान है, जो कि (पुरुषे अधि) परमेश्वर पुरुष में (समाहिताः) स्थित है, (तम्) उसे (स्कम्भम्) स्कम्भ (ब्रूहि) तू कह। (कतमः स्वित्, एव, सः) अर्थ देखो (मन्त्र ४)।

[पुरुषे=परमेश्वर-पुरुष, जो कि ब्रह्मपुर में निवास करता है, (अथर्व० १०।२।२८)। परमेश्वर-पुरुष अमृतत्व अर्थात् मोक्ष का भी ईशान है, यथा "उतामृतत्वस्येशानः" (यजु० ३१।२)। नाड्यः=नाडीसंस्थान अर्थात् मानुष-शरीरस्थ रक्त-वाहिनी नाडियां। वेद में हृदय को 'समुद्र" भी कहते

---

१. एकोऽन्यार्थे प्रधाने च प्रथमे केवले तथा। साधारणे समानेऽल्पे संख्यायां च प्रयुज्यते। अथर्वा को 'प्रधान' इसलिये कहा है कि एतत्सम्बन्धी अथर्ववेद में जितनी विद्याओं का वर्णन है उतनी विद्याओं का वर्णन अन्य तीन वेदों में नहीं है।

२. मन्त्रों में अथर्वा-ऋषि के कथन से वेद में ऐतिहासिक वर्णन नहीं जानना चाहिये। वेदाविर्भाव के साथ जिन "प्रथमजाः ऋषयः" का वर्णन हुआ है, प्रत्येक सृष्टि में इन्हीं चार ऋषियों द्वारा वेदाविर्भाव होता रहता है। अतः ये ऋषि नित्य-ऋषि हैं। ये मानुष-पुत्र नहीं, जिन का कि सम्बन्ध इतिहास के साथ होता है।

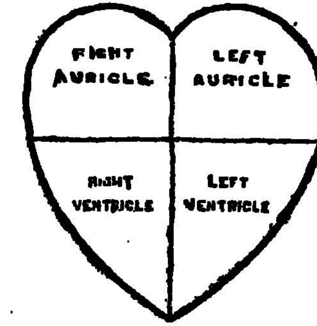
हैं । अतः "समुद्रः" में एक वचन, और "नाड्यः" में बहुवचन के प्रयोगों द्वारा हृदय-और रक्तवाहिनी-नाड़ियां अभिप्रेत हैं । पृथिवीस्थ समुद्र-और-नदियां, मानुष-शरीरस्थ हृदय-और-नाड़ियां रूप कही हैं । स्कम्भ को पुरुष कहा है । अतः पृथिवीस्थ समुद्र-और नदियों को, मानुष-पुरुष स्थित समुद्र-और नाड़ियां रूप कहा है] ।

यस्य चतस्रः प्रदिशो नाड्य१स्तिष्ठन्ति प्रथमाः ।
यज्ञो यत्र पराक्रान्त स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥१६॥

(यस्य) जिस की (चतस्रः प्रदिशः) चार दिशाएं (प्रथमाः) [चार] मुख्य (नाड्यः) नाडी रूप में (तिष्ठन्ति) स्थित हैं । (यत्र) जिसमें (यज्ञः) यज्ञ ने (पराक्रान्तः) निज पराक्रम किया है, (तम्, स्कम्भम्, ब्रूहि) उसे स्कम्भ तू कह (कतमः, स्वित्, एव, सः) अर्थ देखो (मन्त्र ४) ।

[मानुष शरीरस्थ चार मुख्य नाड़ियां, मानुष-हृदय सम्बन्धी हैं । हृदय के चार कोष्ठक होते हैं, (१) Ri ht auricle, (२) ight ventri-ale, (३) Left auricle, (४) Left ventricl. । Right auricles में शरीर की सिराओं का गन्दा रक्त आता है । यह दो सिराओं द्वारा आता है, जिन्हें कि Superior vena cava तथा Inferior vena cava कहते हैं । शरीर के अधोभाग से गन्दा रक्त, Inferior vena cava में इकठ्ठा होकर Right auricle में आ गिरता है । शरीर के ऊपर के भाग से भी गन्दा रक्त, Superior vena cava में इकठ्ठा हो कर Right auri-cle में आ गिरता है । Right auricle जब गन्दे रक्त से भर जाता है तब यहां से गन्दा रक्त Right ventricle में जाता है । इसके भर जाने पर नाडी द्वारा गन्दारक्त फेफड़ों में जाता है । फेफड़ों में शुद्ध हो कर शुद्धरक्त अन्य एक नाड़ी द्वारा Left auricle में आता है । यहां से शुद्धरक्त Left Ventricle में जाता है । यहां से शुद्धरक्त Aort. मुख्य नाडी द्वारा समग्र शरीर में जाता है । इस प्रकार हृदय में चार मुख्य नाडियां होती हैं, (१) Superior vena cava, (२) Inferior vena cava; (३) गन्दे रक्त को फेफड़ों में भेजने वाली नाड़ी Pulmonary Artery, (४) शुद्ध रक्त को हृदय में लाने वाली नाड़ी Tulmonory vein । ये चार नाडियां मुख्य नाडियां हैं जोकि "चतस्रः प्रदिशः" की प्रतिरूपिणी हैं] ।

हृदय के चार कोष्ठकों का कृत्रिम चित्र—



ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम् ।
यो वेद परमेष्ठिनं यश्च वेद प्रजापतिम् ।
ज्येष्ठं ये ब्राह्मणं विदुस्ते स्कम्भमनु संविदुः ॥१७॥

(ये) जो (पुरुषे) पुरी में शयन करने वाले जीवात्मा में (ब्रह्म विदुः) ब्रह्म को जानते हैं, (ते) वे (परमेष्ठिनम्, विदुः) परमेश्वर के परमेष्ठी-स्वरूप को जानते हैं । (यः) जो (परमेष्ठिनम्, वेद) उस के परमेष्ठी स्वरूप को जानता है (यः च) और जो (प्रजापतिम् वेद) उस के प्रजापति स्वरूप को जानता है, तथा (ये) जो (ब्राह्मणम्) ब्रह्मवेद [अथर्ववेद] द्वारा प्रतिपादित उसके (ज्येष्ठम्) सर्वज्येष्ठ स्वरूप को (विदुः) जानते हैं, (ते) वे (अनु) तत्पश्चात् (स्कम्भम्) स्कम्भ को (संविदुः) सम्यक् रूप में जानते हैं ।

[प्रकृति-और-पुरुष-[जीवात्मा] में, परम है पुरुष [जीवात्मा], इस परम-पुरुष में स्थित परमेश्वर परमेष्ठी नाम वाला है । तथा प्रकृति में स्थित हुआ परमेश्वर जब प्रकृतिजन्य प्रजा का स्रष्टा होता है तब वह प्रजापति-स्वरूप है । परमेष्ठी, प्रजापति तथा साथ ही उस को सबसे ज्येष्ठ जानना—इन तीन स्वरूपों से विशिष्ट परमेश्वर स्कम्भ है, स्कम्भपद वाच्य है । ब्राह्मणम् = अथवा "ब्रह्म", स्वार्थे "अण् प्रत्ययः"] ।

यस्य शिरो वैश्वानरश्चक्षुरङ्गिरसोऽभवन् ।
अङ्गानि यस्य यातवः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥१८॥

(वैश्वानरः) सूर्य (यस्य) जिस का (शिरः) सिर है, (अङ्गिरसः) तथा सूर्य की रश्मियां (चक्षुः) आंख की रश्मियां (अभवन्) हुई हैं। (यातवः) द्युलोक के गतिमान् चन्द्र, नक्षत्र, तारा आदि (यस्य) जिस के (अङ्गानि) अंग हैं, (तम्) उसे (स्कम्भम्) स्कम्भ (ब्रूहि) तू कह, (कतमः, स्वित्, एव, सः) अर्थ देखो (मन्त्र ४)।

[यातवः (अथर्व० १३। सूक्त ४। पर्याय ३। मन्त्र ६ (२७)। परमेश्वर को पुरुष कल्पित कर के उस के अङ्गों की कल्पना की गई है, यह जताने के लिये कि जैसे मानुष-पुरुष के अङ्गों में प्रेरणा जीवात्मा द्वारा होती है, वैसे ब्रह्माण्ड में भी प्रेरणा महानात्मा द्वारा हो रही है]।

यस्य ब्रह्म मुखमाहुर्जिह्वां मधुकशामुत ।
विराजमूधो यस्याहु स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥१९॥

(यस्य मुखम्) जिसका मुख (ब्रह्म) ब्रह्मवेद है, अथर्ववेद है, (आहुः) ऐसा कहते हैं, (उत) और (मधुकशाम्) वेदत्रयीरूप मधुर वेदवाणी (जिह्वाम्) जिह्वा है, ऐसा कहते हैं। (विराजम्) प्रकृति को (यस्य) जिस का (ऊधः) ऊधः अर्थात् दुग्धाधार अङ्ग (आहुः) कहते हैं, (तम्) उसे (स्कम्भम्) स्कम्भ (ब्रूहि) तू कह, (कतमः, स्वित्, एव, सः) अर्थ देखो (मन्त्र ४)।

[मधुकशा=मधु+कशा ("कशा वाङ्नाम" निघं० १।११)। ऊधः =udder । "वहति यत् इति ऊधः, गवादेर्दुग्धस्थानं वा" (उणा० ४।१९४, महर्षि दयानन्द), यह ऊधः दुग्ध का वहन करता है। शब्दोच्चारण में मुखस्थ तालु आदि अवयवों और जिह्वा का परस्पर सम्बन्ध अविनाभावेन होता है, इसी प्रकार यज्ञनिष्पत्ति आदि में ब्रह्मवेद और शेष तीन वेदों का भी परस्पर सम्बन्ध अविनाभावेन है, यह मन्त्र द्वारा दर्शाया गया है। इसी भाव के द्योतन के लिये (मन्त्र १४) में, ऋचः, साम, यजुः, और मही (महती वाणी अथर्ववेद) इन चारों का इकठ्ठा वर्णन हुआ है। मन्त्र (१४) में "यत्र ऋषयः प्रमथजाः" इस बहुवचन द्वारा तीन ऋषियों का, और चौथे ऋषि का वर्णन "एकर्षि" पद द्वारा हुआ है, और इन चार ऋषियों के साथ ही इन द्वारा आविर्भूत चार वेदों का भी कथन हुआ है। प्रकृति है विराज्-रूपी-गौः। इस से परमेश्वर ने जगत् रूपी दूध दोहा है]।

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन् ।
सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखं स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥२०॥

(यस्मात्) जिस परमेश्वर से [ऋषियों ने] (ऋचः) ऋचाओं [ऋग्वेद] को (अपातक्षन्) प्राप्त किया, (यस्मात्) जिस परमेश्वर से (यजुः) यजुर्वेद को (अपाकषन्) प्राप्त किया। (सामानि) सामवेद के मन्त्र (यस्य) जिस परमेश्वर के (लोमानि) लोम सदृश हैं। (अथर्वाङ्गिरसः) अङ्गों के तथा ओषधियों के रसों का वर्णन करने वाला अथर्ववेद (मुखम्) जिस का मुखवत् मुख्य है (तम्) उसे (स्कम्भम्) स्कम्भ (ब्रूहि) तू कह, (कतमः स्वित् एव सः) अर्थ देखो (मन्त्र ४)।

[अपातक्षन्=इस क्रियापद में तक्षण का कथन हुआ है। तक्षा अर्थात् तर्खान तक्षण द्वारा काष्ठ से अभीष्ट वस्तु को प्राप्त करता है इसी प्रकार ऋषि या तपस्वी तपश्चर्या आदि द्वारा, परमेश्वर से ऋग्वेद को प्राप्त करते हैं।

अपाकषन्=इस क्रियापद में "कष" धातु है जिस का अर्थ है "हिंसा" (भ्वादिः)। ऋषि या तपस्वी, निज एषणाओं का क्षय कर के, यजुर्वेद को परमेश्वर से प्राप्त करते हैं। यजुर्वेद काम्य कर्मकाण्ड का वर्णन कर, ४० वें अध्याय में अध्यात्म तत्त्वों का वर्णन करता है। ऋषि या तपस्वी, अध्यात्म जीवन में, निज एषणाओं का क्षय (कष् हिंसायाम्) कर यजुर्वेद को प्राप्त करते हैं। सामवेद भक्तिगानों का वर्णन करता है, जिन गानों द्वारा प्रायः लोमहर्षण हो जाता है। अतः सामों को लोमानि कहा है। अथर्ववेद में नाना ऐहिक तथा पारलौकिक विषयों का अधिक वर्णन है इसलिये इसे मुख अर्थात् मुख्यवेद कहा है। अङ्गिराः—अङ्गानां रसः (बृहद० उप० १।३।१९)]।

असच्छाखां प्रतिष्ठन्तीं परममिव जना विदुः ।
उतो सन्मन्यन्तेऽवरे ये ते शाखामुपासते ॥२१॥

(असत्-शाखाम्) शाखाविहीन अर्थात् उत्पत्तिरहित, (प्रतिष्ठन्तीम्) तथा कार्योत्पादनमुखी हो कर प्रस्थान अर्थात् क्रिया करने वाली प्रकृति को (जनाः) कई लोग (परमम्, इव) परम-तत्त्व के सदृश (विदुः) जानते हैं। (उतो) और (ये) जो (अवरे) अवरकोटि के जन हैं, (ते) वे (सत्)

अभिव्यक्त-जगत् को परम-तत्त्व (मन्यन्ते) मानते हैं, और (शाखाम्) प्रकृति की शाखाओं की (उपासते) उपासना करते हैं।

[प्रकृति की दो अवस्थाएं हैं, (१) प्रकृत्यवस्था, अर्थात् साम्यावस्था। (२) और विकृत्यवस्था अर्थात् विषमावस्था। प्रकृत्यवस्था में प्रकृतिरूप-बीज न अंकुरित होता, और न शाखाओं वाला होता है। वैज्ञानिक इस प्रकृति को ही "स्वतः परिणामशीला" मानते हैं, और कहते हैं कि प्रकृति, किसी ज्ञानी-प्रेरक के विना ही स्वयमेव विविध-जगत् के रूप में, अर्थात् विषमावस्था में परिणत हुई है। वे प्रकृति को ही परम-तत्त्व के सदृश मानते हैं। परन्तु उन वैज्ञानिकों की अपेक्षा जो अवरकोटि के लोग हैं वे अभिव्यक्त जगत् को परम-तत्त्व मान कर, प्रकृति की शाखाओं की ही उपासना करते रहते हैं। चान्द, सूर्य, मूर्ति आदि अभिव्यक्त पदार्थ शाखारूप हैं, वे इन शाखाओं की उपासना में मस्त रहते हैं]।

यत्रादित्याश्च रुद्राश्च वसवश्च समाहिताः।
भूतं च यत्र भव्यं च सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिताः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥२२॥

(यत्र) जिस में (आदित्याः च, रुद्राः च, वसवः च) आदित्य, रुद्र, और वसु, (समाहिताः) स्थित हैं, (भूतम् च, भव्यं च) भूत और भावी जगत् (सर्वे लोकाः) तथा सब लोक (प्रतिष्ठिताः) स्थित हैं, (तम्) उसे (स्कम्भम्) स्कम्भ (ब्रूहि) तू कह, (कतमः, स्वित्, एव सः) देखो अर्थ (मन्त्र ४)।

[व्याख्या के लिये देखो (मन्त्र १३)]।

यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा निधिं रक्षन्ति सर्वदा।
निधिं तमद्य को वेद यं देवा अभिरक्षथ ॥२३॥

(त्रयस्त्रिंशद् देवाः) ३३ देव (यस्य निधिम्) जिस की निधि को (सर्वदा) सदा (रक्षन्ति) रक्षा करते हैं, (तम् निधिम्) उस निधि को, (अद्य) आज तक, (कः वेद) कोन जानता है (यम्) जिस निधि की (देवाः) हे देवो! (अभिरक्षथ) तुम रक्षा करते हो।

[निधि=जगत्। इस के रहस्य को कोई नहीं जानता। अथवा निधि=वेद। इस के भी रहस्य को आज तक किसी ने नहीं जाना। यथा "निधि-पाः"=वेदविद्या का रक्षक ब्रह्मचारी (निरुक्त २।२।३,४)]।

यत्र देवा ब्रह्मविदो ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते।
यो वै तान् विद्यात् प्रत्यक्षं स ब्रह्मा वेदिता स्यात् ॥२४॥

(यत्र) जहां, जिस स्थान में (ब्रह्मविदः देवाः) ब्रह्मज्ञानी या वेदज्ञानी देव (ज्येष्ठम्, ब्रह्म) ज्येष्ठ ब्रह्म की (उपासते) उपासना करते हैं, (यः) जो कोई (तान्) उन ब्रह्मज्ञानियों या वेदज्ञों को (प्रत्यक्षम्) साक्षात् (विद्यात्) प्राप्त होता है, (सः) वह (वै) वस्तुतः (ब्रह्मा) ब्रह्मा (स्यात्) हो जाता है, और (वेदिता) ब्रह्मवेत्ता हो जाता है।

[उपासते=उपासना ब्रह्म की करनी चाहिये, अन्य की नहीं (मन्त्र २१)। सम्भवतः मन्त्र २३ में कथित निधि ब्रह्मरूप निधि हो। ब्रह्मा=वदिक साहित्य में चतुर्वेदवेत्ता को ब्रह्मा कहते हैं, इस लिये "ब्रह्मविदः" का अर्थ प्रतीत होता है "वेदविदः", जिन्हें प्राप्त कर व्यक्ति चतुर्वेदविद् होकर ब्रह्मा बनता है। वेदों में ब्रह्म की ही उपासना विहित है, यथा "यस्तं न वेद किमृचा करिष्यति" (ऋ० १।१६४।३९) अतः ब्रह्मविदः अर्थात् वेदविदः —ज्येष्ठब्रह्म के उपासक कहे हैं]।

बृहन्तो नाम ते देवा येऽसतः परि जज्ञिरे।
एकं तदङ्गं स्कम्भस्यासदाहुः परो जनाः ॥२५॥

(ते देवाः) वे देव (बृहन्तः) परिमाण में बड़े होते हैं (ये) जो कि (असतः परि) अनभिव्यक्त प्रकृति से (जज्ञिरे) पैदा होते हैं। (जनाः) विद्वज्जन (स्कम्भस्य) स्कम्भ के (परः) परे के (तत् एकम् अङ्गम्) उस एक अङ्ग को (असत्) अनभिव्यक्त रूप (आहुः) कहते हैं।

[प्रकृति से जो दिव्यपदार्थ पैदा होते हैं वे परिमाणों में बड़े होते हैं। पश्चात् उन के विभाजन से अल्पाल्प परिमाणों वाले अन्य दिव्यपदार्थ पैदा होते हैं, जैसे कि प्रकृति से महत्-तत्त्व पैदा हुआ, पश्चात् विराट्-अवस्था पैदा हुई, फिर द्युलोक, तत्पश्चात् सूर्य और सूर्य से ग्रह, और ग्रहों से चन्द्रमा—ये उत्तरोत्तर अल्पाल्प परिमाणों वाले होते जाते हैं। असत् है प्रकृति, अनभिव्यक्ता प्रकृति। यह स्कम्भ का एक मुख्य अङ्ग है, उस प्रकृति से चन्द्रमा, सूर्य, अन्तरिक्ष, भूमि आदि भी अङ्गरूप प्रकट होते हैं (यजु० (३१।१०-१३,२२)। परः=प्रकृतिरूपी अङ्ग—चन्द्रमा आदि अङ्गों से उत्पत्तिकाल की अपेक्षया परस्तात् काल का है; अतिदूर काल का है]।

यत्र स्कम्भः प्रजनयन् पुराणं व्यवर्तयत् ।
एकं तदङ्गं स्कम्भस्य पुराणमनु संविदुः ॥२६॥

(यत्र) जिस सृष्टिकाल में (प्रजनयन्) जगत् को पैदा करता हुआ (स्कम्भः) स्कम्भ (पुराणम्) पुराण को (व्यवर्तयत्) विविध रूपों में वर्तमान करता है (तत् पुराणम्) उस पुराण को (जनाः, मन्त्र २५) वेदवेत्ता जन (स्कम्भस्य) स्कम्भ का (एकम् अङ्गम्) एक अङ्ग (अनु सं विदुः) आनुकूल्येन परस्पर सहमत हो कर जानते हैं।

[पुराण=पुराकाल से वर्तमान प्रकृति। मन्त्र २५ में प्रकृति को "असत्" अनभिव्यक्तावस्था में वर्तमान कहा है, और मन्त्र २६ में उसे पुराण कहा है]।

यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा अङ्गे गात्रा विभेजिरे ।
तान् वै त्रयस्त्रिंशद् देवानेके ब्रह्मविदो विदुः ॥२७॥

(त्रयस्त्रिंशद् देवाः) ३३ देवों ने (यस्य अङ्गे) जिसके अङ्ग में से (गात्रा=गात्राणि) निज गात्रों अर्थात् स्वरूपों को (विभेजिरे) विभक्त किया है, (तान्) उन (त्रयस्त्रिंशद् देवान्) ३३ देवों को (एके) केवल या कई (ब्रह्मविदः) वेदवेत्ता या ब्रह्मवेत्ता (वै) ही (विदुः) जानते हैं।

[३३ देवों के लिये देखो मन्त्र (१३)]।

हिरण्यगर्भं परममनत्युद्यं जना विदुः ।
स्कम्भस्तदग्रे प्रासिञ्चद् हिरण्यं लोके अन्तरा ॥२८॥

(जनाः) विद्वज्जन (परमम्) सर्वोच्च (हिरण्यगर्भम्) हिरण्यगर्भ को (अनत्युद्यम्) अनतिकथनीय (विदुः) जानते हैं। (स्कम्भः) स्कम्भ ने (अग्रे) पुराकाल में (लोके अन्तरा) लोक में (तत् हिरण्यम्) उस हिरण्य को (प्रासिञ्चत्) प्रकर्ष रूप में सींचा था।

[हिरण्य का अर्थ है सुवर्ण, सोना—धातु। ब्रह्माण्ड में सूर्यादि ज्योतिर्मय पदार्थ हिरण्यरूप हैं। स्कम्भ अर्थात् सर्वाधार परमेश्वर हिरण्यगर्भ हैं। क्योंकि ये सब ज्योतिर्मय सूर्यादि उस के गर्भ में विद्यमान हैं। स्कम्भ अनत्युद्य है, अनतिवदनीय है, इसके सम्बन्ध में अधिक कहा नहीं जा सकता।

अनन्त गुणकर्मों के कारण अल्पज्ञ मनुष्य इसके स्वरूप को पूर्णतया कह नहीं सकते। सृष्टि की सर्जनावस्था में, किसी समय ये हिरण्यमय अर्थात् ज्योतिर्मय सूर्यादि चमकते वायवीय रूपों में थे। शनैः शनैः ये चमकते वायवीय रूप चमकते "आपः" रूप में परिणत हुए। यह आपः रूप सर्वत्र फैला हुआ था। इसे "हिरण्यं प्रासिञ्चत्" द्वारा कथित किया है। मानो इसे स्कम्भ ने लोक में सींचा है]।

स्कम्भे लोकाः स्कम्भे तपः स्कम्भेऽध्यृतमाहितम् ।
स्कम्भ त्वा वेद प्रत्यक्षमिन्द्रे सर्वं समाहितम् ॥२९॥

(स्कम्भे) स्कम्भ में (लोकाः) लोक, (स्कम्भे तपः) स्कम्भ में तप, (स्कम्भे अधि) स्कम्भ में (ऋतम्) ऋत (आहितम्) स्थित है। (स्कम्भ) हे स्कम्भ! (त्वा) तुझे (प्रत्यक्षम् वेद) प्रत्यक्षरूप में मैं जानता हूं, (इन्द्रे) तुझ इन्द्र में (सर्वम्) सब (समाहितम्) समाया हुआ है, स्थित है।

[लोकाः=तीनों लोक। तपः=ऐश्वर्य (तप ऐश्वर्ये, दिवादिः)। ऋतम्=सांसारिक नियम। मन्त्र में स्कम्भ को इन्द्र कहा है]।

इन्द्रे लोका इन्द्रे तप इन्द्रेऽध्यृतमाहितम् ।
इन्द्रं त्वा वेद प्रत्यक्षं स्कम्भे सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥३०॥

(इन्द्रे लोकाः) इन्द्र में लोक, (इन्द्रे तपः) इन्द्र में तप, (इन्द्रे अधि) इन्द्र में (ऋतम्) ऋत (आहितम्) स्थित है। (इन्द्रम्) हे इन्द्र! (त्वा) तुझे (प्रत्यक्षम् वेद) प्रत्यक्षरूप में मैं जानता हूं, (स्कम्भे) स्कम्भ में (सर्वम्) सब (प्रतिष्ठितम्) प्रतिष्ठित है।

[इन्द्र को स्कम्भ कहा है। अभिप्राय यह कि इन्द्र और स्कम्भ पर्यायवाची हैं। इन्द्र है परमेश्वर, सर्वैश्वर्यवान्। स्कम्भ है परमेश्वर, सर्वाधार]।

नाम नाम्ना जोहवीति पुरा सूर्यात् पुरोषसः ।
यदजः प्रथमं संबभूव स ह तत् स्वराज्यमियाय यस्मान्नान्यत् परमस्ति भूतम् ॥३१॥

उपासक (नाम नाम्ना) भिन्न-भिन्न नाम द्वारा, (पुरा सूर्यात्) सूर्योदय से पहिले, (पुरा उषसः) तथा उषा के काल से पहिले, (जोहवीति) स्कम्भ का बार-बार आह्वान करता है। (यदजः) जो "अज" अर्थात् जनन-रहित-आत्मा (प्रथमम्) उपासना में, (प्रथमम्) प्रथम अर्थात् सूर्योदय और उषा से पूर्व (सम्बभूव) उपासना में उपस्थित होता है (सः) वह, (ह) निश्चय से (तत्) उस (स्वराज्यम्) स्वराज्य को (इयाय) प्राप्त हो जाता है, (यस्मात्) जिस से (अन्यत्) भिन्न (परम्) श्रेष्ठ (भूतम्) सद्वस्तु (न अस्ति) नहीं है।

[नाम नाम्ना=इन नामों में स्कम्भ और इन्द्र, इन दो नामों का कथन मन्त्र २९, ३० में हुआ है। स्वराज्यम्=जीवन पर इन्द्रियों और मन का राज्य न होकर, आत्मा का अपना-राज्य होना। जोहवीति=ह्वे ञ् स्पर्धायां शब्दे च, यङ्लुकि रूपम्]।

यस्य भूमिः प्रमाऽन्तरिक्षमुतोदरम् ।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥३२॥

(भूमिः) भूमि (यस्य) जिस का (प्रमा) यथार्थज्ञान का साधन पादस्थानी है [यजु० ३१।१३], (उत) और (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष (उदरम्) उदरस्थानी है। (यः) जिस ने (मूर्धानम्) मूर्धा को (दिवम्) द्युलोक (चक्रे) किया है, (तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे) उस सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म के लिये (नमः) नमस्कार हो।

यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः ।
अग्निं यश्चक्र आस्यं१ तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥३३॥

(सूर्यः) सूर्य (च) और (पुनर्णवः) [प्रतिमास] बार-बार नया होने वाला (चन्द्रमाः) चन्द्रमा (यस्य) जिस की (चक्षुः) आंखें हैं। (अग्निम्) अग्नि को (यः) जिस ने (आस्यम्) मुखस्थानी (चक्रे) किया है, रचा है (तस्मै) उस (ज्येष्ठाय) सर्वज्येष्ठ या सर्वोत्कृष्ट (ब्रह्मणे) ब्रह्म के लिये (नमः) नमस्कार हो।

[अग्निम्, आस्यम्=अग्नि पदार्थ को सूक्ष्मरूप में कर देती है। मुख भी भोज्य पदार्थ को चर्वित कर के उसे सूक्ष्मरूप कर देता है]।

यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरङ्गिरसोऽभवन् ।
दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥३४॥

(वातः) वायु (यस्य) जिस के (प्राणपानौ) प्राण और अपान हैं, (अङ्गिरसः) और किरणें (चक्षुः) चक्षु की किरणें (अभवन्) हुई हैं। (दिशः) दिशाओं को (यः) जिस ने (प्रज्ञानीः) ज्ञान की सूक्ष्म नाड़ी रूप (चक्रे) किया है, (तस्मै) उस (ज्येष्ठाय) सर्वोत्कृष्ट (ब्रह्मणे) ब्रह्म के लिये (नमः) नमस्कार हो।

[प्रज्ञानीः=नर्वस-सिस्टम की ज्ञानवाहिनी सूक्ष्म नाड़ियां, सूक्ष्म तन्तु। ये नाड़ियां शरीर में सर्वत्र फैली हुई हैं,जैसे कि दिशाएं सर्वत्र फैली हुई हैं]।

स्कम्भो दाधार द्यावापृथिवी उभे इमे स्कम्भो दाधारोर्व१न्तरिक्षम् ।
स्कम्भो दाधार प्रदिशः षडुर्वीः स्कम्भ इदं विश्वं भुवनमा विवेश ॥

(स्कम्भः) स्कम्भ ने (इमे) ये (उभे) दोनों (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवीलोक (दाधार) धारित किये हुए हैं, (स्कम्भः) स्कम्भ ने (उरु) विस्तृत (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष (दाधार) धारित किया हुआ है। (स्कम्भः) स्कम्भ ने (उर्वीः) फैली हुई (षट्) ६ (प्रदिशः) विस्तृत दिशाएं (दाधार) धारित की हुई हैं, (स्कम्भः) स्कम्भ (इदम्) इस (विश्वम्) सब (भुवनम्) ब्रह्माण्ड में (आ विवेश) प्रविष्ट है, व्याप्त है।

[स्कम्भः=सर्वाधार ब्रह्म। या "स्कम्भे" (चतुर्थपाद)=स्कम्भ में, यह सब भुवन प्रविष्ट हुआ-हुआ है]।

यः श्रमात् तपसो जातो लोकान्त्सर्वान्त्समानशे ।
सोमं यश्चक्रे केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥३६॥

(यः) जो (श्रमात्) परिश्रम से, (तपसः) और तपोमय जीवन से (जातः) प्रकट होता है, [जो] (सर्वान् लोकान्) सब लोकों में (समानशे) सम्यक्-व्याप्त है। (यः) जिस ने (सोमम्) चन्द्रमा को (केवलम्) सेवनीय (चक्रे) किया है, रचा है (तस्मै) उस (ज्येष्ठाय ब्रह्मणे) सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म के लिये (नमः) नमस्कार हो।

[केवलम्=केवृ सेवने (भ्वादिः)]।

कुथं वातो नेलयति कुथं न रमते मनः ।
किमापः सुत्यं प्रेप्सन्तीर्नेलयन्ति कुदाचुन ॥३७॥

(कथम्) क्यों (वातः) वायु (न इलयति) नहीं निद्रित होती, (कथम्) क्यों (मनः) मन (न रमते) आराम नहीं करता, सदा चञ्चल रहता है। (आपः) जल (किम्) किस (सत्यम्) सत्य को (प्रेप्सन्तीः) चाहते हुए (कदाचन) कभी भी (न इलयन्ति) नहीं निद्रित होते।

[इलयति=इल स्वप्ने (तुदादिः), स्वप्न=निद्रा। आपः के सम्बन्ध में "सत्यम्" के प्रयोग द्वारा यह दर्शाया है कि यह "सत्यब्रह्म" या सत्य-स्कम्भ को चाहते हुए, उस की खोज में, सदा सक्रिय रहते हैं। यह उद्देश्य वात के उन्निद्रित होने और मन के आराम न करने का भी है]।

मुहद् युक्षं भुवनस्य मध्ये तपसि क्रान्तं सलिलस्य पृष्ठे ।
तस्मिन् छ्रयन्ते य उ के च देवा वृक्षस्य स्कन्धः परित इव शाखाः ॥

(भुवनस्य) ब्रह्माण्ड के (मध्ये) मध्य में (महत् यक्षम्) महा-यक्ष विद्यमान है, (तपसि) जो कि तप में (क्रान्तम्) सब को अतिक्रान्त किये हुए है, (सलिलस्य)[1] गतिशील ब्रह्माण्ड की (पृष्ठे) पीठ पर [सवार] है। (ये उ के च देवाः) जो कोई देव अर्थात् दिव्य पदार्थ हैं वे (तस्मिन्) उस में (श्रयन्ते) आश्रय पाए हुए हैं, (इव) जैसे कि (वृक्षस्य शाखाः) वृक्ष की शाखाएं (स्कन्धः परितः) वृक्ष की धड़ के चारों ओर [आश्रय पाई हुई होती हैं]।

[यक्षम्=यक्ष पूजायाम् (चुरादिः), पूजनीय। तपसि=तप ऐश्वर्ये (दिवादिः), तथा "यस्य ज्ञानमयं तपः" (उपनिषद्)। सलिलस्य=सृ गतौ। अभिप्राय यह कि (१) स्कम्भ महापूजनीय है, (२) वह ब्रह्माण्ड के मध्य में है, ब्रह्माण्ड की केन्द्रीय शक्तिरूप है, (३) गतिशील ब्रह्माण्ड की पीठ पर सवार होकर उसे स्वशासन में चला रहा है, (४) ब्रह्माण्ड के घटक सब सूर्यादि देव उस में आश्रय पाए हुए हैं]।

१. सलिलस्य=सरिरस्य, रलयोरभेदः। सरिराः।

यस्मै हस्ताभ्यां पादाभ्यां वाचा श्रोत्रेण चक्षुषा ।
यस्मै देवाः सदा बलिं प्रयच्छन्ति विमितेऽमितं स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥३९॥

(यस्मै) जिस के प्रति (हस्ताभ्याम्) हाथों द्वारा (पादाभ्याम्) पैरों द्वारा (वाचा, श्रोत्रेण, चक्षुषा) वाणी, श्रोत्र और चक्षु द्वारा (यस्मै) जिस के प्रति (देवाः) दिव्य कोटि के लोग (सदा बलिम्) सदा भेंट (प्रयच्छन्ति) देते हैं, (विमिते अमितम्) परिमित जगत् में अपरिमित (तम्) उस को (स्कम्भम् ब्रूहि) तू स्कम्भ कह (कतमः स्वित्, एव, सः) अर्थ देखो मन्त्र (४)।

["यस्मै" दो बार पठित है, इसका अभिप्राय है कि केवल जिस स्कम्भ के लिये भेंट करते हैं अन्य किसी के लिये नहीं। देवकोटि के महान् आत्मा, निज कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों द्वारा जो कर्म करते हैं, उसे स्कम्भ के प्रति समर्पित कर, उस के फल की आकाङ्क्षा नहीं करते]।

अपु तस्यं हुतं तमो व्यावृत्तः स पाप्मना ।
सर्वाणि तस्मिन् ज्योतींषि यानि त्रीणि प्रजापतौ ॥४०॥

(तस्य) उस स्कम्भ का (तमः) अज्ञानान्धकार (अपहतम्) अपगत या विनष्ट हुआ है (सः) इसलिये वह (पाप्मना) पाप से (व्यावृत्तः) वियुक्त है, निवृत्त है (तस्मिन्) उस स्कम्भ में (सर्वाणि) सब (ज्योतींषि) ज्योतियां हैं (यानि त्रीणि) जो तीन कि (प्रजापतौ) प्रजाओं के अधिपति में हैं।

यो वेतुसं हिरण्ययं तिष्ठन्तं सलिले वेद ।
स वै गुह्यः प्रजापतिः ॥४१॥

(यः) जो स्कम्भ (वेतसम्) [पट के सदृश] बुने हुए, (हिरण्ययम्) ज्योतिर्मय जगत् को (सलिले) गति वाले ब्रह्माण्ड में (तिष्ठन्तम्) स्थित हुआ (वेद) जानता है (सः) वह (गुह्यः[1]) गुप्तस्वरूप स्कम्भ (वै) वास्तव में (प्रजापतिः) प्रजापति है।

१. स्कम्भ रूप में परमेश्वर गुह्य है और प्रजापतिरूप में वह ज्ञान स्वरूप है।

[तमः=अज्ञानान्धकार। स्कम्भ इससे वियुक्त है। अतः वह पाप से भी विमुक्त है। इसलिये यजुर्वेद में उसे अपापविद्धम् कहा है (४०।८)। उस स्कम्भ के आश्रय तीन ज्योतियां हैं (१) पार्थिव ज्योतिः अग्निः (२) अन्तरिक्षस्थ ज्योतिः विद्युत् (३) तथा द्युलोकस्थ ज्योतियां समूहरूप में। मन्त्र में स्कम्भ को ही प्रजापति अर्थात् सृष्टिकर्त्ता कहा है। सर्वाधार रूप में वह स्कम्भ है,और जगत्कर्तृत्वरूप में वह प्रजापति है। वेतसम् =बुना हुआ, "वेञ् तन्तुसन्ताने" (भ्वादिः; तथा उणा० ३।११८)। सलिले देखो (मन्त्र ३८)। मन्त्र द्वारा यह भी ध्वनित होता है कि जो व्यक्ति अज्ञानान्धकार से रहित हो जाता है वह पापकर्मों के करने से भी निवृत्त हो जाता है]।

तन्त्रमेके युवती विरूपे अभ्याक्रामं वयतः षण्मयूखम्।
प्रान्या तन्तूंस्तिरते धत्ते अन्या नाप वृञ्जाते न गमातो अन्तम् ॥४२

(एके) दो कोई (विरूपे) विरुद्धरूपों वाली (युवती) युवतियां (अभ्याक्रामम्) एक-दूसरे की ओर पादविक्षेप करती हुईं, आती हुई (षण्मयूखम्) ६ मयूखों वाले (तन्त्रम्) पट को (वयतः) बुनती हैं। (अन्या) एक (तन्तून्) तन्तुओं को (प्रतिरते) फैलाती है, (अन्या) दूसरी (धत्ते) निज में उसे धारण कर लेती है,(न अपवृञ्जाते) न तो इस कर्म से वे अलग होती हैं (न अन्तम् गमातः) और न इस कर्म की समाप्ति को प्राप्त होती हैं। षण्मयूखम्=६ खूंटे। खूंटों पर ताना तान कर पट बुना जाता है। संसारपट के बुनने में ६ दिशाएं, ६ खूंटे हैं। ६ दिशाएं =पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ध्रुवा और ऊर्ध्वा।

[ये दो युवतियां हैं सृष्टि-सर्जन शक्ति तथा सृष्टि-प्रलयन शक्ति। सर्जन-शक्ति तो संसार के सर्जन के लिये प्रकृतिरूपी तन्तुओं को फैलाती है, और प्रलयन-शक्ति इन तन्तुओं को निज स्वरूप में धारण करती रहती है। ये दोनों अर्थात् उत्पादन और विनाश जगत् में सदा चलते रहते हैं, एक-दूसरे के अभिमुख हो कर आक्रमण करते हैं। पट है संसार-पट। तैत्तिरीय ब्राह्मण (२।५।५१) में दो युवतियों को "स्वसारौ" कहा है, और "तन्त्रम्" को "सनातनम्", कहा है। इस द्वारा "तन्त्रम्" जगत अर्थात् संसार प्रतीत होता है। संसार पैदा भी होता रहता है, और इसका प्रलय भी होता रहता है—यह सनातन नियम है। उत्पत्ति और प्रलय,—ये दोनों विरूप हैं। ये दोनों "स्वसारौ" हैं, परमेश्वरीय नियम द्वारा स्वयमेव सरण करती रहती हैं, और सर्जन-प्रलय स्वभावतः सदा होते रहते हैं]।

तयोरहं परिनृत्यन्त्योरिव न वि जानामि यतरा परस्तात्।
पुमानेनद् वयत्युद्गृणत्ति पुमानेनद् वि जभाराधि नाके ॥४३॥

(परिनृत्यन्त्योः) सब ओर नृत्य करती हुई दो स्त्रियों के (इव) सदृश [नाचती हुईं] (तयोः) उन दोनों अर्थात् सर्जन और प्रलयन शक्तियों में (न विजानामि) मैं यथार्थरूप में नहीं जानता कि (यतरा) उन दोनों में से कौन सी शक्ति (परस्तात्) पहिले की है। (पुमान्) वस्तुतः परमेश्वर-पुरुष (एनत्) इस संसार-पट को (वयति) बुनता है, (उद् गृणत्ति) और वह ही इस संसार पट को निगल जाता है। (पुमान्) परमेश्वर-पुरुष ने ही (एनत्) इस बुनने और निगलने के कर्म को (नाके अधि) मोक्षस्थान में (विजभार) वर्जित कर दिया है।

[सर्जन और प्रलयन शक्तियों को जगत् के सर्जन और प्रलयन में नाचती हुई कहा है। ऋग्वेद १०।७२।६ में जगत् के सर्जन में दिव्य-शक्तियों के नाचने का वर्णन हुआ है। यथा—

अत्र वो नृत्यतामिव तीव्रो रेणुरपायत।
यद् देवा यतयो यथा भुवनान्यपिन्वत ॥

इस मन्त्र में "नृत्यतामिव" द्वारा जगत् के सर्जन में दिव्य शक्तियों के नाच का वर्णन साभिप्राय है।

न विजानामि—सर्जन और प्रलयन में कौन पूर्व का है और कौन पश्चात् का है, इस का विज्ञान अर्थात् यथार्थ ज्ञान किसी को नहीं हो सकता। सर्जन के लिये आवश्यक है कि इस से पूर्व प्रलयन विद्यमान हो और प्रलयन के लिये आवश्यक है कि इस से पूर्व कोई सर्जन हुआ हो।

पुमान् एनत्—मन्त्र (४२) के वर्णन से यह भ्रम हो सकता है कि सर्जन और प्रलयन, विना किसी नियामक चेतन-तत्त्व के,स्वतः हो रहे हैं। इसलिये मन्त्र (४३) में परमेश्वर पुरुष को स्रष्टा तथा प्रलयन कर्त्ता कहा है।

उद् गृणत्ति— गृणत्ति में "गृ" का अर्थ है निगलना।

विजभार—द्वारा यह सूचित किया है कि "नाके अर्थात् मोक्षस्थान" में सर्जन और प्रलयन क्रियाएं नहीं होतीं। मोक्ष स्थान है परमेश्वर जिसमें मुक्तात्मा विचरते हैं। यथा—

"यत्र देवाऽअमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त" (यजु० ३२।१०) अर्थात् "अमृत परमेश्वर को प्राप्त हुए देव, जिस तीसरे धाम में विचरते हैं"। तृतीय धाम है परमेश्वर। पहला धाम है प्राकृतिक जगत्। द्वितीय धाम है निज-आत्मस्वरूप। तृतीय धाम है परमेश्वर। अथवा प्रथम धाम है निज-आत्मस्वरूप। द्वितीय धाम है स्वर्ग। तृतीय धाम है नाक अर्थात् मोक्ष-स्थान, जिस के सम्बन्ध में कहा है कि "ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः"। (यजु० ३१।१६)। अर्थात् "वे परमेश्वरयाजी, महिमा सम्पन्न हुए, "नाक" को प्राप्त होते हैं, जिस नाक में पूर्व के "साध्य-देव" विद्यमान हैं"। विजभार=विजहार "हृग्रहोर्भश्छन्दसि"। विहरणम्=Removing, taking away (आप्टे)]।

इमे मयूखा उप तस्तभुर्दिवं सामानि चक्रुस्तसराणि वातवे ॥४४॥

(इमे) इन (मयूखाः) ज्ञानरश्मियों ने (दिवम्) ज्योतिर्मय नाक को (उपतस्तभुः) थामा हुआ है, इन ज्ञानरश्मियों ने (वातवे) बाना बुनने के लिये (सामानि) सामगानों को (तसराणि) वेमा (चक्रुः) किया है।

[नाक अर्थात् मोक्ष पट के लिये "ज्ञान" है ताना और उपासना है बाना और सामगान हैं तसर अर्थात् वेमा। तसर या वेमा को हिन्दी में "ढरकी" और "सर" कहते हैं। यह बुनने का उपकरण है जिस द्वारा ताना में बाना बुना जाता है, पिरोया जाता है। ज्ञान के सम्बन्ध में कहा है कि "ऋते ज्ञानात् न मुक्तिः" अर्थात् "ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती"। उपासना है "ध्येय के समीप बैठना" उप+आसना, "समीप उपविष्ट" होना। जब तक ज्ञानी ध्येय परमेश्वर के समीप बैठकर उस का साक्षात् नहीं कर लेता तब तक उसकी मुक्ति नहीं हो सकती। इस उपासना का साधन है "सामवेद के भक्तिगान"]।

काण्ड १० । सूक्त ७ । समाप्त

—:०:—

सूक्त ८

विषयप्रवेश

स्कम्भ का वर्णन (मन्त्र १-४४)। तीन गतिशील प्रजाएं और अर्क (३)। संवत्सर-चक्र के ३६० अरे spokes (४)। पञ्चवाहीपरमेश्वर (८)। तिर्यग्बिल, ऊर्ध्वबुध्न चमस, सप्तऋषयः (९)। विश्वरूप का एकरूप होना (११)। महद् यक्ष (१५)। आदित्य, अग्नि, हंस नामों वाला परमेश्वर (१७)। हंस की उड़ान १००० दिनों तक (१८)। आध्यात्मिक दो अरणियां (२०)। अपाद् और चतुष्पाद् परमेश्वर (२१)। परमेश्वर के रुचिकर होने का कारण (२४)। परमेश्वर की सूक्ष्मता (२५)। विश्वतोमुख जीवात्मा (२७, २८)। संसारवृक्ष का सिञ्चन (२९)। अविनाशक देवता =सूर्य (३१)। देव का काव्य (३२)। वेदवाणियों का उद्गम और विलयन (३३)। सूत्र और सूत्र का सूत्र (३७, ३८)। विश्वदाहक अग्नि और प्रलय (३९)। गायत्री और परमेश्वर का परस्पर सम्बन्ध (४१)। यक्षब्रह्म का पुण्डरीक में प्रत्यक्षदर्शन (४३)। परमेश्वर का स्वरूप और मृत्युभय से छुटकारा (४४)।

—:०:—

मन्त्र १-४४ कुत्सः। अध्यात्म। त्रैष्टुभम्; १ उपरिष्टाद् विराड् बृहती; २ बृहतीगर्भानुष्टुप्; ५ भुरिगनुष्टुप्; ६, १४, १९-२१, २३, २५, २९, ३१-३४, ३७, ३८, ४१, ४३ अनुष्टुप्; ७ पराबृहती; १० अनुष्टुग्गर्भा; ११ जगती; १२ पुरोबृहती त्रिष्टुग्गर्भार्षीपंक्तिः; १५, २७ भुरिग् बृहती; २२ पुर उष्णिक्; २६ द्व्यनुष्टुग्गर्भानुष्टुप्; ३० भुरिक्, ३९ बृहतीगर्भा; ४२ विराड् गायत्री।

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥१॥

(यः) जो (भूतम् च) भूतकाल के (भव्यम् च) भविष्यत् काल के जगत् का (यः च) और जो (सर्वम्) सब का (अधि तिष्ठति) अधिष्ठाता है। (यस्य, च, केवलम्, स्वः) और जो केवल सुखस्वरूप है [जिस में दुःख का लेश भी नहीं] (तस्मै) उस (ज्येष्ठाय ब्रह्मणे) सबसे बड़े तथा सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म के लिये (नमः) नमस्कार हो।

स्कम्भेनेमे विष्टभिते द्यौश्च भूमिश्च तिष्ठतः।
स्कम्भ इदं सर्वमात्मन्वद् यत् प्राणन्निमिषच्च यत् ॥२॥

(इमे) ये (द्यौः च, भूमिः च) द्युलोक और भूमि (स्कम्भेन) स्कम्भ द्वारा (विष्टभिते) अलग-अलग थामे हुए (तिष्ठतः) स्थित हैं। (स्कम्भे) स्कम्भ में (इदं सर्वम्) यह सब जगत् है जो कि (आत्मन्वत्) आत्मा वाला है, (यत्) अर्थात् जो कि (प्राणत्) प्राणधारी है (यत् च) और जो (निमिषत्) निमेषोन्मेष क्रिया कर रहा है।

[जड़ जगत् और प्राणधारी तथा निमेषोन्मेष करने वाले उच्चप्राणी स्कम्भ के आश्रय में हैं]।

तिस्रो ह प्रजा अत्यायमायन्न्य१न्या अर्कमभितो ऽविशन्त।
बृहन् ह तस्थौ रजसो विमानो हरितो हरिणीरा विवेश ॥३॥

(तिस्रः प्रजाः) तीन प्रजाएं (अत्यायमायन्) अतिगति को प्राप्त हुई हैं (अन्याः) सूर्य से भिन्न ये (अर्कम् अभितः) सूर्य के सम्मुख हुई (नि अविशन्त) निविष्ट हुई हैं, अपने-अपने स्थानों में निवेश पाई हुई हैं। (बृहन्) बड़ा अर्थात् महाकाय सूर्य, (रजसः) जो कि ज्योति का (विमानः) निर्माण करता है (तस्थौ[1]) स्थित है (हरितः) वह इन तीनों का हरण करता हुआ (हरिणीः) दिशाओं में (आ विवेश) आविष्ट अर्थात् प्रविष्ट हुआ है।

[तीन प्रजाएं हैं ग्रह, उपग्रह, और धूम्रकेतु। ये तीनों सूर्य की प्रजाएं हैं, सूर्य से पैदा हुए हैं। ये अतिशीघ्रगति वाले हैं। अत्यायम्=अति+आयम् (अय गतौ) अतिगति को "आयन" प्राप्त हुए हैं। ये "अन्याः" हैं सूर्य से भिन्न हैं। ये सूर्य के अभिमुख हुए निज स्थानों में निविष्ट हैं। सूर्य

१. सूर्य पूर्व से पश्चिम की ओर गति करता हुआ दीखता है, परन्तु है यह स्थित।

इन सब से बड़ा है परिमाण में महाकाय है, और "तस्थौ" स्थित है गतिरहित है। यह निजस्थान में स्थित हुआ तीन प्रजाओं का हरण किये हुये है, इन्हें अपने से अलग नहीं करता अपने स्वायत्त में किये हुये है, मानो इन का अपहरण किये हुए है। हरिणीः=दिशाएं (ऋ० ८।१०१।१४, वेंकटमाधव)। ऋग्वेद में "हरित आविवेश" पाठ है। हरितः का अर्थ वेङ्कटमाधव ने "दिशः" किया है। अथर्ववेद में "हरितः के स्थान में "हरिणीः" पाठ है, अतः वेङ्कटमाधव के अर्थ के अनुरूप हरिणीः का अर्थ दिशाएं किया है। तथा हरितः "दिङ्नाम" (निघं० १।६)। रजः ज्योतिः (निरुक्त ४।३।१९)]।

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत।
तत्राहतास्त्रीणि शतानि शङ्कवः षष्टिश्च खीला अविचाचला ये ॥४॥

(द्वादश) १२ (प्रधयः) पुठियां (चक्रम् एकम्) एक चक्र (त्रीणि) तीन (नभ्यानि) नाभि के हिस्से (क, उ तत्, चिकेत) कौन उसे जानता है। (तत्र) उस चक्र में (त्रीणि शतानि) तीन सौ (शङ्कवः) शङ्कु (आहताः) हैं, (षष्टिः, च) और साठ (खीलाः) कील हैं (ये) जो कि (अविचाचलाः) विचलित नहीं होते [स्थिर रहते हैं]।

[मन्त्र में वर्ष का वर्णन हुआ है। वर्ष के १२ मास हैं १२ प्रधियां पुट्ठियां (Fellies)। वर्ष एक चक्र है, पहिया है, जिसकी परिधि १२ प्रधियों से निर्मित हुई है। तीन नभ्य हैं ग्रीष्म, वर्षा, शरद्। ये तीन एक वर्ष के नभ्य हैं। पहिए के तीन नभ्य विचाराधीन हैं[1]। तीन सौ और साठ शङ्कु और खील हैं=वर्ष के ३६० दिन। प्रत्येक मास तीस दिनों के हिसाब से। पहिले के दण्डे जो नाभि और परिधि में लगे रहते हैं उन्हें भी सम्भवतः ३६० कहा है। ये ३६० दिन विचलित नहीं होते, यह संख्या वर्ष के निर्माण में स्थिर रहती है। राशिचक्र (Zodiac) को भी ३६० अंशों में बाण्टा जाता है। ३०० को शङ्कु, और ६० को खील कहा है। एक ऋतु दो मासों की होती है, और प्रत्येक मास ३० दिनों का। सम्भवतः ऋतु के निर्माण सम्बन्ध में ६० खीलों का वर्णन पृथक् रूप में किया हो, प्रत्येक ऋतु

१. सम्भवतः पहिये की नाभि का भी निर्माण तीन प्रधियों द्वारा अभिप्रेत हो जिन्हें कि "त्रीणि नभ्यानि=नाभौ भवानि, नाभौ हितानि वा।

६० दिनों की होती है। मन्त्र में "क उ तच्चिकेत" में "कः" पद द्वयर्थक है। कः=कौन, तथा कः=प्रजापति परमेश्वर। अतः यह भी सूचित कर दिया है कि "प्रजापति परमेश्वर" उसे जानता है। यथा "कस्मै देवाय हविषा विधेम" में दो अर्थ किये जाते हैं, (१) किस देव के लिये, (२) प्रजापति देव के लिये हवि द्वारा हम परिचर्या करें]।

इदं सवितुर्वि जानीहि षड् यमा एक एकजः।
तस्मिन् हापित्वमिच्छन्ते य एषामेक एकजः ॥५॥

(सवितः) हे सविता ! (इदम्) इसे (विजानीहि) तू जान कि (षड् यमाः) ६ हैं जगत् के नियामक नियन्ता (एकः) इन में से एक है (एकजः) एक से पैदा हुआ। (तस्मिन्) उस एकज में [शेष ३] (ह) ही (अपित्वम्) लय होना (इच्छन्ते) चाहते हैं (यः) जो कि (एषाम्) इस में से (एकः) एक (एकजः) एकज है।

["सवितः" से कोई जिज्ञासु व्यक्ति प्रतीत होता है। यमाः=नियामक। ५ भूत और "महान् आत्मा" अर्थात् परमेश्वर, भौतिक जगत् के नियामक हैं। इन्हीं ६ द्वारा भौतिक जगत् उत्पन्न होता है। अतः ये ६ भौतिक जगत् के यम हैं नियामक हैं। ५ भूत हैं—आकाश, वायु, अग्नि, आपः और पृथिवी। इन के परस्पर मेल से भौतिक जगत् पैदा हुआ है। परमेश्वर इन का नियामक है। विना चेतन नियामक के व्यवस्थित उत्पत्ति नहीं हो सकती। "तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः आकाशाद् वायुः वायोरग्निरग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी (तैत्तिरीय उप०) के अनुसार ये ६ यम हैं, नियामक हैं १ आत्मा और ५ भूत। कार्य अपने उपादान कारण में "अपित्व" अर्थात् लीन होना चाहते हैं। वायु आदि ४ तत्त्व एकज नहीं। आकाश एकज है। यह एक परमेश्वर से पैदा हुआ है, "तस्माद्वा एतस्मादात्मनः" से पैदा हुआ है। वायु दो से पैदा हुई है, मूल कारण आत्मा से, और आकाश से। इसी प्रकार अग्नि तीन से पैदा हुई है मूलकारण आत्मा से, आकाश तथा वायु से इत्यादि। इसलिए पृथिवी का लय होता है आपः में, आपः का लय होता है अग्नि में, अग्नि का लय होता है वायु में, वायु का लय होता है आकाश में। इस प्रकार ४ भूतों का लय होता है एकज अर्थात् आकाश में। आकाश एकज है। एक आत्मा से पैदा हुआ है। सांख्य सिद्धान्तानुसार प्रकृति से महत् तत्त्व पैदा हुआ है। यह है व्यापी तत्त्व। इस

से मनुष्य में वैयक्तिक बुद्धि पैदा हुई। यह वैयक्तिक बुद्धि, अहंकार, मन और चित्तरूप में विकृत होकर चार रूपवाली हुई, जिसे कि "अन्तः करण चतुष्टय" कहते हैं। "व्यापी महत्-तत्त्व' और अन्तः करण चतुष्टय, तथा मूलप्रकृति ये ६ यम हैं, जिन से जगत् पैदा हुआ, अतः जगत् के ये ६ यम हैं, नियामक हैं। इन ६ में महत्-तत्त्व एकज है, एक प्रकृति से पैदा हुआ है। शेष ५ स्व-स्व उपादान में परम्परया विलीन होते हुए "एकज महत्-तत्त्व" में विलीन होते हैं। और महत्-तत्त्व प्रकृति में विलीन होता है। इस सम्बन्ध में एक व्याख्याकार का विचार निम्न प्रकार का है—

इस व्याख्याकार के अनुसार यम का अर्थ है जोड़ा, "युगल न कि नियामक। अतः षड्यमाः=६ ऋतुएं। प्रत्येक ऋतु एक यम है, जोड़ा है, दो-दो मासों का। "एकज" है मलमास, intercalary month "एकः जायते इत्येकजः"। यह मलमास अकेला पैदा होता है, ऋतु के सदृश जोड़ारूप में नहीं]।

आविः सन्निहितं गुहा जरन्नाम महत्पदम्।
तत्रेदं सर्वमार्पितमेजत् प्राणत् प्रतिष्ठितम् ॥६॥

(सत्) सत् परमेश्वर (जरत्) पुराण (नाम) नामी (महत्) महान् (पदम्) तथा प्रापणीय है, वह (गुहा) हृदयगुहा में (निहितम्) स्थित हुआ (आविः) प्रकट होता है। (तत्र) उस में (इदम् सर्वम्) यह सब (एजत् प्राणत्) गति करता हुआ और प्राणधारी जगत् (आर्पितम्) समर्पित हुआ (प्रतिष्ठितम्) स्थित है।

[सत्=परमेश्वर सत् चित् आनन्द स्वरूप है। जरत्=सब से पुराण है, पुराकाल का है, अनादि है। एजत्=गति करता हुआ जड़ जगत्]।

एकचक्रं वर्तत एकनेमि सहस्राक्षरं प्र पुरो नि पश्चा।
अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं क्व१ तद् बभूव ॥७॥

ब्रह्माण्ड (एकचक्रम्) एक चक्राकार (वर्तते) है (एकनेमि) इस चक्र पर एक नेमि है, (सहस्राक्षरम्) हजारों अक्षों वाला है, (प्र पुरः) सामने की ओर असीम व्याप्त है (नि पश्चा) पीछे की ओर नितरां व्याप्त है। (अर्धेन) परमेश्वर ने अर्ध शक्ति द्वारा (विश्वम् भुवनम्) सब जगत् को (जजान)

पैदा किया है (अस्य) इस परमेश्वर का (यत्) जो (अर्धम्) शेष आधा भाग है (तद्) वह (क्व) कहां (बभूव) है।

[यह समग्र जगत् चक्राकार है, गोल है। जगत् को ब्रह्माण्ड कहते हैं। यह एक बृहत् अण्डे के आकार का है, अण्डे के सदृश आकृति वाला है। इस चक्र पर एक नेमि है जो कि चक्र की रक्षा करती है, वह नेमि है स्वयम् परमेश्वर। इस चक्र में हजारों अक्ष हैं, धुराएं हैं, जिन पर कि सूर्यादि घूम रहे हैं। सहस्राक्षरम्=सहस्र+अक्ष+रम् (वाला)। यह ब्रह्माण्ड सामने और पीछे की ओर असीम मात्रा में फैला हुआ है। जिधर भी मुख करें उस मुख के सामने और पीछे की ओर निःसीम मात्रा में ब्रह्माण्ड फैला हुआ है। परमेश्वर ने निज अर्ध अर्थात् एकऋद्धांश से ब्रह्माण्ड रचा है, शेष ऋद्धांश इसके निज प्रकाशस्वरूप में स्थित है, जगत् के निर्माण आदि के साथ सम्बन्ध से रहित हैं (देखो यजुर्वेद पुरुषसूक्त अध्याय ३१। मन्त्र ३,४)। मन्त्र में "अर्ध" शब्द आधे अर्थ का वाचक नहीं, अपितु ऋद्ध-अंश का वाचक है। अर्ध शब्द "ऋधु" धातु से निष्पन्न है जिस का अर्थ है "वृद्धिः"। अतः मन्त्र में अर्ध का अर्थ है एक "ऋद्ध[1]-अंश", तथा "शेष-ऋद्ध[1] अंश"। अथवा मन्त्र में "अस्य" द्वारा स्वामित्व का भी बोध होता है, परमेश्वर प्रकृति का स्वामी है। इस की स्वभूत प्रकृति के कितने अंश से ब्रह्माण्ड पैदा हुआ है, और प्रकृति का कितना अंश अवशिष्ट है जो कि उत्पादन से रहित है, यह प्रश्न भी मन्त्र में अभिप्रेत हो सकता है]।

पञ्चवाही वहत्यग्रमेषां प्रष्टयो युक्ता अनु संवहन्ति ।
अयातमस्य ददृशे न यातं परं नेदीयोऽवरं दवीयः ॥८॥

(पञ्चवाही) पांचभूतों का वहन करने वाला स्कम्भ अर्थात् सर्वाधार परमेश्वर (एषाम् अग्रम्) इन पांच भूतों के अग्रभाग में जुता हुआ [इन का] (वहति) वहन कर रहा है। (प्रष्टयः=पृष्टयः) पीछे लगे पञ्चभूत (युक्ताः) परस्पर मिल कर (अनु) परश्मेवर के पोछे-पीछे (संवहन्ति)

1. यदि "अर्ध" का अर्थ ऋद्धांश न किया जाय तो अथर्ववेद और यजुर्वेद के वर्णन परस्पर विरुद्ध हो जायेंगे। अथर्व० में "अर्ध का अर्थ हो "आधा", और यजुर्वेद के अनुसार जगत् हो "एकपाद्" अर्थात् $\frac{1}{4}$, और शेष हो "त्रिपाद्" $\frac{3}{4}$, तो परस्पर विरोध होना निश्चित ही है।

सम्यक् प्रकार से चल रहे हैं। (अस्य) इस परमेश्वर का (अयातम्) न चलना (ददृशे) दृष्टिगोचर होता है (यातम्) चलना दृष्टिगोचर (न) नहीं होता। (परम् नेदीयः) परमेश्वर परम निकट है (अवरम्) और परम (दवीयः) दूर है।

[मन्त्र ने यह प्रतिपादित किया है कि जगत् का संचालक परमेश्वर है, जगत् स्वयमेव नियमों में बन्धा हुआ गति नहीं कर रहा। पांच भूत या पांचभौतिक जगत् परमेश्वर के निर्देशों के पीछे-पीछे गति कर रहा है। परमेश्वर का गति करना वास्तविक नहीं क्योंकि यह समीप से समीप और दूर से दूर है, यह व्यापक है, व्यापक में गति नहीं हो सकती (देखो यजुर्वेद ४०।४,५)। ददृशे=मानसिक दृष्टि अर्थात् विचार। अवरम्="न वरं यस्मात् तत्" अर्थात् दूरी में जिस से श्रेष्ठ अर्थात् बढ़कर कोई नहीं]।

तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम् ।
तदासत ऋषयः सप्त साकं ये अस्य गोपा महतो बभूवुः ॥९॥

(चमसः) मस्तिष्क और सुषुम्णादण्ड चमचे के सदृश है जोकि उल्टे-चमचे के सदृश (तिर्यग्बिलः) नीचे की ओर बिल वाला और (ऊर्ध्वबुध्नः) ऊपर को ओर पेंदी वाला है। (तस्मिन्) उसमें (विश्वरूपम्) नानारूप (यशः) ज्ञान (निहितम्) रखा रहता है। (तद्) उसमें (सप्त ऋषयः) सात ऋषि (साकम्) साथ-साथ (आसत) उपविष्ट हैं (ये) जो कि (अस्य) इस (महतः) महाशरोर के (गोपाः) रक्षक (बभूवुः) हुए हैं।

[यशः=ज्ञान या कीर्ति। सप्त ऋषयः=५ ज्ञानेन्द्रियां, मनः और विद्या (बुद्धि)। ये सात महाशरीर के रक्षक हैं। ऊर्ध्वबुध्नः का अर्थ निरुक्त में "ऊर्ध्व बोधनो वा" भी किया है, अर्थात् पेंदे[1] के ऊपर के भाग में बोध अर्थात् ज्ञान वाला चमस (१२।४। खण्ड ४० अथवा (पद) २५। निरुक्त में अधिदैवत पक्ष में मन्त्र द्वारा आदित्य का भी वर्णन माना है। इस पक्ष में सात ऋषि हैं, सप्तविध रश्मियां और ऊर्ध्वबुध्नः=ऊर्ध्वबन्धनः, जो कि ऊपर की ओर बन्धा हुआ है]।

1. अभिप्राय यह कि मस्तिष्क के ऊर्ध्व भाग में बोध का स्थान है, नीचे की ओर नहीं।

या पुरस्ताद्युज्यते या च पश्चाद्या विश्वतो युज्यते या च सर्वतः ।
यया यज्ञः प्राङ् तायते तां त्वा पृच्छामि कतमा स ऋचाम् ॥१०॥

(या) जो (पुरस्तात्) सामने (युज्यते) जुती हुई है (या च) और जो (पश्चात्) पीछे की ओर (या) जो (विश्वतः) विश्व में (युज्यते) जुती हुई है (या च) और जो (सर्वतः) सब ओर। (यया) जिस द्वारा (प्राङ्) वृद्धिशील (यज्ञः) यज्ञ (तायते) विस्तृत होता है (ताम्) उसके सम्बन्ध में (त्वा) तुझे (पृच्छामि) मैं पूछता हूं कि (सा) वह (ऋचाम्) वेदवाणियों में [प्रतिपादित] (कतमा) कौन सी है ?।

["सा" पद स्त्रीलिङ्गी है, पारमेश्वरी शक्ति या पारमेश्वरी माता का वर्णन मन्त्र में हुआ है। "युज्यते" द्वारा उस का संसार-शकट में "जुता" होना कथित किया है। मन्त्र (८) में इस अभिप्राय को "पञ्चवाही" पद द्वारा प्रकट किया है। "विश्वतः" में "तसिल्" प्रत्यय सप्तम्यर्थ में है अर्थात् "विश्व में"। "यज्ञ" का अभिप्राय है "संसार-यज्ञ"। यह यज्ञ वृद्धिशील है, कर्मभोग पूर्वक अपवर्ग की ओर ले जाने वाला है। जैसा कि माता भी गृहकार्यों में, गृह में मानो जुती रहती है, और गृहस्थयज्ञ का विस्तार करती है]।

यदेजति पतति यच्च तिष्ठति प्राणदप्राणन्निमिषच्च यद् भुवत् ।
तद् दाधार पृथिवीं विश्वरूपं तत् संभूय भवत्येकमेव ॥११॥

(यत्) जो (एजति) गति करता है (पतति) जो उड़ता है (यत् च) और जो (तिष्ठति) स्थित है (यद्) जो (प्राणत्) प्राण धारण किये हुये है (अप्राणत्) और जो प्राण रहित है (निमिषत् च) और जो निमेषोन्मेष करता हुआ (भुवत्) विद्यमान है (तत्) उस (विश्वरूपम्) नानारूपी जगत् को (पृथिवीम्) और पृथिवी को (दाधार) स्कम्भ परमेश्वर धारण किये हुये है। (तत्) वह सब (संभूय) इकठ्ठा होकर (भवति) हो जाता है (एकम्, एव) एक ही।

[यह विषमरूपी जगत्, प्रलयकाल में जब इकठ्ठा हो जाता है, तब वह एक प्रकृतिरूप ही हो जाता है, विषमरूपी नहीं रहता]।

अनन्तं विततं पुरुत्रानन्तमन्तवच्चा समन्ते ।
ते नाकपालश्चरति विचिन्वन् विद्वान् भूतमुत भव्यमस्य ॥१२॥

(अनन्तम्) [तारा संख्या द्वारा] अनन्त द्युलोक, और (पुरुत्रा) बहुत प्रदेशों में (विततम्) फैला हुआ पृथिवी लोक, [ये दोनों] अर्थात् (अनन्तम्) अनन्त द्युलोक (अन्तवत् च) और परिमित पृथिवीलोक (समन्ते) अन्त के साथ संगत हैं। (ते) उन दोनों का, (नाकपालः) नाक-पालक स्कम्भ परमेश्वर, (विचिन्वन्) अलग-अलग चयन करता हुआ (चरति) उन में विचरता है। वह (अस्य) इस ब्रह्माण्ड के (भूतम्) भूत को (उत) और (भव्यम्) भविष्यत् को (विद्वान्) जानता है।

[तारा-संख्या की दृष्टि से अनन्त द्युलोक, और पर्वत, समतल तथा सामुद्रिक भिन्न-भिन्न प्रदेशों में फैला हुआ परिमित पृथिवी लोक,- ये दोनों जो कि अनन्त और अन्तवाले हैं, अन्त के साथ संगत हैं। द्युलोक तथा पृथिवीलोक परिमाण की दृष्टि से सीमित हैं, और काल की दृष्टि से विनाशी हैं, अन्त वाले हैं। नाकपाल अर्थात् मोक्ष-का-रक्षक-स्कम्भ-परमेश्वर परिमाण तथा काल की दृष्टि से अनन्त है। इस ने द्युलोक और पृथिवीलोक को अलग-अलग समय में चिना है, रचा है। वह ही इस समग्र ब्रह्माण्ड के भूत और भविष्यत् को जानता है, और कोई नहीं जानता]।

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरदृश्यमानो बहुधा वि जायते ।
अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं कतमः स केतुः ॥१३॥

(प्रजापतिः) प्रजाओं का पति (गर्भे अन्तः) ब्रह्माण्ड के गर्भ के अन्दर (चरति) विचर रहा है, (अदृश्यमानः) न दीखता हुआ वह (बहुधा) बहुत प्रकार से (वि जायते) विविध रूपों में प्रकट होता है। (अर्धेन) निज एक समृद्ध-अंश से (विश्वम्) समग्र (भुवनम्) ब्रह्माण्ड को (जजान) उस ने पैदा किया है, (यद्) जो (अस्य) इस का (अर्धम्) अवशिष्ट समृद्ध अंश है (सः) वह (कतमः[1]) अत्यन्त सुखस्वरूप है, (केतुः) ज्ञानस्वरूप है।

१. अथवा "प्रकृति, जीव, ब्रह्म" में से वह कौन सा है ? इस का उत्तर है "सः केतुः" अर्थात् वह है प्रज्ञास्वरूप, प्रज्ञानस्वरूप। प्रकृति और जीव प्रज्ञास्वरूप, प्रज्ञानस्वरूप नहीं हैं। केवल प्रजापति प्रज्ञास्वरूप, प्रज्ञानस्वरूप है।

[प्रजापतिः, देखो १०।७।४०,४१। वि जायते=प्रजापतिरूप, पितृरूप, मातृरूप, बन्धुरूप आदि रूपों में वह प्रकट हो रहा है। अर्धेन, देखो (मन्त्र ७)। परमेश्वर के अङ्ग, कल्पनामात्र हैं, यथा "एकपाद्, त्रिपाद्, चतुष्पाद्"[1] आदि। कतमः="कम् सुखनाम" (निघं० ३।६) +तमप्। केतुः=कित् संज्ञाने यथा "चिकेत"। तथा "केतुः प्रज्ञानाम" (निघं० ३।६)। अथवा कतमः=कौन सा वह है? वह प्रज्ञामय है, प्रज्ञानस्वरूप है]।

ऊर्ध्वं भरन्तमुदकं कुम्भेनेवोदहार्य॑म् ।
पश्यन्ति सर्वे चक्षुषा न सर्वे मनसा विदुः ॥१४॥

(इव) जैसे (कुम्भेन) घट द्वारा (उदकम्) जल को (ऊर्ध्वम्) सिर पर (भरन्तम्) ले जाते हुए को, (सर्वे) सब (चक्षुषा) आंख द्वारा (उदहार्यम्) जल भरने वाले रूप में (पश्यन्ति) देखते हैं, परन्तु (सर्वे) सब [उस के यथार्थ स्वरूप को] (मनसा) मनन पूर्वक (न विदुः) नहीं जानते, वैसे दृश्य-जगत् को आंख से देख कर, स्कम्भ-परमेश्वर के जगत्कर्तृत्व आदि रूप को तो सब जानते हैं, परन्तु सब (मनसा) मनन-पूर्वक उस के यथार्थ स्वरूप को (न विदुः) नहीं जानते।

[अध्यात्म प्रकरण में उदहार्य का वर्णन दृष्टान्तरूप में है। इस द्वारा दार्ष्टान्त रूप में स्कम्भ का वर्णन अभिप्रेत है। जैसे सिर पर कुम्भ द्वारा जल ले जाते हुए को आंख द्वारा उस के तात्कालिक उदहार्यरूप को लोग जानते हैं, और मनन या विचार पूर्वक उस के यथार्थ स्वरूप को नहीं देखते, उस के यथार्थ रूप को केवल उस के सम्बन्धी ही जानते हैं, वैसे जगत् की स्थिति को आंख से देख कर लोग स्कम्भ के उसी रूप को तो जानते हैं जिस का कि जगत् के साथ सम्बन्ध है, परन्तु जगत् से उठे[1] हुए यथार्थ स्वरूप को वे नहीं जानते, केवल (मनसा) मनन-निदिध्यासन वाले कतिपय ध्यानी ही उस स्वरूप को जानते हैं।

मन्त्र में "भरन्तम्" पद पुंलिङ्ग है, अतः "उदहार्यम्" पद भी पुंलिङ्ग ही होना चाहिये। व्याख्याकारों ने "उदहार्यम्" को "उदहारी[2]" स्त्रीलिङ्ग जानकर द्वितीया विभक्ति रूप में व्याख्यात किया है। वस्तुतः "उदहार्यम्" =उद (उदक)+हृ (हरणे)+ण्यत् (कर्तरि) "ऋहलोर्ण्यत्" (अष्टा० ३।१।१२४)]।

१. यथा "त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः" (यजु० ३१।४)।

२. उदहारी+अम् (द्वितीया विभक्ति, "इकोयणचि")=उदहार्यम्। यथा "कुमारी+अम्=कुमार्यम्" (अथर्व० १४।१।६३)। वास्तविक रूप चाहिये उदहारीम्, कुमारीम्।

दूरे पूर्णेन वसति दूर ऊनेन हीयते ।
महद् यक्षं भुवनस्य मध्ये तस्मै बलिं राष्ट्रभृतो भरन्ति ॥१५॥

(पूर्णेन) धन-धान्य से भरे व्यक्ति से यह स्कम्भ (दूरे) दूर (वसति) वसता है, (ऊनेन) निर्धन अर्थात् गरीब द्वारा तो वह (दूरे) दूर (हीयते) परित्यक्त रहता है। (महत्) महान् (यक्षम्) पूजनीय स्कम्भ (भुवनस्य) उत्पन्न ब्रह्माण्ड के (मध्ये) मध्य में वर्तमान है, (तस्मै) उस के प्रति (राष्ट्रभृतः) राष्ट्रधारी या राष्ट्र का भरण पोषण करने वाले राजा लोग (बलिम्) भेंटें (भरन्ति) लाते हैं, समर्पित करते हैं।

[धन-धान्य से भरे व्यक्ति, धन-धान्य में मस्त रहकर, स्कम्भ को भूले रहते हैं और धन-धान्य से वञ्चित व्यक्ति इस के उपार्जन में ही कालयापन कर, इसकी ओर ध्यान नहीं दे सकते। स्कम्भ तो भुवन के मध्य में सदा वर्तमान है, परन्तु लोग इस पूजनीय महान्-तत्त्व के दर्शन नहीं पा सकते। आस्तिक राष्ट्रधारी राजा लोग भी इस महान् आत्मा के प्रति नतमस्तक होकर, निज श्रद्धाओं की बलियां भेंट करते हैं। यक्षम्=यक्ष पूजायाम् (चुरादिः)]।

यतः सूर्य उदेत्यस्तं यत्र च गच्छति ।
तदेव मन्येऽहं ज्येष्ठं तदु नात्येति किं चन ॥१६॥

(यतः) जहां से (सूर्यः) सूर्य (उदेति) उदित होता है (च) और (यत्र) जिसमें (अस्तम्, गच्छति) अस्त होता है (तद् एव) उसे ही (अहम्) मैं (ज्येष्ठम्) सर्वज्येष्ठ (मन्ये) मानता हूं, (तद् उ) उसे (किं चन) कोई पदार्थ (न अत्येति) ज्येष्ठता में अतिक्रान्त नहीं करता, अर्थात् ज्येष्ठता में उससे बढ़कर कोई पदार्थ नहीं।

ये अर्वाङ् मध्य उत वा पुराणं वेदं विद्वांसमभितो वदन्ति ।
आदित्यमेव ते परि वदन्ति सर्वे अग्निं द्वितीयं त्रिवृतं च हंसम् ॥१७॥

(अर्वाङ्) अर्वाक् काल में, (मध्ये) मध्यवर्ती काल में, (उत वा) अथवा (पुराणम्) पुराकाल में (ये) जो [वेदवेत्ता विद्वान्] (वेदं विद्वांसम्) वेद-वेत्ता-परमेश्वर का (अभितः) सब ओर (वदन्ति) कथन करते हैं, (ते) वे (सर्वे) सब (आदित्यम् एव) आदित्य नाम वाले परमेश्वर का ही (द्वितीयम्, अग्निम्) और द्वितीय अग्नि नाम वाले परमेश्वर का (च) तथा (त्रिवृतम्) तीसरे (हंसम्) हंस नाम वाले परमेश्वर का (परिवदन्ति) सब ओर कथन करते हैं।

[स्कम्भ नामवाले परमेश्वर को "वेदं विद्वांसम्" द्वारा वेदवेत्ता कहा है। "आदित्य और अग्नि" परमेश्वर के नाम हैं (यजु० ३२।१)। हंस भी परमेश्वर का नाम है। यथा "हंसः शुचिषद् वसुः" (यजु० १०।२४; १२।१४)। हंसः=हन्ति अविद्यान्धकारम्; हन्ति क्लेशान् सः]।

सहस्राह्ण्यं वियतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम्।
स देवान्त्सर्वानुरस्युपदद्य संपश्यन् याति भुवनानि विश्वा ॥१८॥

(स्वर्गम्) स्वर्ग की ओर (पततः) उड़ते हुए, (हरेः) अपने साथ सौर-परिवार को हरते हुए, (अस्य) इस (हंसस्य) हंस [सूर्य] के (पक्षौ) मानो दो पंख (सहस्राह्ण्यम्) हजारों दिनों की व्याप्ति में (वियतौ) खुले रहते हैं, फैले रहते हैं। (सः) वह हंस (सर्वान्) सब (देवान्) देवों को (उरसि) छाती में (उपदद्य) धारण करके (विश्वा भुवनानि संपश्यन्) सब भुवनों को देखता हुआ (याति) जाता है। तथा देखो (अथर्व० १३।२।३८; ३।१४)।

[मन्त्र १७ में "हंस" नाम से परमेश्वर का वर्णन हुआ है, जिस की व्याख्या मन्त्र (१८) में हुई है। स्कम्भ के अध्यात्म-प्रकरण में, सूर्य के वर्णन द्वारा सूर्य को स्कम्भ-परमेश्वर के, रथरूप में जानना चाहिये। यजुर्वेद (४०।१७) के अनुसार आदित्य में ब्रह्म-पुरुष की स्थिति कही है। यथा—

"योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म"।

अतः सूर्यरथ जिधर गति कर रहा है, उसमें स्थित हुए ब्रह्म-पुरुष की गति उधर हो रही है। या यह जानो कि सूर्यरथ में अधिष्ठित हुआ ब्रह्म-पुरुष, इस रथ का उड़ान स्वर्ग की ओर कर रहा है। मन्त्र में "पततः" द्वारा और "पक्षौ" द्वारा पक्षी रूप में सूर्यरथ का वर्णन हुआ है, जो कि आकाश में उड़

रहा है। मन्त्र के इस अभिप्राय में "संपश्यन्" पद कविता में नहीं, अपितु "सम्यक् देखने, या निरीक्षण करने, अर्थ में है। सूर्याधिष्ठित ब्रह्म-पुरुष वास्तविक द्रष्टा है]।

सत्येनोर्ध्वस्तपति ब्रह्मणाऽर्वाङ् वि पश्यति।
प्राणेन तिर्यङ् प्राणति यस्मिन् ज्येष्ठमधि श्रितम् ॥१९॥

(यस्मिन्) जिस व्यक्ति में (ज्येष्ठम्) ज्येष्ठ ब्रह्म (अधिश्रितम्) अधिष्ठित हो जाता है, या जिसे वह अपना आश्रय कर लेता है, वह (ब्रह्मणा) ब्रह्म की प्रेरणा द्वारा (सत्येन) सत्य से (ऊर्ध्वः) ऊंचा हुआ (तपति) चमकता है और (अर्वाङ्) नीचे के भूमिष्ठ लोगों का (वि पश्यति) विशेष ध्यान करता है। और वह (प्राणेन) प्राण द्वारा (तिर्यङ्) टेढ़ी गति वाले मनुष्यों को (प्राणति) सजीव करता रहता है।

[तिर्यङ्=तिरः+अञ्च् (गतौ)। अभिप्राय यह कि जो मनुष्य टेढ़ी चाल चलते हैं उन्हें भी वह सदुपदेशों द्वारा प्राणशक्ति देकर सजीव करता रहता है। मन्त्र में सूर्य का वर्णन भी प्रतीत होता है जो कि अधिष्ठित ब्रह्म द्वारा ऊर्ध्वदिशा में तप रहा है और निज रश्मियों द्वारा मानो नीचे भूमि को देखता है और प्राणशक्ति प्रदान द्वारा सभी दिशाओं को अनुप्राणित करता है। इस वर्णन द्वारा यह भी द्योतित किया है का सूर्य में ब्रह्म अधिष्ठित है। इस प्रकार मन्त्र १८,१९ में आर्थिक समन्वय हो जाता है]।

यो वै ते विद्यादरणी याभ्यां निर्मथ्यते वसु।
स विद्वान् ज्येष्ठं मन्येत स विद्याद् ब्राह्मणं महत् ॥२०॥

(यः) जो (वै) वास्तव में (ते अरणी) उन दो अरणियों को (वेद) जानता है (याभ्याम्) जिन दो द्वारा (वसु) इनमें बसा हुआ [स्कम्भ-परमेश्वर] (निर्मथ्यते) अग्नि की तरह मथ कर निकाला जाता है, प्रकट किया जाता है, (स विद्वान्) वह विद्वान् अर्थात् मथनविधि को जानने वाला व्यक्ति (ज्येष्ठम्) ज्येष्ठ ब्रह्म को (मन्येत) जान सकता है, (सः) वह (महत्) महान् (ब्राह्मणम्) ब्रह्म को (विद्यात्) जान सकता है।

[ब्राह्मणम्=ब्रह्म+अण् (स्वार्थे) अथवा वेदप्रतिपादित स्कम्भ-परमेश्वर। दो अरणि-काष्ठों में परस्पर मथन द्वारा यज्ञिय अग्नि को प्रकट

किया जाता है। अध्यात्म ब्रह्माग्नि को मथ निकालने के सम्बन्ध में कहा है कि—

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवत् ॥

(श्वेताश्व० उपनिषद् अध्याय १, खण्ड १४)

निज देह को अरणि काष्ठ करके, और प्रणव अर्थात् ओ३म् को उत्तरारणि कर के, ध्यानरूपी निर्मथन के अभ्यास से, निगूढ़ अर्थात् छिपी अग्नि को तरह, परमेश्वर-देव का दर्शन करे]।

अपादग्रे समभवत् सो अग्रे स्व१राभरत् ।
चतुष्पाद् भूत्वा भोग्यः सर्वमादत्त भोजनम् ॥२१॥

[स्कम्भ-परमेश्वर] (अग्रे) सृष्ट्युत्पादन से पहिले (अपाद्) पादरहित (अभवत्) था, (सः) वह (अग्रे) पहिले (स्वः) सुखस्वरूप को (आभरत्) धारण किये हुए था। (चतुष्पाद् भूत्वा) चतुष्पाद् होकर (भोग्यः) वह भोग्य बना। तदनन्तर (सर्वम्) सब (भोजनम्) निज सृष्टिरूपी भोजन का (आदत्त=आ+अदन्त) उसने आदान कर लिया।

[समग्र सृष्टि स्कम्भ-पुरुष का एकपाद् रूप है "पादोऽस्य विश्वा भूतानि" (यजु० ३१।३)। शेष त्रिपाद् अमृत रूप हैं, उन का सृष्टि की उत्पत्ति और मृत्यु के साथ सम्बन्ध नहीं, वे उस के द्योतनात्मक स्वरूप में स्थित रहते हैं, "त्रिपादस्यामृतं दिवि" (यजु० ३१।३)। इस प्रकार सृष्टि की रचना की दृष्टि से स्कम्भ-पुरुष चतुष्पाद् हो जाता है। परन्तु सृष्टि-रचना से पूर्व चूंकि उस का सृष्टिरूपी एकपाद् भी नहीं होता अतः सृष्टि-रचना से पूर्व वह अपाद् होता है, पादरहित होता है। उस समय वह निज सुखस्वरूप में वर्तमान रहता है। चतुष्पाद् हो कर अर्थात् सृष्टि रचना कर के वह "भोग्य" होता है। उपासक उस के आनन्दस्वरूप का भोग करते हैं। सृष्टिकाल की समाप्ति के समय वह सृष्टिरूपी भोजन का पुनः आदान कर लेता है। जैसे कहा है—

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः ।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः ॥ (कठोप० २।२५)

ब्रह्म और क्षत्र जिस के ओदन हैं, भात हैं; और मृत्यु उपसेचन है दालरूप है, इस प्रकार प्रलय हो जाने पर, यथार्थ रूप में कौन जानता है कि वह कहां है? ब्रह्म अन्न भी है, और अन्नाद भी "अहमन्नम्, अहमन्नादः" (तैत्तिरीय उप० भृगवल्ली ३, खं ६)। अन्नरूप में वह "भोग्य" होता है, और "अन्नादरूप में" "भोजनमादत्त" अर्थात् अन्नाद होता है]।

भोग्यो भवदथो अन्नमदद् बहु ।
यो देवमुत्तरावन्तमुपासातै सनातनम् ॥२२॥

(यः) जो व्यक्ति, (उत्तरावन्तम्) सर्वोपरि वर्तमान, (सनातनं देवम्) सनातन अर्थात् सदा वर्तमान देव [स्कम्भ-परमेश्वर] की (उपासातै) उपासना करे, [वह] (भोग्यः) भक्तों द्वारा सेवनीय (भवत्) हो जाय, (अथो) तथा (बहु) बहुत (अन्नम्) अन्नरूप परमेश्वर के आनन्द रस का (अदत्) भक्षण करे, पान करे।

[उत्तरावन्तम्="अतिशयितोत्कर्षवन्तम्" (सायण अथर्व० ४।२२।५)। अन्नम्=परमेश्वर, (मन्त्र २१)। जो परमेश्वर की बहुत उपासना करेगा वह उस के आनन्दरस का बहुपान या भोग करेगा ही। "अन्नं बहु अदत्" प्राकृतिक अन्न का बहुभक्षण उपासना में उपकारी "लघुत्व" (श्वेता० उप०, अध्याय २। खण्ड १३) का विरोधी है, अतः उपासना में अनुपकारी है]।

सनातनमेनमाहुरुताद्य स्यात् पुनर्णवः ।
अहोरात्रे प्र जायेते अन्यो अन्यस्य रूपयोः ॥२३॥

(एनम्) इस [स्कम्भ-परमेश्वर] को (सनातनम्) सदावर्ती (आहुः) कहते हैं, (उत) तथा (अद्य) वर्तमान काल में वह (पुनर्णवः) पुनः-पुनः नया भी (स्यात्) होता रहता है। जैसे कि (अहोरात्रे) दिन और रात [अनादिकाल से वर्तमान होते हुए भी] (अन्यो अन्यस्य) अपने-अपने भिन्न भिन्न (रूपयोः) रूपों में या एक-दूसरे के रूप में (प्रजायेते) पुनः-पुनः प्रकट होते रहते हैं।

---

१. अथवा इस का अभिप्राय यह है कि ऐसे उपासक को, भक्तजन बहुत अन्न प्रदान करते हैं, उस के पास खान-पान की सामग्री का अतिशय हो जाता है (देखो अथर्व० २०।१३१।४,५)।

[भूतकाल की सृष्टियों में तथा वर्तमान काल की सृष्टि में (अद्य), और भविष्यत् काल की सृष्टियों में दिन-रात की सत्ता सदा रहती है। परन्तु फिर भी दिन के पश्चात् रात, और रात के पश्चात् दिन, दृष्टिगोचर होते हैं। ये अनादि होते हुए पुनः-पुनः नए-नए प्रकट होते हैं, इसी प्रकार परमेश्वर के सनातन होते हुए भी वह प्रतिसृष्टि नए-नए रूपों में प्रकट होता रहता है। अहोरात्रे यथा—

"अहोरात्राणि विदधद् विश्वस्य मिषतो वशी। सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा-"पूर्वमकल्पयत्" (ऋ० १०।१९०।२,३) में "यथापूर्वम्" द्वारा "अहोरात्र" आदि की सनातन सत्ता कही है, और ये पुनः पुनः नए-नए रूपों में भी प्रकट होते रहते हैं]।

शतं सहस्रमयुतं न्यर्बुदमसंख्येयं स्वमस्मिन् निविष्टम्।
तदस्य घ्नन्त्यभिपश्यत एव तस्माद् देवो रोचत एष एतत् ॥२४॥

(शतम्) सौ (सहस्रम्) हजार (अयुतम्) दस हजार (न्यर्बुदम्) दस क्रोड़ (असंख्येम्) तथा असंख्यात (स्वम्) धन (अस्मिन्) इस [स्कम्भ-परमेश्वर] में (निविष्टम्) स्थित है। (अभिपश्यतः) साक्षात् देखते हुए (अस्य) इसके (तत्) उस धन को (घ्नन्ति एव) लोग प्राप्त करते ही रहते हैं, (तस्मात्) इससे (एषः) यह (देवः[1]) देव अर्थात् दाता (एतत् रोचते) इस रूप में रुचिकर होता है, प्रिय होता है।

[परमेश्वर असंख्यात धन का स्वामी है। इस स्वामी से पूछे बिना, लोग इसके देखते-देखते इसके धन को हथियाते रहते हैं, तब भी परमेश्वर इन्हें कुछ कहता नहीं, अतः इस रूप में परमेश्वर सब को प्रिय लगता है। वह है देव[1] अर्थात् सब का दाता। घ्नन्ति=हन् गतौ, प्राप्तौ। न्यर्बुदम्= दस क्रोड़ (यजु० १७।७)]।

बालादेकमणीयस्कमुतैकं नेव दृश्यते।
ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया ॥२५॥

(एकम्) एक वस्तु जो कि (बालात्) बाल से (अणीयस्कम्) सूक्ष्म है, (उत) तथा (एकम्) एक वस्तु जो कि (न इव) न के सदृश (दृश्यते)

१. "देवो दानाद् वा" (निरुक्त ७।४।१५)।

दीखती है [वैसी वह] (देवता) देवता है। वह देवता (परिष्वजीयसी) सबको आलिङ्गन किये हुए है, (ततः) इसलिये (सा) वह (मम प्रिया) मेरी प्यारी है।

[पारमेश्वरी दिव्या माता बाल से भी सूक्ष्म है, तथा वह "न" के सदृश दीखती है, अनुभूत तो होती है परन्तु दृष्टिगोचर नहीं होती। परन्तु उसने माता की तरह सब का आलिङ्गन किया हुआ है, अतः सर्वप्रिया वह माता, मुझे प्रिय है]।

इयं कल्याण्य१जरा मर्त्यस्यामृता गृहे।
यस्मै कृता शये स यश्चकार जजार सः ॥२६॥

(इयम्) यह (कल्याणी) कल्याण करने वाली [देवता, मन्त्र २५] (अजरा) जरारहित है, जीर्ण नहीं होती। (अमृता) यह अमृता देवता, (मर्त्यस्य) मरणधर्मा मनुष्य के (गृहे) शरीर या हृदयगृह में विद्यमान है। (कृता) वह कृतिशक्तिरूपिणी (यस्मै) जिसके लिये (शये) मर्त्य शरीर या हृदय में शयन किये हुए है (सः सः) वह है वह (यः) जो कि (चकार) कर्म करता है और (जजार) जीर्ण होता रहता है।

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ॥२७

(त्वम्) तू (स्त्री) स्त्री (त्वम्) तू (पुमान्) पुरुष (असि) हो जाता है (त्वम्) तू (कुमारः) कुमार (उत वा) तथा (कुमारी) कुमारी हो जाता है। (त्वम्) तू (जीर्णः) बूढ़ा हो जाता है (दण्डेन) तो दण्डे के साथ (वञ्चसि) चलता है (त्वम्) तू (विश्वतोमुखः) नाना अर्थात् भिन्न-भिन्न मुखों वाला (जातः भवसि) जन्म लेता है।

[मन्त्र में प्रसङ्गवश जीवात्मा का वर्णन है। मन्त्र २६ में जीवात्मा का प्रासङ्गिक वर्णन हुआ है, और "जजार" द्वारा उस की जीर्णता का कथन किया है। मन्त्र २७ में भी "जीर्णः" द्वारा जीवात्मा के देह की जरावस्था को सूचित किया है। वही जीवात्मा स्त्री-पुमान् आदि रूप में जन्म लेता हुआ विश्वतोमुख होता रहता है। यह सब उस के कर्मों का फल है। (चकार)]।

उतैषां पितोत वा पुत्र एषामुतैषां ज्येष्ठ उत वा कनिष्ठः ।
एको ह देवो मनसि प्रविष्टः प्रथमो जातः स उ गर्भे अन्तः ॥२८॥

(उत) तथा (एषाम्) इन को (पिता) पिता (उत वा) तथा (एषाम्) इन का (पुत्रः) पुत्र (उत) तथा (एषाम्) इनमें (ज्येष्ठः) बड़ा (उत वा) तथा (कनिष्ठः) छोटा होता रहता है। (एकः देवः ह) एक ही देव [जीवात्मा] (मनसि) मन में (प्रविष्टः) प्रविष्ट हुआ (प्रथमः जातः) पहिले पैदा होता है, (सः उ) वह ही [मरकर, शरीर त्याग कर पुनः] (गर्भे अन्तः) गर्भ के भीतर आता है।

[देवः=जीवात्मा स्वरूपतः देव है। परन्तु मन द्वारा जकड़ा होकर, "अदेव" हो कर, नानारूपों में जन्म लेता रहता है]।

पूर्णात् पूर्णमुदचति पूर्णं पूर्णेन सिच्यते ।
उतो तदद्य विद्याम यतस्तत् परिषिच्यते ॥२९॥

(पूर्णात्) पूर्ण से (पूर्णम्) पूर्ण [जगत्-वृक्ष] (उदचति) उद्गत होता है, प्रकट होता है; (पूर्णम्) पूर्ण [जगत्-वृक्ष] (पूर्णेन) पूर्ण द्वारा (सिच्यते) सींचा जाता है। (उतो) तथा (तत्) उसे (अद्य) आज (विद्याम) हम जानें (यतः) जिस से (तत्) वह [जगत्-वृक्ष] (परिषिच्यते) सब ओर सींचा जा रहा है।

[स्कम्भ पूर्ण है, और जगत्-वृक्ष भी पूर्ण है। प्राणियों के सामूहिक कर्मानुसार जो जगत्-वृक्ष उत्पन्न किया गया है वह कर्मानुसार पूर्णरूप है। इस में इस दृष्टि से कोई न्यूनता नहीं। परन्तु हम यह जानना चाहते हैं कि जगत्-वृक्ष को सींचने वाला कौन है ?। परिषिच्यते में "परि" का अर्थ है "सब ओर"। जिज्ञासुओं को सब ओर जगत्-वृक्ष हरा-भरा दीख रहा है, कहीं भी मुरझाया हुआ या रूखा दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है, इसलिये "परि" का प्रयोग "सिच्यते" के साथ हुआ है।

एषा सनत्नी सनमेव जातैषा पुराणी परि सर्वं बभूव ।
मही देव्युषसो विभाती सैकेनैकेन मिषता वि चष्टे ॥३०॥

(एषा) यह (सनत्नी) सनातनी (सनम् एव) सदा ही (जाता) सृष्टि में प्रकट होती है (एषा) यह (पुराणी) पुराकाल से विद्यमान है, अनादि

है (सर्वम्) सब को (परिबभूव) इसने सब ओर से घेरा हुआ है। (मही देवी) यह महती देवी (उषसः) उषाओं को (विभाती) दीप्त करती है, चमकाती है। (सा) वह (एकेन-एकेन) एक-एक (मिषता) उन्मेष द्वारा (विचष्टे) विविध जगत् को देख लेती है।

[मिषता=आंख के उन्मेष द्वारा। परिषिच्यते (२९) और परिबभूव (३०) में "परि" का भाव है सब ओर]।

अविर्वै नाम देवतर्तेनास्ते परीवृता ।
तस्या रूपेणेमे वृक्षा हरिता हरितस्रजः ॥३१॥

(अविः) रक्षा करने वाली (नाम देवता) प्रसिद्ध देवता (ऋतेन) सत्य-ब्रह्म द्वारा (परीवृता) सब ओर से आवृत अर्थात् घिरी हुई (आस्ते) स्थित है। (तस्याः) उसके (रूपेण) रूप अर्थात् प्रकाश द्वारा (इमे) ये (वृक्षाः) वृक्ष (हरिताः) हरे हैं (हरितस्रजः) और हरी मालाओं वाले हैं।

[अविः[1]=अव रक्षणे (भ्वादिः) रक्षा करने वाला सूर्य। अविः=The sun (आप्टे)। ऋतेन="ऋतम् सत्यनाम" (निघं० ३।१०)। अभिप्राय है "सत्यब्रह्म" (यजु० ४०।१७)। सूर्य के प्रकाश द्वारा वृक्ष हरे हैं और लतारूपी हरी मालाओं वाले हैं। "ऋतम् उदकनाम" (निघं० १।१२)। वृक्ष हरे होते हैं सूर्य के प्रकाश द्वारा, तथा जलसेचन (२९) द्वारा। इस लिये मन्त्र में "ऋत" शब्द दो अर्थों वाला प्रयुक्त हुआ है। आस्ते=आस उपवेशने (अदादिः) सूर्य "आस्ते" अर्थात् एक स्थान में उपविष्ट है, स्थित है, स्थिर है, वह चलता नहीं]।

---

१. अवि का यौगिक अर्थ है रक्षक (अव रक्षणे, भ्वादिः)। सूर्य वस्तुतः पार्थिव वनस्पति-जगत् का तथा प्राणिजगत् का रक्षक है। परन्तु रूढ्यर्थ में अवि का अर्थ है भेड़। भेड़ जाति की मादा को तो अवि कहते हैं, और नर को मेष। मन्त्र में अवि द्वारा मेषराशि भी विशेषतया सूचित की है। वसन्त ऋतु में सूर्य मेषराशि पर होता है, जबकि वनस्पतियों में नवप्राण का संचार होता है और वृक्ष तथा लताएं हरी-भरी होने लगती हैं, जिन का कि मन्त्र में "हरिताः हरितस्रजः" द्वारा वर्णन हुआ है। वसन्त से पूर्व शिशिर ऋतु होती है जब कि वनस्पतियों के पत्ते जीर्ण-शीर्ण हो जाते हैं, तभी शिशिर ऋतु को "पतझड़" भी कहते हैं, पत्ते झड़ने की ऋतु। अवि अर्थात् मेषराशि में स्थित सूर्य को लक्षणया अवि कहा है।

अन्ति सन्तं न जहात्यन्ति सन्तं न पश्यति ।
देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति ॥३२॥

(अन्ति=अन्तिकम्) समीप (सन्तम्) होते हुए को (न जहाति) [यह जीवात्मा] नहीं त्यागता, (अन्ति सन्तम्) समीप होते हुए को (न पश्यति) देखता भी नहीं । (देवस्य) देव के (काव्यम्) वेदकाव्य को (पश्य) देख, (न ममार) देखने वाला न मरता है, (न जीर्यति) और न जीर्ण होता है ।

[परमेश्वर सर्वव्यापक होने से समीपस्थ है और हृदयनिष्ठ और आत्म-निष्ठ होने से अति समीप है, तो भी जीवात्मा उसका दर्शन नहीं कर पाता । अतः उसके वेदकाव्य को देखना चाहिये, जिससे ज्ञात होगा कि इस के दर्शन के उपाय क्या हैं । दर्शन पाकर व्यक्ति मुक्त हो जाता है और बार-बार जन्म ले कर, बार-बार मरने और जीर्ण होने से उसे छुटकारा मिल जाता है] ।

अपूर्वेणेषिता वाचस्ता वदन्ति यथायथम् ।
वदन्तीर्यत्र गच्छन्ति तदाहुर्ब्राह्मणं महत् ॥३३॥

(अपूर्वेण) अनादि परमेश्वर द्वारा (इषिताः) भेजी हुई (वाचः) वेद-वाणियां हैं । (ताः) वे वेदवाणियां (यथायथम्) तत्त्वों को यथार्थ रूप में (वदन्ति) प्रकट करती हैं । (वदन्तीः) प्रकट करती हुई (यत्र) जहां (गच्छन्ति) चली जाती हैं (तत्) उसे (आहुः) कहते हैं (महत् ब्राह्मणम्) महत्-ब्रह्म या महत्-ब्रह्मवेत्ता, वेदवेत्ता ।

[मन्त्र ३२ में "काव्यम्" कहा है । उसे ही मन्त्र ३३ में "वाचः" कहा है । परमेश्वर इन्हें मनुष्योपकारार्थ भेजता है । ये वस्तुओं का यथार्थ वर्णन करती हैं, और प्रलय में महत्-ब्रह्म में प्रविष्ट हो जाती हैं । ब्राह्मणम्=ब्रह्म+अण् (स्वार्थे) । अथवा ब्रह्म=वेद । अतः वेदवेत्ता] ।

यत्र देवाश्च मनुष्याश्चारा नाभाविव श्रिताः ।
अपां त्वा पुष्पं पृच्छामि यत्र तन्मायया हितम् ॥३४॥

(यत्र) जिसमें (देवाः च) देव और (मनुष्याः च) मनुष्य (श्रिताः) आश्रय पाए हुए हैं (इव) जैसे कि (अराः) अरा [Spokes] (नाभौ) रथ की नाभि में आश्रय पाते हैं । (अपाम् पुष्पम्) जलों के उस पुष्प को

(त्वा) तुझ से (पृच्छामि) मैं पूछता हूं (यत्र) जिस में कि (तत्) वह ब्रह्म (मायया) प्रज्ञा सहित (हितम्) निहित है, स्थित है ।

[देवाः=सूर्यादि देव (यजु० १४।२०) । अपां पुष्पम्=कमल । यह जलों में पैदा होता है और जलों का पुष्प है । इसे मन्त्र ४३ में पुण्डरीक कहा है । मन्त्र ४३ में पुण्डरीक द्वारा हृदय-कमल[1] का वर्णन हुआ है । इसमें ब्रह्म निज प्रज्ञा सहित स्थित है । शरीर में कई क्रियाएं अनिच्छापूर्वक हो रही हैं, यथा श्वास प्रश्वास, रक्त का संचार, भुक्तान्न का परिपाक आदि । ब्रह्म निजप्रज्ञा द्वारा इन क्रियाओं को करता रहता है । अतः हृदय में ब्रह्म माया-सहित स्थित है । माया प्रज्ञानाम (निघं० ३।९)] ।

येभिर्वात इषितः प्रवाति ये ददन्ते पञ्च दिशः सध्रीचीः ।
य आहुतिमत्यमन्यन्त देवा अपां नेतारः कतमे त आसन् ॥३५॥

(येभिः) जिन द्वारा (इषितः) प्रेरित हुई (वातः) वायु (प्रवाति) बहती है, (ये) जो (सध्रीचीः) साथ-साथ मिली हुई (पञ्च) विस्तृत (दिशः) दिशाएं (ददन्ते) प्रदान करते हैं । (ये देवाः) जो देव (आहुतिम्) आहुति को (अति अमन्यन्त) अत्युपयोगी मानते हैं (अपां नेतारः ते) जलों के नेता वे देव (कतमे) कौन से (आसन्) हैं ।

[पञ्च=पचि विस्तारवचने (चुरादिः), यथा "पञ्चास्यः", अर्थात् विस्तृत मुख वाला शेर तथा पचि व्यक्तीकरणे (भ्वादिः) । अथवा पञ्च= पांच । ददन्ते=जो देव दिशाओं का निर्माण करते, या इन का ज्ञान देते हैं । देवों द्वारा दिशाओं का ज्ञान होता है । जहां से सूर्योदय होता है वह पूर्व दिशा है, जहां वह अस्त होता है वह पश्चिम दिशा है । जिधर सप्तर्षि मण्डल है वह उत्तर दिशा है, उसके सामने की दिशा दक्षिण दिशा है । इसी प्रकार चन्द्र आदि द्वारा भी दिशाओं का परिज्ञान होता है । आहुतिम्=पार्थिव-यज्ञाग्नि, वायु तथा सूर्य—ये तीन देव यज्ञिय-आहुतियों को फलदायी करते हैं, वायु को शुद्ध करते, रोगनाश करते, वर्षा करते, तथा स्वास्थ्य प्रदान करते हैं । मानो ये ३ देव यज्ञियाहुतियों को अतिमान प्रदान करते हैं] ।

---

१. आपः का अर्थ "रक्त" भी होता है । यथा (अथर्व० १०।२।११) । अतः "अपां पुष्पम्"=रक्त सम्बन्धी पुष्प=हृदय । अथवा आपः=प्रकृति, इसका पुष्प= विकसित जगत् । "पुष्प विकसने" (दिवादिः) ।

इमामेषां पृथिवीं वस्त एकोऽन्तरिक्षं पर्येको बभूव ।
दिवमेषां ददते यो विधर्ता विश्वा आशाः प्रति रक्षन्त्येके ॥३६॥

(एषाम्) इन [देवों] में (एकः) एक [पार्थिवाग्नि] (इमाम्, पृथिवीम्) इस पृथिवी को (वस्ते) आच्छादित करती या ओढ़ती है, (एकः) एक [वायु] (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को (परिबभूव) घेरे हुए है। (एषाम्) इन में (यः) जो (विधर्ता) विविध सौरमण्डल को धारण करता है वह सूर्य (दिवम्) प्रकाश या दिन (ददते) प्रदान करता है, (एके) ये तीनों (विश्वाः आशाः) सब दिशाओं की (प्रति रक्षन्ति) रक्षा करते हैं।

[मन्त्र ३५ में "कतमे" द्वारा प्रश्न किया है, और मन्त्र ३६ में उत्तर दिया है। वस्ते=वस आच्छादने (भ्वादिः)। पृथिवीस्थ काष्ठादि में अग्नि विद्यमान होकर, पृथिवी को आच्छादित करती है; और अग्नि पृथिवी के गर्भ में भी है, अतः पृथिवी इसकी ओढ़नी है। यह ज्वालामुखी पर्वतों, तथा दावाग्नि रूप में प्रकट होती रहती है]।

यो विद्यात् सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः ।
सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्याद् ब्राह्मणं महत् ॥३७॥

(यः) जो (विततम्) विविध रूपों में फैले हुए (सूत्रम्) सूत्र को (विद्यात्) जाने, (यस्मिन्) जिस में (इमाः प्रजाः) ये प्रजाएं (ओताः) बुनी हुई हैं। तथा (यः) जो (सूत्रस्य सूत्रम्) सूत्र के सूत्र को (विद्यात्) जाने (सः) वह (ब्राह्मणम्, महत्) महत्-ब्रह्म को, या महावेदवेत्ता को (विद्यात्) जाने।

[मन्त्र में सूत्र है प्रकृति, और सूत्र का सूत्र है महत्-ब्रह्म। सूत्र का काम है बान्धना। प्रकृति द्वारा सूर्यादि पदार्थ बन्धे हुए हैं। ब्रह्म, सूत्र को भी बान्धे हुए है। अतः वह सूत्र का भी सूत्र है। प्रकृति तानारूप में है, और ये उत्पन्न पदार्थ उस ताना में बानारूप हैं। इस प्रकार समग्र जगत् परस्पर ओत-प्रोत है। ब्राह्मणम्=ब्रह्म; स्वार्थे अण्। अथवा ब्रह्म=वेद, उस का महावेत्ता, ब्रह्म]।

वेदाहं सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः ।
सूत्रं सूत्रस्याहं वेदाथो यद् ब्राह्मणं महत् ॥३८॥

(अहम्) मैं (वेद) जानता हूं (विततम्) विविध रूपों में फैले हुए

(सूत्रम्) सूत्र को, (यस्मिन्) जिस में (इमाः प्रजाः) ये प्रजाएं (ओताः) बुनी हुई हैं। तथा (सूत्रस्य) सूत्र के (सूत्रम्) सूत्र को (अहम्, वेद) मैं जानता हूं, (अथो) और (ब्राह्मणं महत्) महत्-ब्रह्म को या महावेदवेत्ता ब्रह्म को जानता हूं।

यदन्तरा द्यावापृथिवी अग्निरैत् प्रदहन् विश्वदाव्यः ।
यत्रातिष्ठन्नेकपत्नीः परस्तात् क्वेवासीन्मातरिश्वा तदानीम् ॥३९॥

(विश्वदाव्यः) सब का दहन करने वाली, (प्रदहन्) प्रकर्षरूप में दग्ध करती हुई (अग्निः) अग्नि (यद्) जब (द्यावापृथिवी, अन्तरा) द्युलोक और पृथिवी लोक के भीतर (ऐत्) आई, प्रकट हुई, तब (यत्र) जिस में (परस्तात्) पुराकाल में (एकपत्नीः) एक [ब्रह्म] पति वाली [आपः] (अतिष्ठन्) स्थित थीं, (तदानीम्) तब (मातरिश्वा) वायु (क्व इव) कहां सम्भवतः (आसीत्) थी।

[विश्वदाव्यः=विश्व+दु उपतापे (भ्वादिः)+ण्यत् ?); यह प्रलयाग्नि प्रतीत होती है, जो कि विश्व को भस्मसात् कर देती है। एकपत्नी द्वारा "आपः" प्रतीत होते हैं। परन्तु यह आपः स्थूल जल नहीं। आपः का अर्थ अन्तरिक्ष अर्थात् आकाश प्रतीत होता है। यथा "आपः अन्तरिक्षनाम" (निघं० १।३), तथा "आकाशम् अन्तरिक्षनाम" (निघं० १।३)।

"आपः" का अर्थ जल मानने पर, प्रलय का वर्णन मन्त्र में अनुपपन्न हो जायेगा। आपः कार्य है, प्रलय में कार्य की स्थिति असम्भव है। अतः निघण्टु के अनुसार अर्थ ठीक प्रतीत होता है। आकाश को नैयायिक नित्य मानते हैं, अतः इसकी स्थिति प्रलयकाल में सम्भव है। इस समय मातरिश्वा अर्थात् "अन्तरिक्ष में फैली हुई" वायु कहां थीं, यह प्रश्न मन्त्र में किया है। इस का उत्तर मन्त्र ४० में दिया है]।

अप्स्वासीन्मातरिश्वा प्रविष्टः प्रविष्टा देवाः सलिलान्यासन् ।
बृहन् ह तस्थौ रजसो विमानः पवमानो हरित आ विवेश ॥४०॥

(मातरिश्वा) "अन्तरिक्ष में फैली हुई" वायु (अप्सु) "आपः" में (प्रविष्टः आसीत्) प्रविष्ट थी, (देवाः) देव (सलिलानि) सलिलों में (प्रविष्टाः आसन्) प्रविष्ट थे। (ह) निश्चय से (बृहन्) महान् परमेश्वर (तस्थौ) स्थित था, (रजसो विमानः) जो कि लोकों का निर्माण करता है

(पवमानः) पवित्र करने वाला वह परमेश्वर (हरितः) हरी-भरी दिशाओं में (आ विवेश) प्रविष्ट हुआ।

[मन्त्र में, मन्त्र ३९ के अनुसार "अप्सु" का अर्थ "आकाश" प्रतीत होता है। प्रलय में मातरिश्वा आकाश में प्रविष्ट थी। इसी प्रकार सूर्यादि देव भी "सलिलानि" अर्थात् "अप्सु" में प्रविष्ट थे। "अप्सु" में बहुवचन के अनुसार "सलिलानि" में बहुवचन का प्रयोग हुआ है। प्रलयावस्था में महान्-परमेश्वर स्थित था जो कि लोकों का निर्माण करता है वह पुनः सृष्टिरचना करता हुआ हरी भरी दिशाओं में प्रकट होता है। इस प्रकार मन्त्र ३९ और ४० में आर्थिक समन्वय हो जाता है]।

उत्तरेणेव गायत्रीममृतेऽधि वि चक्रमे ।
साम्ना ये साम संविदुरजस्तत् ददृशे क्व ॥४१॥

(गायत्रीम्) गायत्री से (इव) मानो (उत्तरेण) उत्कृष्ट [परमेश्वर] (अमृते अधि) निज अमृत स्वरूप में (वि चक्रमे) विशेष रूप में पादविक्षेप किये हुए था। (साम्ना) गायत्रसामगान द्वारा (ये) जो उपासक (साम) शान्तिसम्पन्न परमेश्वर को (संविदुः) सम्यक् जानते हैं [उन द्वारा] (अजः) जन्मरहित (तत्) वह ब्रह्म (क्व) कहां (ददृशे) देखा गया या प्रत्यक्ष किया गया था?]।

[परमेश्वर गायत्री का अधिपति है। यथा "यो गायत्र्या अधिपतिर्बभूव" (अथर्व० ४।३५।६)। परमेश्वर गायत्री का अधिपति है अतः गायत्री से श्रेष्ठ है। परमेश्वर प्रलयकाल में तो निज अमृतस्वरूप में स्थित रहता ही है, सर्जनकाल में भी त्रिपाद् रूप से वह अमृत स्वरूप में ही स्थित रहता है। "त्रिपादस्यामृतं दिवि" (यजु० ३१।३)। सामगानों द्वारा, विशेषतया गायत्र सामगान द्वारा, शान्ति सम्पन्न परमेश्वर को सम्यक् रूप में जान लिया जाता है, परन्तु वह अजन्मा केवल सामगानों द्वारा प्रत्यक्ष-दृष्ट नहीं होता। अतः कहा है "तत् ददृशे क्व"। इस का उत्तर मन्त्र ४३ में है; अर्थात् हृदयपुण्डरीक में ध्यान द्वारा वह प्रत्यक्षदृष्ट होता है]।

निवेशनः संगमनो वसूनां देव इव सविता सत्यधर्मा ।
इन्द्रो न तस्थौ समरे धनानाम् ॥४२॥

१. वि+क्रमु पादविक्षेपे (भ्वादिः)।

परमेश्वर (निवेशनः) प्रत्येक वसु को अपने-अपने स्थान में निविष्ट करता है, (वसूनाम्) आठ वसुओं में (संगमनः) परस्पर संगति या समन्वय करता है, (देवः) वह देव (सविता इव) सूर्य की तरह (सत्यधर्मा) सत्य नियमों का धारण करता है। तथा (धनानाम्) धन-सम्बन्धी (समरे) युद्ध में (इन्द्रः न) सेनापति के सदृश (तस्थौ) जगत् में दृढ़ स्थित है।

[वसूनाम्=वसु आठ हैं। अग्नि और पृथिवी, वायु और अन्तरिक्ष, चन्द्रमा और नक्षत्र, सूर्य और द्युलोक। सविता अर्थात् सूर्य के नियम सत्य हैं। वह समय पर उदयास्त होता, यथासमय ऋतुओं का निर्माण करता, नियमानुसार उत्तरायण तथा दक्षिणायन स्थितियां करता है। परमेश्वर के नियम भी सत्य हैं, सुदृढ़ हैं। तथा वह, युद्ध में सेनापति के सदृश जगत् में दृढ़ स्थित है]।

पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम् ।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः ॥४३॥

(नवद्वारम्) नौ द्वारों वाले शरीर में स्थित (पुण्डरीकम्) हृदय-कमल (त्रिभिः गुणेभिः) ३ गुणों द्वारा (आवृतम्) ढका हुआ है। (तस्मिन्) उस [हृदय-कमल] में (यद्) जो (यक्षम्) पूजनीय है, (आत्मन्वत्) जो कि जीवात्म-रूप सखा वाला है (तत्) उसे (वै) निश्चय से (ब्रह्मविदः) ब्रह्मज्ञानी (विदुः) जानते हैं।

[नव द्वारम्=२ आंखों के, २ नासिका के, २ कानों के, १ मुख का, १ लिङ्ग का, १ गुदा का=९ द्वार।

त्रिभिः गुणेभिः=तीन गुण सत्त्व, रजस् तमस्। परन्तु पुण्डरीक होता है श्वेत कमल। यथा "A lotus flower, especially a white lotus (आप्टे)। हृदय तीन गुणों द्वारा निर्मित है। परन्तु हृदयनिष्ठ ब्रह्म के साक्षात् के लिये हृदय में सत्त्वगुण प्रधानरूपेण चाहिये। सत्त्वगुण शुक्ल अर्थात् श्वेत होता है। यथा प्रकृति के सम्बन्ध में कहा है कि "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्" (श्वेताश्व० ४।५)। रजस् है लोहित, सत्त्व है शुक्ल तमस् है कृष्ण। यक्षम्="यक्ष पूजायाम्" (चुरादिः)। आत्मन्वत्=जीवात्मा वाला, जीवात्मा का सखा परमेश्वर]।

४६

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः ।
तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम् ॥४४॥

परमेश्वर (अकामः) कामना रहित है, (धीरः) प्रज्ञावान् (अमृतः) मृत्युरहित, (स्वयंभूः) स्वयं सत्तावान् अर्थात् स्वाश्रित, (रसेन) आनन्द-रस द्वारा (तृप्तः) तृप्त, (कुतश्चन) किसी दृष्टि से (न ऊनः) न्यून नहीं। (आत्मानम्) आत्मरूप, (धीरम्) प्रज्ञावान् या धैर्यवान् (अजरम्) जरारहित, (युवानम्) सदा युवा (तम एव) उस परमेश्वर को ही (विद्वान्) जानता हुआ व्यक्ति, (मृत्योः) मृत्यु से (न बिभाय) भयभीत नहीं होता।

[धीरः="धी प्रज्ञावान्" (निघं० ३।९)+र (मत्वर्थीयः), तथा धैर्यवान्। धैर्यवान् इसलिये कि वह पापी को तत्काल उग्र दण्ड नहीं देता अपितु तप्संस्कार रूप में दण्ड देता है। आत्मानम्=वह सदा आत्मस्वरूप में रहता है, काय को धारण नहीं करता। परमेश्वरज्ञ व्यक्ति मृत्यु से भयभीत नहीं होता, क्योंकि शरीर त्याग के पश्चात् उसने परमेश्वर के आनन्दरस का पान करना है]।

काण्ड १०। सूक्त ८। सम्पूर्ण

—:०:—

सूक्त ९

विषयप्रवेश

(शतौदना=अन्नदात्री पारमेश्वरी माता)

(१) राष्ट्र में पापकर्मों के प्रचार-प्रसार पर प्रतिबन्ध (१)।

(२) पारमेश्वरी-माता के "अधियज्ञ" स्वरूप के वर्णन-प्रसङ्ग में, उस के यज्ञिय अङ्गों का वर्णन (२, ३)।

(३) अध्यात्मगुरुओं और अध्यात्म शिष्य का वर्णन तथा "स्वर्ग और दिवः त्रिदिवम्"। (४-६)।

(४)- शतौदना माता के "शमितारः तथा पक्तारः" तथा गोप्तारः [गोप्स्यन्ति] (७-९)।

(५) सब लोकलोकान्तरों में जाने की क्षमता (६, १०)।

(६) शतौदना अर्थात् सैंकड़ों प्रकार के ओदन आदि भोज्य पदार्थों को प्रदान करने वाली पारमेश्वरी माता द्युलोक, अन्तरिक्ष, तथा भूमि के देवों को क्षीर, सर्पिः, मधु प्रदान करती है (१२)।

(७) सर्वाङ्गसम्पूर्णा और अविकृताङ्गी चतुष्पाद् गौ से आमिक्षा, क्षीर, तथा सर्पिः, मधु का ग्रहण करना (१३-२४)। चतुष्पाद् गौ के अङ्गों के अभिप्राय यथामन्त्र स्थान-स्थान पर दर्शा दिये हैं। इन की विशेष व्याख्या अथर्व० (९।१२(७), १-२५) में देखिये (१३-२४)।

(८) पारमेश्वरी माता का, पक्षिरूप में, उपासक को हृदय-चक्र से मानो उड़ा कर, सहस्रार चक्र में पहुंचाना (२५)।

(९) आध्यात्मिक सफलता पर, शिष्य द्वारा, यज्ञाहुतियां, तथा अध्यात्मगुरुओं का सहभोज; भोजानन्तर जलपान तथा हस्तप्रक्षालनार्थ जल प्रदान तथा आशीर्वाद की प्रार्थना। (२६, २७)।

—:०:—

मन्त्र १-२७ । ऋषिः अथर्वा । देवता-शतौदना । अनुष्टुप्; १ त्रिष्टुप्; १२ पथ्या पंक्तिः; २५ द्व्यनुष्टुब्गर्भानुष्टुप्; २६ पंचपदा बृहत्यनुष्टुबुष्णिग्गर्भा जगती; २७ पंचपदातिजागतानुष्टुब्गर्भा शक्वरी ।

अघायतामपि नह्या मुखानि सपत्नेषु वज्रमर्पयैतम् ।
इन्द्रेण दत्ता प्रथमा शतौदना भ्रातृव्यघ्नी यजमानस्य गातुः ॥१॥

(अघायताम्) पापकर्म चाहने वालों के (मुखानि) मुखों को (अपि नह्य) बान्ध दे, (सपत्नेषु) शत्रुओं पर (एतम् वज्रम्) इस वज्र को (अर्पय) अर्पित कर, प्रेरित कर । (इन्द्रेण) इन्द्र द्वारा (दत्ता) दी गई (प्रथमा) श्रेष्ठ या अनादि (शतौदना) सैकड़ों ओदनों वाली, (भ्रातृव्यघ्नी) तथा शत्रुरूप भावों, विचारों, कर्मों का हनन करने वाली हे पारमेश्वरी मातः ! तू हो, तथा (यजमानस्य) यजमान के लिये (गातुः) मार्गरूप हो ।[1]

[यजमानस्य=तेरा जो पूजन, सत्संग करता, और तेरे प्रति आत्मसमर्पण करता है, उसे तू हे पारमेश्वरी मातः ! मार्ग प्रदर्श करती है । अघायताम्=अघम् (पापम्)+क्यच (छन्दसि परेच्छायामपि)+शतृ=दूसरों के प्रति पापकर्म चाहने वालों के मुखों को बान्धने का अभिप्राय है उन पर प्रतिबन्ध लगा देना ताकि वे पापों का प्रचार न कर सकें ।

सपत्नेषु=पापकर्म, शत्रु हैं । इन पर तू हे मातः ! वज्र प्रहार कर, ताकि ये पनपने न पाएं । इन्द्रेण=इदि परमैश्वर्ये । अध्यात्म सम्पत्ति से सम्पन्न आत्मा द्वारा पारमेश्वरी माता के दर्शन कराए जा सकते हैं, यह है उस का दान ।

शतौदना है पारमेश्वरी माता । वह सैकड़ों प्रकार के ओदन भोज्य पदार्थ दे रही है । भ्रातृव्यघ्नी=पारमेश्वरी माता भातृव्यों अर्थात् सपत्नरूप पाप विचारों तथा पापकर्मों का हनन करती है । "व्यन्सपत्ने" (अष्टा० ४।१।१४५) द्वारा भ्रातृव्य का अर्थ है सपत्न अर्थात् शत्रु । यथा "पाप्मा

---

१. सायणाचार्य के शब्दों में सूक्त का याज्ञिक विनियोग । यथा—

"अघायतामिति सूक्तम् आहुत्यर्थंगोवधे विनियुज्यते । सा च वन्ध्या गौः शतौदनेत्युच्यते । तस्या वधेन, तस्या मांसाहुत्या च यद् यजनं, तत् अग्निष्टोमादपि, अतिरात्रादपि च श्रेष्ठम् इत्यादि रूपाप्रशंसा । या इयं हन्यते तां प्रति 'हन्तृभ्यो मा भैषीः, त्वं देवी भविष्यसि, त्वां स्वर्गे देवा गोप्स्यन्तीत्यादि प्रोत्साहनम्" ।

भ्रातृव्येण" (अथर्व० ५।२२।१२) में पाप को भ्रातृव्य अर्थात् शत्रु कहा है । इस प्रकार सूक्त ९ में पारमेश्वरी माता का वर्णन शतौदना [गौ] के रूप में हुआ है ।

गौ भी सैकड़ों प्रकार के ओदन आदि भोज्य पदार्थ देती है । यथा—दूध, दधि, घृत; तथा बैलों द्वारा कृष्यन्न । समग्र सूक्त में गौ नाम पठित नहीं । यद्यपि गौ के अङ्गों का वर्णन हुआ है । इन अङ्गों के वास्तविक अर्थ भी दर्शा दिये हैं । मन्त्र १२-२४ में आमिक्षा, क्षीर, सर्पिः के साथ मधु का भी वर्णन हुआ है । मधु गौ द्वारा प्राप्त नहीं होता न मधु पद क्षीरम् का विशेषण है । क्योंकि "अथो" द्वारा इस का वर्णन पृथक् रूप में हुआ है] ।

वेदिष्टे चर्म भवतु बर्हिर्लोमानि यानि ते ।
एषा त्वा रशनाग्रभीद् ग्रावा त्वैषोऽधि नृत्यतु ॥२॥

हे पारमेश्वरी मातः ! (वेदिः) यज्ञ की वेदि (ते) तेरा (चर्म) चमड़ा (भवतु) हो, और (बर्हिः) यज्ञिय घास हो (ते यानि लोमानि) तेरे जो लोम हैं । (एषा) यह (रशना) जिह्वा, रस्सी हो जिसने (त्वा) तुझे (अग्रभीद्) बान्धा है, और (एषः) यह (ग्रावा) बट्टा (त्वा) तुझे लक्ष्य करके (अधि) शिला पर (नृत्यतु) नाचे ।

[मन्त्र में यज्ञिय उपकरणों का वर्णन हुआ है जिन द्वारा यज्ञिया परमेश्वरी-माता का स्तवन होता है । इसलिये वेदि, बर्हिः रशना और ग्रावा का वर्णन मन्त्र में हुआ है । रशना का अर्थ जिह्वा भी है और रस्सी भी । जिह्वा द्वारा स्तुति करके पारमेश्वरी माता को बान्धा जाता है, स्वानुकूल किया जाता है, और रस्सी द्वारा गौ को बान्धा जाता है । यज्ञ में सोम ओषधि को पीसने के लिये सिल-बट्टे की आवश्यकता होती है । पीसने में बट्टे को शिला पर आगे-पीछे किया जाता है और इस रगड़ में आवाज होती है, मानो बट्टा स्तुति करता हुआ नाचता है । रशना=Fongue (आप्टे) तथा "जिह्वा वाङ् नाम (निघं १।११) । अतः स्तुति वाक्रूपी रस्सी से तुझे बान्धा है] ।

बालास्ते प्रोक्षणीः सन्तु जिह्वा सं मार्ष्ट्वघ्न्ये ।
शुद्धा त्वं यज्ञिया भूत्वा दिवं प्रेहि शतौदने ॥३॥

(प्रोक्षणीः) यज्ञ में जल सींचने वाला पात्र (ते) तेरे लिये (बालाः) [पूंछ के] बाल (सन्तु) हों, (अघ्न्ये) हे अहन्तव्ये ! अत्याज्ये (जिह्वा) वेदवाणी [मार्जनी होकर] (संमार्ष्टु) सम्यक्रूप में तेरे स्वरूप का संमार्जन करे। इस प्रकार (शतौदने) सैंकड़ों ओदन आदि भोज्य पदार्थों वाली हे पारमेश्वरी मातः ! तू (शुद्धा) शुद्ध स्वरूप और (यज्ञिया) पूजित तथा संगत (भूत्वा) हो कर, (दिवं प्रेहि) हमारे मूर्धा अर्थात् मस्तिष्क में प्राप्त हो।

[जिह्वा=जिह्वा वाङ् नाम (निघं० १।११)। दिवम्="दिवं यश्चक्रे मूर्धानाम्" (अथर्व० १०।७।३२), तथा "शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत" (यजु० ३१।१३)। अभिप्राय है मस्तिष्कस्थ सहस्रार चक्र में तू प्राप्त हो। संमार्ष्टु =मार्जनी अर्थात् झाड़ू जैसे यज्ञ स्थल का संमार्जन कर उसे शुद्ध रूप में प्रकट करती है ऐसे वेदवाक् तेरे शुद्ध स्वरूप को प्रकट करे]।

यः शतौदनां पचति कामप्रेण स कल्पते।
प्रीता ह्यस्यर्त्विजः सर्वे यन्ति यथायथम् ॥४॥

(यः) जो [ध्यान यज्ञ करने वाला] (शतौदनाम्) शतौदना (पारमेश्वरी माता] को (पचति) परिपक्व करता है, (सः) वह (कामप्रेण[1]) कामना को पूर्ण करने वाले (ध्यान यज्ञ) द्वारा (कल्पते) सामर्थ्य वाला हो जाता है, और (अस्य) इस के ध्यानयज्ञ के (ऋत्विक्) अर्थात् अध्यात्म गुरु (प्रीताः) प्रसन्न हो कर (यथायथम्) जहां-जहां जाना चाहिये (यन्ति) चले जाते हैं।

[पचति=ध्यान द्वारा परिपक्व करता है। मन्त्र का अभिप्राय यह कि अध्यात्म गुरुओं को योग्य-शिष्य के निवास स्थान में भी यदि जाना पड़े तो वे कृपा करके जाते हैं, और शिष्य की कामना को पूर्ण कर के यथा स्थान वापिस चले जाते हैं]।

स स्वर्गमा रोहति यत्रादस्त्रिदिवं दिवः।
अपूपनाभिं कृत्वा यो ददाति शतौदनाम् ॥५॥

१. कामप्र-यज्ञ (अथर्व० ११।१।८)।

(यः) जो अध्यात्म गुरु, (अपूपनाभिम्) अपूप का बन्धन (कृत्वा) कर के, (शतौदनाम्) सैंकड़ों ओदनादि भोज्य पदार्थ देने वाली पारमेश्वरी माता का (ददाति) दान करता है, (सः) वह (स्वर्गम्) सुख प्राप्ति के स्थान पर (आरोहति) आरोहण करता है (यत्र) जहां कि (दिवः) दिव् का (अदः) वह (त्रिदिवम्) त्रिदिव रूप है।

[मन्त्र में मस्तिष्क को स्वर्ग कहा है। मस्तिष्कनिष्ठ सहस्रार चक्र स्वर्गरूप है, जहां परमेश्वर का पूर्ण साक्षात् कर अध्यात्म गुरु सुख विशेष पाता है। परमेश्वर के आनन्द रस का पान कर आनन्दी हो जाता है। मस्तिष्क दिव् है। (देखो मन्त्र ३)। मस्तिष्क तीन विभागों में विभक्त है। इसे त्रिदिव कहा है। यथा, बृहत् मस्तिष्क और लघु मस्तिष्क। बृहत् मस्तिष्क के दो भाग हैं, दाहिना गोलार्ध और बायां गोलार्ध। लघु मस्तिष्क बृहत् मस्तिक के नीचे की ओर लगा रहता है। इस प्रकार मस्तिष्क तीन भागों में विभक्त होता है, जिन्हें कि त्रिदिव कहा है।

अपूपनाभिम्=अपूप का अर्थ है पूड़ा। यह मीठा और स्वादु होता है। अध्यात्म गुरु, शिष्य के भोजनार्थ अपूप आदि को नाभि अर्थात् बन्धन बना कर, शिष्य को अपने साथ बान्धे रखता है। नाभि=नह् बन्धने। अन्न-व्यवस्था के विना, शिष्य का बन्धन, गुरु के साथ नहीं हो सकता। क्योंकि अन्न के लिये गुरु का आश्रम त्याग कर उसे अन्यत्र भी जाना पड़ता है। अतः गुरु निज आश्रम में ही शिष्य के लिये अन्न व्यवस्था कर, उसे अपने साथ बान्धे रखता है, और उसे शतौदना प्रदान करता है, पारमेश्वरी माता का ज्ञान प्रदान करता है, उस के स्वरूप का दर्शन कराता है। ऐसा योग्य गुरु निज आध्यात्मिक शक्तियों में समुन्नत हुआ, स्वर्गारोहण का अधिकारी होता है।

स तांल्लोकान्त्समाप्नोति ये दिव्या ये च पार्थिवाः।
हिरण्यज्योतिषं कृत्वा यो ददाति शतौदनाम् ॥६॥

(सः) वह अध्यात्म गुरु (तान् लोकान्) उन लोकों को (समाप्नोति) प्राप्त कर लेता है, (ये) जो (दिव्याः) दिव्य अर्थात् द्युलोक सम्बन्धी हैं। (ये च) और जो (पार्थिवाः) पृथिवी सम्बन्धी हैं, (यः) जो अध्यात्म गुरु (शतौदनाम्) पारमेश्वरी-माता को (हिरण्य ज्योतिषम्) हृदयरमणीय ज्योति वाली (कृत्वा) करके (ददाति) शिष्य को प्रदान करता है।

[हिरण्यम्="हृदयरमणं भवतीति वा" (निरुक्त २।३।१०) । ऐसा अध्यात्म गुरु जो कि शिष्य को उस के हृदय में रमण करने वाली ज्योतिर्मयी पारमेश्वरी माता का दर्शन करा देता है, वह उच्च योग विभूतियों से सम्पन्न होने के कारण, अव्याहित गति से, द्युलोक के लोकलोकान्तरों में, तथा पृथिवी के विविध प्रदेशों में, सशरीर आ-जा सकता है, (देखो यजु० १७।६७)] ।

ये ते देवि शमितारः पक्तारो ये च ते जनाः ।
ते त्वा सर्वे गोप्स्यन्ति मैभ्यो भैषीः शतौदने ॥७॥

(देवि) हे पारमेश्वरी मातृदेवते ! (ये जनाः) जो जन (ते शमितारः) तुझे शान्त करते हैं, (ये च) और जो (ते पक्तारः) तुझे परिपक्व करते हैं (ते सर्वे) वे सब (त्वा) तेरी (गोप्स्यन्ति) रक्षा करेंगे (एभ्यः) इनसे (मा भैषीः) तू न भयभीत हो (शतौदने) हे सैकड़ों ओदन आदि भोज्य पदार्थों को देने वाली पारमेश्वरी मातः !

[शमितारः=शान्त करने वाले; तुझ क्रुद्ध हुई को स्तुति-प्रार्थनाओं द्वारा शान्त करनेवाले जन । शमनम्=Appeasing, soothing, calmnen (आप्टे) । परमेश्वर क्रुद्ध भी हो जाता है । यथा क्रुद्धस्य (अथर्व० (१३।३।१-२५) । उग्रभूचाल, अग्निकाण्ड, अतिवर्षा, वर्षाभाव अर्थात् सूखापन, महामारियां आदि परिणाम हैं उस के क्रोध के । पक्तारः=पकाने वाले जन, ध्यानाभ्यास द्वारा तुझे परिपक्व स्वरूप करते हैं । परिपाकः यथा "परिपक्वबुद्धिः । सर्वे गोप्स्यन्ति=जब सब जन शतौदना की रक्षा करेंगे तब जनों द्वारा इसकी हत्या तथा अग्नि पर उसे पकाना कैसे युक्तिसंगत है । मा भैषीः=तुझे उपासक, अपात्रों तथा कुपात्रों में प्रदान करेंगे इस का भय मत कर । ऐसे व्यक्तियों को, शतौदना का परिज्ञान, उपासक नहीं देते । ऐसा ही भय, कविता में विद्या के सम्बन्ध में भी प्रकट किया है । यथा "विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि । असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती यथा स्याम्" (निरुक्त २।१।३)] ।

वसवस्त्वा दक्षिणत उत्तरान्मरुतस्त्वा ।
आदित्या पश्चाद् गोप्स्यन्ति साग्निष्टोममति द्रव ॥८॥

(वसवः) वसु (त्वा) तुझे (दक्षिणतः) दक्षिण से, (मरुतः) मरुत् (त्वा)

तुझे (उत्तरतः) उत्तर से, (आदित्याः) आदित्य (पश्चात्) पश्चिम से (गोप्स्यन्ति) सुरक्षित करेंगे, (सा) वह तू (अग्निष्टोमम्) अग्निष्टोम को (अतिद्रव) अतिक्रान्त कर जा ।

[प्रचलित प्रथानुसार वसु हैं ८; मरुत् हैं ४९; आदित्य हैं १२ । इन का दक्षिण आदि दिशाओं के साथ किस प्रकार सम्बन्ध है, यह अनुसन्धेय है । मन्त्र में "वसु" द्वारा वसुकोटि के विद्वान्, "मरुतः"द्वारा ऋत्विक्, तथा आदित्यों द्वारा आदित्य कोटि के विद्वान् भी सम्भावित हैं, परन्तु इन का भी दक्षिण आदि दिशाओं के साथ किस प्रकार सम्बन्ध है—यह भी अनुसन्धेय है । पारमेश्वरी-माता [सा] का वर्णन प्रकरणानुसार प्रतीत होता है । इस की रक्षा का अभिप्राय यह है कि "वसु" आदि विद्वान् तेरा प्रचार करके, तेरे नाम को सुरक्षित कर, जगत् से नास्तिकता का उच्छेद करेंगे । अग्निष्टोम के अतिक्रमण करने का अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि अग्निष्टोम यज्ञ द्वारा जो फल प्राप्त होता है उस से अधिक फलदायिनी पारमेश्वरी माता है । इस द्वारा अग्निष्टोम की हेयता प्रतीत होती है और पारमेश्वरी-माता की स्तुति, प्रार्थना, उपासना के लिये प्रेरित किया है । "मरुत् ऋत्विङ् नाम" (निघं० ३।१८)] ।

देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च ये ।
ते त्वा सर्वे गोप्स्यन्ति सातिरात्रमति द्रव ॥९॥

(देवाः) विद्वान् (पितरः) गृहस्थी (मनुष्याः) तथा सर्वसाधारण अन्य मनुष्य (ये गन्धर्वाः) जो पृथिवी का धारण करनेवाले राजा लोग, (अप्सरसः च) और जो उनकी रूपवती पत्नियां हैं (ते सर्वे) वे सब (त्वा गोप्स्यन्ति) तुझे सुरक्षित करेंगे (सा) वह तू (अतिरात्रम्) अतिरात्र को (अतिद्रव) अतिक्रान्त कर जा ।

[अतिरात्र भी यज्ञ है जैसे कि अग्निष्टोम । शेष अभिप्राय मन्त्र ८ के सदृश] ।

अन्तरिक्षं दिवं भूमिमादित्यान् मरुतो दिशः ।
लोकान्त्स सर्वानाप्नोति यो ददाति शतौदनाम् ॥१०॥

अन्तरिक्ष, द्यौः, भूमि, आदित्यों, मरुतों, दिशाओं, और सब लोकों को वह प्राप्त करता है, जो कि शतौदना पारमेश्वरी माता के स्वरूप का दर्शन करा देता है।

[अन्तरिक्ष आदि को प्राप्त करने का अभिप्राय है दाता इन सब में जाने-आने में सामर्थ्यवान् हो जाता है। देखो मन्त्र ६]।

घृतं प्रोक्षन्ती सुभगा देवी देवान् गमिष्यति।
पक्तारमघ्न्ये मा हिंसीर्दिवं प्रेहि शतौदने ॥११॥

(घृतम्) घृत आदि पदार्थों का सिञ्चन अर्थात् प्रदान करती हुई (सुभगा) उत्तम भगों वाली (देवी) पारमेश्वरी मातारूपी देवता (देवान्) दिव्यगुणों वाले व्यक्तियों को (गमिष्यति) प्राप्त होगी। (अघ्न्ये) हे अहन्तव्ये अत्याज्ये मातः! (पक्तारम्) ध्यानाभ्यास द्वारा तेरा परिपाक करने वाले को (मा हिंसीः) तू निज आश्रय से वञ्चित न कर। (शतौदने) हे नानाविध अन्नों को देने वाली! (दिवम् प्रेहि) उपासक के मस्तिष्क में तू प्राप्त हो।

[पारमेश्वरी माता शतौदना है, सैंकड़ों प्रकार के ओदन आदि भोज्य पदार्थ देती है, और घृतादि सात्त्विक पदार्थ भी देती है। वह सुभगा है, श्रेष्ठ भगों वाली है। भग ६ होते हैं, यथा "ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा"॥ ये ६ भग पारमेश्वरी माता के हैं। वह देवों अर्थात् दिव्यगुणियों को ही प्राप्त होती है, अपात्रों और कुपात्रों को नहीं, अर्थात् उन्हें ही प्राप्त होती है जो कि ध्यानाभ्यास द्वारा उसका परिपाक[1] करते हैं। परमेश्वर की छाया ही अमृत है "यस्यच्छायामृतम्", तथा उसकी छाया से वञ्चित रहना यह मृत्यु है "यस्य मृत्युः" (यजु० २५।१३)। यह मृत्यु है "हिंसा"। यथा "मा हिंसीः" (मन्त्र ११)। दिवम्=मूर्धा या शिरः अर्थात् मस्तिष्क तथा मस्तिष्कस्थ-सहस्रारचक्र]।

ये देवा दिविषदो अन्तरिक्षसदश्च ये ये चेमे भूम्यामधि।
तेभ्यस्त्वं धुक्ष्व सर्वदा क्षीरं सर्पिरथो मधु ॥१२॥

१. जैसे कि "परिपक्व बुद्धिः" पद में परिपाक का अर्थ "अग्नि-पर-पकाना" नहीं।

(ये) जो (देवाः) देव (दिविषदः) द्युलोक में स्थित हैं (ये च) और जो (अन्तरिक्षसदः) अन्तरिक्ष में स्थित हैं (ये च) और जो (इमे) ये (भूम्याम् अधि) भूमि में हैं, (तेभ्यः) उन [सब] के लिये (त्वम्) तू [हे पारमेश्वरी मातः!] (सर्वदा) सदा (क्षीरम्) दूध (सर्पिः) घृत, (अथो) और (मधु) मधु (धुक्ष्व) दोहन कर, प्रदान कर।

[याज्ञिक पद्धति के अनुसार शतौदना-गौ का शमन अर्थात् हनन और पकाना हो जाने पर (मन्त्र ७), जब वह शरीर से न रही, तो वह त्रिलोकस्थ देवों के लिये क्षीर आदि कैसे दोहन कर सकती है। मधु के दो अर्थ हैं, (१) जल यथा "मधु उदकनाम" (निघं० १।१२) तथा (२) प्रसिद्ध शहद। मधु, क्षीरम् का विशेषण नहीं, क्योंकि "अथो" द्वारा मधु का स्वतन्त्र वर्णन हुआ है। अतः मन्त्र में चतुष्पाद् प्राणिगौ का वर्णन नहीं। यह न जल देती है, न शहद। अतः मन्त्र में पारमेश्वरी माता का वर्णन है। परमेश्वरी माता सर्वशक्तिमती है। उसने तो समग्र सृष्टि को प्रदान किया हुआ है। जल भी वही प्रदान करती है और शहद भी]।

यत्ते शिरो यत् ते मुखं यौ कर्णौ ये च ते हनू।
आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु ॥१३॥

(यत् ते शिरः) जो तेरा शिर (यत् ते मुखम्) जो तेरा मुख, (यौ कर्णौ) जो दो कान, (यौ च) और जो (ते) तेरे (हनूः) दो जबाड़े हैं [वे सब] आमिक्षा, क्षीर [दूध] घृत और मधु (दात्रे) दाता के लिये (दुह्रताम्) दोहन करें, प्रदान करें।

[आमिक्षा=प्रतप्त दूध में दधि सींचने पर जो स्थूल भाग अर्थात् पनीर पृथक् होता है वह आमिक्षा है। आमिक्षा=आ+मिषु (सेचने, भ्वादिः)। मन्त्र १३ से २४ तक, शतौदना के भिन्न-भिन्न अवयवों से आमिक्षा आदि की प्राप्ति वर्णित हुई है, इस का यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि सब अङ्गों वाली शतौदना का दूध उपयोगी होता है, असम्पूर्णाङ्गी तथा विकृताङ्गी का अनुपादेय है। शतौदना द्वारा पारमेश्वरी माता का ग्रहण करने पर शिर, मुख आदि का क्या अभिप्राय सम्भव है, इसका वर्णन यथामन्त्र साथ-साथ दर्शाया जायेगा। अर्थ दर्शाने से पूर्व दो बातों को ध्यान में रखना चाहिये।

(१) मारी गई, काटी गई, और अग्नि पर भूनी गई और दिव् में पहुंची हुई शतौदना के जब अङ्ग ही न रहे (देखो मन्त्र ७,४,११) तब वह दिविषद्, अन्तरिक्षसद् तथा भूमिष्ठ देवों को आमिक्षा आदि कैसे दे सकती है। वैदिक दर्शनानुसार वेद में मन्त्ररचना बुद्धि पूर्वक हुई है, यथा "बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे" तब मन्त्रार्थं बुद्धिसंगत ही होने चाहियें, बुद्धि विपरीत नहीं। विशेषतया तब जब कि वेदों को परमेश्वरीय रचना माना जाता है।

(२) मन्त्र १३-१४ में प्रतीयमान गोप्राणी तथा उसके शिरः आदि अवयव, ब्रह्माण्ड और ब्रह्माण्ड के अवयवों के रूप में भी कथित हुए हैं। अथर्व० काण्ड ९, सूक्त १२,(७) मन्त्र २५ में "एतद्वै विश्वरूपं सर्वरूपं गोरूपम्" द्वारा ब्रह्माण्ड को गोरूप कहा है, तथा इस सूक्त में गौ के कतिपय अवयवों को भी ब्रह्माण्ड के अवयवों के रूप में वर्णित किया है। जहां-जहां सूक्त में इस प्रकार का वर्णन हुआ है, उन-उन का निर्देश, मन्त्रार्थों के साथ दर्शा दिया जायेगा। तथा यह भी स्मरण रखना चाहिये कि १३-२४ मन्त्रों में जो "मधु" का वर्णन हुआ है वह शतौदना-गोप्राणी द्वारा अप्राप्य है। उसकी प्राप्ति भी परमेश्वर के नियमानुसार पारमेश्वरी माता द्वारा ही होती है।

मन्त्र १३; शिरः=इन्द्रः। हनूः=द्यौरुत्तरहनुः, पृथिव्यधरहनुः (अथर्व० ९।१२।१,२)। मुखम्=अग्निः (यजु० ३१।१२)। कर्णौ=दिशः, "दिशः श्रोत्रात्" (यजु० ३१।१३)।

यौ तु ओष्ठौ ये नासिके ये शृङ्गे ये च तेऽक्षिणी।
आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु ॥१४॥

जो तेरे दो होठ हैं, जो दो नासिका छिद्र हैं, जो दो सींग हैं, और जो तेरी दो आंखें हैं वे दाता के लिये आमिक्षा, क्षीर, सर्पिः और मधु (दुह्रताम्) दोहन करें, प्रदान करें।

[नासिके=श्वास प्रश्वास, यथा "नसोः प्राणः (अथर्व० १९।६०।१)। शृङ्गे=प्रजापति और परमेष्ठी (अथर्व० ९।१२।१)। अक्षिणी=सूर्य और चन्द्र (अथर्व० १०।७।३३)]।

यस्ते क्लोमा यद् हृदयं पुरीतत् सहकण्ठिका।
आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु ॥१५॥

(यत् ते) जो तेरे (क्लोमा) फेफड़े, (यत् हृदयम्) जो हृदय, तथा (सहकण्ठिका, पुरीतत्) कण्ठ के साथ आन्तें हैं, वे (दात्रे) दाता के लिये आमिक्षा, क्षीर, सर्पिः और मधु (दुह्रताम्) प्रदान करें।

[हृदयम्=चेतः। पुरीतत्=व्रतम् (अथर्व० ९।१२(४)।११)। व्रत का अभिप्राय है व्रतानुकूल भोज्यपदार्थ]।

यत्ते यकृद् ये मतस्ने यदान्त्रं याश्च ते गुदाः।
आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु ॥१६॥

(यत् ते) जो तेरा (यकृत्) जिगर, (ये) जो (मतस्ने) दो गुर्दे (यद् आन्त्रम्) जो स्थूल आन्त, (याः च) और जो (ते गुदाः) तेरी गुदा के अवयव हैं, वे दाता के लिये आमिक्षा, क्षीर, सर्पिः और मधु प्रदान करें।

[यकृत्=Liver। [1]मतस्ने=दो गुर्दे, जो कि मदकारी मूत्र को स्रावित कर शुद्धि करते रहते हैं, मत (मद्)+स्ने (ष्णा शौचे अदादिः), आन्त्रम् =Colon स्थूलान्त्र।

तथा यकृत्=मेधा (अथर्व० ९।१२(७)।११)। गुदाः=देवजनाः (अथर्व० ९।१२(७)।१६)। ये ब्रह्माण्ड गौ के अवयव हैं]।

यस्ते प्लाशिर्यो वनिष्ठुर्यौ कुक्षी यच्च चर्म ते।
आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु ॥१७॥

(यः) जो (ते) तेरा (प्लाशिः) मांस (Flesh) है, (यः) जो (वनिष्ठुः) बड़ी आन्त का अन्तिम किनारा है, (यौ) जो (कुक्षी) दो कोखें, (यत् च) और जो (ते) तेरा (चर्म) चमड़ा है, वे (दात्रे) दाता के लिये आमिक्षा, क्षीर, सर्पिः, तथा मधु (दुह्रताम्) प्रदान करें।

[प्लाशयः=पर्वताः; वनिष्ठुः=इरा (अन्नः) इरा अन्ननाम (निघं० २।७); कुक्षिः=क्षुत्[भूख] (अथर्व० ९।१२(७)१२)। चर्म=विश्वव्यचाः (९।१२(७)।१५)। ये ब्रह्माण्डगौ के अवयव हैं]।

---

१. मतस्नाभ्याम्=वृक्काभ्याम् (सायण, अथर्व० २।३३।३)। वृक्कौ=क्रोधः (अथर्व० ९।१२(७)।१३)।

यच्चे॑ मज्जा यदस्थि यन्मांसं यच्चलोहितम् ।
आमिक्षां दुहूतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु ॥१८॥

जो तेरी मज्जा, जो अस्थि, जो मांस, और जो लोहित [रक्त] है, वे दाता के लिये आमिक्षा, क्षीर, सर्पिः और मधु (दुह्लताम्) दोहन करें, प्रदान करें।

[मज्जा=Marrow, नालिका वाली हड्डियों में का गूदा। दाता=पारमेश्वरी माता का दर्शन करा देने वाला]।

मज्जा=निधनम् (अथर्व० ६।१२(७)।१८)। लोहितम्=रक्षांसि (अथर्व० ६।१२(७)।१७)। ये ब्रह्माण्ड-गौ के अवयव या अङ्ग हैं।

यौ ते बाहू ये दोषणी यावंसो या च ते ककुत् ।
आमिक्षां दुहूतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु ॥१९॥

(ते) तेरी (यौ) जो (बाहू) दो बाहु हैं, (ये) जो (दोषणी) बाहुओं के अग्रभाग हैं, (यौ) जो (अंसौ) दो हंसलियां हैं, (या च) और जो (ते ककुत्) तेरा ककुत् है, वे दाता के लिये आमिक्षा, क्षीर, सर्पिः और मधु (दुह्लताम्) दोहें, प्रदान करें।

[अंसौ=Collar bones. । ककुत्=Hump.] बाहू=महादेवः; दोषणी=त्वष्टा और अर्यमा; अंसौ=मित्र और वरुण (अथर्व० ६।१२। (७)।७)। ककुत्=बृहस्पतिः (अथर्व० ६।१२(७)।५)। ये ब्रह्माण्ड-गौ के अङ्ग हैं।

यास्ते ग्रीवा ये स्कन्धा याः पृष्टीर्याश्च पर्शवः ।
आमिक्षां दुहूतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु ॥२०॥

(ते) तेरी (याः ग्रीवाः) जो गर्दन की अस्थियां या अवयव हैं, (ये स्कन्धाः) जो कन्धे की अस्थियां या अवयव हैं, (याः पृष्टीः) जो पार्श्व के अवयव हैं, (याः च पर्शवः) और जो छाती की अस्थियां हैं वे (दात्रे) दाता के लिये आमिक्षा, क्षीर, सर्पिः और मधु (दुह्लताम्) दोहें, प्रदान करें।

ग्रीवाः=रेवतीः, रेवती नक्षत्र के तारे; स्कन्धाः=कृत्तिका नक्षत्र के तारे (अथर्व० ६।१२(७)।३)। पर्शवः=उपसदः; पृष्टयः=देवानां पत्नीः (अथर्व० ६।१२(७)।६)। ये ब्रह्माण्ड=गौ के अङ्ग हैं।

यौ त ऊरू अष्ठीवन्तौ ये श्रोणी या च ते भसत् ।
आमिक्षां दुहूतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु ॥२१॥

(ते) तेरे (यौ ऊरू) जो दो पट्ट [Thighs] हैं, (अष्ठीवन्तौ) दो घुटने हैं, (ये श्रोणी) जो दो चूतड़ अर्थात् कुल्हे [Hips] हैं, (या च) और जो (ते) तेरा (भसत्) जघन अर्थात् जननेन्द्रिय है वे (दात्रे) दाता के लिये आमिक्षा, क्षीर, सर्पिः और मधु (दुह्लताम्) दोहें, प्रदान करें।

[ऊरू=बलम्; श्रोणी=ब्रह्म च क्षत्रम् च; (अथर्व० ६।१२(७)।६)। भसत्=इन्द्राणी (अथर्व० ६।१२(७)।८)]।

यच्चे पुच्छं ये ते वाला यदूधो ये च ते स्तनाः ।
आमिक्षां दुहूतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु ॥२२॥

(ते) तेरी (यत् पुच्छम्) जो पूंछ है, (ते) तेरे (ये वालाः) पूंछ के वाल हैं, (यत् ऊधः) जो दुग्धाशय है, (ते) तेरे (ये च स्तनाः) जो स्तन हैं, वे (दात्रे) दाता के लिये आमिक्षा, क्षीर, सर्पिः, और मधु (दुह्लताम्) दोहें, प्रदान करें।

[पुच्छम्=वायुः; वालाः=पवमानः; ऊधः=स्तनयित्नुः; स्तनाः=वर्षस्य पतयः (अथर्व० ६।१२(७)।८, १४)। ये ब्रह्माण्ड-गौ के अङ्ग हैं। दाता है पारमेश्वरी-माता का दर्शन कराने वाला अध्यात्म गुरु]।

यास्ते जङ्घाः याः कुष्ठिका ऋच्छरा ये च ते शफाः ।
आमिक्षां दुहूतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु ॥२३॥

(ते) तेरी (याः) जो (जङ्घाः) जङ्घाएं हैं, (याः) जो (कुष्ठिकाः) कुष्ठिकाएं हैं, (ऋच्छराः) जो ऋच्छराएं हैं, (ये च) और जो (ते) तेरे (शफाः) खुर हैं, वे (दात्रे) दाता के लिये (आमिक्षाम्……) आमिक्षा, क्षीर, सर्पिः, और मधु (दुह्लताम्) दोहें, प्रदान करें।

[जङ्घाः=चार टांगों की, घुटनों से नीचे की, चार अधः शाखाएं। कुष्ठिकाः=सम्भवतः चार Tibia अस्थियां, संमुख की चार अस्थियां। ऋच्छराः=सम्भवतः चार fibula अस्थियां, पश्चात् जङ्घास्थियां]। ये गोपशु की अस्थियां हैं।

तथा जङ्घाः=गन्धर्वाः । कुष्ठिकाः=अप्सरसः । शफाः=अदितिः (अथर्व० ९।१२ (७)।१०) । ये ब्रह्माण्ड-गौ के सम्बन्ध की अस्थियां या अवयव हैं जिन का कि सम्बन्ध शतौदना पारमेश्वरी माता के साथ है] ।

यत्ते चर्म शतौदने यानि लोमान्यघ्न्ये ।
आमिक्षां दुहृतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु ॥२४॥

(शतौदने) हे शतौदने ! (ते) तेरा (यत् चर्म) चमड़ा है, (अघ्न्ये) हे अहन्तव्ये ! (यानि लोमानि) जो लोम हैं, वे (दात्रे) दाता के लिये आमिक्षा, क्षीर, सर्पिः, और मधु (दुहृताम्) दोहें, प्रदान करें ।

[शतौदना=सैकड़ों प्रकार के ओदन आदि भोज्य पदार्थ देने वाली पारमेश्वरी माता, अघ्न्ये=अ+हन्+यक् (उणा० ४।१३)] ।

चर्म=विश्वव्यचाः, विश्व में फैला हुआ आकाश या अन्तरिक्ष । लोमानि=ओषधयः (अथर्व० ९।१२(७)।१५), ब्रह्माण्ड-गौ पक्ष में जिस की अधिष्ठात्री पारमेश्वरी माता है । दाता=पारमेश्वरी माता का दर्शन करा देने वाला अध्यात्म गुरु ।

क्रोडौ ते स्तां पुरोडाशावाज्येनाभिघारितौ ।
तौ पक्षौ देवि कृत्वा सा पक्तारं दिवं वह ॥२५॥

(ते) तेरे (क्रोडौ) दो क्रोड़, (आज्येन) घृत द्वारा (अभिघारितौ) सींचे गए (पुरोडाशौ) दो पुरोडाश हों । (देवि) हे देवि ! (तौ) उन दो [पुरोडाशों] को (पक्षौ) दो पंख (कृत्वा) कर के (पक्तारम्) पकाने वाले को (दिवम्) दिव् में (वह) ले जा या पहुंचा ।

[क्रोडौ=छाती के वाम-दक्षिणपार्श्व । पुरोडाशौ=जौ या तण्डुल की पीठी द्वारा, आग पर पकाए, दो भटूरे । पुरोडाशों की यज्ञाहुतियां दी जाती हैं । यज्ञ द्वारा यजमान स्वर्ग पहुंचने का अधिकार प्राप्त करता है । पुरोडाश चूंकि गौ [बैल] द्वारा कृषिजन्य जौ तण्डुलों द्वारा बनाया जाता है, अतः परम्परया पुरोडाश का सम्बन्ध गौ के साथ है । अतः कल्पनारूप में कहा है कि हे गौ ! तू दो पंखों वाले पक्षीरूप हो कर तू, यजमान को स्वर्ग पहुंचा] पारमेश्वरी माता के पक्ष में दो पुरोडाश हैं मस्तिष्क के दाएं-बाएं के दो खण्ड । इन्हें हो माता को छाती के वाम-दक्षिण के दो पार्श्व और इन

में लगे दो पंख कहा है । माता पक्षीरूप होकर उपासक को उस के दिव्-रूपी मस्तिष्क में स्थित सहस्रारचक्र में मानो शीघ्र उड़ाकर, पहुंचा देती है । उपासक हृदयचक्र में विराजमान था । किसी अध्यात्म गुरु की शक्ति न थी कि वह उपासक को हृदय-चक्र से उठाकर शीघ्र सहस्रारचक्र में पहुंचा दे । इसलिये अध्यात्मगुरु, माता से प्रार्थना करता है कि वह इस उपासक को शीघ्र सहस्रारचक्र में पहुंचा दे ।

उलूखले मुसले चर्मणि यो वा शूर्पे तण्डुलः कणः ।
यं वा वातो मातरिश्वा पवमानो ममाथाग्निष्टद् होता सुहुतं कृणोतु ॥

(उलूखले) ओखली में, (मुसले) मुसल में, (यः च) और जो (चर्मणि) मृगछाल पर (वा) या (यः) जो (शूर्पे) छाज में, (तण्डुलः कणः) तण्डुल और तण्डुल के कण अर्थात् टूटे-तण्डुल हैं, (वा) या (यम्) जिसे कि (पवमानः) बहती हुई (मातरिश्वा वातः) अन्तरिक्ष में गति करती हुई तथा फैली हुई वायु ने (ममाथ) मथ डाला है, (तत्) उस सब को (होता अग्निः) दाता अग्नि (सुहुतम्) उत्तम-आहुत (कृणोतु) करे ।

[मृगछाल पर ओखली को रखकर, मुसल द्वारा धान्य को कूटकर, तण्डुल प्राप्त किया जाता है । इस कूटे धान्य को छाज द्वारा, बहती वायु में छान कर, तुष पृथक् करके तण्डुल और तण्डुल कण प्राप्त किये जाते हैं । ये यज्ञार्थ होते हैं । इन्हें अग्नि पर पका कर, पके चावलों की आहुतियां यज्ञियाग्नि में, तथा अध्यात्मगुरुओं की जाठराग्नि में दी जाती हैं । इधर-उधर बिखरे तण्डुलों और कणों को एकत्र कर इन्हें पकाया जाना चाहिए । यज्ञार्थ-गृहीत धान्यों का कोई तण्डुल या कण व्यर्थ नहीं होना चाहिए । इन सबको अग्नि पकाकर सुहुत करती है । मानो यह भात अग्नि ने होता अर्थात् दाता बनकर प्रदान किया है । होता=हु दानादनयोः । आदाने चेत्येके (जुहोत्यादिः) । इस परिपक्व भात में से यज्ञियाग्नि में आहुतियां दे कर, शेष द्वारा अध्यात्म-गुरुओं, का अन्न प्रदान द्वारा सत्कार करने का निर्देश मन्त्र में हुआ है] ।

अपो देवीर्मधुमतीर्घृतश्चुतो ब्रह्मणां हस्तेषु प्रपृथक् सादयामि ।
यत्काम इदमभिषिञ्चामि वोऽहं तन्मे सर्वं सं पद्यतां वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥२७॥

(देवीः) दिव्यगुणों वाले (मधुमतीः) मधुर, (घृतश्चुतः) घृतस्रावी (अपः) जलों को (ब्रह्मणाम्) ब्रह्मवेत्ताओं के (हस्तेषु) हाथों में (प्रपृथक्) प्रत्येक में पृथक्-पृथक् (सादयामि) मैं स्थापित करता हूं। (यत्कामः) जिस कामना वाला, (इदम्) इस जल को, यह (अहम्) मैं (वः) तुम ब्रह्मज्ञों के लिए (अभिषिञ्चामि) अभिषिक्त करता हूं, सींचता हूं (तत् सर्वम्) वह सब काम्य वस्तु (मे) मेरी (संपद्यताम्) सम्पन्न हो, पूर्ण हो जाय (वयम्) और हम (रयीणाम्) योग विभूतियों के (पतयः स्याम) स्वामी हो जाएं।

[मन्त्र के प्रथमार्ध में अन्न द्वारा सत्कार पाने के समय, जलपान तथा हस्त-प्रक्षालन के लिए जल, प्रत्येक को देने का निर्देश है। पेयजल स्वच्छ, मधुर होना चाहिए, जो कि मानो घृतस्रावी होता है, घृतवत् पौष्टिक तथा आयुवर्धक होता है। मन्त्र के द्वितीयार्ध में ब्रह्मज्ञों के मुख तथा हस्त-प्रक्षालन के लिये जल सींचा जाता है। इस द्वारा अन्नसत्कार पूर्ण हो जाता है। यह अतिथियज्ञ जैसा सत्कर्म है। योगाभ्यासी निज कामना की सम्पन्नता इन योग-गुरुओं द्वारा चाहता है, और यह भी चाहता है कि आश्रमवासी सभी योगाभ्यासी योग की सम्पत्तियों अर्थात् विभूतियों के स्वामी बन जाएं। प्रकरणानुसार, कामना वाला व्यक्ति, सहस्रार-चक्र में निज स्थिति चाहता है। घृतश्चुतः=घृतं क्षरणशीलं दीप्यमानं वा अमृतं श्चोतन्ति क्षरन्तीति (सायण, अथर्व० १।३३।४)]।

काण्ड १०। सूक्त ९। सम्पूर्ण

—:o:—

सूक्त १०

विषयप्रवेश

(वशा=जगत् को वश में करने वाली पारमेश्वरी माता)

(१) मन्त्र १-३४। वशा का वर्णन। सायणाचार्य तथा विनियोगकारों के मत में वशा है चतुष्पाद् बन्ध्या गौ।

(२) गौ के निर्देशकः—वशा के दोहने तथा दूध का वर्णन (५,३१); क्षीर का वर्णन (८); पयः का वर्णन (१०,३१); ऊधस् का वर्णन (७); स्तनों का वर्णन (२०); गर्भ का वर्णन (२३); आन्त्र, सक्थियों का वर्णन (२१); इत्यादि चतुष्पाद् गौ के सूचक हैं। परन्तु यह और इसी प्रकार अन्य वर्णन औपचारिक हैं, गौण हैं।

(३) परन्तु इनसे अतिरिक्त वशा का वर्णन, प्रायः जगद्वशयित्री कमनीया तथा कान्तिमयी पारमेश्वरी माता परक है। वशा के साथ समुद्र का वर्णन (१३); ऋचः और सामानि का वर्णन (१४); द्यौः, पृथिवी, जलों की रक्षा का वर्णन (४); वशा को अमृत और मृत्यु कहना (२६); इसके रेतस् का चतुर्धा विभाजन (२९); वशा को द्यौः, पृथिवी, विष्णु, प्रजापति कहना (३०); वशा को सर्वरूप कहना (३४); तथा इस प्रकार के अन्य वर्णन, मुख्यरूप में, पारमेश्वरी वशा-माता के सम्बन्ध में चरितार्थ होते हैं।

—:o:—

मन्त्र १-३४; कश्यपः। वशा। अनुष्टुप्; १ ककुम्मती; ५ पञ्चपदा-स्कन्धोग्रीवीबृहती; ६,८,१० विराट्; २३ बृहती; २४ उपरिष्टाद् बृहती; २६ आस्तार पंक्तिः; २७ शंकुमती; २९ त्रिपदा विराड्गायत्री; ३१ उष्णिग्गर्भा; ३२ विराट् पथ्याबृहती।

नमस्ते जायमानायै जाताया उत ते नमः।
बालेभ्यः शफेभ्यो रूपायाघ्न्ये ते नमः ॥१॥

हे पारमेश्वरी मातः! (जायमानायै) प्रकट होती हुई (ते) तेरे प्रति

(नमः) नमस्कार हो (उत जातायै) तथा प्रकट हो गई (ते) तेरे लिए (नमः) नमस्कार हो। (बालेभ्यः) बालों के प्रति, (शफेभ्यः) शफों के प्रति, (ते) तथा तेरे (रूपाय) रूप के प्रति (अघ्न्ये) हे अहन्तव्ये, अत्याज्ये! (नमः) नमस्कार हो।

ध्यानाभ्यास द्वारा जब पारमेश्वरी माता प्रकट हो रही होती है, अर्थात् उस के प्रकट होने के पूर्व-चिह्न जब प्रकट हो रहे होते हैं तब उसे नमस्कार किया है। पूर्व चिह्न हैं यथाः—

नीहारधूमार्कानलानिलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम्।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे॥
(श्वेता० उप० २।११)

नीहार अर्थात् कोहरा, धुआं, सूर्य, आग, वायु, चमकते तारे, विद्युत्, स्फटिक और चन्द्रमा,—जब ध्यान में ये भासित होने लगते हैं, तब इन्हें ब्रह्माभिव्यक्ति के पूर्व-चिह्न जानने चाहिए। इस अवस्था में ध्याती परमेश्वर को नमस्कार कर उस की अधिक कृपा चाहता है।

तथा वह जब साक्षात्-प्रकट हो जाता है तब भी उस के प्रति ध्यानी नमस्कार करता है। बालेभ्यः—मन्त्रों में सामगानों को ब्रह्म के लोम कहा है। यथा "सामानि यस्य लोमानि" (अथर्व० १०।७।२०)। यह इसलिए कि भक्ति पूर्ण गान गाने पर प्रायः लोमहर्षण हो जाता है। सामगानों का आधार सामवेद है, जो कि परमेश्वरीय ज्ञानरूप है, अतः लोमों अर्थात् सामों [परमेश्वरीय ज्ञान] के प्रति नमस्कार किया है।

शफेभ्यः=मन्त्र में शफेभ्यः का प्रयोग औपचारिक है। यह परमेश्वर की संहारक शक्ति का प्रदर्शक है। यथा "शफेन इव ओहते" (अथर्व० २०।१३१।७) में कहा है कि परमेश्वर तो जिस का संहार चाहता है उसे अनायास उखेड़ देता है, जैसे कि गौ शफ अर्थात् खुर द्वारा खुम्ब को आसानी से उखेड़ फेंकती है। तथा देखो मन्त्र (अथर्व० २०।६३।५); अथर्ववेद-भाष्य २० वां काण्ड, ग्रन्थकार का भाष्य।

रूपाय—जब ब्रह्म साक्षात्—प्रकट हो जाता है तब, उस के रूप के प्रति नमस्कार कहा है]।

विशेष—तथा यह भी जानना चाहिये कि वेदों में गोमाता को विशेष महत्त्व दिया गया है। इस लिये वैदिक सूक्तों में वर्णनीय देवता को गोरूप

में वर्णित कर, उस के शफ आदि अङ्गों का भी वर्णनीय देवता के सम्बन्ध में औपचारिक वर्णन होता है। देखो (अथर्व० ९।१२।२५) जिस में कि "विश्व" को "गोरूप" कहा है]।

यो विद्यात् सप्त प्रवतः सप्त विद्यात् परावतः।
शिरा यज्ञस्य यो विद्यात् स वशां प्रति गृह्णीयात् ॥२॥

(यः) जो (सप्त) सात (प्रवतः) समीप के लोकों को (विद्यात्) जाने, और (सप्त) सात (परावतः) दूर के लोकों को (विद्यात्) जाने, तथा (यः) जो (यज्ञस्य) संसार-यज्ञ के (शिरः) सिर को (विद्यात्) जाने, (सः) वह (वशाम्) वशा का (प्रति गृह्णीयात्) प्रतिग्रह करे, उस का ग्रहण करे।

[वशा का अर्थ है "जगत् को वश में रखने वाली, काम्या, कान्तिमती पारमेश्वरी माता। "सप्त परावतः" हैं, भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्य लोक। और "सप्त प्रवतः" हैं अतल, वितल, सतल, रसातल, तलातल, महातल, और पाताल। ये सात पृथिवी के ही सात विभाग हैं। यज्ञ का सिर है,—परमेश्वर। यथा "स यज्ञः तस्य यज्ञः स यज्ञस्य शिरस्कृतम्" (अथर्व० १३।७ (४) ।१२ [४०]। "प्रवतः" और "परावतः" मिल कर चतुर्दश भुवन होते हैं। जो व्यक्ति इन भुवनों की संख्या को ठीक प्रकार जान कर, यह जानता है कि इन्हें वश में करने वाली केवल पारमेश्वरी माता है और वह ही इन का शिरोरूप है, वह आस्तिक प्रकृति वाला व्यक्ति वशा के स्वरूपग्रहण का अधिकारी होता है, नास्तिक अधिकारी नहीं होता, नास्तिक श्रद्धावान् नहीं होता और विना श्रद्धा के कोई व्यक्ति पारमेश्वरी माता के दर्शन का अधिकारी नहीं बनता]।

वेदाहं सप्त प्रवतः सप्त वेद परावतः।
शिरो यज्ञस्याहं वेद सोमं चास्यां विचक्षणम् ॥३॥

(अहम्) मैं (सप्त प्रवतः) सात समीपस्थ लोकों को (वेद) जानता हूं, (सप्त परावतः) सात दूर के लोकों को (वेद) जानता हूं, (अहम्) मैं (यज्ञस्य) संसार यज्ञ के (शिरः) सिर को (वेद) जानता हूं, (च) और (अस्याम्) इस वशा में स्थित (विचक्षणम्) दर्शनीय (सोमम्) चन्द्रमा को जानता हूं।

[अभिप्राय यह कि १४ भुवन और चन्द्रमा, वशा नाम वाली पारमेश्वरी माता की गोद में खेल से रहे हैं, और वह ही इन सब में शिरोमणि है, यह मैं, प्रतिग्रह करने वाला, जानता हूं] ।

यया द्यौर्यया पृथिवी ययापो गुपिता इमाः ।
वशां सहस्रधारां ब्रह्मणाच्छावदामसि ॥४॥

(यया) जिस वशा द्वारा (द्यौः) द्युलोक (यया) और जिस द्वारा पृथिवी, (यया) जिस वशा द्वारा (इमाः) ये (आपः) समग्र जल (गुपिताः) सुरक्षित हैं, उस (वशाम्) वशा का, (सहस्रधाराम्) जोकि हजारों लोक-लोकान्तरों का धारण कर रही है, (ब्रह्मणा) वेद द्वारा या ब्रह्मवेद [अथर्ववेद] द्वारा (अच्छा) अच्छे प्रकार या साक्षात् रूप में (वदामसि) हम कथन करते हैं ।

[वशा=पारमेश्वरी माता] ।

शतं कंसाः शतं दोग्धारः शतं गोप्तारो अधि पृष्ठे अस्याः ।
ये देवास्तस्यां प्राणन्ति ते वशां विदुरेकधा ॥५॥

(शतम्) सैकड़ों (कंसाः) कंस के बने कमनीयपात्र (शतं दोग्धारः) सैकड़ों वशा माता के दुग्ध को दोहने वाले, (शतं गोप्तारः) सैकड़ों इस की रक्षा करने वाले ग्वाले, (अस्याः पृष्ठे अधि) इस पृथिवी की पीठ पर हैं । या इस माता के आश्रय में हैं । परन्तु (ये) जो (देवाः) दिव्यगुणी जन (अस्याम्) इस वशा के आश्रय में रहकर (प्राणन्ति) प्राण धारण करते हैं, जीवन-चर्या करते हैं । (ते) वे (वशाम्) वशा माता को (एकधा) एक प्रकार से ही (विदुः) जानते हैं ।

[वशा का वर्णन गौ के रूप में मन्त्र में हुआ है । इसके दूध के दोहने के लिये कमनीय कंसपात्रों के सदृश सैकड़ों कमनीय हृदय हैं । सैकड़ों इस के दूध के दोहने वाले हैं । सैकड़ों इस के रक्षक ग्वाले हैं, जो कि इस पृथिवी की पीठ पर निवास करते हैं, परन्तु जो दिव्यगुणी जन इसके ही आश्रय में रहकर निज जीवनचर्या करते हैं वे पारमेश्वरी माता के स्वरूप का कथन एक प्रकार का ही करते हैं, अर्थात् इस के स्वरूप के सम्बन्ध में मतभेद नहीं रखते । तथा पृथिवी वासी अन्य जन भिन्न-भिन्न प्रकार से पारमेश्वरी माता के स्वरूप का कथन करते हैं, क्योंकि उन्होंने पारमेश्वरी माता का साक्षात् दर्शन नहीं किया होता] ।

यज्ञपदीराक्षीरा स्वधाप्राणा महीलुका ।
वशा पर्जन्यपत्नी देवी अप्येति ब्रह्मणा ॥६॥

(यज्ञपदी) पारमेश्वरी माता यज्ञरूपी पैरों[1] वाली है, (इरा) अर्थात् आनन्दरसरूपी (क्षीरा) दूध वाली है, (स्वधा प्राणा) शरीर धारण करने योग्य सात्त्विकान्न द्वारा प्राण प्रदान करती है, (महीलुका) पृथिवी इस का विशिष्ट लोक है । (पर्जन्यपत्नी) धर्म मेघ समाधि की रक्षा करती है, (वशा) वशा माता (देवी) जो कि दिव्यगुणों वाली है वह, (ब्रह्मणा) मन्त्रोक्त विधि द्वारा या ब्रह्मवेद [अथर्ववेद] द्वारा प्रदर्शित विधि द्वारा (अप्येति) प्राप्त होती है ।

[पारमेश्वरी माता उपासना तथा ध्यानयोगरूपी कर्मों के कारण मानो स्वयं पैरों द्वारा, यज्ञ करने वाले को पहुंच जाती है । इरा है जल, यथा "इरा=water, (आप्टे) । अतः "इरावत्यः नदीनाम" (निघं० १।१३) । परमेश्वरीय माता का आनन्दरस है इरा, जिसे कि क्षीर अर्थात् दूध कहा है । परमेश्वरीय माता, सात्त्विक अन्न; जिस द्वारा "स्व" का "धा" (धारण) हो सके, प्राणप्रदा है । महीलुका=महिलोका; (पैप्पलाद-शाखा) । "महीलुका" में "वर्णविकार" द्वारा "ओ" के स्थान में "उ" हुआ है । मही अर्थात् पृथिवी, परमेश्वरीय माता का "विशिष्ट-लोक" है, यहीं के निवासी ध्यानी जन, ध्यानाभ्यास में, उस के आनन्दरस के पान के इच्छुक होते हैं । पर्जन्य पत्नी पद में प्रकरणानुसार "धर्ममेघसमाधि" प्रतीत होती है (योग-४।२९) "मेघ और पर्जन्य" पर्यायवाची हैं । पत्नी का अर्थ है "रक्षा करने वाली", पा (रक्षणे) पारमेश्वरी माता ध्यानी की धर्म-मेघसमाधि की रक्षा करती है । पत्नी शब्द का प्रयोग रक्षा अर्थ में भी होता है । यथा "गृहपत्नी यथासः" (अथर्व० १४।२।१०) अर्थात् हे पत्नि! तू गृह की रक्षा करने वाली हो न कि गृहवासियों की सांझी पत्नी ।

अनु त्वाग्निः प्राविशदनु सोमो वशे त्वा ।
ऊधस्ते भद्रे पर्जन्यो विद्युतस्ते स्तना वशे ॥७॥

(वशे) सब जगत् को वश में करने वाली कमनीया हे पारमेश्वरी माता ! जगद्रचना काल में (त्वा) तुझ में (अनु) पश्चात् (अग्निः प्रावि-

1. अथवा यज्ञ सम्बन्धी मन्त्रपदों वाली ।

शत्) अग्नि प्रविष्ट हुई, (अनु) पश्चात् ही (त्वा) तुझ में (सोमः प्राविशत्) चन्द्रमा प्रविष्ट हुआ। (भद्रे) हे कल्याणीमातः! (पर्जन्यः) मेघ है (ते ऊधः) तेरा दुग्धाशय, (वशे) हे वशे! (विद्युतः) मेघस्थ विद्युतें हैं (ते स्तनाः) तेरे स्तन।

[मन्त्र ६ में "पर्जन्य शब्द" आध्यात्मिक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और मन्त्र ७ में आधिदैविक अर्थ में। सृष्टिरचना से पूर्व न अग्नि की सत्ता थी, न चन्द्रमा की। वशा माता ने जगत् जैसे-जैसे रचा वैसे-वैसे अग्नि आदि ने उसमें प्रवेश पाया, वह अग्नि आदि का आश्रय बनी। पर्जन्य उस का ऊधस् बना और जलरूपी दुग्ध प्राप्त हुआ, जल-दुग्ध के प्रदान में विद्युतें हुईं स्तन। स्तन यतः गोमाता के ४ होते हैं, इसलिये "विद्युतः" में बहुवचन है। विद्युत के कारण मेघ से वर्षा होती है। मन्त्र में वशामाता को गौरूप में वर्णित कर उसके ऊधस् और स्तनों का कथन किया है]।

अपस्त्वं धुक्षे प्रथमा उर्वरा अपरा वशे।
तृतीयं राष्ट्रं धुक्षेऽन्नं क्षीरं वशे त्वम् ॥८॥

(वशे) हे वशामातः (त्वम्) तू (प्रथमाः अपः) पहिले जलों का (धुक्षे) दोहन अर्थात् प्रदान करती है, (अपराः उर्वराः) तत्पश्चात् भूमियों को उपजाऊ करती है। (तृतीयम्) तीसरे (राष्ट्रम्) राष्ट्रत्व का (धुक्षे) दोहन करती है, फिर (वशे) हे वशामातः! (त्वम्) तू (अन्नम्, क्षीरम्) अन्न और दुग्ध दोहन करती है।

[मन्त्र में उत्पत्ति क्रम दर्शाया है। (१) जलों का प्रदान। (२) जलों द्वारा भूमियों को उपजाऊ बनाना। (३) राष्ट्र भावना का ज्ञान दे कर राष्ट्र स्थापित करना। (४) राष्ट्रव्यवस्था हो जाने पर सब प्रजाजनों को अन्न और दूध मिल सकना। सात्विक अन्न-दूध सर्वश्रेष्ठ अन्न है]।

यदादित्यैर्हूयमानोपातिष्ठ ऋतावरि।
इन्द्रः सहस्रं पात्रान्त्सोमं त्वापाययद् वशे ॥९॥

(ऋतावरि) हे उग्रनियमों वाली वशा मातः। (आदित्यैः) आदित्य ब्रह्मचारियों सदृश, अथवा आदित्य समान तेजस्वी राष्ट्राधिकारियों द्वारा (हूयमाना) आहूत हुई तू (उपातिष्ठः) जब राष्ट्र में उपस्थित हुई, तब (इन्द्रः) राजा या सम्राट् ने (वशे) हे वशा मातः! (त्वा) तुझे (सहस्रम् पात्रान् सोमम्) सोम से भरे हजारों पात्र [प्याले] (अपाययत्) पिलाये।

[ऋतावरि=ऋतम् (नियम)+वनिप् (मत्वर्थीयः)+ङीप्+र। ऋत से अभिप्राय है ऋतमुग्रम् (अथर्व० १२।१।१)। मन्त्र ८ में "राष्ट्र" का वर्णन है, और राष्ट्र के नियम उग्र होने चाहिये। आदित्य के समान राष्ट्राधिकारी जब निज राष्ट्र में "ऋतावरी-वशामाता" का आह्वान करते हैं, राष्ट्र को आस्तिक और वशामातृभक्त बनाना चाहते हैं, तब इन्द्र अर्थात् राष्ट्र शासक राजा या सम्राट्, मानो वशामाता को, भक्तों के भक्तिरसरूपी सोम के हजारों पात्र पिलाता है, अर्थात् राष्ट्र या साम्राज्य, परमेश्वरीय उग्रनियमों द्वारा शासित होने पर, जब हजारों प्रजाजन भक्तिरस से आविष्ट हो जाते हैं, तब भक्त, उपासना में, भक्तिरस भरे निज हृदयों को वशामाता के प्रति भेंट करते हैं। इन्द्र से अभिप्राय सम्राट् का है। यथा "इन्द्रश्च सम्राट् वरुणश्च राजा" (यजु० ८।३७)। राष्ट्र का शासक राजा होता है, जो कि प्रजा द्वारा वरण किया जाता है, चुना जाता है। अतः उसे वरुण कहते हैं। परन्तु सम्राट्[1] साम्राज्य का शासक होता है, जो कि वरुण राजाओं द्वारा चुना जाता है। साम्राज्य, नाना राष्ट्रों का समुदाय रूप होता है। मन्त्र में साम्राज्य को भी राष्ट्र कहा है, जब कि यह राजशक्ति द्वारा सम्यक्-पालित होता है। राष्ट्र=राज्+त्रैङ् (पालने)। इन्द्र अर्थात् सम्राट् पद द्वारा, साम्राज्य के सभी प्रजाजनों को आस्तिक बनाने की भावना प्रतीत होती है]।

यदनूचीन्द्रमैरात् त्वं ऋषभोऽह्वयत्।
तस्मात्ते वृत्रहा पयः क्षीरं क्रुद्धोऽहरद्वशे ॥१०॥

यत्ते क्रुद्धो धनपतिरा क्षीरमहरद्वशे।
इदं तदद्य नाकस्त्रिषु पात्रेषु रक्षति ॥११॥

(ऋषभः) श्रेष्ठ इन्द्र अर्थात् सम्राट् ने (यत्) जो (त्वा) तुझे (अह्वयत्) बुलाया, तेरा आह्वान किया, तो तू (आत्) तदनन्तर (अनूची) उस

1. सम्राट् मिल कर एकराट् को चुनते हैं (अथर्व० ३।४।१)। इसे जनराट् भी कहते हैं (अथर्व० २०।२१।९)। इसे एकवृष भी कहा है (अथर्व० २।२२।६,७) यह समग्र पृथिवी का राजा होता है।

के आह्वान के अनुसार गतिशील हुई, (इन्द्रम्) सम्राट् को (ऐः) प्राप्त हुई। (वृत्रहा) पापों का हनन करने वाला सम्राट् (क्रुद्धः) तुझ से जब क्रुद्ध हो गया तो उस ने (तस्मात्) उस क्रोध के कारण (ते) तेरे (पयः क्षीरम्) पेय-दुग्ध को (वशे) हे वशा मातः! (अहरत्) अपहृत कर दिया, साम्राज्य से हटा दिया ॥१०॥

(वशे) हे वशा मातः! (धनपतिः) धनों के स्वामी इन्द्र सम्राट् ने (यत्) जो (क्रुद्धः) क्रुद्ध होकर (ते) तेरे (क्षीरम्) दूध को (आ अहरत्) पूर्णतया, अपहृत कर दिया, साम्राज्य से हटा दिया, (इदं तत्) उस क्षीर को, (अद्य) आज भी, (नाकः) मोक्ष स्थान या मोक्षाभिलाषी उपासक (त्रिषु पात्रेषु) तीन पात्रों में (रक्षति) सुरक्षित किये हुआ है ॥११॥

[श्रेष्ठ सम्राट् निज साम्राज्य में, जगत् को वश में करने वाली कान्तिमती पारमेश्वरी माता का जब आह्वान करता है, तब वशा का राज्य उस साम्राज्य में हो जाता है, और सम्राट् पापवृत्रों का हनन कर देता है, समग्र साम्राज्य पापकर्मों से रहित हो जाता है। परन्तु कारणवश, सम्भवतः अन्ताराष्ट्रिय कारणवश, जब वह सम्राट् धनपति (११) बनता है, और साम्राज्य में प्रजा को धनार्जन करने में प्रवृत्त करता है, तब शासन में परमेश्वरीय शासन विलुप्त हो जाता है, क्योंकि धनार्जनरूपी प्रेयमार्ग श्रेयमार्ग का विरोधी है। क्रुद्ध इसलिये कहा कि अन्ताराष्ट्रिय परिस्थितियों पर, जब धार्मिक और सदाचार सम्बन्धी कर्तव्य सफल नहीं होते, तब सम्राट् इन कर्तव्यों का परित्याग कर, दण्डव्यवस्था का अवलम्बन करता है। इन कर्तव्यों से विमुख हो जाना ही क्रोधरूप है। मन्त्र में पेय-क्षीर शब्द धर्म, सदाचार और मोक्षभावना का द्योतक है। इन भावनाओं का परित्याग, क्षीरापहरण है।

"नाकः" के दो अभिप्राय प्रतीत होते हैं। (१) वह स्थानविशेष जहां कि सिद्धयोगी मुक्त हो कर विचरते हैं। यथा "ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः" (यजु० ३१।१६) अर्थात् वे देव उस नाक को प्राप्त होते हैं जहां कि पुराकाल के या पूर्ण सिद्धात्मा देव विद्यमान हैं। "नाक" के तीन पात्र हैं "ब्राह्मस्त्रिभूमिको लोकः" देखो (योगसूत्र ४।२६, व्यास भाष्य)।

अथवा "नाकः"=नाकाभिलाषी "अथर्वा" (मन्त्र १२)। इस अर्थ में तीन पात्र हैं हृदय, मस्तिष्क, तथा शरीर। मन्त्र १२ में सोम का अभिप्राय है "भक्तिरस"। हृदय की भावनाओं को, मस्तिष्क के विचारों को, तथा शरीर के कर्मों को भक्तिरस द्वारा रसीले बनाना, यह है तीन पात्रों में सोम की रक्षा। अथवा सोम का अभिप्राय है "सौम्यप्रकृतिक-नाक" अर्थात् मोक्ष। जीवन्मुक्त अथर्वा, हृदयादि तीन पात्रों में निज मोक्षावस्था को सुरक्षित रखता है, जब तक कि उस का शरीर छूटता नहीं]।

त्रिषु पात्रेषु तं सोममा देव्यहरद्वशा ।
अथर्वा यत्र दीक्षितो बर्हिष्यास्त हिरण्यये ॥१२॥

(देवी वशा) दिव्या वशामाता [पारमेश्वरी माता] (त्रिषु पात्रेषु) तीन पात्रों में के (तम्, सोमम्) उस भक्ति रस को (अहरत्) प्राप्त करती है, (यत्र) जिस समय में कि (दीक्षितः अथर्वा) अर्थात् दीक्षा प्राप्त निश्चल चित्त-वृत्तियों वाला जीवन्मुक्त-योगी (हिरण्यये) हिरण्यमय (बर्हिषी) आसन में (आस्त) उपविष्ट हो जाता है। [हिरण्यय आसन=हृदय, जिस में कि हिरण्यय-पुरुष अर्थात् आदित्यवर्णी परमेश्वर की ज्योति प्रदीप्त हो रही होती है, देखो (अथर्व १०।२।३१-३३)]।

सं हि सोमेनागत समु सर्वेण पद्वता ।
वशा समुद्रमध्यष्ठाद् गन्धर्वैः कलिभिः सह ॥१३॥

(वशा) जगत् को वश में करने वाली कान्तिमती पारमेश्वरी माता जब (कलिभिः) संगीत कला के विज्ञ (गन्धर्वैः) गानकुशलों के (सह) साथ, (समुद्रम् अधि प्रस्थात्) हृदयसमुद्र में अधिष्ठित होती है, तब वह (हि) निश्चय से (सोमेन) भक्तिरस से (सम् अगत) संगत हो जाती है (उ) तथा (सर्वेण) सब (पद्वता) गेय-वैदिक पदों वाले गायकों के साथ (सम्) सङ्गत हो जाती है।

[हृदय में पारमेश्वरी माता जब अधिष्ठित हो जाती है, और हृदय में जब भक्तिगान करने वाले भक्त "निष्ठ" हो जाते हैं, तब वशामाता भक्ति-रस के साथ भी संगत हो जाती है, और वैदिक पदों के गाने वालों के साथ भी संगत हो जाती है, अर्थात् भक्तों और उपास्य देवता का परस्पर संगम हो जाता है। "पद्वता" देखो "ऋचः सामानि बिभ्रती" (मन्त्र १४)]।

सं हि वातेनागत समु सर्वैः पतत्रिभिः ।
वशा समुद्रे प्रानृत्यदृचः सामानि बिभ्रती ॥१४॥

(हि) निश्चय से वशा (वातेन) वायु के साथ (सम् अगत) संगत हुई हुई है, (उ) तथा (सर्वैः) सब (पतत्रिभिः) उड़ने वाले पक्षियों के साथ (सम्) संगत हुई-हुई है। (वशा) वशा माता (समुद्रे) हृदय-समुद्र में (ऋचः सामानि) ऋच्यधिरूढसामगानों को (बिभ्रती) प्राप्त कर (प्र अनृत्यत्) प्रकर्षरूप में नाचती है।

[मन्त्र कवितापूर्ण है। जो वशा माता वायु और पक्षियों के साथ संगत हुई उन की रक्षा कर रही है, वह हृदय-समुद्र में भक्तिगानों में मस्त हुई मानो प्रसन्नता में नाचती है। प्रसन्नता इसलिये कि मेरे पुत्र तुझे, निज भक्ति, भेंट में दे रहे हैं]।

सं हि सूर्येणागत समु सर्वेण चक्षुषा ।
वशा समुद्रमत्यख्यद् भद्रा ज्योतींषि बिभ्रती ॥१५॥

वशा माता (हि) निश्चय से (सूर्येण) सूर्य के साथ (सम् अगत) संगत हुई-हुई है, (उ) तथा (सर्वेण) सब (चक्षुषा) चक्षुः समूह के साथ (सम्) संगत हुई-हुई है। (वशा) वशा माता (समुद्रम् अति अख्यत्) हृदयसमुद्र में स्थित हुई (मन्त्र १३), उसे अतिक्रान्त कर के (भद्रा ज्योतींषि) सुखदायी ज्योतियों पर दृष्टिपात करती है, और (बिभ्रती) उन का भरण-पोषण करती है।

[जैसे मन्त्र १४ में वायु और पतत्रियों के परस्पर सम्बन्ध का वर्णन हुआ है, इसी प्रकार सूर्य और सब चक्षुओं का परस्पर सम्बन्ध मन्त्र १५ में अभीष्ट प्रतीत होता है। ये चक्षुः द्युलोक के तारासमूह प्रतीत होते हैं, जो कि "चक्षुःगोलकों" के सदृश गोल और चमकदार हैं। अथवा मन्त्र में प्राणियों के चक्षु अभिप्रेत हैं। यथा "यश्चक्षुषि तिष्ठंश्चक्षुषोऽन्तरो, यं चक्षुर्न वेद, यस्य चक्षुः शरीरं, यश्चक्षुरन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः (बृहदा० उप० ३।२३) । इस प्रकार सब प्राणियों के चक्षुओं के साथ अन्तर्यामी परमेश्वर का संगम दर्शाया है। सूर्य और प्राणियों की चक्षुओं का भी परस्पर सम्बन्ध हैं। सूर्य के विना प्राणियों की चक्षुएं देखने में असमर्थ हैं। वशा स्थित तो है हृदय-समुद्र में, परन्तु हृदय को अतिक्रान्त

कर के वह द्युलोक की भद्र ज्योतियों को देखती और उन का भरण पोषण करती है। भद्रा का सम्बन्ध वशा के साथ भी सम्भव है। इस दृष्टि से भद्रा का अर्थ है सुखस्वरूपा तथा कल्याणस्वरूपा वशा। "भदि-कल्याणे सुखे च" (भ्वादिः)]।

अभीवृता हिरण्येन यदतिष्ठ ऋतावरि ।
अश्वः समुद्रो भूत्वाऽध्यस्कन्दद्वशे त्वा ॥१६॥

(ऋतावरि वशे) हे उग्रनियमों वाली वशा मातः! (मन्त्र ६), (यद्) जो (हिरण्येन) हिरण्यय-हृदय द्वारा (अभीवृता) घिरी हुई तू (अतिष्ठ) हृदय-समुद्र में स्थित हुई है, तो (समुद्रः) हृदय-समुद्र (अश्वः भूत्वा) अश्व हो कर (त्वा) तेरे प्रति (अधि अस्कन्दत्) उछला है, उमड़ा है।

[हिरण्येन=देखो मन्त्र ३१-३३। अश्वारोही योद्धा का अश्व, युद्धभूमि में, जैसे शत्रु की ओर उछलता हुआ जाता है, वैसे श्रद्धावान् उपासक का हृदय-समुद्र, उपास्यदेवता की ओर, उछलता और उमड़ता है। हिरण्येन अभीवृता=अथवा निज हिरण्य सदृश ज्योति द्वारा घिरी हुई वशा माता]।

तद् भद्राः समगच्छन्त वशा देष्ट्र्यथो स्वधा ।
अथर्वा यत्र दीक्षितो बर्हिष्यास्त हिरण्यये ॥१७॥

(तद्) वहां अर्थात् हृदय में (भद्राः) भद्र तत्त्व (सम् अगच्छन्त) परस्पर संगत हो जाते हैं, मिल जाते हैं, अर्थात् (वशा) वशामाता (देष्ट्री) संगीतनिर्देशिका, (अथो) तथा (स्वधा) आनन्दरसरूपी अन्न तथा भक्तिरसरूपी अन्न (यत्र) जिस हृदयरूपी (हिरण्यये बर्हिषि) हिरण्य-आसन में (दीक्षितः) दीक्षा प्राप्त (अथर्वा) निश्चल चित्तवृत्ति वाला उपासक (आस्त) स्थित हो जाता है।

[उपासना में जब भक्ति भरे सामगान गाए जाते हैं, तब हृदय में तीन का संगम हो रहा होता है। (१) उपास्या वशा माता का, (२) संगीत निर्देशिका अथर्वा की आत्मचेतना का और (३) स्वधा का। संगीत गायक होता है मन। जैसे सामूहिक संगीत में संगीतज्ञ व्यक्ति हाथों द्वारा संगीत का निर्देश करता है, वैसे अथर्वा की आत्मचेतना मन के लिये संगीत में निर्देशिका होती है। इस समय वशा माता तो भक्तिरसरूपी अन्न का पान कर रही होती है, और आत्मा आनन्दरसरूपी अन्न का पान कर रहा होता है। "स्वधा अन्ननाम" (निघं० २।७)]।

वशा माता राजन्य॑स्य वशा माता स्वधे तव ।
वशाया॑ यज्ञ आयु॑धं ततश्चित्तम॑जायत ॥१८॥

(वशा) वशा (राजन्यस्य) राज्यन्य की (माता) माता है, (स्वधे !) हे स्वधा ! (वशा) वशा (तव) तेरी (माता) माता है। (वशायाः) वशा का (आयुधम्) अस्त्र-शस्त्र (यज्ञः) ध्यानयज्ञ या योगयज्ञ है, (ततः) उस से (चित्तम्) चित्त (अजायत) पैदा हुआ है।

[वशा=सब को वश में रखने वाली कान्तिमयी पारमेश्वरी माता। राजन्यस्य=राजन्य है "प्रजारञ्जक राजवर्ग"। यथा "सोऽरज्यत ततो राजन्योऽजायत ॥ (अथर्व० १५।८।१)। सः अरज्यत=सः अरञ्जयत् उसने प्रजारञ्जन किया (रञ्ज रागे भ्वादिः) तब वह राजन्य हुआ न कि अपने-आप को रञ्जित किया। जैसे वशा, ब्राह्मण आदि वर्ग की माता है। वैसे चारों वर्ण वशा माता द्वारा सृष्ट हैं।

वशा माता है स्वधा की। "स्वधा अन्ननाम" (निघं० २।७)। यह अन्न है आनन्दरस तथा भक्तिरस। आनन्द रस और भक्ति रस वशा माता की परम कृपा द्वारा पैदा होते हैं। उपासक आनन्दरस का आस्वादन करता है, और वशा माता भक्ति रस का। अतः ये दोनों "रस" अन्नरूप हैं।

आयुधम्=योग साधना में कई "अन्तराय" होते हैं (योग १।३०)। ये अन्तराय चित्त को विक्षिप्त करते रहते हैं। "ईश्वरप्राणिधान" (योग १।३०) द्वारा इन अन्तरायों का अभाव हो जाता है (योग १।२९)। पारमेश्वरी माता इन अन्तराय-रूपी शत्रुओं का विनाश करती है, "योग-यज्ञरूपी आयुध" द्वारा। ध्यान के परिपाक में "सात्त्विक चित्त" प्रकट होता है, पैदा होता है। सात्त्विक चित्त से प्रज्ञा-तथा-प्रसंख्यान पैदा होते हैं (योग १।४८; ४।२९)। चित्तम्=चिती संज्ञाने (भ्वादि।)। प्रज्ञा-और प्रसंख्यान दोनों "संज्ञानरूप" हैं]।

ऊर्ध्वो बिन्दुरुद॑चरद् ब्रह्म॑णः ककु॑दादधि ।
तत॒स्त्वं ज॑ज्ञिषे वशे ततो होताऽजायत ॥१९॥

(ब्रह्मणः) ब्रह्मरन्ध्र की (ककुदात् अधि) चोटी से (बिन्दुः) वीर्य-बिन्दु (ऊर्ध्वः) ऊर्ध्व हो कर (उदचरत्) ऊपर की ओर गति करता है।

(वशे) हे वशा मातः ! (ततः) तत्पश्चात् (त्वम्) तू (जज्ञिषे) प्रकट होती है, (ततः) तत्पश्चात् (होता) उपासक भक्तिरस का दाता (अजायत) बनता है।

[ब्रह्मरन्ध्र=यह भ्रूमध्यस्थित आज्ञाचक्र से ऊर्ध्व की ओर, और सहस्रार-चक्र से नीचे की ओर मस्तिष्क में स्थित है। इस स्थान पर मन के स्थिर हो जाने पर असम्प्रज्ञात समाधि अर्थात् सर्ववृत्तिनिरोध होता है।

बिन्दुः उद् अचरत्=वीर्य बिन्दु यद्यपि ब्रह्मरन्ध्र की चोटी से ऊर्ध्व की ओर गति नहीं कर सकता, तथापि इस का अभिप्राय है "ऊर्ध्व रेतस्" होना, वीर्य का रक्त में ही विलीन रहना, उस का अधः पतन न होने देना। वीर्यशक्ति योगाभ्यास में एक विशिष्ट शक्ति है। यथा "श्रद्धावीर्यस्मृति समाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्" (योग १।२०) में, वीर्य को असंप्रज्ञात समाधि का हेतु कहा है]।

आ॒स्नस्ते॒ गाथा॑ अभवन्नुष्णिहा॒भ्यो बलं॑ वशे ।
पा॒जस्या॑ज्जज्ञे य॒ज्ञ स्तने॑भ्यो र॒श्मय॒स्तव ॥२०॥

(वशे) हे सब को वश में रखने वाली कान्तिमती पारमेश्वरी मातः ! (ते) तेरे (आस्नः) मुख से (गाथाः) वैदिक सामगान (अभवन्) प्रकट हुए, (उष्णिहाभ्यः) उष्णिक् आदि छन्दों से (बलम्) आध्यात्मिक और मानसिक बल पैदा हुआ। (पाजस्यात्) और बल के लिये हितकर अन्न से (यज्ञः) ध्यानयज्ञ या योगयज्ञ (जज्ञे) पैदा हुआ, (तब) तेरे (स्तनेभ्यः) स्तनों से (रश्मयः) ज्ञानरश्मियां पैदा हुई।

[आस्नः=शतपथ ब्राह्मण काण्ड ६। अध्याय १ ब्राह्मण १। खण्ड १० में ब्रह्म अर्थात् वेद को प्रजापति का मुख कहा है। यथा "ततो ब्रह्मैव प्रथमम-सृज्यत, त्रय्येव विद्या। अपि हि तस्मात् पुरुषात् ब्रह्मैव पूर्वमसृज्यत, तदस्य तन्मुखमेवासृज्यत"। इस खण्ड में वेद या ब्रह्म अर्थात् त्रयीविद्या को प्रजा-पति का मुख कहा है, इस मुख का कथन मन्त्र २० में "आस्नः" द्वारा हुआ है। इसी मुख अर्थात् त्रयीविद्या के अङ्गरूप, सामवेद के सामगानों, को "गाथा" कहा है।

उष्णिहाभ्यः=उद्+स्निह्+टाप्=उष्णिहा अर्थात् वैदिक उष्णिक्

छन्द आदि । उष्णिहा="स्निह्यतेर्वा स्यात् कान्तिकर्मण." (निरुक्त ७।२।१२) । छन्दों में निर्दिष्ट उपायों द्वारा आत्मिक और मानसिक बल पैदा होता है।

पाजस्यात्="पाजः बलनाम" (निघं० २।९) । पाजस्यम्="पाजसे हितम्", अर्थात् बल के लिये हितकर "अन्न" । बलकारी अन्न से ध्यानयज्ञ या योगयज्ञ पैदा हुआ । शारीरिक और मानसिक बल के विना, यह यज्ञ नहीं किया जा सकता । शारीरिक और मानसिक निर्बलता से, ध्यान के लिये, स्थिर-आसन भी सम्भव नहीं हो सकता ।

स्तनेभ्यः=बहुवचन द्वारा चार वेदरूपो चार स्तन प्रतीत होते हैं । इन चार वेदों से ज्ञान रश्मियां प्रकट होतों हैं । चतुष्पात्पशुरूपी-गौ के स्तनों से दूध पैदा होता है रश्मियां नहीं । ऋ० १०।७१।५ में वेदवाणी को धेनु द्वारा रूपित किया हैं, अतः वेदवाणी के स्तनों की भी कल्पना की गई है । इसलिये कहा है कि "अधेन्वा चरति माययैष वाचम् शुश्रुवां अफलामपुष्पाम्" । इस पर निरुक्तकार कहते हैं कि "याज्ञदैवते पुष्पफले देवताध्यात्मे वा" (१।६।२०)] ।

ईर्माभ्यामयनं जातं सक्थिभ्यां च वशे तव ।
आन्त्रेभ्यो जज्ञिरे अत्रा उदरादधि वीरुधः ॥२१॥

(वशे) हे वशा ! (तव) तेरी (ईर्माभ्याम्) अगली दो जङ्घाओं से, (च) और (सक्थिभ्याम्) अगले दो ऊरुओं से (अयनम्) गति (जातम्) पैदा हुई, चलना हुआ । (आन्त्रेभ्यः) आन्तों से (अत्राः) खाने वाले, (उदरात् अधि) तथा पेट से (वीरुधः) विरोहण करने वाली लताएं तथा वनस्पतियां (जज्ञिरे) पैदा हुईं ।

[मन्त्र में वशा अर्थात् गोपशु की अगली दो टांगों की दो जङ्घाओं को "ईर्म" कहा है । ईर्म का अर्थ है गति का साधन । ईर गतौ (चुरादिः)+मक् (उणा० १।१४५) । घुटनों से निचली ओर पैरों तक के दो भागों को "ईर्माभ्याम्" द्वारा निर्दिष्ट किया है जिन्हें कि जङ्घाएं कहते हैं । घुटनों से ऊपर की ओर कटिभागों तक के दो भागों को "सक्थिभ्याम्" द्वारा निर्दिष्ट किया है जिन्हें कि "ऊरू" कहते हैं । इन दो जङ्घाओं और दो सक्थिओं द्वारा "अयन" अर्थात् चलना पैदा होता है । गौ के चलने में

पहिले दो अगली टांगें ही उठती हैं, तत्पश्चात् पीछे की दो टांगें आगे को बढ़ती हैं । आन्तों से "अत्रा" अर्थात् खाने वाले बछड़ियां-बछड़े पैदा होते हैं । और उदर के गोबर से अर्थात् खादरूप से, लताएं-वनस्पतियां पैदा होती हैं,—यह अभिप्राय मन्त्र के उत्तरार्ध द्वारा प्रतीत होता है । अत्राः=अद् भक्षणे+राः ।

"पारमेश्वरी माता" के पक्ष में "अयन" का अभिप्राय है उत्तरायण [Summer solstice] तथा दक्षिणायन [wintet solstice] । इस अर्थ में "अयन" का प्रयोग अथर्ववेद में हुआ है । यथा "पुनर्वसू सूनृता चारु पुष्यो भानुराश्लेषा अयनं मघा मे" (१९।७।२) मन्त्र के इस उत्तरार्ध में, मघा नक्षत्र में "अयन" अर्थात् उत्तरायण का वर्णन हुआ है । उत्तरायण=उत्तरायण की अन्तिम सीमा [Summer solstice] । इसी प्रकार मकर राशि में दक्षिणायन होता है । दक्षिणायन=दक्षिणायन की अन्तिम सीमा [winter solstice] ।

विश्व अर्थात् ब्रह्माण्ड है पारमेश्वरो माता का शरीर । सूर्य इस शरीर का अङ्ग है । सूर्य जब भूमध्यरेखा से उत्तर की ओर गति करता है तब इसकी इस गति को अगली दो जङ्घाएं कहा है, और सूर्य जब उत्तरायण की अन्तिम सीमा से भूमध्यरेखा की ओर वापिस लौट रहा होता है तब इस की लौटती गति को दो अगली सक्थियां कहा है । इसी प्रकार सूर्य जब भूमध्यरेखा से दक्षिण की ओर गति करता है तब इसकी इस गति को पिछली दो जङ्घाएं कहा है, और सूर्य जब दक्षिणायन की अन्तिम सीमा से भूमध्यरेखा की ओर वापिस लौट रहा होता है तब इस की लौटती गति को पिछली दो सक्थियां कहा है । "सक्थि" शब्द "षच् समवाये" (भ्वादिः) के अनुसार "सच्" धातु से व्युत्पन्न है, जिस का अर्थ है "संसक्त-अङ्ग । ये सक्थियां जङ्घाओं के साथ संसक्त हैं, अतः सक्थियां हैं । सूर्य के सम्बन्ध में "ईर्माभ्याम्" द्वारा दो अगली गतियों का निर्देश किया है । "ईर्म"=ईर गतौ+मक् (उणा० १।१४५) । ऋग् वेद में "ईर्म" शब्द टांगों के लिये प्रयुक्त नहीं हुआ (ऋ० १।१८३।१०) । इसी प्रकार आदित्यरश्मियों के वर्णन के प्रसङ्ग में "ईर्मान्तासः" का अर्थ है "समीरितान्ताः पृथ्वन्ताः वा" (निरुक्त ४।२।१३) ।

आन्त्रेभ्यः अत्राः="मनुष्या आन्त्राणि" (अथर्व० ६।१२।(७)।१६)। "अत्राः" का अर्थ है "खाने वाले अङ्ग"। अद् भक्षणे+राः (मत्वर्थीयः)+ प्रथमा बहुवचन। अतः आन्तों से अत्राः पैदा हुए, इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्यों से मानुष-अङ्ग पैदा हुए, जो कि अन्न का भक्षण करते हैं।

उदरादधि वीरुधः=उदर से विरोहण करने वाली लताएं और वनस्पतियां पैदा हुईं। पारमेश्वरीमाता का उदर है अन्तरिक्ष। यथा "अन्तरिक्षमुतोदरम्" (अथर्व १०।७।३२)। अन्तरिक्ष से वर्षा द्वारा उदक प्राप्त होता है, और उदक से विरोहण करने वाली लताएं और वनस्पतियां पैदा होती हैं। इस अभिप्राय से "उदरादधि वीरुधः" कहा है।

यदुदरं वरुणस्यानुप्राविशथा वशे ।
ततस्त्वा ब्रह्मोदह्वयत स हि नेत्रमवेत् तव ॥२२॥

(वशे) हे पारमेश्वरीमातः! (यद्) जो तू (वरुणस्य) मेघ के (उदरम्) पेट में (अनु) ऋत्वनुसार (प्राविशत्) प्रविष्ट हुई थी, (ततः) वहां से (त्वा) तुझे (ब्रह्मा) ब्रह्म ने (उद् अह्वयत्) उच्चस्वर से आहूत किया, बुलाया, क्योंकि (सः) वह ब्रह्मा (हि) निश्चय से (तव) तेरे (नेत्रम्) नेतृत्व को (अवेत्) जानता है।

["वरुणस्य", वरुण है जलों का अधिपतिः। यथा "वरुणोऽपामधिपतिः" (अथर्व० ५।२४।४)। निरुक्त के अनुसार वरुण है मेघाधिपतिः (१०।१।३,४) वर्षर्तु में मेघादि के नियन्त्रण के लिये पारमेश्वरी माता मानो, वरुण के उदर में प्रविष्ट होती है। ब्रह्मा है चतुर्वेदविद् वेदाध्यापक। वह वेदाध्यापन के लिए, "वैदिकी माता" पारमेश्वरी माता का, उच्चस्वर में वेदोच्चारण करता हुआ मानो, आह्वान करता है, उसकी सहायता चाहता है। "यस्तं न वेद किमृचा करिष्यति" (ऋ० १।१६४।३९)। तथा "सर्ववेदा यत्पदमामनन्ति" "तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि ओमित्येतत् (कठोप० २।१५) द्वारा वेदों की मुख्य-प्रतिपाद्या है पारमेश्वरी माता अर्थात् ओ३म्-ब्रह्म। इसलिये ब्रह्मा उस का आह्वान निज हृदय में करता है, ताकि उसके नेतृत्व में वह वेदाध्यापन कर सके, उससे निर्देश पाकर वह वेदाध्यापन में समर्थ हो सके। मन्त्र में वर्षा-ऋतु को वेदाध्यापन-काल सूचित किया है]।

सर्वे गर्भादवेपन्त जायमानादसूस्वः ।
ससूव हि तामाहुर्वशेति ब्रह्मभिः क्लृप्तः स ह्यस्या बन्धुः ॥२३॥

(असूस्वः[1]) अप्रसूता के प्रसवसम्बन्धी (गर्भात्[2]) गर्भ से (जायमानात्) उत्पन्न होते हुए [शिशु] से (सर्वे) सब (अवेपन्त) काम्प गए। क्योंकि (ताम्) उसे (आहुः) कहते हैं कि (वशा इति) यह तो वशा है, जो कि (ससूव हि) प्रसूता हो ही गई है। [प्रजातशिशु] (ब्रह्मभिः) चतुर्वेदवेत्ता आचार्यों द्वारा (क्लृप्तः) सामर्थ्यवान् किया गया है। (सः हि) वह ब्रह्मा (मन्त्र २२) ही (अस्याः) इस [वशा] का (बन्धुः) बन्धु है।

[शिशु [पुमान् न कि स्त्री] के पैदा होते सब काम्प गए—यह काम्पना गोशिशु के सम्बन्ध में अनुपपन्न प्रतीत होता है। पारमेश्वरी माता कभी-कभी ही भू-मण्डल पर किसी महापुरुष को पैदा करती है जो कि परम्परा से प्राप्त सामाजिक रूढियों में आमूलचूल परिवर्तन करने का सामर्थ्य रखता हो। मन्त्रोक्त शिशु के तत्सामयिक लक्षणों को देख कर, उसे एक भावी महापुरुष समझ कर तत्सामयिक जनता घबरा जाती है कि "यह कहीं हमारी निरूढ प्रथाओं का मूलोच्छेदन न कर दे। इस दृष्टि से मन्त्र में "अवेपन्त" कहा है।

शिशु, बालक होकर, जब गुरुकुल में प्रविष्ट होता है तो उस भावी महापुरुष को, गुरुकुल के चतुर्वेदविद् नाना आचार्य, सच्छिक्षा देकर, बलशाली महापुरुष बना देते हैं। क्लृप्तः=सामर्थ्यशाली या बलशाली। कृपू सामर्थ्ये (भ्वादिः), "रलयोरभेदः" द्वारा "कृपू=क्लृपू+क्तः। बड़े गुरुकुलों में नाना आचार्यों के ऊपर सर्वोपरि आचार्य भी होना चाहिये, जिसे मन्त्र में "सः" द्वारा निर्दिष्ट किया है। यह सर्वोपरि ब्रह्मा (मन्त्र २२) है जो कि वशा माता के साथ बन्धुत्व को प्राप्त हुआ है, उसे साक्षात् किये होता है] "स नो बन्धुर्जनिता स विधाता" (यजु० ३२।१०)]।

---

१. मन्त्र में "असू" शब्द को देख कर सायणाचार्य तथा मन्त्रविनियोगकारों ने वशा को बन्ध्या कहा प्रतीत होता है।

२. "हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे" (यजु० १३।४; २३।१; २५।१०) द्वारा वशा अर्थात् पारमेश्वरी माता का गर्भ के साथ भी सम्बन्ध है।

युध एकः सं सृजति यो अस्या एक इद् वशी ।
तरांसि यज्ञा अभवन् तरसां चक्षुरभवद् वशा ॥२४॥

(एकः) वह एक महापुरुष (२३) (युधः) राजस और तामस योद्धाओं के साथ (सं सृजति) संसर्ग करता है, भिड़ता है, (यः एकः) जो एक कि (अस्याः) इस पारमेश्वरी वशा माता को (वशी) निज वश में किये होता है। [इस देवासुर संग्राम में अर्थात् इस संग्राम-समुद्र में] (तरांसि) तैराने वाली नौकाएं (यज्ञाः) नानाविध यज्ञकर्म (अभवन्) होते हैं, और (तरसाम्) तैराने वाली नौकाओं की (चक्षुः) आंख अर्थात् संचालिका (वशा) पारमेश्वरी वशा माता (अभवत्) होती है।

[मन्त्र २३ में "भय के कारण काम्पने" का हेतु, मन्त्र २४ में स्पष्ट हुआ है। वह "जायमान" (२३) शिशु ही, जिस ने कि बलशाली बन कर वशा माता को निज वश में किया होता है, प्रजाजन के राजस-तामस विचारों और कर्मों के साथ युद्ध करता है, और पारमेश्वरी वशा माता उस की सहायता करती है। यह शक्तिशाली महापुरुष यज्ञकर्मों का प्रचार कर, प्रजाजन के अयज्ञकर्मों का उच्छेद करता है। यज्ञाः=यज्ञकर्म नाना प्रकार के हैं, यथा उपासनायज्ञ, भक्तियज्ञ, कर्मयज्ञ, ज्ञानयज्ञ, ध्यानयज्ञ, योगयज्ञ आदि]।

वशा यज्ञं प्रत्यगृह्णाद् वशा सूर्यमधारयत् ।
वशायामन्तरविशदोदनो ब्रह्मणा सह ॥२५॥

(वशा) पारमेश्वरी वशा माता (यज्ञम्) यज्ञकर्म का (प्रत्यगृह्णात्) प्रतिग्रह करती है, उसे स्वीकार करती है, (वशा) वशा माता (सूर्यम्) सूर्य का (अधारयत्) धारण-पोषण करती है। (वशायाम्, अन्तः) वशा के भीतर (ओदनः) भक्तिरसरूपी ओदन, (ब्रह्मणा सह) चतुर्वेदवेत्ता ब्रह्मा के साथ (अविशत्) प्रवेश पाता है। अथवा ओदनरूप समग्र जगत् वेद-विद्या के साथ प्रविष्ट हुआ-हुआ है।

[वशा का वर्णन जो मन्त्र में हुआ है वह चतुष्पाद् गोपशु के सम्बन्ध में सर्वथा अनुपपन्न है]।

वशामेवामृतमाहुर्वशां मृत्युमुपासते ।
वशेदं सर्वमभवन् देवा मनुष्या३ असुराः पितर ऋषयः ॥२६॥

(वशाम्) पारमेश्वरी वशा माता को (एव) ही (अमृतम्, आहुः) अमृत कहते हैं, (वशाम्) वशा की (मृत्युम्, उपासते) उपासना मृत्यु नाम से भी करते हैं। (इदम्, सर्वम्) यह सब (वशा अभवत्) वशारूप हुआ है,[1] (देवाः…) देव, मनुष्य, असुर, पितर और ऋषि।

[पारमेश्वरी वशा माता ही अमृतरूपा है, जिस के आश्रय को प्राप्त कर मुक्तात्माएं अमृत होती हैं, चिरकाल तक अमृत-सुख का भोग करती हैं। यह वशा ही मृत्यु है। मृत्यु कोई पृथक् देवता नहीं। वशा माता ही मुमुक्षुओं के लिये अमृतरूपा और संसारियों के लिये मृत्युरूपा है। देव, मनुष्य, असुर, पितर, और ऋषि स्व-स्व कर्मानुसार, वशा माता की ही कृतिरूप[1] हैं। क्या यह वर्णन चतुष्पाद् गोपशु के सम्बन्ध में उपपन्न हो सकता है?]

य एवं विद्यात् स वशां प्रति गृह्णीयात् ।
तथा हि यज्ञः सर्वपाद् दुहे दात्रेऽनपस्फुरन् ॥२७॥

(यः) जो (एवम्) इस प्रकार (विद्यात्) जाने (सः) वह (वशाम्) पारमेश्वरी वशामाता का (प्रतिगृह्णीयात्) ग्रहण करे, (तथा हि) तब ही (यज्ञः) योगयज्ञ (सर्वपाद्) सर्वाङ्ग सम्पूर्ण होकर, (अनपस्फुरन्) विना रुकावट, (दात्रे) दाता के लिये (दुहे) फलप्रद होता है।

[मन्त्र में वशा के ग्रहीता और दाता के लिये निर्देश दिया है कि जो मन्त्र २६ में कथित वशा के स्वरूप को जाने वह ही वशा सम्बन्धी उपदेश के ग्रहण के योग्य है; और वह ही वशा सम्बन्धी उपदेश देने का अधिकार

१. मन्त्र में कर्त्ता और उसकी कृति में अभेद दर्शाया है, जैसे कि कहा है "आत्मा वै पुत्रनामासि स त्वं जीव शरदः शतम्"। इस श्लोकार्ध में पुत्र को पिता निजरूप ही कहता है, भेद केवल नामों का है। पिता कर्त्ता है और पुत्र कृति है।

अथवा अभवत्=भू प्राप्तावात्मनेपदी (चुरादिः), "णिज् के सन्नियोग में ही आत्मनेपद होता है" इस पक्ष के अनुसार अर्थ होगा कि "वशा इस सब को प्राप्त हुई है, इस सब में व्याप्त है, अर्थात् देव आदि में।

प्राप्त करता है, और योगयज्ञ के फल को प्राप्त करता है। योगयज्ञ ४ अङ्गों से सम्पन्न हुआ "सर्वपाद्" होता है। वे ४ अङ्ग हैं, ध्याता, ध्यान, ध्येय [पारमेश्वरी वशा माता] तथा कैवल्य या मोक्ष]।

तिस्रो जिह्वा वरुणस्यान्तर्दीद्यत्यासनि।
तासां या मध्ये राजति सा वशा दुष्प्रतिग्रहा ॥२८॥

(वरुणस्य) वरुण सम्बन्धी (तिस्रः) तीन (जिह्वाः) वाणियां (आसनि अन्तः) उपासक के मुख में (दीद्यति=दीद्यन्ति) दीप्त होती हैं, प्रकट होती हैं। (तासाम्) उन तीन में (या) जो वाणी (मध्ये) मध्य में (राजति) विराजमान होती है (सा) वह (वशा) पारमेश्वरी वशा माता है, (दुष्प्रतिग्रहा) जिसका ग्रहण दुष्कर है, कठिन है।

[जिह्वाः="जिह्वा वाङ्नाम" (निघं १।११)। उपासक के मुख में वरुण-सम्बन्धी तीन वाणियां होती हैं। (१) स्तुतिवाणी (२) उपासना सम्बन्धी वाणी, (३) प्रार्थना सम्बन्धी वाणी। स्तुति होती है ऋक्-वाणी द्वारा, उपासना होती है सामगानवाणी द्वारा, और प्रार्थना होती है यज्ञ-विधि से यजुर्वेद की वाणी द्वारा। इन तीन वाणियों में मध्यवर्ती वाणी है उपासना की वाणी या सामगान की वाणी। ऋक् और साम का परस्पर सम्बन्ध है, क्योंकि ऋक्-वाणी के आधार पर सामगान किया जाता है। यथा "ऋच्यधिरूढं साम गीयते"। ऋक् है आधार, और साम आधेय। ऋक् है आश्रय और साम है आश्रित। इसी प्रकार अथर्ववेद के विवाह-मन्त्रों में पति, वधू को ऋक्, और अपने-आप को साम कहकर (१४।२।७१), पति और पत्नी के पारस्परिक सम्बन्धों का निर्देश करता है। इस प्रकार ऋक् और साम का परस्पर सम्बन्ध होने से उपासक की वाणियों का क्रम है, स्तुतिवाणी, उपासनावाणी, तथा प्रार्थनावाणी या सामवाणी, इस प्रकार मध्य में विराजमान होती है। तीनों वाणियां वशा का वर्णन करती हैं। परन्तु मध्यवर्ती उपासनावाणी, वशा को प्रत्यक्ष करा देने का सामर्थ्य रखती है। उपासना का अर्थ है "समीप बैठना"। वशा के प्रत्यक्ष न होते हुए उसके "समीप बैठना" सम्भव नहीं हो सकता। इसलिए मध्यवर्तीवाणी को वशा कहा है, यतः यह वाणी वशा को प्रत्यक्ष करा देती है। इसलिए मध्यवर्ती वाणी या तद् द्वारा प्रत्यक्ष होने वाली वशा को "दुष्प्रतिग्रहा" भी कहा है। क्योंकि उप+आसना, और वशा का प्रत्यक्षीकरण दोनों कार्य

अतिकठिन हैं। वरुणस्य; वरुणः=परमेश्वर (अथर्व० ४।१६।१-९)। वरुणः=वृणोति व्रियते वाऽसौ वरुणः (उणा० ३।५३, महर्षि दयानन्द), जो भक्तों का वरण करता है, या भक्तों द्वारा जिसका वरण किया जाता है, वह वरुण है]।

चतुर्धा रेतो अभवद् वशायाः।
आपस्तुरीयममृतं तुरीयं यज्ञस्तुरीयं पशवस्तुरीयम् ॥२९॥

(वशायाः) पारमेश्वरी वशा माता की (रेतः) उत्पादक शक्ति (चतुर्धा) चार प्रकार से (अभवत्) विभक्त हुई। (आपः) अप्-तत्त्व (तुरीयम्) चतुर्थ भाग, (अमृतम्) अमृतत्व (तुरीयम्) चतुर्थ भाग, (यज्ञः) यज्ञकाण्ड (तुरीयम्) चतुर्थ भाग, और (पशवः) प्राणिजगत् (तुरीयम्) चतुर्थभाग।

[आपः=जड़ जगत् की कारणीभूत द्रवावस्था, तथा उससे उत्पन्न समग्र जड़-जगत्। अमृतम्=अमृतत्व अर्थात् मोक्ष मुक्तात्माएं। यज्ञः=कर्म-काण्ड; वैयक्तिक, गार्हस्थ्य, सामाजिक, राष्ट्रिय तथा सार्वभौम जीवन सम्बन्धी कर्तव्यकर्म आदि। पशवः="तवेमे पञ्च पशवो विभक्ता गाव, अश्वाः, पुरुषा, अजावयः" (अथर्व० ११।२।९)। यजुर्वेद (३१।१) में "इदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्" द्वारा आपः और अब्जन्य जड़ जगत् का, तथा "अमृतत्वस्येशानः" द्वारा अमृत-जगत् का, तथा "यदन्नेनाति रोहति" द्वारा प्राणि-जगत् का वर्णन हुआ है। तथा यजु० (३१।१४,१५,१६) में यज्ञकर्म का वर्णन हुआ है। इस प्रकार यजुर्वेद द्वारा भी चतुर्धा विभाग परिपुष्ट होता है]।

वशा द्यौर्वशा पृथिवी वशा विष्णुः प्रजापतिः।
वशाया दुग्धमपिबन्त्साध्या वसवश्च ये ॥३०॥

(वशा) पारमेश्वरी वशा माता (द्यौः) द्युलोक है, (वशा) वशा माता (पृथिवी) पृथिवी है, (वशा) वशा माता (विष्णुः) किरणों से व्याप्त सूर्य है, और प्रजापति है। (वशायाः) वशा माता के (दुग्धम्) दूध को (अपिबन्) पिया है (साध्याः) साध्यों ने, (वसवः) वसु ब्रह्मचारियों ने, (च) और (ये) जो रुद्र और आदित्य ब्रह्मचारी हैं उन्होंने।

["प्रजापति" है "सब उत्पत्तियों की स्वामिनी पारमेश्वरी माता" ही, जबकि यह प्रजाओं को उत्पन्न कर उनका पालन तथा रक्षा करती है।

वशा का दुग्ध है आनन्दरस या मोक्षामृतरस । "साध्याः" हैं सिद्धात्माएं जो कि नाक अर्थात् मोक्षामृतरस का पान करती हैं (यजु० ३१।१६)। 'वसवः' द्वारा जड़ ८ वसुओं का ग्रहण नहीं, जो कि अग्नि-पृथिवी, वायु-अन्तरिक्ष, सूर्य-द्युलोक, और चन्द्रमा नक्षत्र हैं। ये न आनन्दरस का पान कर सकते हैं, न मोक्षामृतरस का। अतः "वसवः" द्वारा वसुब्रह्मचारियों और "च" द्वारा रुद्रों और आदित्य ब्रह्मचारियों का ग्रहण अभीष्ट है। मन्त्र में कर्ता और उसकी कृतियों में अभेद दर्शाया है। एतदर्थ देखो मन्त्र २६ की टिप्पणी]।

वशाया दुग्धं पीत्वा साध्या वसवश्च ये ।
ते वै ब्रध्नस्य विष्टपि पयो अस्या उपासते ॥३१॥

(साध्याः) सिद्धात्माएं (वसवः) वसु ब्रह्मचारी (च) और (ये) जो रुद्र और आदित्य ब्रह्मचारी हैं, (ते) वे (वै) निश्चय से (वशायाः) पारमेश्वरी वशा माता के (दुग्धम्) दुग्ध को (पीत्वा) पी कर (ब्रध्नस्य) महाब्रह्म के (विष्टपि) सन्तापरहित स्थान में (अस्याः) इस पारमेश्वरी वशा माता के (पयः) दुग्ध के (उप) समीप (आसते) उपविष्ट रहते हैं। उपासते=उप (समीप)+आसते (आस उपवेशने, अदादिः)।

[वशा का अभिप्राय है पारमेश्वरी माता। दुग्ध है आनन्द रस। साध्य आदि जिन्होंने कि सशरीरावस्था में आनन्दरस का पान किया है, वे ही अशरीरावस्था अर्थात् मोक्षावस्था में आनन्दरस के समीप उपविष्ट होने के अधिकारी होते हैं। महाब्रह्म का सन्तापरहित स्थान है मोक्षावस्था का स्थान। वह है "यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त" (यजु० ३२।१०)। धाम तीन हैं (१) प्राकृतिक जगत् (२) जीवात्माओं के निज स्वरूप, (३) ब्रह्म। मुक्तात्मा इस तृतीय धाम में विचरते हैं। आनन्दरस, ब्रह्म का स्वरूप ही है, तद्भिन्न कोई वस्तु नहीं ब्रह्म, रसरूप ही है। यथा-- "रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति" (तैत्तिरीय उपनिषद्)]।

सोममेनामेके दुह्रे घृतमेक उपासते ।
य एवं विदुषे वशां ददुस्ते गतास्त्रिदिवं दिवः ॥३२॥

(एके) कई (एनाम्) इस पारमेश्वरी वशा माता से (सोमम्) सोम का (दुह्रे) दोहन करते हैं, (एके) कई (घृतम्) घृतरूप में इस वशा माता

की उपासना करते हैं। (ये) जो योगिजन (एवं विदुषे) इस प्रकार जानने वाले शिष्य को (वशाम्, ददुः) वशा का दान करते हैं, उस का साक्षात् दर्शन करा देते हैं, (ते) वे (दिवः) दिव् के (त्रिदिवम्) त्रिदिव विभाग को (गताः) पहुंचे हुए होते हैं।

[सोम=सोमौषध का रस। कई योगियों को वशा का दूध अर्थात् आनन्दरस, सोमरस के सदृश हर्षोत्पादक अनुभूत होता है, और कईयों को आनन्दरस, घृत के सदृश पुष्टिप्रद अनुभूत होता है। वे पारमेश्वरी वशा माता की समीपता से आध्यात्मिक पुष्टि पाकर, पारमेश्वरी-आज्ञानुसार उस की इच्छा को पूर्ण करते रहते हैं और इस मार्ग से विचलित नहीं होते। यह उनकी आध्यात्मिक पुष्टि का परिणाम होता है। ऐसे योगी निज शिष्य को पारमेश्वरी वशा माता का दर्शन करा सकते हैं। वे योगी "दिव्" अर्थात् मूर्धा में स्थित मस्तिष्क के सहस्रारचक्र में पहुंचे हुए होते हैं। 'दिव्' का अभिप्राय है मूर्धा। यथा "दिवं यश्चक्रे मूर्धानम्" (अथर्व० १०।७।३२)। मूर्धा को दिव् इसलिए कहते हैं कि "मस्तिष्क या मूर्धा" ज्ञान-ज्योति द्वारा द्योतमान होता है। मस्तिष्करूपी दिव् के तीन विभाग होते हैं, (१) बृहत्-मस्तिष्क। इसे Cerebrum कहते हैं। यह दो भागों में बटा होता है। इन भागों को मस्तिष्क-गोलार्ध कहते हैं (Cerebral Hemispheres)। ये दोनों दाएं और बाएं ओर रहते हैं। दाएं गोलार्ध को Right hemi-rphere, और बाएं गोलार्ध को Left hemisphere कहते हैं। इन दो से पृथक् एक लघु मस्तिष्क होता है जिसे Carebellum कहते हैं। यह बृहत् मस्तिष्क के नीचे की ओर बृहत् मस्तिष्क से जुड़ा रहता है। लघु-मस्तिष्क से सुषुम्ना नाड़ी निकलती है। इस प्रकार मस्तिष्क के इन तीन भागों को "त्रिदिवम्" कहा है। तीनों भाग ज्ञान-ज्योति द्वारा द्योतित होते हैं। इस मस्तिष्क के भ्रूमध्यस्थित आज्ञाचक्र के ऊर्ध्व की ओर ब्रह्मरन्ध्र[1] होता है, और ब्रह्मरन्ध्र के ऊर्ध्व में सहस्रारचक्र होता है। यहां पारमेश्वरी

१. रन्ध्र का अर्थ है छिद्र। ब्रह्मरन्ध्र का अर्थ है "ब्रह्मसम्बन्धी रन्ध्र"। योगी का चित्त इस रन्ध्र में से गुजर कर सहस्रार चक्र में पहुंच कर ब्रह्म के दर्शन करता है।

वशा माता का पूर्ण प्रकाश होता है। पहुंचे हुए महायोगी इस प्रकाश में स्थित होकर आनन्दरस में लीन हो जाते हैं] ।

ब्राह्मणेभ्यो वशां दत्वा सर्वांल्लोकान्त्समंश्नुते ।
ऋतं ह्यस्यामार्पितमपि ब्रह्माथो तपः ॥३३॥

(ब्राह्मणेभ्यः) ब्रह्मज्ञान के अधिकारियों को (वशाम् दत्त्वा) पारमेश्वरी वशा माता का दर्शन करा कर, [योगी] (सर्वान् लोकान्) सब लोकों को (समश्नुते) प्राप्त करता है, अर्थात् सब लोकलोकान्तरों में जाने-आने का सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है। (हि) क्योंकि (अस्याम्) इस पारमेश्वरी वशा माता में (ऋतम्) सत्य, (अपि) और (ब्रह्म[२]) वेद अर्थात् त्रयी विद्या (अथो) तथा (तपः) सर्वज्ञता (आर्पितम्) अर्पित है।

[तपः="यस्य ज्ञानमयं तपः" (उपनिषद्)। अभिप्राय यह कि पारमेश्वरी वशा माता सर्वज्ञा और सर्वशक्तिमती है। वह योगी को ज्ञान और शक्ति प्रदान करती है जिस द्वारा योगी सब लोकों में जा सकता है। देखो यजु० (१७।६७)]।

वशां देवा उप जीवन्ति वशां मनुष्या उत ।
वशेदं सर्वमभवत् यावत् सूर्यो विपश्यति ॥३४॥

(वशाम्) वशा के आश्रय (देवाः) सूर्य, चन्द्र, तारागण आदि दिव्य पदार्थ (उप जीवन्ति) जीवित हैं, (वशाम्) वशा के आश्रय (मनुष्याः उत) तथा मनुष्य जीवित हैं। (इदम् सर्वम्) यह सब (वशा अभवत्) वशा-रूप हुआ है, (यावत्) जितने पर (सूर्यः) सूर्य (वि पश्यति) दृष्टिपात करता है, चमकता है।

[वशा अभवत्=इस सब की उत्पत्ति तथा धारण पारमेश्वरी माता कर रही है, अतः "वशा" और "इदम् सर्वम्" में तादात्म्य दर्शाया है]।

---

२. ब्रह्म=अथवा ब्रह्माण्ड। यथा "देवदत्तः"=देवः या दत्तः। इसी प्रकार ब्रह्माण्ड=ब्रह्म।

अथवा

(देवाः) सूर्य, चन्द्र, आदि दिव्यपदार्थ (वशाम्, उप) पारमेश्वरी वशा माता के आश्रय (जीवन्ति) जीवित हैं, (उत) तथा (मनुष्याः) मनुष्य (वशाम्) पारमेश्वरी वशा माता के आश्रय जीवित हैं। (वशा) पारमेश्वरी वशा माता (इदम्, सर्वम्) इस सब को (अभवत्) प्राप्त हुई-हुई है (यावत्) जहां तक (सूर्यः विपश्यति) सूर्य देखता है, चमकता है।

[अभवत्=भू प्राप्तौ (चुरादि) देखो मन्त्र २६ की व्याख्या]।

॥ दसवां काण्ड सम्पूर्ण ॥

—:o:—

रा० ब० चौ० नारायणसिंह प्रतापसिंह

धर्मार्थ ट्रस्ट के

विशिष्ट महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

रा० ब० चौधरी नारायणसिंह प्रतापसिंह धर्मार्थ ट्रस्ट (५७ एल माडल टाउन, करनाल) आरम्भकाल से ही वैदिक ग्रन्थों के प्रकाशन में लेखकों की आर्थिक सहायता कर रहा है। सन् १९७३ से ट्रस्ट "रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़" के सहयोग से स्वयं अपना वैदिक ग्रन्थों के प्रकाशन का कार्य कर रहा है। अभी तक निम्नलिखित ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं—

१. **ऋग्वेद-भाष्य**—ऋषि दयानन्द कृत हिन्दी संस्कृत सहित। सं० पं० युधिष्ठिर मीमांसक। प्रथम भाग में भाष्यकार की ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका भी साथ छापी है। इस को पढ़े बिना ऋ० द० का वेदभाष्य समझ में नहीं आ सकता। संस्कृत और हिन्दी अनुवाद में लेखकों तथा मुद्रण आदि के कारण हुई अशुद्धियों को ठीक कर दिया गया है। प्रतिभाग शतशः महत्त्वपूर्ण टिप्पणियां और विविध प्रकार की १०-११ सूचियां दी गई हैं। प्रथम भाग ३५-००; द्वितीय भाग ३०-००; तृतीय भाग ३५-००।

२. **अथर्ववेद-भाष्य**—इस भाष्य के लेखक वेद के निष्णात विद्वान् प्रो० श्री विश्वनाथ जी विद्यामार्तण्ड हैं। आपने उल्टे क्रम से अर्थात् २० काण्ड से भाष्य लिखना आरम्भ किया है। उत्तरार्द्ध पांच भागों में छपा है। (पूर्वार्द्ध का भाष्य लिख रहे हैं)। ९-१० वां काण्ड ४०-००; ११-१३ काण्ड ३०-००; १४-१७ काण्ड २४-००; १८-१९ काण्ड २०-००; २० वां काण्ड २०-००।

३. **यजुर्वेद का स्वाध्याय और पशुयज्ञ समीक्षा**—इस के लेखक भी प्रो० श्री विश्वनाथ जी विद्यामार्तण्ड हैं। यह ग्रन्थ बड़े महत्त्व का है। बढ़िया जिल्द २०-००, साधारण जिल्द १६-००।

४. **उणादिकोश**—ऋ० द० कृत संस्कृत व्याख्या तथा पं० युधिष्ठिर मीमांसक लिखित शतशः टिप्पणियों और विविध १२ सूचियों के सहित। पक्की जिल्द १२-०० अजिल्द १०-००।

५. **शतपथ ब्राह्मणस्थ अग्निचयन समीक्षा**—लेखक—पं० विश्वनाथ जी वेदोपाध्याय। मूल्य ४०-००

प्राप्ति स्थान—

रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़ (सोनीपत-हरयाणा) १३१०२१

रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा

प्रकाशित वा प्रसारित प्रामाणिक ग्रन्थ

१. **यजुर्वेदभाष्य-विवरण**—ऋषि दयानन्दकृत भाष्य पर पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु कृत विवरण। प्रथम भाग १००-०० रुपये, द्वितीय भाग ४०-००।

२. **तैत्तिरीय-संहिता**—मूलमात्र, मन्त्र-सूची सहित। ४०-००

३. **तैत्तिरीय संहिता-पदपाठः**—५० वर्ष से दुर्लभ ग्रन्थ का पुनः प्रकाशन, बढ़िया सुन्दर जिल्द १००-००।

४. **ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका**—पं० युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा सम्पादित एवं शतशः टिप्पणियों से युक्त। साधारण जिल्द २५-००, पूरे कपड़े की ३०-००, सुनहरी ३५-००।

५. **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-परिशिष्ट**—भूमिका पर किए गये आक्षेपों के ग्रन्थकार द्वारा दिये उत्तर। मूल्य २-५०

६. **माध्यन्दिन (यजुर्वेद) पदपाठ**—शुद्ध संस्करण। २५-००

७. **गोपथ-ब्राह्मण (मूल)**—सम्पादक श्री डा० विजयपाल जी विद्यावारिधि। अब तक प्रकाशित सभी संस्करणों से अधिक शुद्ध और सुन्दर संस्करण। मूल्य ४०-००

८. **वैदिक-साहित्य-सौदामिनी**—स्व० श्री पं० वागीश्वर वेदालंकार। काव्यप्रकाश साहित्यदर्पण आदि के समान वैदिक साहित्य पर शास्त्रीय विवेचनात्मक ग्रन्थ। बढ़िया जिल्द ५०-००

९. **कात्यायनीय ऋक्सर्वानुक्रमणी** (ऋग्वेदीया) षड्गुरुशिष्य विरचित संस्कृत टीका सहित। टीका का पूरा पाठ प्रथम बार छापा गया है। विस्तृत भूमिका और अनेक परिशिष्टों से युक्त। १००-००

१०. **ऋग्वेदानुक्रमणी**—वेङ्कट माधवकृत। इस ग्रन्थ में स्वर छन्द आदि आठ वैदिक विषयों पर गम्भीर विचार किया है। व्याख्याकार—श्री डा० विजयपाल जी विद्यावारिधि। उत्तम संस्करण ३०-००; साधारण २०-००

११. **ऋग्वेद की ऋक्संख्या**—युधिष्ठिर मीमांसक मूल्य २-००

१२. **वेदसंज्ञा-मीमांसा**—युधिष्ठिर मीमांसक १-००

१३. **वैदिक-छन्दोमीमांसा**—यु० मी०। नया संस्करण २०-००

१४. **वैदिक वाङ्मय में प्रयुक्त विविध स्वराङ्कन-प्रकार**—यु०मी० मूल्य ६-००

१५. **वैदिक-स्वर-मीमांसा**—नया संस्करण। यु० मी० २५-००

१६. **वेदों का महत्त्व तथा उनके प्रचार के उपाय; वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं की ऐतिहासिक मीमांसा** (संस्कृत-हिन्दी)—युधिष्ठिर मीमांसक। मूल्य ५-००

१७. **देवापि और शन्तनु के आख्यान का वास्तविक स्वरूप**—लेखक—श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु। मूल्य २-००

१८. **वेद और निरुक्त**—श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु। २-००

१९. **निरुक्तकार और वेद में इतिहास**—„ „ २-००

२०. **त्वाष्ट्री सरण्यू की वैदिक कथा का वास्तविक स्वरूप**—लेखक—श्री पं० धर्मदेव जी निरुक्ताचार्य। मूल्य २-००

२१. **वैदिक-जीवन**—श्री विश्वनाथ जी विद्यामार्त्तण्ड द्वारा अथर्व वेद के आधार पर वैदिक-जीवन के सम्बन्ध में लिखा गया अत्यन्त उपयोगी स्वाध्याय-योग्य ग्रन्थ। अजिल्द १२-००, सजिल्द १६-००

२२. **शिवशङ्करीय-लघुग्रन्थ पञ्चक**—इसमें श्री पं० शिवशङ्कर जी काव्यतीर्थ लिखित वेदविषयक **चतुर्दश-भुवन, वसिष्ठ-नन्दिनी, वैदिक विज्ञान, वैदिक-सिद्धान्त और ईश्वरीय पुस्तक कौन?** नाम के पांच विशिष्ट निबन्ध हैं। मूल्य ६-००

२३. **वैदिक-पीयूष-धारा**—लेखक—श्री देवेन्द्रकुमार जी कपूर। चुने हुए ५० मन्त्रों की प्रतिमन्त्र पदार्थपूर्वक विस्तृत व्याख्या, अन्त में भावपूर्ण गीतों से युक्त। उत्तम जिल्द १५-००; साधारण १०-००।

२४. **क्या वेद में आर्यों और आदिवासियों के युद्धों का वर्णन है?** लेखक—श्री वैद्य रामगोपाल जी शास्त्री। मूल्य १०-००

२५. **उरु-ज्योति**—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल लिखित वेदविषयक स्वाध्याय योग्य निबन्धों का संग्रह। सुन्दर छपाई पक्की जिल्द १६-००

२६ **वेदों की प्रामाणिकता**—डा० श्रीनिवास शास्त्री। १-५०

२७. **ANTHOLOGY OF VEDIC HYMNS**—Swami Bhumananda Sarasvati. ५०-००

२८. **बौधायन-श्रौत-सूत्रम्**—(दर्शपूर्णमास प्रकरण)—भवस्वामी तथा सायण कृत भाष्य सहित (संस्कृत) ४०-००

२९. **दर्शपूर्णमास-पद्धति**—पं० भीमसेन कृत, भाषार्थ सहित २५-००

३०. **कात्यायनगृह्यसूत्रम्**—(मूलमात्र) अनेक हस्तलेखों के आधार पर हमने इसे प्रथम बार छापा है। २०-००

३१. **श्रौतपदार्थ-निर्वचनम्**—(संस्कृत) अग्न्याधान से अग्निष्टोम पर्यन्त आध्वर्यव पदार्थों का विवरणात्मक ग्रन्थ। अजिल्द ३४-००; सजिल्द ४०-००।

३२ **संस्कार-विधि**—शताब्दी संस्करण, ४६० पृष्ठ, सहस्राधिक टिप्पणियां, १२ परिशिष्ट। मूल्य लागतमात्र १५-००, राज-संस्करण २०-००। सस्ता संस्करण ५-२५, अच्छा कागज सजिल्द ७-५०।

३३. **वेदोक्त-संस्कार-प्रकाश**—पं० बालाजी विट्ठल गांवस्कर द्वारा मूल मराठी में लिखे गये ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद। इसी का गुजराती अनुवाद संशोधित संस्कार-विधि का आधार बना। २०-००

३४. **अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त श्रौत यज्ञों का संक्षिप्त परिचय**—इस याग में अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास सुपर्णचिति सहित सोमयाग चातुर्मास्य और वाजपेय याग का वर्णन है। (दोनों भाग एकत्र) मूल्य १०-००

३५. **संस्कार-विधि-मण्डनम्**—संस्कार-विधि की व्याख्या। ले०—वैद्य श्री रामगोपाल जी शास्त्री। अजिल्द १०-००; सजिल्द १४-००

३६. **निरुक्त-समुच्चय**—आचार्य वररुचि विरचित (संस्कृत)। सं०—युधिष्ठिर मीमांसक। मूल्य १५-००

३७. **अष्टाध्यायी**—(मूल) शुद्ध संस्करण। ३-५०

३८. **अष्टाध्यायी-भाष्य**-(संस्कृत तथा हिन्दी) पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु कृत। भाग—I ४५-००, भाग—II २५-००, भाग—III ३०-००।

३९. **धातुपाठ**—धात्वादिसूची सहित, शुद्ध सस्करण। ३-००

४०. **वामनीयं लिङ्गानुशासनम्**—स्वोपज्ञ व्याख्यासहितम् ८-००

४१. **संस्कृत पठन-पाठन की अनुभूत सरलतम विधि**—लेखक—पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु। भाग—I १०-००, भाग—II (यु०मी०) अप्राप्य

४२ **The Tested Easiest Method of Learning and Teaching Sanskrit (First Book)**—यह पुस्तक श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु कृत **'बिना रटे संस्कृत पठन-पाठन की अनुभूत सरलतम विधि'** भाग १ का अंग्रेजी अनुवाद है। अंग्रेजी भाषा के माध्यम से पाणिनीय व्याकरण में प्रवेश करने वालों के लिये यह आधिकारिक पुस्तक है। कागज और छपाई सुन्दर, सजिल्द २५-००

४३. **महाभाष्य**—हिन्दी व्याख्या (द्वितीय अध्याय पर्यन्त) यु० मी०। भाग—I ५०-००, भाग—II अप्राप्य, भाग—III २५-००

४४. **अष्टाध्यायीशुक्लयजुःप्रातिशाख्ययोर्मतविमर्शः**—डा० विजय पाल विरचित पी० एच० डी० का महत्त्वपूर्ण शोध-प्रबन्ध (संस्कृत)। सुन्दर छपाई उत्तम कागज बढ़िया जिल्द सहित। मूल्य ५०-००

४५. **ध्यानयोग प्रकाश**–स्वामी दयानन्द सरस्वती के योगविद्या के शिष्य स्वामी लक्ष्मणानन्द कृत। बढ़िया पक्की जिल्द, मू० १६-००

४६. **आर्याभिविनय (हिन्दी)**–स्वामी दयानन्द। गुटका ४-००

४७. **शुक्रनीतिसार**—व्याख्याकार श्री स्वा० जगदीश्वरानन्द जी सरस्वती। विस्तृत विषय-सूची तथा श्लोक-सूची सहित उत्तम कागज सुन्दर छपाई तथा जिल्द सहित। मूल्य ४५-००

४८. **विदुर-नीति**—पं० युधिष्ठिर मीमांसक कृत प्रतिपद पदार्थ और व्याख्या सहित। बढ़िया कागज, सुन्दर जिल्द। मूल्य ३६-००

४९. **संस्कृत व्याकरण में गणपाठ की परम्परा और आचार्य पाणिनि** लेखक—डा० कपिलदेव शास्त्री एम०ए०। सजिल्द १५-००

५०. **सत्यार्थप्रकाश**–(आर्यसमाज-शताब्दी-संस्करण) १३ परिशिष्ट ३५०० टिप्पणियां, तथा सन् १८७५ के प्रथम संस्क० के विशिष्ट उद्धरणों सहित। राज संस्क० ३५-००, साधारण संस्क० ३०-००।

५१. **ऋषि दयानन्द के शास्त्रार्थ और प्रवचन**—इसमें पौराणिक विद्वानों तथा ईसाई मुसलमानों के साथ हुए ऋ०द० के शास्त्रार्थ तथा पूना में सन् १८७५ तथा बम्बई में सन् १८८२ में दिये गये व्याख्यानों का संग्रह है। उत्तम कागज, कपड़े की जिल्द, मूल्य ३०-००

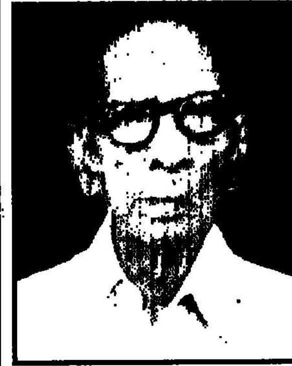
५२. **ऋषि दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों का इतिहास**–लेखक—युधिष्ठिर मीमांसक। नया परिशोधित परिवर्धित संस्करण। ४०-००

५३. **ऋषि दयानन्द के अनेक पत्र और विज्ञापन**–इस बार इसमें ऋषि दयानन्द के अनेक नये उपलब्ध पत्र और विज्ञापन संगृहीत किये गये हैं। इस बार यह संग्रह चार भागों में छपा है। प्रथम दो भागों में ऋ०द० के पत्र और विज्ञापन आदि संगृहीत हैं। तीसरे और चौथे भाग में विविध व्यक्तियों द्वारा ऋ०द० को भेजे गये पत्रों का संग्रह है। प्रत्येक भाग मूल्य ३५-००

पुस्तक प्राप्ति स्थान—

रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़ (सोनीपत) हरयाणा।

भाष्यकार का परिचय



नाम– प्रोफेसर विश्वनाथ विद्यालंकार विद्यामार्त्तण्ड।

पत्नी– श्रीमती कुन्तीदेवी।

पिता– श्री लाला प्रीतमदास।

जन्म-स्थान– मार्च, १८८९ ई० में वजीराबाद, गुजरांवाला (पाकिस्तान) में।

शिक्षा– प्रारम्भिक शिक्षा वैदिक पाठाशाला गुजरांवाला में तथा बाद में स्नातक (सन् १९१४) तक गुरुकुल कांगड़ी में।

अध्यापन– सन् १९१४ में गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में प्रोफेसर पद पर नियुक्त तथा सन् १९४२ में वहाँ से सेवामुक्त हुए।

अनुसन्धान– सन् १९२३-२४ में परोपकारिणी सभा अजमेर में। सन् १९५६-५७ आर्य सार्वदेशिक वाटिका में साथ ही 'वैदिक अनुसन्धान' त्रैमासिक पत्रिका का सम्पादन भी।

अन्य लेखन– १. सामवेद का आध्यात्मिक भाष्य।
२. सन्ध्या-रहस्य।
३. वैदिक पशु-यज्ञ-समीक्षा।
४. वैदिक जीवन।
५. वैदिक गृहस्थाश्रम।
६. बाल सत्यार्थ-प्रकाश।
७. बाल ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका।
८. अथर्ववेद-परिचय।

उपाधियाँ एवं पुरस्कार– विद्यालंकार, विद्यामार्त्तण्ड मानोपाधि, वेदवेदांग पुरस्कार (आर्यसमाज, सान्ताक्रुज, मुम्बई), गंगाप्रसाद उपाध्याय पुरस्कार, पं० गोवर्धन शास्त्री पुरस्कार, उत्तरप्रदेश संस्कृत अकादमी, आर्यप्रतिनिधि सभा उ०प्र० तथा आर्यप्रतिनिधि सभा पंजाब द्वारा सम्मानित। वैदिक साहित्य, संस्कृत साहित्य, दर्शन शास्त्र और रसायन शास्त्र (कैमिस्ट्री) तथा सर्वयोग में प्रथम रहने के कारण आपको ४ स्वर्णपदक और एक रजतपदक प्राप्त हुआ।

निधन– १०३ वर्ष की आयु में ११ मार्च सन् १९९१।